राज्य-विज्ञान के मूल सिद्धान्त

लेखक

श्री ज्योति प्रसाद सूद, एम० ए०,

अध्यक्ष, राज्य-विज्ञान विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ।

तथा

श्री अ० न० मेहता, एम० ए०, पी-एच० डी०,

अध्यक्ष, इतिहास तथा राज्य-विज्ञान विभाग,

बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा।

द्वितीयावृत्ति

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल

प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

मूल्य १०)

वक्तव्य

हिन्दी अब राष्ट्र-भाषा के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित हो गई है और उत्तर भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम भी बनती जा रही है। अतः अब उच्च शिक्षा के विभिन्न विषयों पर हिन्दी में अच्छे साहित्य की रचना अत्यन्त आवश्यक हो गई है। लेखक ने राज्य-विज्ञान के क्षेत्र में प्रस्तुत पुस्तक द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति के महत्त्वपूर्ण कार्य में भाग लेने का प्रयास किया है। यह पुस्तक अधिकांश में मेरी अंग्रेज़ी में लिखी हुई पुस्तक Elements of Political Science का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी रचना में मुझे बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा के इतिहास तथा राज्य-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष, मेरे परम मित्र, श्री ब्र० न० मेहता, एम० ए०, पी एच०, डी० से बड़ी अमूल्य सहायता मिली है। उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर अंग्रेज़ी पुस्तक के हिन्दी रूपान्तर का बड़े परिश्रम से संशोधन किया है और अपने अनुभव के प्रकाश में यत्र तत्र अनेक परिवर्तन भी किये हैं। क़ानून शीर्षक वाला अध्याय भी उन्हीं का लिखा हुआ है। आशा है कि यह पुस्तक न केवल हमारे विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों के छात्रों को, वरन् राज्य-विज्ञान में रुचि रखने वाले अन्य नागरिकों को भी उपयोगी सिद्ध होगी।

शिवरात्री
६ मार्च, १९५१

ज्योति प्रसाद सूद

विषय-सूची

राज्य-विज्ञान के मूल सिद्धान्त

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

राज्य-विज्ञान की परिभाषा एवं प्रकृति

मनुष्य अनादि काल से समाज में रहता आया है। अपनी सहज सामाजिक प्रवृत्ति तथा अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे समाज में रहना पड़ता है। उसकी अनेक भौतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति वह एकाकी रह कर नहीं कर सकता, उनकी पूर्ति के लिये उसे दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इस सहयोग को प्राप्त करने के लिये वह अनेक प्रकार के समुदायों का निर्माण करता है और धीरे-धीरे समाज अनेक समुदायों में सगठित हो जाता है। मनुष्य ने जितने समुदाय बनाये हैं उनमें से प्रत्येक उसकी एक या कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करता है परन्तु इनमें से एक समुदाय ऐसा है जो किसी एक विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता वरन् मनुष्य की अनेकानेक आवश्यकताओं को स्वयं अपनी ओर से पूरी करते हुए अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करता है। यह समुदाय राज्य है। किसी अन्य समुदाय का तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार सदस्य बन सकता है परन्तु राज्य अनिवार्य समुदाय है।* आजकल प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी राज्य में अवश्य रहता है। वह केवल उसमें रहता ही नहीं है, उसका सारा जीवन राज्य द्वारा निर्मित दायरे में व्यतीत होता है। जैसे-जैसे सामाजिक जीवन की धीरे-धीरे जटिलता बढ़ती जा रही है, वैसे ही वैसे राज्य के कामों का क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है और अब जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं है जहाँ हम किसी न किसी

---

* यहाँ हमने प्रसंगवश राज्य तथा अन्य समुदायों के एक भेद का उल्लेख कर दिया है। यह एक महत्वपूर्ण विषय है। इस पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

प्रकार राज्य के सम्पर्क में नहीं आते। वैसे तो मनुष्य का जीवन बनाने या बिगाड़ने में राज्य सदा ही एक साधन रहा है परन्तु आजकल राज्य के कामों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। उसके काम बड़ी सूक्ष्म रीति से हमारे अनजाने ही हमारे जीवन की गति की दिशा को बदलते रहते हैं। नागरिक के लिये राज्य के सिद्धान्तों एवं उसकी कार्य-प्रणालियों का अध्ययन कभी उतना आवश्यक नहीं था जितना आजकल जब कि हमें सामाजिक जीवन के परस्पर विरोधी आदर्शों के संघर्ष में से निकलना पड़ रहा है और जब कि मनुष्य-जीवन के मूल्यों में ही उथल-पुथल हो रही है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिये चुपचाप बैठे रहना घातक है। कोल (Cole) का कथन है—'आप चाहें राजनीति की परवाह न करें, राजनीति आपकी परवाह करती है।' इस कथन में बहुत बड़ा सत्य है। राज्य और उसके विभिन्न कार्यों को समझने में हमें जिस विज्ञान से सहायता मिलती है, वह राज्य-विज्ञान है।

प्रत्येक विज्ञान का अपना अलग अध्ययनीय विषय तथा विशिष्ट क्षेत्र है और उसमें उस विषय से सम्बन्धित वस्तुओं एवं घटनाओं का पूर्ण रूप से विवेचन किया जाता है। भौतिक विज्ञान भौतिक जगत की घटनाओं तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्ध की व्याख्या करता है। मनोविज्ञान में मस्तिष्क के विभिन्न व्यापारों का अध्ययन किया जाता है। भूगर्भ-विज्ञान मे पृथ्वी के गर्भ में से निकलने वाले पदार्थों का वर्णन होता है। इसी प्रकार राज्य-विज्ञान राज्य एवं शासन (सरकार) सम्बन्धी बातों का विधिवत् और पूर्ण रूप से विवेचन करता है।

राज्य-विज्ञान की परिभाषा के लिये उसके क्षेत्र का विस्तार जानना आवश्यक है। हमने अभी लिखा है कि इस शास्त्र में राज्य एवं शासन सम्बन्धी बातों का वर्णन किया जाता है। परन्तु कुछ प्रभावशाली लेखक इसके क्षेत्र को राज्य के अध्ययन तक ही सीमित रखते हैं। राज्य-विज्ञान के प्रख्यात स्विस लेखक ब्लुएटूश्ली के अनुसार राज्य-विज्ञान उस विज्ञान का नाम है जिसका सम्बन्ध राज्य से है और जिसमें राज्य की आधार-भूत स्थितियों, उसकी मूल प्रकृति, उसके विभिन्न रूपों तथा विकास का वर्णन रहता है। इसी प्रकार जर्मन लेखक गेरीज़ का कथन है कि इस शास्त्र में राज्य के समस्त सम्बन्धों, उसकी उत्पत्ति, परिस्थिति, उसके लक्ष्य, नैतिक महत्त्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके जीवन की अवस्थाओं, उसके राजस्व, उसके परम लक्ष्य (साध्य) आदि का अध्ययन

किया जाता है। इसी प्रकार गार्नर के मत के अनुसार राज्य-विज्ञान का आरंभ राज्य के साथ होता है और उसका अन्त भी राज्य के साथ ही होता है। इन परिभाषाओं में राज्य-विज्ञान के क्षेत्र में शासन के अध्ययन को कोई स्थान नहीं मिला है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि शासन-सम्बन्धी सभी कामों का स्वरूप राजनैतिक है। इसके विपरीत लीकॉक की दी हुई परिभाषा में राज्य शब्द नहीं आता। उसका मत है कि राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध शासन से है। सीली का भी कथन है कि यह विज्ञान शासन के सिद्धान्तों एवं कार्यों का विवेचन करता है। कुछ लेखक ऐसे हैं जो मध्यम मार्ग ग्रहण करते हैं। फ्रेंच विद्वान् पॉल जेनेट के अनुसार राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान का वह अंग है जो राज्य के आधार तथा शासन के सिद्धान्तों पर विचार करता है। यही मत गेटेल तथा गिलक्राइस्ट का है। उनका कथन है कि इस विज्ञान में राज्य तथा शासन दोनों का अध्ययन किया जाता है।

ध्यानपूर्वक देखने से मालूम होगा कि राज्य तथा शासन में भेद होते हुए भी दोनों के क्षेत्रों को अलग नहीं किया जा सकता। शासन के बिना राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। राज्य के लक्ष्य की पूर्ति के लिये शासन एक अनिवार्य साधन है। यदि हम राज्य का पूरा-पूरा वर्णन करना चाहें तो हमें शासन, उसके निर्माण तथा कार्य, उसके विभिन्न रूप अथवा प्रकार और उससे सम्बन्धित अनेक समस्याओं का विवेचन करना ही होगा, अन्यथा उसका वर्णन अधूरा रह जायगा। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि राज्य-विज्ञान वह विज्ञान है जो राज्य तथा शासन से सम्बन्ध रखने वाली समस्त बातों का उनके समस्त रूप, विभिन्न पहलुओं एवं सम्बन्धों को दृष्टि में रखते हुए विवेचन करता है। डिमॉक के मतानुसार इस शास्त्र का सम्बन्ध राज्य तथा उसके साधन-शासन से है जिसका प्रयोजन उसकी जनता की प्रकट इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इस परिभाषा में डिमॉक ने राज्य के नियंत्रण के पहलू के साथ सेवा के पहलू को भी शामिल कर लिया है जिस पर आधुनिक काल में विशेष ज़ोर दिया जाता है। राज्य तथा शासन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें सामाजिक हैं और इस तरह राज्य-विज्ञान वह सामाजिक विज्ञान हो जाता है जो राज्य के आधार तथा शासन के संगठन के सिद्धान्तों का विवेचन करता है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसका केन्द्रीय विषय राज्य है और शासन के रूप, कर्त्तव्य तथा

उसका निर्माण-राज्य के क्षेत्र में ही आ जाते हैं क्योंकि इन सब बातों का सम्बन्ध उन प्रश्नों से है जो राज्य के विषय में उठते हैं। इन प्रश्नों का सम्बन्ध राज्य के तीन रूपों से है—(१) राज्य का वह रूप जो वर्तमान में है, (२) राज्य का वह रूप जो अतीत में था, तथा (३) राज्य का वह अभीष्ट रूप जो होना चाहिये।

राज्य के वर्तमान रूप का अध्ययन करते समय राज्य-विज्ञान का उद्देश्य राज्य को समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये निर्मित समाज का सर्वोच्च राजनैतिक संगठन समझ कर उसके स्वरूप, उन लक्ष्यों की प्रकृति तथा उनकी प्राप्ति के साधनों का विवेचन करना रहता है। इसमें राज्य के वर्तमान रूपों तथा उसके कार्य करने के विभिन्न साधनों का विश्लेषण और वर्णन होता है। इसमें राजनैतिक सत्ता की मूल प्रकृति, उसके विभिन्न रूप तथा संगठन और राज्य का अपने नागरिकों तथा अन्य राज्यों से सम्बन्ध का वर्णन भी आ जाता है। इस रूप में हम इसे वर्णनात्मक राज्य-विज्ञान कह सकते हैं।

जब हम राज्य की भूतकालिक अवस्था का अध्ययन करते हैं तो हम उसकी उत्पत्ति तथा विकास और उसके अन्दर विद्यमान् विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं का विवेचन करते हैं। हम देखते हैं कि राज्य अपने प्रारम्भिक सरल रूप से विकसित होता हुआ किस प्रकार वर्तमान जटिल रूप में आ गया है और शासन के भिन्न-भिन्न समय में क्या-क्या रूप रहे हैं। इसके साथ ही हम उन राजनैतिक सिद्धान्तों एवं धारणाओं की उत्पत्ति तथा विकास पर भी ध्यान देते हैं जो समय-समय पर उत्पन्न होते रहे और जिनका राज्य तथा उसकी संस्थाओं पर बड़ा ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा इन सब बातों को ठीक-ठीक समझने के लिये हम विभिन्न संस्थाओं एवं सिद्धान्तों की भी तुलना करते हैं। राज्य-विज्ञान के इस रूप में हम राजनैतिक विकास का केवल वर्णन ही नहीं करते, उसका प्रयोजन भी देखते हैं। हम देखते हैं कि इस विकास ने किसी युग में जो रूप लिया उसकी उस युग में आवश्यकता थी और भिन्न-भिन्न युगों में आवश्यकताओं के बदलने के साथ उसके विकास का रूप भी बदलता रहता है। इस प्रकार राज्य-विज्ञान के इस रूप में हमारा अन्वेषण और अध्ययन प्रगतिशील रहता है। वह ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भी है। इस कारण हम इसे ऐतिहासिक राज्य-विज्ञान कह सकते हैं।

भविष्य में राज्य कैसा होना चाहिए इस पर विचार करते समय हम उन सिद्धान्तों एवं भावनाओं को खोजना चाहते हैं जिनके आधार पर शासन का सङ्गठन होना चाहिये और इस बात का निर्णय होना चाहिये कि एक अच्छे सभ्य शासन के क्या क्या कर्तव्य होने चाहिये। इस सम्बन्ध में हम राज्य-विज्ञान के आधारभूत विचारों, जैसे राजनीतिक कर्त्तव्य, समानता, स्वतन्त्रता, अधिकार, प्रभुत्व आदि का भी दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करते हैं जिनका राजनैतिक घटनाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस रूप में राज्य-विज्ञान आदर्शवादी हो जाता है। इसे हम राजनैतिक सिद्धान्त अथवा सैद्धान्तिक राज्य-विज्ञान कह सकते हैं।

इस प्रकार गेटेल के मतानुसार राज्य-विज्ञान राज की भूतकालिक अवस्था का ऐतिहासिक अन्वेषण, उसकी वर्तमान अवस्था का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा उसकी भविष्यकालीन अभीष्ट अवस्था का राजनैतिक एवं नैतिक विवेचन है।* इससे हमको भूत को समझाने, वर्तमान को समझाने और भविष्य का निर्देश करने में सहायता मिलती है। गार्नर ने राज्य की आधारभूत समस्यायें तीन प्रकार बताई हैं—(१) राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति का अनुसन्धान, (२) राजनैतिक संस्थाओं की प्रकृति, उनका इतिहास तथा उनके विभिन्न रूपों की गवेषणा और (३) इनके आधार पर, जहाँ तक सम्भव है, राजनैतिक विकास के नियमों का निर्धारण। राजनैतिक समस्याओं के इस वर्गीकरण का आशय केवल यही है कि पाठक उन समस्याओं के स्वरूप को समझ सकें जिन पर उसे विचार करना होगा, यह नहीं कि जो विभिन्न समस्यायें उठें उन्हें किसी प्रकार इनमें से किसी वर्ग में रख लें। हमारे वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर हुआ है और उस पर हमारी भविष्य-आकांक्षाओं का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार राज्य-विज्ञान की ये तीनों शाखायें स्वतन्त्र नहीं हैं, परस्पर सम्बन्धित हैं।

राज्य-विज्ञान का अध्ययन करते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि जब हम राज्य की उत्पत्ति, तथा उसके लक्षणों आदि का अध्ययन करते हैं तो हमारा अध्ययन भारत, इङ्गलैंड आदि की तरह किसी विशिष्ट राज्य का नहीं होता, वरन् वर्ग (class या genus)-राज्य का अर्थात् राज्य की भावना का होता है। जिस प्रकार ज्यामिति में किसी

* Gettell: Introduction to Political Science, P. 4.

विशिष्ट त्रिभुज का अध्ययन नहीं होता, वरन् त्रिभुज संज्ञा से जिस आकृति का बोध होता है उस आकृति का अध्ययन होता है, या जिस प्रकार भौतिक शास्त्र में पदार्थ के किसी विशेष टुकड़े पर नहीं, वरन् सामान्य 'पदार्थ' का अध्ययन होता है, उसी प्रकार राज्य-विज्ञान में सामान्य 'राज्य' अर्थात् राज्य की सामान्य अथवा अमूर्त भावना का अध्ययन किया जाता है।

राज्य-विज्ञान की कुछ समस्याएँ—

राज्य-विज्ञान की कुछ समस्याओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस विज्ञान के क्षेत्र को ठीक ठीक समझने के लिये उन मुख्य समस्याओं पर कुछ विशेष प्रकाश डालना आवश्यक है जिसका राजनैतिक दार्शनिकों ने विवेचन किया है।

राज्य-विज्ञान के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठते हैं उनमें से एक प्रमुख प्रश्न राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उठता है। बहुत प्राचीन काल से राज्य-विज्ञान के लेखक इस प्रश्न पर विवाद करते रहे हैं कि राज्य मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा स्वेच्छा से निर्मित कोई कृत्रिम वस्तु है अथवा मनुष्य की सहज सामाजिक प्रकृति के कारण उत्पन्न एक प्राकृतिक समुदाय। कुछ तो समझते हैं कि कुछ मनुष्यों ने जानबूझ कर और अपनी इच्छा से आपस में समझौता करके राज्य का निर्माण किया। इसके विपरीत कुछ लोग इसे परिवार के समान एक प्राकृतिक समुदाय समझते हैं। राज्य में जिस बन्धन से लोग आपस में बंधे रहते हैं उसकी प्रकृति के विषय में मत भेद है। यह समस्या इतनी मौलिक एवं आधारभूत है कि इसका विवेचन हमने आगे एक पूरे अध्याय में किया है।

इसके साथ ही राज्य की उत्पत्ति की भी समस्या है जिसका इस प्रथम प्रश्न से बड़ा निकट सम्बन्ध है। किसी के विचार से राज्य की उत्पत्ति युद्ध में विजय के फलस्वरूप हुई। कुछ लोगों का विचार है कि उसका निर्माण सामाजिक समझौते द्वारा हुआ और कई लोग समझते हैं कि राज्य दैवी इच्छा से उत्पन्न हुआ।

राज्य-विज्ञान की एक दूसरी आधारभूत समस्या राजनैतिक सत्ता की प्रकृति और उसके आधार की है। राज में यएक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अन्य व्यक्तियों का नियंत्रण करता है। यही राज्य का मुख्य तत्त्व है। नागरिकों पर अपने अधिकारों का प्रयोग करने वाली किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता के बिना किसी राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता। सामा-

जिक जीवन के इस आधार-भूत तथ्य की ओर सदा से विचारशील पुरुषों का ध्यान गया है और उन्होंने इस पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठते हैं--राजनैतिक सत्ता क्या है ? यह सत्ता किसके हाथ में होनी चाहिये—धनिकों के, बुद्धिमानों के या अनुभवी व्यक्तियों के ? शासक में क्या गुण होने चाहिये ? आदि। इन और ऐसे ही अन्य प्रश्नों का उत्तर देना राज्य-विज्ञान का कार्य है।

राजनैतिक सत्ता के आधार से अत्यन्त निकटतम रूप से सम्बन्धित राजनैतिक कर्त्तव्य अथवा दायित्व की समस्या है। साधारणतया यह सभी मानते हैं कि राज्य के आदेशों का नागरिकों को पूर्ण रूप से और इच्छा-पूर्वक पालन करना चाहिये परन्तु उनका पालन करना कर्त्तव्य क्यों है, इस विषय में बड़ा मतभेद है। अतीत काल से दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है परन्तु राज्य की प्रकृति के विषय में विचारकों के जो विभिन्न विचार रहे हैं उनके अनुसार इस प्रश्न के उत्तर भी विभिन्न हैं। इस प्रश्न पर विचार करते समय अन्य प्रश्न भी उठते हैं यथा आदेश पालन के कर्त्तव्य की कोई मर्यादा भी है या नहीं ? राज्य की सत्ता की भी कोई मर्यादा है या वह अमर्यादित है ?

एक और समस्या राज्य के प्रयोजन सम्बन्धी है। राज्य किस लिये है ? उसका लक्ष्य क्या है ? इस समस्या का मानव जीवन के लक्ष्य की समस्या के साथ सम्बन्ध है। इस विषय पर भी बड़ा मतभेद है। इसी के साथ सरकार के कार्य-क्षेत्र की समस्या भी जुड़ी हुई है। राज्य को केवल पुलिस के कार्य (रक्षा) ही करना चाहिये या उसे नागरिकों के भौतिक कल्याण एवं सुख की वृद्धि करना भी अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये ? क्या राज्य सदाचार और धर्म को प्रोत्साहन दे सकता है। ऐसे अनेक प्रश्न इस समस्या पर विचार करते समय उठते हैं।

क़ानून के बिना राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता और न वह अपना कार्य ही कर सकता है। क़ानून नागरिकों के जीवन और उनकी सम्पत्ति की रक्षा करता है। उसके द्वारा नागरिक अपने अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं और अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये बाध्य किये जा सकते हैं। जब क़ानून का इतना महत्त्व है तो स्वभावतः इसके विषय में भी अनेक प्रश्न उठते हैं। क़ानून क्या है ? उसकी प्रकृति क्या है ? उसका स्रोत क्या है ? उसके पीछे कौन सी शक्ति है जो दण्ड देती है ? सम्पत्ति क्या है ? अधिकार और कर्त्तव्य क्या है ? आदि।

राज्य के लक्ष्यों की सिद्धि सरकार द्वारा होती है। सरकार के रूप, संगठन, अङ्ग, कार्य आदि के विषय में भी इसी प्रकार अनेक प्रश्न उठते हैं।

इन सब प्रश्नों से राज्य-विज्ञान के क्षेत्र का विस्तार प्रकट होता है। ये प्रश्न इतने ही नहीं हैं, ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर राज्य-विज्ञान के अध्ययन के समय विचार करना पड़ता है।

राजनीति या राज्य-विज्ञान—

अब तक हमने राज्य तथा शासन के अध्ययन को राज्य-विज्ञान कहा है किन्तु इस नाम को सब लोग स्वीकार नहीं करते। इसके लिए अनेक नामों का प्रयोग किया जाता है। अरस्तू ने अपनी उस पुस्तक का नाम जिसमें उसने राज्य तथा उससे सम्बन्धित सभी वस्तुओं का वर्णन किया है पॉलिटिक्स (Politics) रखा है। यह शब्द ग्रीक भाषा के पॉलिस (Polis) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'नगर-राज्य'। अतः अपनी पुस्तक के लिये इस नाम का प्रयोग करना उसके लिये अनुपयुक्त नहीं था। किन्तु आधुनिक समय में अंग्रेजी शब्द 'पॉलिटिक्स' का प्रयोग एक नये अर्थ में होता है जिससे यह शब्द राज्य के अध्ययन के सम्बन्ध मे निरर्थक हो गया है। प्रायः हम नगरपालिका, ज़िला सभा, कॉंग्रेस, राजनीतिक दलों आदि की पॉलिटिक्स की बात करते हैं किन्तु इस शब्द के प्रयोग से हमारा आशय उन व्यावहारिक एवं व्यक्तिगत समस्याओं से होता है जिनमें इन संस्थाओं के सदस्य सदा संलग्न रहते हैं। साधारण बोलचाल में भी जब हम पॉलिटीश्यन शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से नहीं होता जो राज्य की प्रकृति तथा उसकी आधारभूत विशेषताओं के अध्ययन में रत हो, वरन् ऐसे व्यक्ति से होता है जो देश तथा शासन के सामने उपस्थित व्यावहारिक एवं सामाजिक समस्याओं में दिलचस्पी लेता हो। स्वर्गीय महात्मा गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद आदि नेता पॉलिटीश्यन कहलाते हैं, क्योंकि वे अब तक राष्ट्र को स्वतन्त्र करने की महान् समस्या को हल करने में संलग्न रहे और अब भी उसकी रक्षा में तत्पर हैं। एटली, ट्रूमेन, चर्चिल आदि भी इसी अर्थ में पॉलिटीश्यन हैं यद्यपि उनके सामने समस्याएँ भिन्न हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पॉलिटिक्स शब्द से उन कामों का आशय होता है जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक मामलों की व्यवस्था तथा राजनीतिक जीवन की विभिन्न

संस्थाओं से है। परन्तु जब हम राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, उसकी प्रकृति तथा उसकी स्थितियों का विवेचन करते हैं तो हम अपने विषय के लिये पॉलिटिक्स शब्द का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं समझते। हिन्दी भाषा में भी प्रायः इस विषय के लिये राजनीति शब्द का प्रयोग होता है जिसका शाब्दिक तथा व्यावहारिक अर्थ प्रायः वही है जो अंग्रेजी शब्द पॉलिटिक्स का था। अतः हमारे प्रयोजन के लिये राजनीति शब्द भी अग्राह्य है।

परन्तु कुछ लेखक ऐसे हैं जैसे जेलिनेक, जेलेट, पॉलक आदि जो इस विज्ञान के लिये इस शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं। इस प्रयोग को उचित बनाये रखने तथा उपर्युक्त अर्थ में इस शब्द के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का निवारण करने के लिये उन्होंने राजनीति को दो शाखाओं में विभक्त किया है—सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) तथा व्यावहारिक राजनीति (Practical Politics)। उनके अनुसार सैद्धान्तिक राजनीति राज्य की आधारभूत विशेषताओं का अध्ययन करती है परन्तु उसका उन विभिन्न कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता जिनके द्वारा शासन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। वह उन ऐतिहासिक-सामाजिक पहलुओं का अध्ययन करती है, जिनमें राज्य व्यक्त होता है; वह किसी राज्य विशेष की स्थिति का अध्ययन नहीं करती। इसके विपरीत व्यावहारिक राजनीति का संबंध सार्वजनिक कर्मचारियों की नियुक्ति, सार्वजनिक नीतियों को व्यवहार में लाना आदि, शासन के प्रशासनात्मक कामों से होता है। उसका इन क्रियाओं के पीछे काम करने वाले सामान्य सिद्धान्तों से कोई संबंध नहीं होता। यदि राज्य के समस्त पहलुओं के अध्ययन संबंधी विज्ञान को हम राजनीति (Politics) कहने में सहमत हों तो ऐसा विभाजन उपयोगी हो सकता है, किन्तु अच्छा तो यही है कि इस प्रकार के अस्पष्ट शब्द का त्याग ही कर दिया जाय। 'सैद्धान्तिक राजनीति' तथा "व्यावहारिक राजनीति" शब्द भी भद्दे हैं। इसी कारण आजकल राज्य-विज्ञान (Political Science) शब्द का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है और अधिकांश लेखकों ने उसे स्वीकार भी कर लिया है।

राजनीतिक दर्शन—

कुछ लेखक राज्य के अध्ययन को राजनीतिक दर्शन (Political-

Philosophy) कहते हैं क्योंकि, उनके मतानुसार राजनीतिक अध्ययन का रूप वैज्ञानिक अनुसन्धान के प्रयोगात्मक अथवा पर्यवेक्षणात्मक रूप के विपरीत सैद्धान्तिक होता है। वे यह मानते हैं कि राजनीतिक दर्शन का संबंध मुख्यत: राज्य की प्रकृति तथा आधारभूत गुण, राजनीतिक कर्त्तव्य अथवा दायित्व, राज-सत्ता की प्रकृति, नागरिकता, अधिकार तथा इसी प्रकार की अन्य सैद्धान्तिक समस्याओं के विवेचन से होता है। राज्य के विकास, सरकारों के वर्गीकरण, उनके कार्य तथा उनके संगठन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। संक्षेप में, राजनीतिक दर्शन राजनीतिक संस्थाओं के आधारभूत प्राथमिक सिद्धान्तों की परीक्षा करता है; स्वयं उन संस्थाओं से उसका कोई संबंध नहीं रहता। वह विचारात्मक है, वर्णनात्मक नहीं। उसका संबंध वर्ग अथवा जाति से है, विशिष्ट वस्तुओं से नहीं।

इस विचार से सहमत होना संभव नहीं है। राजनीतिक दर्शन में जिन समस्याओं पर विचार किया जाता है, वे राज्य-विज्ञान के विषय-क्षेत्र का एक अंश मात्र हैं। राज्य की आवश्यक प्रकृति एवं विशिष्टताओं तथा राजनैतिक कर्त्तव्य जैसी आधारभूत राजनीतिक भावनाओं की परीक्षा के अतिरिक्त, जिनसे राजनीतिक दर्शन का संबंध है, राज्य-विज्ञान को विविध राज-संस्थाओं की उत्पत्ति एवं विकास की भी परीक्षा करनी पड़ती है और उसे वर्तमान तथा अतीत के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन भी करना पड़ता है। इस प्रकार राजनीतिक अध्ययन का ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक भाग राजनीतिक दर्शन के विषय-क्षेत्र से बाहर ही रहता है। राज्य-विज्ञान के जो विभाग ऊपर दिये गए हैं उनमें से केवल एक पर ही राजनीतिक दर्शन में विचार किया जाता है।

राजनीतिक दर्शन तथा राज्य-विज्ञान में भेद प्रकट करने वाली कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है। विविध लेखकों ने उसे विभिन्न ढंग से खींचा है। अतः उसका परित्याग करना ही उचित है।

अनेक राज्य-विज्ञान—

कुछ लेखक यह मानते हैं कि राज्य की समस्त अवस्थाओं एवं घटनाओं पर विचार करने वाला केवल एक ही विज्ञान नहीं है। ऐसे अनेक विज्ञान हैं जिनमें से प्रत्येक उसके एक पहलू पर विचार करता है। समाज-विज्ञान राज्य का एक सामाजिक संगठन के रूप में अध्ययन करता है; अर्थ-शास्त्र सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग के लिये निर्मित

संगठन के रूप में उसका अध्ययन करता है, सार्वजनिक राजस्व का संबंध राज्य की आय तथा कर-संग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों से होता है; स्मृति-शास्त्र (Jurisprudence) राज्य का क़ानून के लिये सगठन संस्था के रूप में अध्ययन करता है। इसी प्रकार वैधानिक इतिहास, कूटनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी विभिन्न विद्वानों के विषय हैं। अतः राज्य-विज्ञान एक विज्ञान नहीं है, वरन् कई विज्ञानों का समुच्चय है। राज्य के प्रत्येक पहलू से सम्बन्ध रखने वाली बातें इतनी पेचीदा हो गई हैं और प्रत्येक से सम्बन्ध ज्ञानपुञ्ज इतना सुविशाल एवं विशद हो गया है कि एक राज्य-विज्ञान उन सबका समुचित अध्ययन नहीं कर सकता। अतः यह अनुभव किया जाता है कि राज्य के जितने पहलू हों उतने ही राज्य-विज्ञान भी होने चाहिये और यह बात तथ्यों के अनुकूल भी होगी। फ्रेन्च लेखक राज्य-विज्ञान का प्रयोग प्रायः बहुवचन में करते हैं।

किन्तु अधिकांश लेखक इसका प्रयोग एकवचन में ही करना पसन्द करते हैं। उनका यह विचार है कि स्मृति शास्त्र, सार्वजनिक राजस्व, सार्वजनिक प्रशासन, वैधानिक इतिहास आदि स्वतन्त्र राज्य-विज्ञान नहीं है, वरन् समवर्गीय सामाजिक विज्ञान हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा घनिष्ट है कि इन्हें स्वतन्त्र राज्य-विज्ञान मानना उचित नहीं होगा। डॉ० गार्नर का विचार है कि विभिन्न दृष्टिकोणों से दोनों वचनों में इसका प्रयोग उचित है। बहुवचन का प्रयोग उस समय करना उचित है जबकि हम राज्य के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित विज्ञानों को उसमें सम्मिलित करना चाहें, किन्तु जब हम केवल अकेले राज्य के सम्बन्ध में विचार करें तो एक वचन का प्रयोग उचित होगा।

राज्य-विज्ञान के अस्तित्व पर विचार—

अब तक इस सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, वह यह मान कर ही किया गया है कि राज्य का एक विज्ञान है, किन्तु ऐसे भी कतिपय लेखक हैं, जो ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार राज्य एवं शासन का कोई वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं। ऑगस्ट कॉमटे ने राज्य के अध्ययन के एक विज्ञान होने के दावे को निम्न कारण बताते हुये स्वीकार नहीं किया—(१) प्रथम, इसकी पद्धतियों, इसके सिद्धान्तों एवं निर्णयों के विषय में कोई सर्वमान्य मत नहीं है तथा (२) इसके विकास में अविच्छिन्नता नहीं है तथा (३) इसमें उन तत्वों का अभाव है जिनसे पूर्व-ज्ञान का

आधार मिला करता है। बकल का तो यहाँ तक कहना है कि राजनीति का विज्ञान होना तो दूर रहा, वह सब कलाओं में भी अत्यन्त अविकसित है। इन लेखकों को राज्य-विज्ञान के अस्तित्व को मानने में जो संकोच है उसके कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

इसका एक कारण तो यह है कि कोई भी राजनीतिक प्रश्न ऐसा नहीं जिस पर विद्वान् एकमत हों। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्र सस्थाओं की बात लीजिये। कुछ विद्वान् मानते हैं कि स्वतन्त्र संस्थाएँ केवल एक-राष्ट्रीय राज्यों में सफलतापूर्वक कार्य कर सकती हैं। इनके विपरीत कुछ लेखक कहते हैं सभ्य जीवन के लिये एक ही राज्य में विभिन्न उपराष्ट्रों का संयोग उतना ही आवश्यक है जितना समाज के निर्माण के लिये व्यक्तियों का एक साथ मिल कर रहना। कुछ लेखक जनतन्त्र को शासन का सर्वोत्तम रूप मानते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो उसे अयोग्य एवं मूर्खों का राज्य समझ कर उससे घृणा करते हैं। इसी प्रकार द्वि-सदनी विधान मंडलों की उपयोगिता के विषय में भी मतभेद है। इस सम्बन्ध में और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु उसकी कोई आवश्यकता नजर नहीं आती। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि राज्य-विज्ञान में, भौतिक विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की तरह कोई निरपेक्ष, अकाट्य आधारभूत सिद्धान्त नहीं हैं।

दूसरा कारण है—राजनैतिक घटनाओं की विशदता, जटिलता, विविधता एवं प्रचुरता जिससे इनके अध्ययन में वैज्ञानिक उपायों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। राज्य तथा शासन की घटनायें बहुत ही अनिश्चित होती हैं; भौतिक जगत की घटनाओं के समान उनमें वह निश्चलता, एकरूपता तथा नियमितता नहीं मिलती जिनके द्वारा भौतिक विज्ञान जैसे विद्वानों में पूर्व-ज्ञान संभव होता है।

इस कथन में बहुत कुछ सत्य है। राजनैतिक घटनाओं में वास्तव में इतनी जटिलता एवं चंचलता होती है कि यह बताना कठिन है कि एक राजनैतिक संस्था को एक देश में उतनी ही सफलता मिलेगी जितनी अन्य किसी देश में उसे मिल चुकी है। जिन कारणों से मनुष्य कार्य करते हैं वे इतने जटिल एवं अनिश्चित होते हैं कि उनको ठीक-ठीक निर्धारित करना असम्भव है और उनके कार्य के परिणाम भी इतने जटिल और अनिश्चित होते हैं कि उनके विषय में भविष्यवाणी हो ही नहीं सकती।

इस कारण राजनैतिक घटनाओं के सम्बन्ध में ताप या ध्वनि के नियमों की तरह कोई नियम नहीं बनाये जा सकते जो सुनिश्चित हों।

इसी बात को हम दूसरे ढंग से भी कह सकते हैं। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि राजनीतिक घटनाएँ भौतिक घटनाओं की अपेक्षा अधिक जटिल तथा परिवर्तनीय हैं, क्योंकि राजनीतिक घटनाओं में मन तथा भावना का भी कार्य होता है, जो भौतिक घटनाओं में नहीं होता। उन पर मानवीय इच्छाओं एवं आकांक्षाओं का ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसके समान कोई प्रभाव भौतिक घटनाओं पर नहीं पड़ता। ओषजन के एक अणु का व्यवहार हर समय तथा हर स्थान पर समान रहेगा, किन्तु हमें इसका कोई भी विश्वास नहीं कि कोई राजनीतिक संस्था सभी युगों एवं स्थानों में एक समान कार्य करेगी। भौतिक घटनाओं में जो परिवर्तन होते हैं, वे पूर्वगामी भौतिक परिवर्तनों के कारण होते हैं, जिनका अनुमान सरलता के साथ लगाया जा सकता है, किन्तु राजनीतिक घटनाओं के निर्धारण में मानव तत्व का भी समावेश हो जाता है, जिसका हिसाब लगाना असम्भव है। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत में, परिणामों का निर्धारण विशुद्ध रूप, में विषयमूलक तथ्यों द्वारा होता है, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में आन्तरिक, मानसिक अथवा चेतनात्मक तथ्यों का प्रभाव भी एक बड़ी सीमा तक रहता है। यह मानवीय तत्व, मानवी इच्छा तथा प्रयोजन न केवल समस्त राजनीतिक, वरन् सामाजिक घटनाओं को भी अत्यन्त जटिल, परिवर्तनीय तथा अनियमित बना देता है। "सामाजिक तथ्य सामान्य नियमों की अभिव्यक्ति के रूप में नियमित समय पर घटित नहीं होते, वरन् व्यक्तियों के समुदायों द्वारा किये हुए कार्यों के रूप में घटित होते हैं।"* उन्हें हम जब चाहें तब प्रस्तुत नहीं कर सकते। उनमें आवश्यक संबंध की खोज करने के लिये उनका परीक्षण नहीं किया जा सकता। इन विशेषताओं के कारण ही कॉमटे ने यह परिणाम निकाला था कि राजनीतिक घटनाओं में न केवल विकास की क्रमागतता नहीं होती, वरन् उनमें वह तत्व भी नहीं होता जो पूर्वज्ञान का आधार होता है। एक दूसरी कठिनाई और भी है। राज्य-विज्ञान का विद्यार्थी अपनी विषय-वस्तु की प्रकृति के कारण अपने अनुसंधान में सहायता के कृत्रिम साधनों से काम नहीं ले सकता और न वह वैज्ञानिक यंत्रों आदि का ही

---

*Garner: Political Science and Government. p. 16.

प्रयोग कर सकता है, जिनसे भौतिक विज्ञानों में यथार्थ निष्कर्ष प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

राजनीतिक घटना के अध्ययन की इन मर्यादाओं एवं कठिनाइयों के स्वीकार कर लेने का अभिप्राय यह स्वीकार कर लेना नहीं है कि राजनीति का कोई विज्ञान ही नहीं है। उनके कारण इस क्षेत्र में वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग असभव नहीं होता। सामाजिक तथा राजनीतिक तथ्यों का निरूपण, पंजीबंधन एवं वर्गीकरण हो सकता है और उनके आधार पर सामान्य निगमन किया जा सकता है। इस प्रकार के पर्यवेक्षणों द्वारा प्राप्त ज्ञान संचार करने योग्य एवं प्रमाणित करने योग्य होता है। यह भी नहीं माना जा सकता कि राजनीतिक घटनाओं में कोई नियमितता तथा स्थिरता नहीं है। वे मानव प्रकृति के परिणाम हैं जो समय और स्थान के साथ बदलती नहीं वरन् नित्य हैं और "मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों में स्थिरता तथा एकरूपता होती है। जिनके कारण हम एक नियत समय में, मनुष्यों के कार्यों को उन्हीं कारणों का परिणाम मानते हैं, जिनके कारण पूर्व काल में भी वैसे ही कार्य मनुष्यों ने किये थे। कार्यों का संग्रह किया जा सकता है, उनमें परस्पर संबंध भी स्थापित किया जा सकता है, उनको व्यवस्थित रूप मे लाया जा सकता है और साधारणतया समान रूप से कार्य करने वाली प्रवृत्तियों के परिणामों की तरह उनका अध्ययन भी किया जा सकता है।"* अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि राज्य की घटनाओं में एक व्यवस्था एवं नियमितता होती है और उनके परिणामों में संबंध होता है, जो स्थिर नियमों की क्रिया के परिणाम हैं।

राजनीति को एक विज्ञान का रूप देने के लिए इतना ही आवश्यक है कि राजनीतिक घटनाओं का अनुसंधान एक निश्चित योजना के अनुसार हो, जिसमें कार्य-कारण संबंधों का यथासंभव पूरा ध्यान रहे और वैज्ञानिक अनुसंधान के सुनिश्चित एवं सर्वमान्य नियमों का पालन किया जाय। शेपर्ड के अनुसार वैज्ञानिक अनुसंधान की तीन प्रक्रियाएँ होती हैं; प्रथम, तथ्यों का संग्रह; द्वितीय, उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करना और तृतीय, उनके आधार पर आधारभूत सिद्धान्तों अथवा नियमों का निर्धारित करना।† हम आगे देखेंगे कि राज्य के अध्ययन में इस पद्धति

*Bryce, : quoted by Garner, op. cit p. 12.

†गार्नर : राज्य-विज्ञान और शासन, पृष्ठ १३, पाद-टिप्पणी में उद्धृत।

का प्रयोग होता है। अतः राज्य-विज्ञान को एक विज्ञापन मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

यह ठीक है कि राज्य-विज्ञान भौतिक-विज्ञान या रसायन-विज्ञान की भाँति एक यथार्थ विज्ञान नहीं हो सकता। भौतिक-विज्ञानों ने जो पूर्णता प्राप्त कर ली है वह राज्य-विज्ञान को प्राप्त नहीं है। उसके नियमों को उसी सुनिश्चित रूप से हम व्यक्त नहीं कर सकते जिस रूप में भौतिक-नियम व्यक्त किये जा सकते हैं और न उसमें भावी घटनाओं के सम्बन्ध में उसी निश्चय के साथ भविष्यवाणी ही की जा सकती है। राज्य-विज्ञान ने जिन नियमों की खोज की है वे राजनीतिक घटनाओं द्वारा प्रदर्शित उन प्रवृत्तियों के कथनमात्र हैं जिन पर दूसरी घटनाओं का विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। इस प्रकार राज्य-विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह यथार्थ विज्ञान नहीं है। इसकी अपूर्णता के कारणों पर हम ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु इस अपूर्णता के कारण इसका विज्ञान कहलाने का दावा मिथ्या नहीं हो जाता। जैसा हम अभी बतला चुके हैं, विज्ञान की वास्तविक कसौटी अध्ययन विधि है, अटल नियम निर्धारित करने की क्षमता नहीं। अन्तरिक्ष विज्ञान के समान कुछ प्राकृतिक विज्ञान ऐसे भी हैं जो सर्वसम्मति से विज्ञान कहे जाते हैं किन्तु उनमें अब तक अटल नियमों की खोज नहीं हो सकी है। उनके स्वीकृत तत्वों का हमारा ज्ञान किसी भी समय इतना पूर्ण नहीं होता जिसके आधार पर ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सके। अतः हमारा निष्कर्ष यही है कि राज्य-विज्ञान एक विज्ञान है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

राज्य-विज्ञान की पद्धतियाँ—

हम ऊपर बतला चुके हैं कि राज्य तथा शासन की घटनाओं का अध्ययन वैज्ञानिक रीति से किया जा सकता है। राज्य-विज्ञान अपने अनुसंधानों में पर्यवेक्षण, वर्गीकरण तथा व्याख्या की वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें पर्यवेक्षण की पद्धति का प्रयोग वैसे ही किया जाता है जैसे भौतिक तथा रसायन विज्ञानों में होता है। यह एक सामाजिक विज्ञान है, अतः इसे अनुसंधान के लिए एक ऐसी रीति का प्रयोग करना पड़ता है जो उनसे भिन्न होती है, जिनका प्रयोग भौतिक तथा प्राणि-विज्ञान करते हैं। इसे परीक्षण की अपेक्षा पर्यवेक्षण पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है। वह ऐतिहासिक

असमानताओं दोनों का पर्यवेक्षण करना चाहिए। देश के राजनीतिक अनुभव तथा शिक्षण के साथ-साथ उसकी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक अवस्था पर भी विचार करना चाहिए। जिन देशों की तुलना की जाय वे परस्पर अधिक असमान न हों। रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत शताब्दियों तक कैसे शान्ति क़ायम रही, उसकी रीतियों के अध्ययन से वर्तमान काल में अधिक लाभ की आशा नहीं है; क्योंकि हमारे युग और उस युग मे विशाल अन्तर है। परिणाम निकालने मे शीघ्रता नहीं होनी चाहिये और न अपनी इच्छा के अनुकूल परिणाम निकालने का ही प्रयत्न करना चाहिये। हम जिस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचें, वह भी अस्पष्ट न हो। एक सुलझा हुआ विचारक तुलनात्मक पद्धति से बड़ा लाभ उठा सकता है।

ऐतिहासिक पद्धति—

यह तुलनात्मक प्रणाली का एक विशेष रूप ही है। हम ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग उसी समय करते हैं, जब कि हम सावधानी के साथ उनका संपादन तथा उनकी तुलना करें। बिना किसी क्रमबद्धता के तथ्यों का संकलन व्यर्थ होगा। इस सबंध मे हम पिछले पृष्ठों में विचार कर चुके हैं। अतः इस बात को दोहराने की आवश्यकता नहीं कि राजनीतिक सस्थाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का ऐतिहासिक आधार होना चाहिए, अर्थात् राजनीतिक घटना का अध्ययन उसके अतीत के ज्ञान के प्रकाश में ही समुचित रूप से किया जा सकता है। पॉलक के शब्दों में ऐतिहासिक पद्धति राजनीतिक संस्थाओं की वर्तमान अवस्था और उनकी प्रवृत्ति को उनके विकास के प्रकाश में समझने का प्रयत्न करती है, उनकी वर्त्तमान अवस्था के विश्लेषण के आधार पर नहीं।

तुलनात्मक पद्धति के समान ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग भी सावधानी के साथ करना चाहिए। ऐतिहासिक तथ्य स्वयं न किसी बात को सिद्ध करते हैं और न किसी बात का खण्डन करते हैं। उनका महत्त्व तो उसी समय प्रकट होता है जब उनकी व्याख्या की जाती है। इन तथ्यों की समुचित व्याख्या के लिए स्वस्थ तीव्र निर्णय-शक्ति तथा निष्पक्षता की आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या करते समय पक्षपात या पूर्वकल्पित विचारों का प्रभाव नहीं होने देना चाहिये। ऐतिहासिक घटनाओं की समानता के कारण जो भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उससे भी बचना चाहिये।

पर्यवेक्षण प्रणाली—

कुछ लेखकों ने पर्यवेक्षण प्रणाली(Method of Observation)को राज्य-विज्ञान के अध्ययन के लिए एक भिन्न प्रणाली माना है। लॉर्ड ब्राइस ने अमेरिकन कॉमनवेल्थ तथा मॉडर्न डेमॉक्रेसीज़ नामक अपने ग्रन्थों की रचना में इसका सदुपयोग किया है। उसने संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स, आस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैंड, कनाडा और न्यूज़ीलैंड के शासनों का वर्णन तथा उनमें प्रजातन्त्र के गुणों एव उसकी मात्रा का मूल्याङ्कन अपने पर्यवेक्षण के आधार पर ही किया है। वह स्वयं उन देशों में गये और वहाँ के शासकों तथा राजनीतिज्ञों के साथ इस विषय में वार्त्ता की। किसी भी अध्ययन में तथ्यों का वैयक्तिक निरीक्षण तथा वास्तविकता से सम्पर्क अत्यन्त आवश्यक है। राजनीतिक व्यापारों के अध्ययन मे तो इसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इस पद्धति को स्वतन्त्र पद्धति कहना उचित होगा या नहीं इसमें सन्देह है। यह सामयिक मामलों के संबन्ध में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग मात्र ही है। देशों के प्राचीन संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के स्थान में यह समकालिक शासनों के कार्यों की तुलना करती है। इस प्रकार यह प्रथक् पद्धति नहीं है।

दार्शनिक पद्धति—

परीक्षणात्मक पद्धति, तुलनात्मक पद्धति तथा उसके भेद, ऐतिहासिक तथा पर्यवेक्षण-प्रणाली व्यप्तिमूलक (Inductive) हैं। वे अतीत या वर्तमान अनुभव के तथ्यों से आरम्भ होती हैं और उसके आधार पर साधारण निष्कर्षों को प्राप्त करती हैं। इनके अतिरिक्त एक और भी भिन्न प्रणाली है, जिसका अतीत तथा वर्तमान में कुछ लेखकों ने समर्थन किया है। यह दार्शनिक पद्धति है। यह अपनी प्रकृति में निगमनात्मक(Deductive) है। यह पद्धति तथ्यों के आधार पर कानून या नियम निर्धारित नहीं करती, वरन् राज्य की प्रकृति तथा उद्देश्यों के सम्बन्ध में अनुभव अथवा दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित मान्यताओं को स्वीकार कर उनके अनुरूप सस्थाओं का निर्माण करती है, अर्थात् उनके आधार पर आदर्श का निर्माण करती है और उनके प्रकाश में वर्तमान स्थितियों की समीक्षा करती है। इस प्रणाली का प्रयोग प्लेटो, रूसो, काण्ट और बोसान्के ने किया था। ऐसे विचारक वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यवहार के आधारभूत

सामान्य सिद्धान्तों से ही सम्बन्ध रखते हैं। जो आदर्श राज्य की स्थापना करना चाहते हैं, वे इसी प्रणाली को अपनाते हैं। जब राज्य-विज्ञान वर्तमान संस्थाओं के वर्णन और विश्लेषण मात्र से ही सन्तुष्ट न हो कर 'आदर्श' की खोज करना चाहता है तब उसे व्याप्तिमूलक पद्धति की अपेक्षा दार्शनिक पद्धति का आश्रय अधिक लेना पड़ता है।

अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राज्य-विज्ञान की समुचित पद्धति न तो पूर्ण रूप से अनुभवजन्य तथा व्याप्तिमूलक हो सकती है और न पूर्ण रूप से दार्शनिक और निगमनात्मक ही, उसमें इन दोनों का समुचित मिश्रण होना चाहिए। वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, उनका मिश्रण संभव है। अन्य अध्ययनों में भी व्याप्ति (Induction) और निगमन (Deduction) दोनों एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। अतः राजनीतिक अध्ययन में यथार्थवादी मनोवृत्ति की आदर्शात्मक दृष्टिकोण से पूर्ति करना चाहिये। आदर्शवाद के अभाव में यथार्थवाद अपनी भावना में संकीर्ण रहेगा और यथार्थवाद के अभाव में आदर्शवाद निर्मूल होगा। एक लेखक ने सत्य ही कहा है कि 'सच्चे इतिहासवेत्ता को दर्शन-शास्त्र का मूल्य स्वीकार करना चाहिए और सच्चे दार्शनिक को इतिहास से मन्त्रणा लेनी चाहिये।' आखिर इतिहास अनुभव द्वारा शिक्षा देने वाला दर्शन-शास्त्र ही है।

कुछ लेखकों ने राजनीतिक अध्ययन के लिए सामाजिक, प्राणि-वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक पद्धतियों की भी चर्चा की है। ये वास्तव में अनुसंधान की प्रणालियाँ नहीं हैं, वरन् राज्य तथा शासन के विभिन्न व्यापारों की परीक्षा करने के लिए केवल दृष्टिकोण हैं। इनके सम्बन्ध में यथास्थान विचार किया जायगा।

अध्याय २

राज्य-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

इस अन्योन्याश्रित जगत में किसी भी वस्तु का अन्य वस्तुओं से पृथक् अस्तित्व सभव नहीं है। प्रत्येक वस्तु का किसी अन्य वस्तु से न्यूनाधिक सम्बन्ध होता है। राज्य भी एकाकी नहीं है; उसका ब्रह्माण्ड में अनेक वस्तुओं से संबंध है। उसका सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन अन्य वस्तुओं से उसके सम्बन्ध के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। एक सामाजिक विज्ञान के रूप में राज्य-विज्ञान का समाज-विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विज्ञानों से जो समाज में सगठित मनुष्यों का अध्ययन करते हैं, घनिष्ट सम्बन्ध है। इन विज्ञानों का अध्ययन किये बिना राज्य-विज्ञान का अध्ययन वैसे ही निष्फल होगा, जैसे रसायन-शास्त्र के बिना प्राणि-विज्ञान या गणित के बिना यंत्र-विज्ञान का अध्ययन करना। अतः हम यहाँ राज्य विज्ञान का दूसरे विज्ञानों से, विशेषकर सामाजिक-विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है, इस पर विचार करेंगे।

समाज-विज्ञान से संबंध—

राज्य-विज्ञान का समाज-विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध होना चाहिए क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था, जो इसका विषय है, सामाजिक व्यवस्था में निहित और उससे प्रभावित होती है जिसका प्रतिपादन समाज-विज्ञान करता है। जिस प्रकार कोई ऐसी निश्चित विभाजक रेखा नहीं है जो सामाजिक जीवन तथा राजनीतिक जीवन में भेद कर सके, उसी प्रकार इन दोनों विज्ञानों की सीमाओं का निश्चय करने वाली कोई विभाजक रेखा नहीं है। इन दोनों विज्ञानों का परस्पर अनेक बातों में संबंध है और वे परस्पर एक दूसरे की सहायता भी करते हैं। राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान को राज्य के संगठन तथा उसके कामों का ज्ञान कराता है और वह उससे राज-सत्ता की उत्पत्ति तथा सामाजिक नियंत्रण के तरीकों का ज्ञान प्राप्त करता है। समाज-विज्ञान किस सीमा तक राजनीतिक सिद्धान्त को सहा-

बता देता है यह बान्ज़ के इस कथन से स्पष्ट है कि राजनीतिक सिद्धान्त में जो परिवर्तन गत ३०—४० वर्षों से हुए हैं, उनमें से बहुत से समाज-विज्ञान द्वारा निर्दिष्ट ढंगों से ही हुए हैं। अतः राज्य-विज्ञान के विद्यार्थी को कुछ-कुछ समाज-शास्त्री भी होना चाहिए।

किन्तु दोनों शास्त्र एक दूसरे से भिन्न हैं। उनकी समस्याएँ तथा उनके विषय-क्षेत्र समान नहीं हैं। व्यापक रूप में, इन दोनों में भेद वही है जो एक साधारण तथा विशिष्ट सामाजिक-विज्ञान में होता है। समाज-विज्ञान आधारभूत सामाजिक-विज्ञान है। वह सामान्य सामाजिक-विज्ञान है और सामाजिक जीवन के आधारभूत तथ्यों पर विचार करता है। वह सामान्य सामाजिक-विज्ञान इस अर्थ में है कि वह मानव जीवन के समस्त सामाजिक-संबधों—क़ानूनी, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि—पर विचार करता है; वह केवल राजनीतिक अथवा शासक तथा शासित के सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है। समाज-विज्ञान आदिम समाज से ले कर आधुनिक समाज पर तथा परिवार, पाठशाला, आर्थिक समुदाय, स्थानीय संस्थाओं, राष्ट्रीय राज्य आदि सभी प्रकार की संस्थाओं पर विचार करता है। सारांश में, समाज-विज्ञान का सम्बन्ध मानव प्रकृति की सामान्य तथा असामान्य सभी अभिव्यक्तियों से है। इसके विपरीत राज्य-विज्ञान उन समुदायों पर विचार नहीं करता जिनमें राजनीतिक नियंत्रण विकसित नहीं हो पाया है। उसका सम्बन्ध केवल राज्य और शासन से है जो बड़ी उच्च कोटि की सगठित सस्थाए हैं और जो सामाजिक विकास के ऊँचे स्तर को प्रकट करती हैं। इस प्रकार समाज-विज्ञान का विषय-क्षेत्र राज्य-विज्ञान के विषय-क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है। समाज-विज्ञान समस्त मानव समुदाय का विज्ञान है किन्तु राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध समाज के केवल उस भाग से है जो राजनीतिक दृष्टि से संगठित है अर्थात् जिसमें शासक और शासित के सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं। इस अर्थ में राज्य विज्ञान एक विशिष्ट सामाजिक-विज्ञान है।

दोनों विज्ञानों में एक दूसरा अन्तर यह है कि समाज-विज्ञान तो हमारे समाज में वर्तमान तथा अतीत में प्रचलित रीति-रिवाजों, आचारों तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति एवं विकास पर विचार करता है, किन्तु राज्य—विज्ञान राज्य के संगठन तथा प्रजा पर नियंत्रण रखने के साधनों का विश्लेषण करता है। वह उत्पत्ति तथा विकास के प्रश्नों पर

विचार नहीं करता। इनके अतिरिक्त एक दूसरा भेद भी विचारणीय है। राज्य-विज्ञान केवल राज्य के वर्तमान संगठन तथा रचना और उनके पूर्व रूपों का वर्णन करके ही सतुष्ट नही हो जाता, वरन् वह राज्य क्या है, राज्य कैसा होना चाहिए और उसकी मुख्य विशिष्टताएँ क्या हैं आदि बातों के सम्बन्ध में भी विचार करता है, अर्थात् वह राजनीतिक संगठन के आदर्श रूप पर भी विचार करता है। समाज-विज्ञान का यह आदर्श-वादी पहलू नहीं होता। चूंकि समाज में राजनीतिक सगठन का विकास बाद में होता है, अतः राज्य-विज्ञान का आरंभ भी समाज-विज्ञान के बाद होता है। मानव-संस्थाओं के नियमों एवं तथ्यों का अनुसंधान करना समाज-विज्ञान का विषय है; राज्य-विज्ञान तो उन्हें स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार इन दोनों विज्ञानों में घनिष्ट संबंध होते हुए भी दोनों की समस्याएँ और दोनों के विषय-क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। राज्य-विज्ञान को एक विशिष्ट सामाजिक-विज्ञान और समाज-विज्ञान को एक सामान्य अथवा आधारभूत सामाजिक-विज्ञान कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य-विज्ञान समाज-विज्ञान की एक शाखा है।

इतिहास से संबंध—

राज्य-विज्ञान तथा इतिहास में भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह घनिष्ठता इस कारण है कि राज्य तथा उसकी संस्थाऐं ऐतिहासिक विकास के परिणाम हैं और इसलिये उनकी उत्पत्ति एव विकास का ज्ञान प्राप्त किए बिना, जो इतिहास से प्राप्त होता है, उनका ज्ञान संभव नहीं। अतः राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन का आधार ऐतिहासिक होना चाहिए। उनके अतीत के उत्थान, विकास एवं पतन के विवरण द्वारा ही राज्य-विज्ञान के विद्यार्थी को वे उपादान मिलते हैं जिनके आधार पर वह तुलना तथा अनुमान करता है और सामान्य निष्कर्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार के आधार के बिना वह अपने अध्ययन में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार इतिहास राज्य-विज्ञान के लिये बहुत कुछ उपादेय सामग्री प्रदान करता है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि समस्त इतिहास इस प्रकार सहायक नहीं होता; विशुद्ध वर्णन के रूप में इतिहास से राज्य-विज्ञान के विद्यार्थी को कोई लाभ नहीं पहुँचता। विज्ञान, कला, लोकाचार, शिष्टाचार, युद्ध, राजवंशों के उत्थान एवं पतन, धार्मिक युद्ध, बौद्धिक प्रगति आदि के इतिहास में उसकी कोई

दिलचस्पी नहीं होती। इन बातों से उसे कोई सहायता नहीं मिलती। उसका मुख्य प्रयोजन तो राजनीतिक संस्थाओं के इतिहास से ही होता है, उस इतिहास से जो राज्य के संगठिन नियंत्रण के विकास पर प्रभाव डालता है। इसलिए फ्रीमैन की यह उक्ति कि समस्त इतिहास अतीत की राजनीति है, सत्य नहीं है।

इस प्रकार यदि राज्य-विज्ञान का मूलाधार इतिहास है तो यह भी सत्य है कि घटनाओं तथा आन्दोलनों के राजनीतिक मर्म को समझे बिना इतिहास भी अधूरा रहता है। प्रो० सीले ने यह ठीक कहा है कि जब इतिहास राज्य-विज्ञान से अपना सबध विच्छेद कर लेता है तब वह कोरा साहित्य बन जाता है। उदाहरणार्थ, यदि विगत चार दशाब्दियों का भारतवर्ष का इतिहास विविध आन्दोलनों के राजनीतिक महत्त्व को प्रकट नहीं करता तो वह व्यर्थ ही है। राज्य विज्ञान से संबध नष्ट हो जाने पर इतिहास अपने बहुत कुछ महत्त्व को भी खो बैठेगा। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि समस्त राज्य-विज्ञान इतिहास है। जिस प्रकार इतिहास का अधिकांश ऐसा है जिसका कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं, उसी प्रकार राज्य-विज्ञान में भी बहुत कुछ ऐसा है जिसे इतिहास में स्थान नहीं दिया जा सकता, जैसे राजनीतिक सिद्धान्त। उसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, उसका आधार तो नीति अथवा मनोविज्ञान है। इस प्रकार राज्य विज्ञान इतिहास को अपेक्षा अधिक संकुचित है और विशद भी है।

राज्य-विज्ञान तथा इतिहास की पारस्परिक पूरक प्रकृति सीले की इस प्रसिद्ध उक्ति से बड़ी अच्छी तरह प्रकट होती है—"इतिहास राज्य-विज्ञान के बिना निष्फल है और इतिहास के बिना राज्य-विज्ञान निर्मूल है।"* बर्गेस ने भी इसी भाव में कहा है कि यदि इन दोनों को पृथक् पृथक् कर दें तो एक शव-मात्र नहीं तो पंगु अवश्य हो जायगा और दूसरा केवल आकाश-कुसुम।'

अर्थ-शास्त्र से संबंध—

राज्य-विज्ञान का अर्थ शास्त्र से भी निकट संबंध है। यह सम्बन्ध वास्तव में इतना घनिष्ठ है कि अर्थ शास्त्र के प्राचीन लेखकों ने अर्थ-शास्त्र-

*History without Political Science has no fruit; Political Science without History has no root".—Seeley

को राज्य के सामान्य विज्ञान की एक शाखा मान कर उसे राजनीतिक अर्थ-शास्त्र का नाम दिया। आधुनिक लेखक ऐसा नहीं मानते। वे इन दोनों को स्वतन्त्र परन्तु परस्पर सहकारी विज्ञान मानते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य की दो भिन्न प्रकार की परन्तु सम्बन्धित क्रियाओं से होता है। राज्य-विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्र में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसका कारण यह है कि राज्य का एक आर्थिक पहलू भी है; राजनीतिक व्यवस्था का आर्थिक व्यवस्था से गहरा सबंध है। समाज का राजनीतिक संगठन जिस रूप को प्राप्त करता है उस पर तथा उसके कार्यक्षेत्र पर उसके आर्थिक संगठन के रूप एवं प्रकृति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। यदि आर्थिक संगठन में कोई बड़ा परिवर्तन होता है तो राजनीतिक संगठन मे भी परिवर्तन हो जाता है। समाज में जब पशुचारण का स्थान कृषि ने लिया और कृषि-युग से समाज ने औद्योगिक युग मे प्रवेश किया तो इन परिवर्तनों के फलस्वरूप राजनीतिक संगठन मे भी महत्त्वपूर्ण परिवतन हो गये। आधुनिक प्रजातन्त्रों के रूप तथा भावना का निर्धारण भी उद्योग के वर्तमान पूँजीवादी रूप द्वारा ही होता है। अनेक राजनीतिक आन्दोलनों के मूल मे आर्थिक कारण होते हैं और उनके द्वारा ही उनका निर्देशन होता है। दूसरी ओर, किसी देश की सम्पत्ति का उत्पादन एवं वितरण शासन के रूप पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। रूप में नवीन शासन-व्यवस्था की स्थापना के कारण राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन एवं वितरण के साधनों में भी आमूल परिवर्तन हो गए। इसी प्रकार जर्मनी के आर्थिक जीवन पर नात्सीवाद के प्रादुर्भाव का भारी प्रभाव पड़ा। अपने ही देश में विदेशी नौकरशाही के हाथों से जब राजसत्ता जन-प्रतिनिधियों के हाथों में पहुँची, विशेषकर उन प्रान्तों में जहाँ कॉंग्रेस ने मन्त्रिमंडलों का निर्माण किया, तब जनता की आर्थिक दशा में अनेक प्रत्यक्ष सुधार हुए। इस प्रकार राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्थायें एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं।

राजनीतिक तथा आर्थिक तथ्यों की अन्योन्याश्रयता श्रम विधान, व्यापारिक नियमों तथा मुद्रा एवं विनिमय की समस्याओं आदि से भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। ये मुख्यतः आर्थिक समस्याये हैं किन्तु इनका समाधान राजनीतिक कार्य द्वारा ही संभव है। इनका समाधान चाहे जो कुछ भी हो, इनका प्रभाव उन आर्थिक अवस्थाओं पर पड़ता है जिनमें वे समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। संक्षेप में राज्य-समाजवाद (State Socia-

lism) का सिद्धान्त तथा प्रयोग स्पष्ट रूप में राज्य-विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्र के सम्बन्ध की घनिष्ठता को प्रकट करता है।

अंक-शास्त्र से सम्बन्ध—

अङ्क-शास्त्र (Statistics) में ऐसे तथ्यों या संग्रह किया जाता है जो अङ्कों के रूप में प्रकट किये जा सकें और किसी विषय के अनुसंधान पर प्रकाश डालने के लिए जिनकी तालिकायें तैयार की जा सकें। यह आधुनिक विज्ञान है और राजनीतिक अनुसंधानों में आजकल इसका खूब उपयोग होने लगा है।

इसके द्वारा हमें वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्थाओं का एक चित्र प्राप्त हो जाता है, जिसके आधार पर राजनीतिक, प्रशासक तथा व्यवस्थापक अपनी नीतियों का निर्माण करते हैं। किसी देश का शासक नियमादि का उस समय तक बुद्धिमत्तापूर्वक निर्माण नहीं कर सकता, जब तक कि जनता की आर्थिक, राजस्व-सम्बन्धी तथा सामाजिक दशाओं का उसे पूरा-पूरा ज्ञान न हो। अतः समस्त सभ्य शासनों में एक पृथक अंक-विभाग होता है जो देश की जनता की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अवस्था सम्बन्धी अंकों तथा तथ्यों का क्रमबद्ध रूप मे संग्रह करता है। राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन में अक-शास्त्र से उसी प्रकार सहायता मिलती है, जैसे रोग-निदान मे अणुवीक्षण-यंत्र से मिलती है। तथ्यों की क्रमबद्ध व्यवस्था से प्रशासन तथा राजनीतिज्ञ को वैसा ही पथ-प्रदर्शन मिलता है, जैसा कि चिकित्सक को रोगी अंग की ठीक-ठीक दशा जानने में अणुवीक्षण यंत्र द्वारा प्राप्त होता है। इसके द्वारा हमें घटनाओं के कार्यकारण सम्बन्ध को समझने में सहायता मिलती है और सामाजिक जगत में क़ानून का कहाँ तक राज्य है इसका भी पता लग जाता है। अक-शास्त्र के बिना राज्य-विज्ञान को राजनीतिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी असुविधा होगी।

नीति-शास्त्र से सम्बन्ध—

राज्य का सामाजिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक पहलुओं के अतिरिक्त एक नैतिक पहलू भी है जिसके कारण राज्य-विज्ञान तथा नीति शास्त्र में भी सम्बन्ध स्थापित हो गया है। अरस्तू तथा प्लेटो जैसे प्राचीन लेखकों

की दृष्टि में राज्य के नैतिक पहलू का उसके आर्थिक तथा सामाजिक पहलुओं से कहीं अधिक महत्व था और इस कारण वे राज्य-विज्ञान के अध्ययन के लिये नीति-शास्त्र का अध्ययन परम आवश्यक समझते थे। वे राज्य को एक नैतिक संगठन मानते थे, जिसके द्वारा मानव नैतिक पूर्णता प्राप्त कर सकता है और इस कारण वे राज्य-विज्ञान को जिसका सम्बन्ध नागरिक के राजनीतिक जीवन से है, नीति-शास्त्र (Ethics) का ही एक अग मानते थे, जो मनुष्य के आदर्श जीवन का विवेचन करता है। प्लेटो तथा अरस्तू का यह साधारण विचार था कि श्रेष्ठ नागरिक श्रेष्ठ राज्य मे ही हो सकता है और निकृष्ट राज्य में निकृष्ट नागरिक होते हैं। राज्य का उद्देश्य अपने नागरिकों के श्रेष्ठ जीवन की अभिवृद्धि करना है और नीति-शास्त्र का यह कार्य है कि वह श्रेष्ठ जीवन की प्रकृति का चित्रण करे। व्यक्ति तथा समाज जिस सर्वोच्च हित की साधना करना चाहते हैं उनके ज्ञान के लिये राज्य-विज्ञान को नीति-शास्त्र की शरण लेनी पड़ेगी। प्लेटो और अरस्तू ने राज्यविज्ञान और नीतिशास्त्र को पृथक् नहीं किया। उनकी दृष्टि मे वे समाज के विज्ञान के दो भिन्न अग थे। प्लेटो की 'रिपबलिक राज्य-विज्ञान का उतना ही विवेचन करती है जितना नीति शास्त्र का। मैकियावेली तथा हॉब्स जैसे आधुनिक लेखकों ने इन दोनों में पृथक्ता स्थापित करके राज्य-विज्ञान को नीति-शास्त्र से स्वतंत्र एवं भिन्न विज्ञान बनाया।

इस प्रकार का विचार ग़लत है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे से संबंधित हैं। राज्य-विज्ञान का काम केवल राज्य के आदेशों का वर्णन करना ही नही, वरन् यह भी समझना है कि उसे क्या आदेश देना चाहिए। राज्य का औचित्य उन नैतिक मूल्यों में है जिनकी प्राप्ति मे वह हमें सहायता देता है। नीति-शास्त्र के आधार के बिना राज्य-विज्ञान अधूरा एवं निराधार रहेगा। राज्य के कार्यों का समुचित क्षेत्र नैतिकता का विचार किये बिना निश्चित नहीं किया जा सकता। क़ानून एवं सदाचार में जो घनिष्ठता है उससे भी राज्य-विज्ञान तथा नीति-शास्त्र के सम्बन्ध की घनिष्ठता प्रकट होती है। आजकल उनसे पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्टता को लोग फिर मानने लगे हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों का सम्बन्ध अथवा निर्भरता एकपक्षीय ही है।; राज्य-विज्ञान नीति-शास्त्र पर आश्रित है, परन्तु नीति-शास्त्र राज्य-विज्ञान पर आश्रित नहीं है।

मनोविज्ञान से संबंध

राज्य-विज्ञान का मनोविज्ञान से भी घनिष्ठ संबध है। प्लेटो के समान आधुनिक विचारक अब यह अधिकाधिक मानने लगे हैं कि राज्य और उसकी संस्थाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम कुञ्जी मानव मनोविज्ञान से प्राप्त होती है। ये मानव-मन की ही रचनाएँ हैं और मन के द्वारा ही इनका समुचित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। बार्कर का कथन है कि हमारे पूर्वज जीव-वैज्ञानिक ढग से विचार करते थे; हम मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं। "मानवीय क्रियाओं की पहेलियों को सुलझाने के लिये मनोवैज्ञानिक कुञ्जी का प्रयोग आजकल एक रिवाज बन गया है।" राजनीतिक घटनाओं की मनोवैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करने वाला साहित्य विशद रूप मे विद्यमान है। यदि राज्य-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए एक सीमा तक समाजशास्त्री होना आवश्यक है, तो उसके लिए कुछ मनोवैज्ञानिक भी होना आवश्यक है। मानव के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन मे उस समय तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि यह न मालूम हो कि मनुष्य का मन व्यक्तिगत रूप में तथा समाज मे किस प्रकार कार्य करता है। यदि कोई व्यक्ति मानवीय व्यवहार को समझना चाहता है तो उसे प्रवृत्ति, अभ्यास, अनुकरण, निर्देश आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। एक राजनीतिज्ञ या राजनीतिक नेता को मानव मनोविज्ञान का विद्यार्थी होना चाहिए। उसे उस समुचित मनोवैज्ञानिक घड़ी का ज्ञान होना चाहिए जिसमें काम करने से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकें।

राज्य अपनी प्रकृति में सारतः आध्यात्मिक है, अतः उसके जीवन का निर्धारण भी प्रधानतः आध्यात्मिक तत्वों द्वारा ही होता है। उसका इतिहास मानव जाति के मनोवैज्ञानिक विचारों का उद्घाटन ही है। अतः यह कहा जाता है कि शासन उसी समय स्थायी होगा जब कि उसमें जनता के मनोभावों का प्रतिबिम्ब मिले और उसका सविधान उनकी मानसिक एवं आध्यात्मिक रचना के अनुकूल हो। जब राज्य के अमल तथा जनता की मनोभावना के बीच सामंजस्य नहीं होता तब क्रान्ति का जन्म होता है। इतिहास में ऐसी क्रान्तियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके कारण समाज में मनोवैज्ञानिक अव्यवस्था में ही मिल सकते हैं।

*Barker : Political Thought in England p. 149.

राज्य-विज्ञान के विद्यार्थी को वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार के मानव मनोविज्ञान की पूर्ण शिक्षा होनी चाहिए। राजनीतिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से सुलझाने में दोष भी हैं, परन्तु उनकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

प्राणि-विज्ञान से सम्बन्ध—

हमने राज्य-विज्ञान के साथ जिन विज्ञानों का संबंध बताया है, उनमें अर्थ-शास्त्र तथा व्यक्तिगत मनोविज्ञान को छोड़ कर सब सामाजिक विज्ञान हैं। कुछ असामाजिक विज्ञान भी राज्य-विज्ञान के सहकारी हैं। उनके सम्बन्ध मे कुछ चर्चा करना आवश्यक है। यहाँ हम केवल प्राणि-विज्ञान तथा भूगोल के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे।

ऐसे भी कतिपय लेखक हैं जिन्होंने यह माना है कि राज्य के कुछ लक्षण प्राणियों के समान हैं। एक प्राणी के समान वह विकास का परिणाम है। वह प्राणी की भाँति बढ़ता है, कार्य करता है और उसका वैसे ही अन्त हो जाता है। उसके अंग एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। संक्षेप मे, राज्य जीवधारी है और इसका अध्ययन प्राणि-विज्ञान द्वारा खोजे गये नियमों के प्रकाश में करना चाहिए। राज्य-विज्ञान की सही पद्धति जीव-वैज्ञानिक है, मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक नहीं। इस सम्बन्ध मे अन्यत्र विशद रूप में विचार किया जायगा।

भूगोल से सम्बन्ध—

प्राचीन काल से लेखकों ने अपनी कृतियों में किसी देश की जलवायु, पर्वतमाला, समुद्र, तथा अन्य भौगोलिक परिस्थितियों के उस प्रभाव का वर्णन किया है जो उनकी जनता के चरित्र, राष्ट्रीय जीवन, तथा राजनैतिक संस्थाओं पर पड़ता है। इन लेखकों में अरस्तू, बोदॉ, रूसो, बकल और मॉण्टेस्क्यू के नाम प्रसिद्ध हैं। यह सत्य है कि भौगोलिक परिस्थितियों का जनता के चरित्र तथा राजनीतिक संस्थाओं पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। प्राचीन यूनान में नगर राज्यों की अभिवृद्धि उसकी भौगोलिक अवस्थाओं का परिणाम थी, जिसके कारण संगठित राष्ट्रीय एकता प्रतिष्ठित नहीं हो सकी। इंगलैण्ड एक महान नौसैनिक सत्ता है और फ्रान्स तथा जर्मनी महान सैनिक सत्ताऐं हैं, यह उनकी भौगोलिक स्थितियों के कारण ही है। भौगोलिक परिस्थितियों का अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक एवं औद्योगिक

अवस्थाओं के द्वारा राजनीतिक अवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु अधिकांश लेखकों ने भौगोलिक महत्त्व को अतिशय महत्ता दे दी है। उदाहरणार्थ, आजकल बहुत कम व्यक्ति रूसो के इस कथन को स्वीकार करेंगे कि गरम जलवायु स्वेच्छाचारी शासन के, शीत जलवायु बर्बरता के और मृदुल जलवायु श्रेष्ठ शासन-प्रणाली के अनुकूल होती है अथवा मॉन्टेस्क्यू के इस कथन को स्वीकार करेंगे कि पर्वत-प्रदेश तथा शीत जलवायु-प्रधान देशों मे दासत्व तथा स्वेच्छाचारी शासन होता है। भूगोल राष्ट्रीय चरित्र तथा लोकाचार एवं राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण में एक निर्णायक तत्व हो सकता है, किन्तु मनुष्य की बुद्धि, प्रयोजन आदि अन्य तत्वों की अपेक्षा उसका महत्त्व बहुत कम है।

राज्य-विज्ञान का न्याय-शास्त्र Jurisprudence), सार्वजनिक प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय विधान तथा वैधानिक क़ानून से भी संबंध है। किन्तु ये सब राज्य-विज्ञान के ही विभाग हैं, इतिहास अथवा नीति शास्त्र के समान स्वतन्त्र विज्ञान नहीं।

अध्याय ३

राज्य की प्रकृति

राज्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है जिनमें से बहुत से ग़लत और भ्रमोत्पादक हैं। 'उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण', "राज्य की ओर से शिक्षा", "राज्य द्वारा रेलों का प्रबन्ध", "न्यूयार्क का राज्य", "काश्मीर का राज्य" आदि वाक्य-खंडों मे इस शब्द का अनेकार्थों में प्रयोग किया गया है; ये सब अर्थ उस अर्थ से सर्वथा भिन्न हैं जिनमें इस शब्द का प्रयोग राज्य-विज्ञान मे किया जाता है। अतः राज्य शब्द की परिभाषा करना आवश्यक है।

'राज्य द्वारा उद्योगों के नियंत्रण' तथा 'राज्य द्वारा शिक्षा' आदि वाक्य-खण्डों में राज्य से तात्पर्य किसी विशेष साधन द्वारा किये जाने वाले समाज के सामूहिक कार्य से है जो 'व्यक्तिगत कार्य' से भिन्न होता है। 'राज्य द्वारा रेलों का प्रबन्ध', 'शिक्षा मे राज्य का हस्तक्षेप, आदि वाक्य-खण्डों में राज्य से तात्पर्य शासन से है। न्यूयॉर्क का राज्य उस अर्थ में राज्य नहीं है जिसमें इगलैंड, जापान या अमेरिका का संयुक्त राज्य है। यही बात बड़ौदा, काश्मीर तथा हैदराबाद राज्यों के संबंध में लागू है। ये राज्य नहीं हैं वरन् एक बड़े राज्य के अंग हैं। ऐसी सस्थाओं के लिये अभी तक कोई सर्वमान्य शब्द नहीं मिल पाया है।

यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि राज्य, जिस पर राज्य-विज्ञान विचार करता है, प्राचीन एथेन्स या वर्तमान इंगलैंड की तरह कोई दृश्यमान वास्तविक राज्य नहीं है। यह तो एक सार्वभौम तथा आदर्श संगठन है जो सदा से जहाँ कहीं भी मनुष्य किसी प्रकार के समाज में रहा है, जिसमें किसी प्रकार का भी राजनीतिक संगठन रहा हो, विद्यमान रहा है। राजनीतिक सत्ता की प्रकृति में स्थान तथा युग के कारण भेद रहा है। उसने विविध संगठनों के द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन किया है। किन्तु इन सब विविधताओं में कुछ सामान्य तत्त्व देखे जा सकते हैं जिन्हें राज्य का सार-तत्त्व कहा जा सकता है। विद्वानों ने राज्य की जो

परिभाषाएँ की हैं, उनमें से कुछ पर यहाँ विचार करने से राज्य के इन आवश्यक तत्वों का ज्ञान हो जायगा।

राज्य की परिभाषा—

अरस्तू के अनुसार राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा संघ है जिसका उद्देश्य है एक पूर्ण एवं स्वाश्रयी जीवन का संपादन, जिससे हमारा प्रयोजन सुखी तथा सम्माननीय जीवन से है। इस परिभाषा के अनुसार राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक संघ है अर्थात् वह परिवार तथा ग्राम जैसा छोटे समुदायों का एक बड़ा समुदाय है। राज्य की इकाई व्यक्ति नहीं, संबद्धित व्यक्ति-समूह है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि आधुनिक लेखक व्यक्ति को राज्य की इकाई मानते हैं। वे राज्य को परिवारों अथवा ग्रामों का संघ नहीं, वरन् व्यक्तियों का समुदाय मानते हैं। किन्तु अरस्तू ने यह स्वीकार अवश्य किया कि अन्ततोगत्वा राज्य व्यक्तियों का ही समुदाय है। वे, अर्थात् व्यक्ति राज्य के प्रथम विधायक तत्त्व हैं। मनुष्यों के बिना राज्य का अस्तित्त्व संभव नहीं है यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि राज्य व्यक्तियों का एक संगठित समूह नहीं, वरन् एक संगठित समुदाय है। इस परिभाषा में राज्य के उद्देश्य की भी चर्चा की गई है। अरस्तु के अनुसार यह उद्देश्यपूर्ण एवं स्वाश्रयी जीवन है। अन्य समुदायों से राज्य में एक बड़ी विशिष्टता यह है कि वह सर्वाधिक सुख एवं सुखी सम्मानीय जीवन का संपादन करता है। आधुनिक लेखक अपनी परिभाषाओं में राज्य के उद्देश्य की ओर संकेत नहीं करते; यद्यपि कोई भी इससे इन्कार नहीं करता कि उसका एक लक्ष्य होता है। वे अपनी परिभाषा में राज्य की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता की ओर संकेत करते हैं जिसके द्वारा राज्य तथा अन्य सभाओं से सबसे बड़ा भेद स्थापित हो जाता है। वह विशिष्टता है राजनीतिक संगठन और राज्य का प्रभुत्व। जो व्यक्ति राज्य की इकाई होते हैं वे राजनीतिक संगठन द्वारा एकता के सूत्र में बंध जाते हैं और यह समुदाय समूचे रूप में प्रभु होता है। यह किसी भी भीतरी या बाहरी समुदाय के नियन्त्रण में नहीं होता। किन्तु यदि ये सभी व्यक्ति एक ही प्रदेश के निवासी नहीं हों तो वे कदापि राज्य का निर्माण नहीं कर सकते। व्यक्तियों का एक समूह दूर-दूर के भूखण्डों पर बिखरा रहे, तो वह राज्य का निर्माण नहीं कर सकता और न ऐसे व्यक्तियों पर राज्य ही अपना पूर्ण नियन्त्रण

रख सकता है । आधुनिक लेखक निम्न बातों को राज्य के आवश्यक विधायक तत्त्व मानते हैं । (१) जन-संख्या (२) प्रदेश (३) शासन या राजनीतिक संगठन और (४) प्रभुत्व । प्रथम दो राज्य के भौतिक आधार हैं और अन्तिम दोनों राजनीतिक एवं आध्यात्मिक आधार हैं ।

हॉलैण्ड, हॉल, बर्गेस, ब्लुंट्श्ली और गार्नर जैसे आधुनिक लेखक विस्तार की बातों में मतभेद रखते हुए भी इन चारों तत्त्वों को स्वीकार करते हैं । हॉलैण्ड ने राज्य की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—'राज्य मानवों का एक बहुसंख्यक संगठन है, जिसका एक निश्चित प्रदेश पर अधिकार होता है, जिसमें बहुसंख्यकों अथवा एक निश्चित वर्ग की आकांक्षा उनकी संख्या अथवा उनके वर्ग के कारण विरोधियों के विरुद्ध भी चलती है ।' इस परिभाषा में राजनीतिक सगठन पर ज़ोर दिया गया है, भूमि तथा जनसंख्या की आवश्यकता भी मानी गई है । बर्गेस ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है : राज्य संगठित एकता के रूप में मानव-समाज का एक विशेष भाग है ।' ब्लुंटश्ली ने राज्य को 'एक निर्दिष्ट प्रदेश की राजनीतिक दृष्टि से संगठित जनता' बतलाया है । राष्ट्रपति विल्सन ने राज्य को 'एक निश्चित प्रदेश मे क़ानून के लिये संगठित जनता' कह कर उसकी परिभाषा की है । गार्नर ने राज्य की जो परिभाषा दी है वह अन्य परिभाषाओं से अच्छी है क्योंकि उसमें राज्य के सभी आवश्यक तत्वों का समावेश हो जाता है । उसके अनुसार राज्य 'न्यूनाधिक बहुसंख्यक व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो स्थायी रूप से एक निश्चित प्रदेश मे निवास करता हो और जो बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और जिसमें एक संगठित शासन हो, जिसके आदेशों का राज्य की जनता का एक बड़ा भाग स्वभावतः पालन करता हो ।"

इस परिभाषा के अनुसार ब्रिटिश काल में भारत की रियासतें राज्य नहीं थीं- क्योंकि वे बाहरी नियंत्रण से स्वतन्त्र नहीं थीं, और उन्हें सार्वभौम सत्ता द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार कार्य करना पड़ता था । भारतीय नरेश केवल सामत थे । संघ के विधायक राज्य भी वास्तव में राज्य नहीं हैं क्योंकि उन्हे कई बातों मे प्रभुत्व के अधिकार नहीं होते ।

यह कहा जा सकता है कि राज्य की यह परिभाषा राज्य-विज्ञान और सार्वजनिक क़ानून की एक भावना के रूप में है । अन्तर्राष्ट्रीय विधान

अथवा दार्शनिक दृष्टि से इसकी परिभाषा भिन्न रूप में करनी पड़ेगी। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार राज्य न केवल पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न ही होना चाहिये वरन् उसे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का पालन करने की क्षमता भी होनी चाहिए। दार्शनिक भावना के रूप में राज्य की परिभाषा हेगल के अनुसार "नैतिक भावना की प्राप्ति" अथवा 'वस्तुगत भावना का मूर्त्त स्वरूप' है। इस प्रकार राज्य की परिभाषाएँ लेखकों के दृष्टिकोणों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं।

राज्य की प्रकृति—

इस कथन से कि राज्य मानव जाति का एक भाग है जो किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से निवास करता है और जो राजनीतिक दृष्टि से सगठित है और जो बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र है, राज्य की सारभूत प्रकृति का कोई ज्ञान नहीं होता। विभिन्न युगों में विभिन्न लेखकों ने राज्य की प्रकृति के विषय में विभिन्न मत प्रकट किये हैं। उनकी परीक्षा के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है। यहाँ तो उसकी साधारण प्रकृति के विषय में थोड़ी सी चर्चा ही पर्याप्त होगी। राज्य सब से अधिक सार्वभौम, सब से अधिक शक्तिशाली और समस्त मानव-संस्थाओं मे उच्चतम है। यह सबसे अधिक सार्वभौम संस्था इस कारण है कि जहाँ कहीं भी कुछ समय तक मनुष्य रहे हों, वहाँ किसी न किसी रूप में राज्य का उदय हो गया है। राजनीतिक रूप में संगठित समाज की सदस्यता से पृथक् मनुष्य की कल्पना नहीं हो सकती; वह अपनी मज़दूर-सभा, अपनी गोष्ठी, अपनी राजनीतिक पार्टी और अपने स्कूल के बिना रह सकता है, परन्तु राज्य के बिना नहीं रह सकता। केवल राज्य में ही उसे अपने नैतिक व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक वातावरण प्राप्त होता है। राज्य के बिना वह एक सीमित और मूढ़ पशु ही बना रहता। केवल पशु और देवगण ही ऐसे हैं जो राज्य से अलग रह सकते हैं। मनुष्यों के लिये राज्य वैसे ही आवश्यक है जैसे कि उसके लिए ओषजन सेवन करना। उसके नैतिक जीवन के विकास के लिये राज्य वैसे ही अनिवार्य है जैसे कि शरीर के लिये भोजन और जल। एक पुरानी उक्ति है कि 'मनुष्य राजनीतिक प्राणी है'। इस वाक्य का यही वास्तविक अर्थ है। शायद परिवार एकमात्र दूसरी संस्था और है जो राज्य के समान सार्वभौम है और जो मनुष्य की प्रकृति पर आधारित होने के कारण अनिवार्य है।

समस्त संस्थाओं में राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली है। उसकी इच्छा अन्य व्यक्तियों तथा समुदायों की इच्छा से सर्वोपरि है। राज्य व्यक्तियों का जीवन, सम्पत्ति, स्वतंत्रता और सर्वस्व हरण कर सकता है, अन्य किसी मानवीय संस्था को यह सत्ता प्राप्त नहीं है। राज्य ही नागरिकों के अधिकारों तथा नागरिक स्वाधीनता का आदि स्त्रोत है, वही सामाजिक न्याय का पोषक तथा सामाजिक व्यवस्था का संरक्षक है। हम राज्य के गौरव एवं गरिमा की बातें करते हैं। परन्तु किसी अन्य संस्था के संबध में हम वैसी बातें नहीं करते। राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली है क्योंकि वह प्रभु तथा सर्वोपरि संस्था है।

राज्य सर्वोच्च संस्था है। अन्य संस्थाएँ जिनका मनुष्य अपने सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्माण करते हैं वे सब राज्य के अन्दर ही होती हैं। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि वे राज्य के कारण अथवा उसकी अनुमति से ही होती हैं। वे राज्य के नियंत्रण तथा नियमन में होती हैं। यह सब से महान् संस्था है; क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ हित की अभिवृद्धि-नागरिक पूर्ण जीवन के लिए प्रयत्न करती है, क्योंकि सभ्यता एवं सस्कृति का प्रसार तथा प्रचार राज्य के द्वारा ही हुआ है। मनुष्य की सफलता में जो कुछ भी महान् और सुन्दर है वह राज्य के तत्वावधान में ही सभव हुआ है। राज्य हमे क़ानून तथा न्याय देता है जो सभ्य जीवन की आवश्यक शर्तें हैं और जिनके बिना मनुष्य निरा पशु रहेगा। राज्य सबसे महान् संस्था है क्योंकि वह मनुष्य को वास्तव में मनुष्य बनाती है। "यदि राज्य मनुष्य को उसकी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाने के लिये इतना आवश्यक है, तो उसका अस्तित्व, विचार में, मानव से पूर्व होना चाहिए। इस पूर्व अस्तित्व का यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य का अस्तित्व उसके सदस्यों या व्यक्तियों के अस्तित्व से भिन्न या स्वतंन्त्र है। वरन् उसका तात्पर्य तो इतना ही है कि व्यक्ति अपनी पूर्णता राज्य में प्राप्त करता है। क्योंकि व्यक्तिगत मानव मन और इच्छा ही है। इसलिये जो वस्तु उसकी स्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं वे भी मन तथा इच्छा ही हैं। अतः राज्य को भी इच्छा तथा मन समझना चाहिए अर्थात् अपने सदस्यों के मनों तथा इच्छाओं का एक संगठन।

किन्तु राज्य केवल मन व इच्छा ही नहीं है, वह शक्ति भी है। शक्ति राजनीतिक संगठन का सार्वभौम पहलू है। शासन-संगठन में यह परम

आवश्यक तत्व है। प्रत्येक शासन को दुराग्रही व्यक्तियों को अनुशासन के अन्तर्गत लाने और उनसे अपने आदेशों का पालन कराने के लिये बल का प्रयोग करना पड़ता है। इसके अभाव में राज्य का विघटन हो जायगा। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्ततोगत्वा राजसत्ता केवल पशुबल पर ही स्थिर नहीं रहती, जिसके द्वारा वह किसी व्यक्ति से अपने आदेशों का पालन करवाती है, वरन् वह इस सत्य पर आधारित है कि वह व्यक्ति की सच्ची आत्मा या इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। अगले किसी अध्याय में इस पर पूर्ण रूप से विचार किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही जान लेना आवश्यक है कि राज्य के निर्माण में शक्ति या बल एक प्रमुख तत्व है।*

यहाँ राज्य के एक दूसरे तत्व का उल्लेख कर देना भी आवश्यक होगा। राज्य को अपने समस्त सदस्यों के हितों की रक्षा एवं अभिवृद्धि करनी चाहिए, उसे किसी वर्ग-विशेष के हितों की देखभाल तक ही अपने को सीमित नहीं रखना चाहिए। जो राज्य अपने को जनता के किसी एक वर्ग के हितों की रक्षा तक ही सीमित रखता है वह अपनी सच्ची प्रकृति से गिर जाता है। एक आदर्श अथवा पूर्ण-राज्य केवल उन्हीं सामान्य हितों की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्न करेगा जो सार्वभौम माने जा सकते हैं और जिनमें समस्त सदस्यों का सामान्य भाग है।

ऊपर हमने राज्य की जो परिभाषाएँ दी हैं उनमें से कोई भी इन आवश्यक तत्वों पर प्रकाश नही डालती। कुछ तो उसके विधायक तत्वों को भी नहीं बतातीं, कुछ परिभाषाएँ राज्य के उद्देश्य पर कोई प्रकाश नहीं डालतीं। अधिकांश परिभाषाएँ उनके मन तथा इच्छा सम्बन्धी प्रकृति के विषय में मौन हैं। निम्नलिखित परिभाषा उपर्युक्त परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं साँरगर्भित है; "राज्य ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय है जो सामान्य प्रदेश में रहते हैं, जिनका उद्देश्य सामाजिक-नैतिक व्यवस्था के विकास एवं रक्षण द्वारा पूर्ण जीवन की अभिवृद्धि

---

*इतिहास में हमें ऐसे किसी भी राज्य का उदाहरण नहीं मिलता जिसमें कोई पुलिस अथवा सेना न रही हो। प्रत्येक समाज में एक लड़ने वाला वर्ग रहता है। परन्तु महात्मा गान्धी ने अपना यह नवीन विचार संसार के सामने रखा है कि राज्य का आधार अहिंसा होना चाहिये। वह बलप्रयोग के स्थान पर प्रेम से तथा समझ-बुझा कर अपराधी को ठीक रास्ते पर लाना चाहते थे। ऐसा समाज स्थापित हो सकता है या नहीं, यह भविष्य ही बतलायगा।

करना है, और जो इस उद्देश्य से अपने केन्द्रीय संगठन को समस्त समाज को एकीकृति सत्ता प्रदान करना है।" इस परिभाषा में जन-संख्या प्रदेश, शासन एवं एकता के चारों तत्व हैं और इनके अतिरिक्त राज्य के नैतिक उद्देश्य की ओर भी निर्देश किया गया है।

जन संख्या—

जन संख्या और प्रदेश राज्य के भौतिक आधार हैं। वे उसकी नींव हैं। प्रजा के बिना राज्य की कल्पना वैसे ही असंभव है जैसे सूत के बिना वस्त्र की। राज्य की विशिष्टताएँ एक बड़ी सीमा तक नागरिकों के स्वभाव, चरित्र एवं व्यवहार पर निर्भर रहती हैं। राज्य के प्रमुख नागरिकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप राजनीतिक विकास और भाग्य के निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। किन्तु यह विकास किस सीमा तक नागरिकों के प्रभाव का परिणाम होता है और किस सीमा तक अन्य कारणों का परिणाम, यह बताना बड़ा कठिन है और इस विषय मे अनेक प्रकार के मत हैं। राज्य की जनसंख्या के सम्बन्ध मे अनेक बड़े रोचक प्रश्न उठते हैं जनसंख्या की वृद्धि, सभ्यता पर उसका प्रभाव, उसका घनत्व तथा जातीय तत्व, आकार आदि से सम्बन्ध रखने वाले बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। उनमें से एक प्रश्न पर विचार करना यहाँ परम आवश्यक है। राज्य के निर्माण के लिए अन्य तत्वों के साथ कितनी प्रजा की आवश्यकता है? क्या उनकी न्यूनतम या अधिकतम संख्या निश्चित की जा सकती है? प्लेटो और अरस्तू का यह विचार था कि राज्य में प्रजा की सख्या न बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम। वह इतनी बड़ी हो जो स्वाश्रयी हो सके और अपनी स्वय रक्षा कर सके और इतनी छोटी भी हो जिसमे सुशासन क़ायम हो सके। प्लेटो के आदर्श राज्य मे जनता की संख्या ५० ४० मानी गई थी।* अरस्तू भी छोटे राज्यों के पक्ष में था। आधुनिक विचार इसके विपरीत है और वह बड़े राज्यों के पक्ष में है। आजकल के राज्यों में करोड़ों जनता होती है।

राज्य की जनता के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। सर्व प्रथम, लोग नागरिक होते हैं उन्हें वे समस्त अधिकार

---

* उसके नागरिकों में वे लोग सम्मिलित नहीं थे जो कृषि, व्यापार, वाणिज्य अथवा अन्य धंधों में लगे हुए थे। नागरिकता केवल उन्हीं को प्राप्त थी जो शासन प्रबंध का संचालन करते थे तथा जो सैनिक थे।

एवं विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं जो राज्य की सदस्यता के कारण उपलब्ध होने चाहिए। जनता का यह पहलू जनतंत्र राज्यों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि वहाँ जनता के प्रतिनिधि ही शासन-कार्य करते हैं, किन्तु राजतत्र तथा कुलीन-तन्त्र में उसका महत्त्व कम होता है। दूसरे, लोग प्रजा भी हैं, जिस रूप में उन्हें राज्य के कानूनों एवं आदेशों का पालन करना पड़ता है।

प्रदेश—

राज्य का दूसरा भौतिक तत्व है भूमि या प्रदेश। जनता मात्र से ही राज्य का निर्माण नहीं हो जाता। राज्य-निर्माण के लिये प्रजा को किसी निश्चित प्रदेश पर निवास करना चाहिए। खानाबदोश जातियाँ कभी राज्य का निर्माण नहीं कर सकतीं। यहूदी अब तक अपना कोई राज्य स्थापित नहीं कर सके थे; क्योंकि अब तक उनका कोई देश ही नहीं था। वे संसार के अनेक भागों में बिखरे पड़े थे, परन्तु अब वे पेलेस्टाइन के एक भाग में काफी संख्या में बस गये हैं और उनका एक राज्य इजरेल बन गया है। राज्य-निर्माण में प्रदेश अनिवार्य है क्योंकि एक ही प्रदेश में रहने से एकता और साहचर्य के वे भाव उत्पन्न होते हैं जिनके बिना राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता। अन्य समुदायों तथा राज्य में एक भेद यह भी है कि राज्य का एक प्रदेश होता है; अन्य समुदायों का कोई प्रदेश नहीं होता। एक प्रदेश में अनेक समुदाय हो सकते हैं परन्तु राज्य एक से अधिक नहीं हो सकते। किन्तु इसके कुछ अपवाद हैं, जैसे मिस्त्र के सूडान प्रदेश पर मिस्त्र तथा ब्रिटेन दोनों का प्रभुत्व है। प्रदेश का कानूनी महत्व इस बात में है कि एक राज्य के प्रदेश पर किसी दूसरे राज्य का अधिकार नहीं हो सकता। एक दूसरे रूप में भी इसका महत्व है। इसके कारण हमारी राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं रहती। हम राज्य में पैदा होते हैं, उसे पसन्द करके उसमें नहीं रहते। इसका यह भी अर्थ है कि राज्य का अपने प्रदेश की समस्त वस्तुओं एवं व्यक्तियों पर अधिकार होता है। इसके भी कुछ अपवाद हैं, परन्तु उन पर विचार करना आवश्यक नहीं है। प्रभुत्व की आधुनिक कल्पना प्रादेशिक है, वैयक्तिक नहीं।

राज्य की प्रकृति पर जितना प्रभाव जनता की प्रकृति का पड़ता है, उतना प्राकृतिक वातावरण का भी पड़ता है। व्यापक अर्थ में राज्य की

भूमि से भौतिक आशय वातावरण होता है। इसमें भूमि, उसके प्राकृतिक साधन, पर्वत, जलवायु, सागर, नदियाँ, झीलें आदि सम्मिलित हैं। देश की सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के विकास पर इनमें से प्रत्येक का बड़ा प्रभाव पड़ता है। पर्वतों, नदियों, समुद्रों आदि से राज्यों की प्राकृतिक सीमाऐं बनती हैं और जो लोग उनमें निवास करते हैं उनमें स्वाभाविक एकता की भावना का आविर्भाव होता है। इंगलैण्ड और जापान की पूर्ण रूप से प्राकृतिक सीमाऐं हैं। भारत, इटली और अरब की एक बड़ी सीमा तक प्राकृतिक सीमाऐं हैं। जर्मनी तथा फ्रान्स की कोई सामान्य प्राकृतिक सीमाऐं नहीं हैं। इस कारण उनमें परस्पर युद्ध होते रहे हैं। द्वीप होने के कारण इंगलैण्ड एक महान् नौ-सैनिक सत्ता रहा है। अनेक लेखकों का मत है कि प्राचीन यूनान में नगर-राज्यों का रूप भी बहुत अंश तक देश की प्राकृतिक रचना के परिणाम-स्वरूप था। इसी प्रकार जलवायु का जनता के चरित्र पर तथा अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक संस्थाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं। रूसो का विचार था कि गरम जलवायु स्वेच्छाचारिता के अनुकूल होती है, शीत जलवायु बर्बर-जीवन के अनुकुल और मध्यम जलवायु वैधानिक-शासन के अनुकूल होती है। यह सत्य है कि महान्-राज्यों का उदय ऐसे क्षेत्रों मे हुआ है जहाँ मध्यम जलवायु और पर्याप्त जलवर्षा होती है। किसी देश के प्राकृतिक साधन—खनिज, वनस्पति तथा पशु-भी उसके राजनीतिक भाग्य का निर्णय करते हैं। उन्नीसवी शताब्दी की अन्तिम दो शताब्दियों में कच्चे माल की प्राप्ति की इच्छा के कारण ही अफ्रीका का यूरोपीय सत्ताओं ने आपस में विभाजन कर लिया। कोको, कॉफ़ी, रबड़ तथा सुवर्ण ने संसार के अनेक भागों में बड़े २ साम्राज्य स्थापित किये हैं। इगलैण्ड, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका का औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व बहुत कुछ अंश में उनके खनिज साधनों, विशेष रूप से लोहे तथा कोयले की खानों, के ही कारण है। प्राकृतिक वातावरण की सामान्य बातें भयंकर तूफानों का अस्तित्व या अभाव, ज्वालामुखी, प्रचण्ड झंझावात, सुविशाल सरिताऐ, बड़े बड़े मरुस्थल, गगन चुम्बी पर्वत आदि भी सभ्यता पर प्रभाव डालती हैं और मानव तथा समाज के रूपों का निर्धारण करती हैं। प्रकृति तथा मानव ने अपने निरन्तर संबंधों द्वारा राज्य का निर्माण किया है। बाहरी वातावरण मनुष्य के द्वारा कार्य करता है और मनुष्य

अपनी बुद्धि तथा प्रकृति पर अपनी नियंत्रण की शक्ति के द्वारा उसे अपने हितों के अनुकूल बनाता है। इन दोनों तत्त्वों के सहयोग के बिना राज्य का जन्म नहीं हो पाता।

यहाँ यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि राज्य के प्रदेश में भूमि के अन्तर्गत द्रव्य, तट से कुछ (३ मील) दूर तक का समुद्र और ऊपर का आकाश भी शामिल है। आजकल वायु-यात्रा के कारण प्रदेश के इस अन्तिम अंग आकाश-का महत्व बहुत बढ़ गया है।

प्रदेश के आकार के अनुसार राज्यों में बड़े भेद होते हैं। संसार में सेंटमेरिनों तथा मोनाको जैसे भी राज्य हैं जिनका विस्तार कुछ वर्ग मीलों तक ही सीमित है और रूस, संयुक्त राज्य, अमेरिका, ब्राज़ील आदि जैसे देश भी हैं, जिनका विस्तार लाखों वर्ग मील तक है। राज्य के विस्तार की कोई न्यूनतम अथवा अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। पूर्वकाल में छोटे राज्य पसंद किये जाते थे। १८ वीं शताब्दी में भी लेखक बड़े राज्यों के विरुद्ध थे। यह माना जाता है कि छोटे आकार के राज्यों में शासन प्रबन्ध अच्छा होता है और उसका शासन भी सरलता से किया जा सकता है। राजधानी से दूरी के साथ शासन-प्रबन्ध की कठिनाइयाँ बढ़ती हैं। मुग़ल बादशाह अपने सुदूरस्थ प्रान्तों का शासन करने में कठिनाई अनुभव करते थे। बड़े राज्य में सामाजिक एकता भी कम होती है। रूसो के अनुसार 'सामाजिक बन्धन का विस्तार जितना बढ़ जाता है, उतना ही वह शिथिल हो जाता है।' इससे उसने यह परिणाम निकाला कि छोटा राज्य आनुपातिक दृष्टि से बड़े राज्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। इसलिए उसका विचार था कि सुशासित राज्य की एक सीमा होनी चाहिए। मिल ने भी छोटे राज्यों को अच्छा बताया और बड़े राज्यों के शासन में जो कठिनाइयाँ हैं, उनकी ओर संकेत किया। अनेक लेखकों का यह मत है कि बड़े राज्यों में प्रजातन्त्र या गणराज्य उपयुक्त नहीं होता। ये लेखक भी छोटे राज्यों के समर्थक माने जा सकते हैं।

वर्तमान विचार छोटे राज्यों के अनुकूल नहीं है। जिस सफलता के साथ ब्रिटेन अपने विशाल दूरस्थ साम्राज्य का शासन कर सका है उससे यह प्रत्यक्ष है कि दूरी सुप्रबन्ध में कोई बड़ी बाधा नहीं है। अमेरिका के संयुक्त राज्य की सफलता से यह भी मालूम होता है कि एक विशाल देश में भी जनतंत्र सफल हो सकता है। यातायात के साधनों,

रेलपथ, जलयान, तार, बेतार की प्रगति तथा विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों, संघवाद और स्थानीय स्वराज्य के प्रयोगों के कारण विशाल राज्यों में शासन-प्रबंध बहुत ही सुगम हो गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध में डेनमार्क, हॉलैण्ड, बेलजियम आदि पर जो आक्रमण हुए, उनसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि सबल पड़ौसी राष्ट्रों के विरुद्ध छोटे राष्ट्रों की स्वाधीनता का क़ायम रहना बड़ा कठिन है। ट्रिटस्के का विचार है कि राज्य ही सत्ता है, अतः राज्य के लिये छोटा होना पाप है।

छोटे राज्यों में न्याय की क्षमता का अभाव होता है। वे सफलता की आशा से युद्ध नहीं छेड़ सकते। आर्थिक दृष्टि से भी वे स्वाश्रयी नहीं हो सकते। इसके विपरीत, बड़े राज्य आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठतम होते हैं। वे अपने नागरिकों को उदार बनाते हैं और इस प्रकार वे सभ्यता की प्रगति में सहायक होते हैं। लॉर्ड एक्टन भी छोटे राज्यों के विरुद्ध थे। कुछ लेखकों का मत है कि छोटे राज्यों की बहुलता विश्व-शान्ति के लिये बाधक है। थोड़ी संख्या मे बड़े राज्य शस्त्र ग्रहण किये बिना अपने मतभेदों एवं विवादों को दूर कर सकेंगे। इस प्रकार आजकल छोटे राज्यों का मूल्य घट गया है। वर्तमान् युग विशाल राज्यों एवं साम्राज्यों का युग है।

राजनीतिक एवं आध्यात्मिक आधार—

यदि जनता तथा प्रदेश राज्य के भौतिक आधार हैं, तो शासन और प्रभुत्व उसके राजनीतिक एव आध्यात्मिक तत्व माने जा सकते हैं। इनके सबंध मे विशद रूप से विचार करने की आवश्यकता है। प्रभुत्व के सबध मे अगले अध्याय में विचार किया जायगा। शासन तथा उसकी समस्याओं पर इस ग्रन्थ के अधिकांश भाग मे विचार किया गया है। शासन के संबंध में यहाँ इतना ही उल्लेख करना आवश्यक है कि राज्य के उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक केन्द्रीय यंत्र का (जिसे शासन कहा जाता है) होना अनिवार्य है। इस प्रकार के यंत्र के बिना राज्य किसी भी क्षेत्र मे सामूहिक कार्य नहीं कर सकता। किन्तु शासन का कोई एक रूप नहीं है जो सब राज्यों में समान रूप से होना चाहिये। राज्य-राज्य और युग-युग मे शासन के रूपों में परिवर्तन होते रहे हैं। राज्य के प्रभुत्व का अर्थ यह है कि वह विदेशी नियन्त्रण से मुक्त हो और वह देश के भीतर सर्वोपरि हो। जो जनसमूह अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र

नहीं और जो विदेशी नियंत्रण से मुक्त नहीं; उसे राज्य नहीं कहा जा सकता।

राज्य का लक्ष्य एवं प्रयोजन—

एक पुरानी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि प्रकृति ने कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं बनाई है। सृष्टि मे प्रत्येक वस्तु, चाहे वह प्राकृतिक हो या मनुष्य-निर्मित, किसी न किसी उद्देश्य की सिद्धि करती है। अन्य मानव सस्थाओं की भाँति राज्य की उत्पत्ति भी किसी उद्देश्य से हुई है। उसका भी एक ध्येय है। यह ध्येय क्या है? राज्य का प्रयोजन क्या है? यह राज्य-विज्ञान का एक आधारभूत प्रश्न है। लेखकों ने राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार के अनुसार इस प्रश्न का विभिन्न ढंग से उत्तर दिया है।

निरपेक्ष आदर्शवादी राज्य तथा समाज को एक समझ कर राज्य को मानव जीवन के आदर्श की वृद्धि और उसके समर्थन का कार्य देते हैं। दूसरी ओर अराजकतावादी हैं जो यह विश्वास करते हुए कि राज्य का जन्म हिंसा से हुआ है और वह बल पर टिका हुआ है, कहते हैं कि राज्य का कोई भी नैतिक प्रयोजन नहीं है और शासक वर्ग निर्बल वर्गों के शोषण के लिये उसका उपयोग करते हैं! इन दोनों परस्पर विरोधी मतों के बीच मे व्यक्तिवादी, राज्य-समाजवादी, गण-समाजवादी आदि मध्यवर्त्ती मत भी हैं। इस प्रश्न के पूर्ण विवेचन के लिये राजनीतिक विचार के इतिहास के ज्ञान की आवश्यकता है। इस कारण उस पर यहाँ विचार नहीं कर सकते, कुछ विचारकों के मतों का ही उल्लेख करेंगे।

अरस्तू ने राज्य का जो लक्ष्य बताया है, वह शायद सर्वश्रेष्ठ है। उनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिये हुई और श्रेष्ठ जीवन के लिये वह बना हुआ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य अपने साथियों के सहयोग के बिना संसार में जीवित नहीं रह सकता। उसका जन्म परिवार में हुआ है और उसके संरक्षण में उसका पोषण हुआ है। चूँकि एक परिवार, एक मनुष्य की भाँति ही स्वावलम्बी नहीं होता अतः कई परिवार मिल कर एक ग्राम का निर्माण कर लेते हैं। ग्राम मिल कर राज्य का निर्माण करते हैं। प्लेटो तथा अरस्तू के अनुसार राज्य स्वाश्रयी था। अतः राज्य की उत्पत्ति इसलिए हुई कि व्यक्ति परस्पर सहायता

एवं सेवा के आदान-प्रदान द्वारा अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। एक बार राज्य की स्थापना हो जाने पर वह कायम रहता है, जिससे व्यक्ति अपनी शक्तियों का विकास कर सकें और नैतिक जीवन बना सकें। राज्य का मुख्य उद्देश्य केवल सामाजिक सम्पत्ति का उत्पादन एवं वितरण करने की व्यवस्था करना ही नहीं, वरन् अपने नागरिकों के नैतिक व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक स्थितियाँ प्रदान करना भी है। राज्य का अस्तित्व केवल सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा के लिए ही नहीं, वरन् इससे भी कहीं अधिक अंश तक श्रेष्ठ नैतिक जीवन की रक्षा के लिए है। यदि राज्य श्रेष्ठ उद्देश्यों और कार्यों से पूर्ण प्रगतिशील जीवन का सम्पादन नहीं कर सका तो हम यह नहीं कह सकते कि उसका लक्ष्य सिद्ध हो गया है। आदर्श राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिये भौतिक कल्याण के साधनों को प्रस्तुत करता हुआ उन्हें चरित्र और बुद्धिबल प्रदान करता है और ऐसी संस्थाएँ प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा इन गुणों का पूर्ण विकास हो सके। यही श्रेष्ठ जीवन का अर्थ है। अनेक शताब्दियों के बाद अंग्रेज लेखल लॉक ने भी जब यह कहा कि राज्य का लक्ष्य, "मानवता का हित" है तो उसमे भी इसी विचार की प्रतिध्वनि मिलती है। एडमन्ड वर्क ने भी कहा है कि—'राज्य ऐसी वस्तुओं मे साझे का नाम नहीं है जो अस्थायी एवं नाशवान् प्रकृति के निकृष्ट पाशविक जीवन की सहायक हैं वरन् वह समस्त विज्ञान मे, समस्त कला में तथा समस्त सद्गुणों एवं समस्त पूर्णता में साझा है।' प्रो० रिची ने भी यही कहा है कि राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों द्वारा सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्रप्ति है। राज्य का लक्ष्य वह सर्वोच्च सामाजिक लक्ष्य है जिसमें सभी छोटे लक्ष्यों का समावेश है और जिसके द्वारा वे सार्थक और उचित माने जाते हैं।

यह मत राज्य के लक्ष्य का प्राचीन यूनानी मत है। इसके अनुसार राज्य प्राथमिक और आवश्यक रूप से एक नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य नागरिकों के नैतिक हित का सम्पादन करना है। आदर्शवादियों को छोड़ कर आजकल कोई आधुनिक लेखक इस मत का समर्थन नहीं करता। उनके विचार से राज्य का निर्माण व्यक्तियों ने व्यक्ति के रूप में अपने कल्याण के सम्पादन के लिये किया है, उनकी दृष्टि में राज्य व्यक्तियों के सुख का साधन है और सुख से उनका तात्पर्य भौतिक सुख से है। उनका कथन है कि नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक

जीवन से है। राज्य केवल व्यक्ति के बाह्य आचरण का नियन्त्रण कर सकता है, इस कारण नैतिकता राज्य के कार्य-क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। यह मत मेकियावेली तथा हॉब्स द्वारा नीति-शास्त्र और राज्य-विज्ञान के पृथकरण का परिणाम है।

कुछ आधुनिक जर्मन तथा इटालियन लेखकों ने हमारे सामने राज्य और उसके लक्ष्य की एक नई भावना प्रस्तुत की है। वे राज्य को व्यक्तियों के भौतिक कल्याण अथवा सामूहिक हितों की अभिवृद्धि के साधनमात्र से कहीं बड़ी वस्तु समझते हैं। उनके विचार से राज्य एक ऐसी वस्तु है जिसका नागरिकों के व्यक्तित्व और उनकी इच्छा से भिन्न और श्रेष्ठ व्यक्तित्व और इच्छा है। इसी कारण उसके अपने हित हैं जो व्यक्तियों के हितों से श्रेष्ठ हैं। उसका मुख्य लक्ष्य अपने हितों का सम्पादन है। उन हितों की अभिवृद्धि के लिये अपनी सत्ता का पूर्ण प्रयोग उसके लिये केवल उचित ही नहीं, कर्त्तव्य है, चाहे उससे नागरिकों और अन्य राज्यों के हितों की हानि ही हो। अपने कार्य में राज्य किसी नैतिक नियम को नहीं मानता और न कार्यसाधन की आवश्यकता के अतिरिक्त उस पर कोई नियन्त्रण ही होता है। राज्य तथा उसके लक्ष्य की फ़ासिस्ट तथा नाज़ी भावना का आधार यही मत है।

जर्मन लेखक ब्लुंट्श्ली ने भी कुछ कुछ-ऐसा ही विचार प्रकट किया है। उसके अनुसार राज्य का समुचित ध्येय राष्ट्रीय क्षमता का विकास, राष्ट्रीय जीवन का विकास और अन्त में उसकी पूर्णता है किंतु इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि नैतिक तथा राजनीतिक विकास की प्रक्रिया मानवता के भाग्य के विपरीत न हो। इस मत ने नागरिकों के कल्याण से भिन्न राष्ट्रीय शक्ति एवं क्षमता के संवर्धन तथा विकास पर ज़ोर दिया है। किन्तु 'मानवता के भाग्य' पर ज़ोर दे कर लेखक ने अपने सिद्धान्त को नैतिक पक्ष से वंचित नहीं किया। वह यह स्वीकार करता है कि राष्ट्रीय हितों के साथ-साथ राज्य को मानवता के व्यापक हितों का भी ध्यान रखना चाहिये। किन्तु कठिनाई यह है कि जब देशभक्त अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि स्थान देने लगता है, तब उसके मन में मानवता का हित दुर्बल हो जाता है। आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों में यही प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे मानवता के हितों को अपने राष्ट्रीय गौरव एवं बल के सामने गौण स्थान देते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रवादी सिद्धान्तों में बड़ा खतरा होता है, ये फ़ासिस्टवाद का मार्ग तैयार करते हैं।

एक आधुनिक अमेरिकन लेखक प्रोफ़ेसर बर्गेस ने राज्य के तीन लक्ष्य (१) प्राथमिक, (२) माध्यमिक और (३) अन्तिम बतला कर उनमे भेद किया है। राज्य का प्राथमिक उद्देश्य शासन तथा नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना एवं रक्षा करना है। यह राज्य के रक्षण एवं नागरिकों की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। माध्यमिक उद्देश्य है राष्ट्रीय प्रतिभा का विकास और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की पूर्णता। अन्तिम ध्येय है मानवता की पूर्णता और मानव सभ्यता की अभिवृद्धि। प्रत्येक उद्देश्य अग्रगामी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन भी है। प्राथमिक उद्देश्य द्वारा माध्यमिक उद्देश्य पूरा होता है और माध्यमिक उद्देश्य द्वारा अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति होती है। गार्नर ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार इस विचार द्वारा साध्य और साधन मे भेद नहीं किया गया है। यदि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की सिद्धि के लिये शासन एवं नागरिक स्वतन्त्रता की स्थापना साधन है तो उसे साध्य क्यों नहीं माना जाय? गार्नर ने राज्य के निम्नलिखित त्रिविध लक्ष्य सुझाये हैं: (१) राज्य के नागरिकों में शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा तथा न्याय क़ायम रखना। यह राज्य का मौलिक, प्राथमिक और तात्कालिक लक्ष्य है। (२) समाज की सामूहिक आवश्यकताओं की अभिवृद्धि अर्थात् समाज का कल्याण। यह माध्यमिक लक्ष्य है। उसका (३) अन्तिम लक्ष्य है सभ्यता की अभिवृद्धि और मानवता की प्रगति।

इस प्रकार के सिद्धान्त शासन के कार्यों को राज्य का लक्ष्य मान लेते हैं। शान्ति, सुरक्षा, व्यवस्था और न्याय को क़ायम रखना, देश रक्षा की व्यवस्था और कानूनों द्वारा आर्थिक एवं औद्योगिक जीवन की अभिवृद्धि शासन के मुख्य कार्य हैं। राज्य के मुख्य ध्येय की अरस्तू से बढ़ कर किसी ने भी अब तक व्याख्या नहीं की: राज्य की उत्पति जीवन के लिए हुई है और श्रेष्ठ जीवन के लिए वह क़ायम रहता है। उपयोगितावादी राज्य का उद्देश्य अधिकाधिक लोगों का अधिकाधिक सुख मानते हैं। लास्की के अनुसार उसका उद्देश्य अधिकतम मात्रा मे सामाजिक हित का सम्पादन है। परन्तु ये उद्देश्य भी अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य से उत्कृष्ट नहीं है, क्योंकि इनमे राज्य के नैतिक पहलू की कोई चर्चा ही नहीं है।

राज्य, शासन व अन्य संस्थाएँ

प्रभुत्व के सम्बन्ध मे विचार करने से पूर्व राज्य, शासन और समाज के भेद को समझ लेना आवश्यक है।

राज्य और शासन—

कभी-कभी इन दोनों शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है मानों इन दोनों में कोई भेद ही नहीं है। यह बात उस समय प्रायः देखी जाती है, जब कि शासनों का वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण समझ लिया जाता है या शासन के काम राज्य के काम समझ लिये जाते हैं। किन्तु इन दोनों मे महान् अन्तर है। राज्य सामान्य कल्याण के लिए राजनीतिक दृष्टि से संगठित व्यक्तियों का एक समाज है। इसमें समस्त नागरिक—स्त्री पुरुष तथा बालक—सम्मिलित होते हैं जो सामूहिक जीवन में भाग लेते हैं और सहयोग करते हैं, कोई भी नागरिक, जब तक वह न्याय की रक्षा से बाहर न हो, राज्य से अलग नहीं किया जाता। इसके विपरीत शासन राज्य के समस्त नागरिकों का एक छोटा सा भाग होता है। गार्नर के अनुसार शासन "उस संगठन या एजेंसी का सामूहिक नाम है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का निर्माण, उसकी अभिव्यक्ति तथा सिद्धि होती है।" दूसरे शब्दों में शासन राज्य द्वारा निर्मित वह जीवित यन्त्र है जिसके द्वारा वह अपना ध्येय प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार एक ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनी अपने प्रबन्ध के लिए बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स नियुक्त करती है, उसी प्रकार राज्य भी अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति और उसके सम्पादन के लिए शासन की नियुक्ति करता है। जिस प्रकार बिना बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स के कम्पनी का प्रबन्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना शासन के समाज के जीवन का निरन्तर प्रवाह बना नहीं रह सकता। इस प्रकार राज्य और शासन दोनों एक नहीं है। शासन राज्य की अपेक्षा अधिक संकीर्ण होता है। इन दोनों में दूसरा भेद यह है कि शासन मे परिवर्तन का राज्य के सातत्य अथवा निरन्तरता और एक्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जर्मनी में हिटलर द्वारा सत्ता-ग्रहण तथा पूर्व शासन के विसर्जन से जर्मन राज्य का विनाश नहीं हुआ। राज्य स्थायी रहता है और शासन में परिवर्तन होते रहते हैं। एक शासन के स्थान पर दूसरा शासन स्थापित होता है, किन्तु राज्य बराबर क़ायम रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राज्य अमर है अथवा किसी राज्य का नाश नहीं होता। इटली द्वारा विजित होने पर अबीसिनिया राज्य का विनाश हो गया। इसी प्रकार ऑस्ट्रिया

पोलैण्ड और केन्द्रीय यूरोप के दूसरे देश जो गतयुद्ध में जर्मनी के आधिपत्य में आ गये थे, वे उस समय सही अर्थ में राज्य नहीं कहे जा सकते थे। राज्य के स्थायित्व का केवल इतना ही अर्थ है कि जो लोग एक राज्य के रूप में एक बार संगठित हो जाते हैं वे शासन के परिवर्तन के साथ अराजकता अथवा अराजनीतिक स्थिति में नहीं लौट जाते। राज्य कायम रहता है उसमें सातत्य का गुण है। यह राज्य का महत्त्वपूर्ण लक्षण है, जिससे शासन से उसकी भिन्नता प्रकट होती है। शासन की परिभाषा में किसी निश्चित प्रदेश का कोई संकेत नहीं होता जैसे राज्य की परिभाषा में होता है। शासनों की अपनी प्रजा पर नियामक सत्ता होती है, किन्तु यह सत्ता राज्य उन्हे प्रदान करते हैं। यह राज्य की सत्ता की भाँति मौलिक अथवा असीमित नही होती। दूसरे शब्दों में राज्य में प्रभुत्व सत्ता होती है किन्तु शासन में नहीं होती। शासन अपनी सत्ता राज्य से प्राप्त करता है और वह सीमित होती है।* परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह भेद केवल सैद्धान्तिक ही है। इसका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है। राज्य का प्रत्येक कार्य शासन का ही होता है। जिन कानूनों से राज्य की इच्छा प्रकट होती है उनका निर्माण शासन द्वारा होता है शासन ही उन्हें अमल में लाते हैं।

राज्य और समाज—

राज्य और शासन मे जो भेद है, उसे न समझने के कारण जो अनिष्टकारी परिणाम निकल सकते हैं उनसे कहीं अधिक अनिष्टकारी परिणाम राज्य और समाज के भेद को न समझने के कारण हो सकते हैं। अतः इन दोनों के भेद को समझ लेना भी परम आवश्यक है। 'समाज' से तात्पर्य व्यक्तियों के एक ऐसे समुदाय से है जिसका सामान्य हित हो तथा जो 'स्वजाति—भावना' (Consciousness of kind) से परस्पर सम्बद्ध हों। इस प्रकार जापानियों, जर्मनों तथा भारतियों के अलग-अलग समाज है। हम ईसाई समाज, हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। राज्यों के बीच युद्ध

*शासन तथा राज्य में जो भेद दिखाया गया है, उस पर शासन के विभिन्न अर्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शासन का अर्थ कभी मन्त्रि-परिषद् होता है कभी मन्त्रि परिषद तथा संसद् और कभी उनके अन्तर्गत राज्य के प्रबन्धक, व्यवस्थापक तथा न्याय-विभाग के उच्च से उच्च अधिकारी से ले कर निम्नतम अधिकारी भी सम्मिलित कर लिये जाते हैं।

निवारण तथा शान्ति स्थापन के लिये भी समाज स्थापित किये जा सकते हैं। इन सब उदाहरणों में समान्य हितों में संलग्न और सामान्य लक्ष्य की भावना से संबद्ध लोगों द्वारा समाज बनता है। समाज के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका एक निश्चित प्रदेश हो। ईसाई समाज किसी एक निश्चित प्रदेश पर निवास नहीं करता, वह अन्तर्राष्ट्रीय है। राज्य तथा समाज में दूसरा भेद यह है कि राज्य राजनीतिक दृष्टि से संगठित होता है। प्रत्येक राज्य मे शासन तथा शासितों का भेद स्पष्ट दिखाई देता है। राज्य के प्रतिनिधि की हैसियत से शासन को व्यक्तियों को बन्दी बनाना, उन्हें अर्थ-दण्ड देने, उनकी सम्पत्ति ज़ब्त करने, यहाँ तक कि उन्हे प्राणदण्ड देने का भी अधिकार होता है। समाज इस प्रकार के कोई भी कार्य नहीं कर सकता। समाज को कोई प्रभुत्व अथवा दमनकारी सत्ता नहीं होती। राज्य ही आदेश दे सकता है और प्रजा से उसका बलपूर्वक पालन करा सकता है। समाज अपने सदस्यों का सहयोग अनुनय विनय द्वारा ही प्राप्त करता है। वह उनकी सद्भावना से अपील करता है, बलप्रयोग नहीं कर सकता। बार्कर ने समाज तथा राज्य के भेद के सम्बन्ध में लिखा है कि "वे एक दूसरे से मिले हुए हैं; वे एक दूसरे पर अतिक्रमण भी करते हैं तथा वे एक दूसरे के ऋणी भी हैं। किन्तु हम मोटी तौर से कह सकते हैं कि समाज का क्षेत्र वैकल्पिक सहयोग का है, उसकी शक्ति सद्भावना है और उसकी पद्धति लचीली है। किन्तु राज्य का क्षेत्र यांत्रिक कार्य का क्षेत्र है, उसकी शक्ति बल है और उसकी प्रणाली कठोर है।"* इस प्रकार राज्य समाज का रूप नहीं है। जब समाज का राजनीतिक संगठन हो जाता है, तब वह राज्य बन जाता है। इन दोनों में मूल अन्तर यही है कि राज्य से राजनीतिक संगठन का बोध होता है; समाज से नहीं। जापानी समाज राज्य भी है; क्योंकि उसका राजनीतिक संगठन भी है। किन्तु मुस्लिम समाज राज्य नहीं है, क्योंकि उसका राजनीतिक संगठन नहीं है। जो समाज राजनीतिक ढग से संगठित नहीं होता, उसके विघटन का खतरा बना रहता है। बार्कर ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि समाज को राज्य क़ायम न रखे तो वह टिक नहीं सकता। यह मत इस अर्थ में सत्य है कि जब तक मानव समाज में किसी न किसी अवस्था में राजनीतिक

---

*Barker : Political Thought in England p. 27.

नियंत्रण नहीं हो, तब तक हम व्यक्तियों के एक साथ रहने की कल्पना नहीं कर सकते। समाज में अनेक समुदाय तथा संस्थाएँ होती हैं अतः उनमें परस्पर संबंध बनाये रखने तथा नियम और व्यवस्था क़ायम रखने के लिये कोई संगठन अवश्य होना चाहिए।

यदि समाज और राज्य समान होते तो एक राज्य के नागरिक का नागरिक जीवन ही उसका समस्त जीवन हो जाएगा और उसके जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचेगा जो राज्य के क्षेत्र के बाहर हो। परिवार, पाठशाला, चर्च आदि स्वशासित संस्थाओं के रूप में नहीं रहेंगे और राज्य के अग बन जायेंगे। यह बात प्राचीन ग्रीस के नगर-राज्यों के संबध में सत्य रही होगी, किन्तु आज के युग में यह सत्य नहीं है। व्यक्ति के समस्त जीवन का राज्य में समावेश नहीं होता और न हो सकता है। राज्य के सदस्य होने के साथ-साथ हम अनेक संस्थाओं के सदस्य होते हैं जिन सब से सम्मिलित रूप में समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार राज्य तथा समाज को एक ही समझना भूल है। किन्तु यह भेद रूस जैसे राज्यों को लागू नहीं होता जहाँ कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो राज्य की सत्ता के अन्दर न हो। इस भेद का राज्य के सावयव तथा आदर्शवादी सिद्धान्तों से भी सामजस्य नहीं हो सकता। यह केवल उन यांत्रिक सिद्धान्तों के अनुरूप है जिनका वर्णन हम आगे करेंगे।

राज्य तथा अन्य समुदाय—

हम ऊपर कह चुके हैं कि राज्य में मनुष्य को समस्त सामाजिक प्रवृत्ति का समावेश नहीं हो सकता। अपनी सामाजिकता के विकास के लिए व्यक्ति को राज्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं की भी आवश्यकता होती है। इसी कारण राज्य के भीतर अनेक ऐच्छिक संस्थाएँ होती हैं, जैसे मज़दूर-संघ, धार्मिक संस्थाएँ, राजनीतिक दल, मनोरंजन संघ, शिक्षा एवं साहित्य परिषदें आदि। इस प्रकार की संस्थाएँ समाज के विविध सामान्य हितों की अभिवृद्धि के लिए क़ायम की जाती हैं और आधुनिक समय में इनमें काफ़ी वृद्धि हो गई है। इसका यह परिणाम है कि समाज सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों का एक समुदाय ही नहीं है, वरन् वह समुदायों का एक जाल सा है। वह समुदायों का समुदाय है। बार्कर ने कहा है कि समाज को हम सामान्य जीवन बितानेवाले व्यक्तियों के समूह के रूप में कम देखते हैं, हमें वह ऐसे व्यक्तियों का समुदाय

दिखाई देता है जो पहले से ही सामान्य जीवन बिताने वाले विविध समुदायों में संगठित हैं और जो समुदाय स्वयं एक बड़े समुदाय में एक उच्चतर उद्देश्य की प्राप्ति के लिये संगठित हो गये हैं। ये समुदाय अनेक बातों में राज्य के समान है और अनेक बातों में भिन्न भी हैं। राज्य की भांति वे भी मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की अभिव्यक्ति है और उसकी अभिव्यक्ति तथा विस्तार में सहायता करते हैं। राज्य की भाँति उनका भी अपना लक्ष्य है, यद्यपि वह राज्य के लक्ष्य के समान उतना सामान्य नहीं, विशिष्ट होता है। वे संगठित हैं और उनमें से अनेकों के पास अपना कोष और अपनी सम्पत्ति भी है। वे भी अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखते हैं और उनके अपने नियमोपनियम भी होते हैं। प्रत्येक समुदाय का अपना क़ानूनी व्यक्तित्व भी होता है। परन्तु उनमे और राज्य में कुछ मौलिक भेद हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं।

१—किसी भी समुदाय को दमन की कानूनी सत्ता अर्थात् क़ानून बना कर दण्ड के भय से उसका पालन कराने की सत्ता नहीं है। केवल राज्य को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त है। राज्य का प्रभुत्व ही एक ऐसा तत्व है, जो उसमें तथा अन्य समुदायों में एक मौलिक भेद स्थापित करता है। इस पर हम विस्तार से ऊपर लिख चुके हैं।

२—राज्य स्थायी तथा सदैव क़ायम रहने वाला समुदाय है, क्योंकि वह समस्त नागरिकों के नैतिक कल्याण की अभिवृद्धि के सामान्य और स्थायी लक्ष्य की सिद्ध के लिये प्रयत्न करता है। परिवार भी राज्य की भाँति एक स्थायी समुदाय है। अन्य समुदाय न्यूनाधिक अल्प कालिक होते हैं। वे किसी विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्थापित किये जाते हैं और जब उनका लक्ष्य पूरा हो जाता है तब वे भंग कर दिये जाते हैं। कुछ समुदाय आन्तरिक झगड़ों के कारण नष्ट हो जाते हैं। राज्य के स्थायित्व का दूसरा कारण यह है कि वह एक आवश्यक समुदाय है। राज्य के बिना व्यक्ति रह नहीं सकता किन्तु अन्य ऐच्छिक समुदायों का सदस्य न रह कर भी वह अपना जीवन-यापन कर सकता है। राज्य अनिवार्य है परन्तु कोई भी ऐच्छिक समुदाय अनिवार्य नहीं हैं।

३—राज्य अनिवार्य समुदाय है। हम स्वयं राज्य की सदस्यता का चुनाव नहीं करते वरन् जिस प्रकार हम एक परिवार में जन्म लेते हैं उसी प्रकार राज्य में भी जन्म लेते हैं। हम निर्वासन के अतिरिक्त

अन्य किसी प्रकार के राज्य की सदस्यता का परित्याग नहीं कर सकते। रक्त-सम्बन्धी समुदायों को छोड़ कर अन्य समुदायों की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर रहती है। वह जब चाहे किसी संस्था का सदस्य बन सकता है और जब चाहे उससे पृथक् हो सकता है।

४—राज्य वर्जनशील (Exclusive) है। कोई भी व्यक्ति एक समय में एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है, वह एक साथ ही दो या अधिक राज्यों का नागरिक नहीं बन सकता। किन्तु वह अनेकों ऐच्छिक समुदायों का सदस्य एक साथ बन सकता है।

५—राज्य एक प्रादेशिक समुदाय है। वह एक निश्चित प्रदेश में सीमित होता है। ऐच्छिक समुदाय प्रादेशिक नहीं होते। इनमें से रेड क्रॉस सोसायटी, कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल जैसे अनेक समुदाय तो अन्तर्राष्ट्रीय भी होते हैं।

६—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है राज्य का उद्देश्य सामान्य जनकल्याण की अभिवृद्धि करना है। इस प्रकार उसका सम्बन्ध अनेक प्रकार के हितो से रहता है; अतः उसका क्षेत्र भी व्यापक है। ऐच्छिक समुदाय के हित विशिष्ट और सीमित होते हैं और उनका क्षेत्र भी सीमित होता है।

समाज में इन अनेक समुदायों के अस्तित्व के कारण उनके तथा राज्य के सबंधों का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। उनमें से कई समुदाय राज्य के प्रयास के बिना ही विकसित होते हैं—जैसे विद्यार्थी संघ, डाक के कर्मचारियों का संघ, आर्यसमाज आदि। कुछ समुदाय ऐसे होते हैं, जो राज्य के विरोध के बावजूद भी बने रहते हैं—जैसे ब्रिटिश राज्य में भारतीय कांग्रेस। कुछ समुदायों का जन्म राज्य के द्वारा होता है जैसे—विश्वविद्यालय, सहकारी समितियाँ आदि। इन संस्थाओं का उदय चाहे किसी प्रकार भी हुआ हो, वे राज्य की अनुमति से ही कार्य कर सकती हैं। उन्हे राज्य की स्पष्ट या मौन स्वीकृति अवश्य प्राप्त करनी होती है। जिस संस्था के कार्यों को राज्य या शासन खतरनाक समझता है उसे शासन बलपूर्वक भंग कर देता है। अनेकों बार भारत में अंग्रेज़ी सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय महासभा को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया था। कोई भी सभ्य राज्य ऐसी संस्था को क़ायम करने की आज्ञा नहीं देगा जिसका उद्देश्य अनैतिक हो या अपराधजनक। इसका अर्थ यह

अधिक सुयोग हैं, प्रजातीय विशुद्धता कहीं भी विद्यमान नहीं है। किसी 'जन' (People) को 'राष्ट्र' का रूप धारण करने के लिए न तो प्रजाति की एकता, न भाषा और धर्म की एकता की आवश्यकता होती है, वरन् उस विचित्र एवं जटिल भावना की आवश्यकता होती है जिसे हम राष्ट्रीयता की भावना कहते हैं। राष्ट्रीयता की समुचित व्याख्या या परिभाषा करना कठिन है। इसका सबसे उत्तम वर्णन इसी प्रकार किया जा सकता है कि यह एक होने की सक्रिय भावना है; लोगों की एक साथ एक ही जगह रहने की आकांक्षा है; वह समचित्तता की भावना है जो सामान्य सांस्कृतिक परम्परा के कारण एक जनसमूह में पैदा हो जाती है। यह भावना मुख्यतः मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक है, इसका राजनीतिक रूप गौण है। ज़िमर्न का कथन है : 'मेरे विचार में राष्ट्रीयता तनिक भी राजनीतिक प्रश्न नहीं है। यह प्राथमिक रूप से और आवश्यक रूप से आध्यात्मिक प्रश्न है। यह मातापिताओं, अध्यापकों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और उन सबों के लिए एक प्रश्न है जिनका तरुणों के जीवन एव आदर्शों से सम्बन्ध है—और जो समाज की आध्यात्मिक प्रगति चाहते हैं।' गार्नर के शब्दों मे राष्ट्र की परिभाषा निम्न प्रकार की जा सकती है : 'राष्ट्र सांस्कृतिक रूप से संगठित एवं एकरूप जन-समुदाय है जिसे अपने आध्यात्मिक जीवन की एकता और अभिव्यक्ति का ज्ञान है और जो उसे बनाये रखना चाहता है। जो बंधन एक जन को राष्ट्र बना देते हैं, वे न जातीय हैं और न प्रजातीय, वरन् वे मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ही हैं।'

राजनीतिक संगठन के रूप में 'राष्ट्र'—

अधिकांश आधुनिक लेखक 'राष्ट्र' की इस परिभाषा को इस आधार पर अपर्याप्त कहेंगे कि इसमें राजनीतिक संगठन की कुछ भी चर्चा नहीं है। उनके लिए राष्ट्र केवल व्यक्तियों का ऐसा समुदाय नहीं है जो सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक बंधनों से बंधा हो; वह इन बंधनों से बंधा हुआ भी ऐसा समुदाय है, जो एक ही प्रभुत्व के आधीन हो। दूसरे शब्दों में जन उस समय तक राष्ट्र नहीं बन सकता जब तक कि वह राज्य का रूप न धारण कर ले। ऐसे लेखक राष्ट्रीयता के राजनीतिक पहलू पर ज़ोर देते हैं। उदाहरणार्थ, गिलक्राइस्ट का विचार है कि राष्ट्र शब्द का राज्य से मिलता-जुलता अर्थ है; वह राज्य के साथ कुछ

और भी है अर्थात् राज्य जिसका हम उसके अधीन संगठित जनता की एकता के दृष्टिबिन्दु से विचार करें। इसी प्रकार हेज़ (Hayes) का विचार है कि एक उपराष्ट्र (Nationality) एकता और प्रभुता प्राप्त करने के बाद राष्ट्र बन जाता है। इस प्रकार ब्रिटिश राष्ट्र एक राज्य में संगठित ब्रिटिश प्रजा है जो एकता की भावना से कार्य करती है। जहाँ राज्य की जनता में एकता की भावना का आवश्यक मात्रा में अभाव होता है, वहाँ हम साधारणतया उसे राष्ट्र नहीं कहते हैं। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी राज्य का अस्तित्व था; परन्तु लोग उसे आस्ट्रिया-हंगरी राष्ट्र कहने में संकोच करते थे। संक्षेप में, बहुत से लोग राष्ट्र का अर्थ सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूप और राजनीतिक दृष्टि से संगठित प्रजा करते हैं।

इस प्रकार राष्ट्र का अर्थ राज्य के समान हो जाता है। लॉर्ड ब्राइस ने भी इसी मत क समर्थन किया है। उसने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है: 'राष्ट्र एक उपराष्ट्र (Nationality) है जिसने अपना संगठन राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है और जो या तो स्वतंत्र है या स्वतंत्रता की इच्छुक है।' इस विचार की विद्वानों ने संदिग्ध एवं शिथिल कह कर आलोचना की है; क्योंकि यह दोनों कल्पनाओं के अर्थों में भ्रान्ति पैदा करता है। किन्तु इसके पक्ष में एक बात अवश्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से स्वराज्य के लिए आकांक्षा राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बड़ी प्रेरक रही है। यदि कोई व्यक्ति भारतीय, मिश्री तथा आयरिश राष्ट्रीयता को समझना चाहे तो उसे राष्ट्रीयता की भावना के राजनीतिक पक्ष को भी समझने की आवश्यकता है। पोलिश प्रजा ने स्वतत्र राज्य की स्थापना के लिए जो दावा किया था उसका भी यही आधार है। यह भी मानना पड़ेगा कि किसी राज्य का रूप और लक्षण बहुत अंश तक राष्ट्र के लक्षण पर ही निर्भर है। इस प्रकार राष्ट्रीयता राजनीतिकता का आधार है।

राज्य और राष्ट्र—

इस विवेचन के बावजूद भी, जिससे राज्य और राष्ट्र का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है, यह उचित होगा कि इन दोनों कल्पनाओं में भेद किया जाय और दोनों को पृथक् रखा जाय। राष्ट्रीयता की भावना मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक है जब कि राज्य की एकता राजनीतिक

है। दोनों में मुख्य भेद यह है कि राज्य राजनीतिक दृष्टि से संगठित इकाई है और राष्ट्र आध्यात्मिक बंधनों से एकता के सूत्र में बंधी जनता है जो अपने को दूसरे ऐसे ही समुदायों से भिन्न मानती है। प्रो० ज़िमर्न ने इन दोनों के भेद को निम्नलिखित अवतरण में भली भाँति स्पष्ट कर दिया है : 'राष्ट्रीयता (Nationality) धर्म की भाँति आध्यात्मिक है, राज्यत्व (Statehood) भौतिक है; राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक है; राष्ट्रीयता मन की स्थिति है, राज्यत्व क़ानून की स्थिति है; राष्ट्रीयता एक अधिकार है, राज्यत्व एक दायित्व है जिसका पालन कराया जा सकता है; राष्ट्रीयता एक प्रकार की भावना, चिन्तन तथा जीवन का ढङ्ग है, राज्यत्व एक ऐसी अवस्था है जो सभ्य जीवन से विलग नहीं की जा सकती।' इस भेद को बतलाते हुए हमें यह न भूल जाना चाहिये कि साधारणतया राज्य और राष्ट्र दोनों साथ साथ चलते हैं। जो जनता न तो स्वतन्त्र है और न स्वतन्त्र होने की इच्छा ही करती है उसे राष्ट्र नहीं कहेंगे। राष्ट्र-राज्य (Nation State) कोई निरर्थक पद नहीं है।

इन दोनों कल्पनाओं में भेद होते हुए भी यदि एक राष्ट्र के व्यक्ति को किसी दूसरे राज्य के नागरिक की हैसियत से रहने को बाध्य किया जाय तो उसमें कोई नैतिक अत्याचार या तार्किक असगति नहीं है। एक जर्मन फ्रान्स या इङ्गलैंड का नागरिक हो सकता है। किन्तु इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि सांस्कृतिक एकता सदा राज्य के रूप में प्रकट होने का प्रयत्न करती है। यदि हम इस बात को स्वीकार करें कि मुसलमानों की संस्कृति हिन्दुओं की सस्कृति से भिन्न थी तो पाकिस्तान की स्थापना को आवश्यक आधार मिल जाता है।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता—

हम ऊपर कह चुके हैं कि राष्ट्रीयता से ऐसी जटिल भावना का बोध होता है जो एक प्रदेश में रहने वाली जनता को एकता के सूत्र में बाँध कर उसे एक राष्ट्र बना देती है। यह सिद्धान्त राष्ट्र का निर्माणकर्त्ता है। इसका एक दूसरा भी अर्थ है, जिसे समझ लेना उचित होगा। कुछ लेखक 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' में भी भेद करते हैं; किन्तु यह भेद भिन्न भिन्न प्रकार से किया जाता है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार इनमें जो भेद है, वह राजनीतिक संगठन का ही है। एक जनसमूह 'राष्ट्रीयता'

(उपराष्ट्र)* कहलाता है, यदि वह भाषा और साहित्य, विचार तथा लोकाचार एवं परम्परा आदि के बन्धनों से इस प्रकार बंधा हो कि उसके कारण वह एकता का अनुभव करे और वह अपने को इसी प्रकार के दूसरे जन समूह से भिन्न समझे। जब इस प्रकार की जनता राजनीतिक दृष्टि से एक राज्य के रूप में संगठित हो जाती है तब उसे 'राष्ट्र' कहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र एक राष्ट्रीयता (उप राष्ट्र) है जो स्वतन्त्र हो गया है अथवा स्वतन्त्रता की इच्छा करता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता (उपराष्ट्र) ऐसी जनता का नाम है जो राष्ट्र बनने जा रही है, जैसे कुछ वर्ष पहले तक यहूदी। इस प्रकार राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र में भेद करने का तरीक़ा उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस प्रकार राष्ट्र एवं राज्य में जो भेद है, उसकी उपेक्षा की जाती है। उस विचार को स्वीकार कर लेना अधिक अच्छा होगा जिसके अनुसार इनमें अंतर राजनीतिक संगठन का नहीं वरन् सख्या का माना जाता है। जहाँ एक राष्ट्र में कई सामाजिक-प्रजातीय समुदाय होते हैं वहाँ उनमे से प्रत्येक समुदाय को राष्ट्रीयता (उपराष्ट्र) कह सकते हैं। इस प्रकार वेल्श और स्कॉच ब्रिटिश राष्ट्र के अन्तर्गत भिन्न उपराष्ट्र हैं। भारतीय राष्ट्र के अन्तर्गत पंजाबी, गुजराती, बगाली, मराठे आदि उपराष्ट्र (Nationalities) हैं।

राष्ट्रीयता के तत्व—

जो शक्तियाँ एक जनसमूह मे राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करती हैं और उसे एक राष्ट्र बना देती हैं, वे अनेक और विभिन्न प्रकार की हैं। इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं धर्म की एकता, भाषा की एकता, परम्परा एवं संस्कृति की एकता, भौगोलिक एकता, हितों की एकता, तथा प्रजातीय एकता। इनमें से कोई भी एक तत्व परम अनिवार्य नहीं है, परन्तु प्रत्येक तत्व जनता में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अच्छा है। जो जनता राज्य कहलाने का दावा करती है, उसमें इनमें से अधिकांश तत्व विद्यमान होने चाहिए।

(१) प्रजाति की एकता—

जो राष्ट्र को एक प्रजातीय संघटन मानते हैं, वे प्रजाति (Race)

---

* हिन्दी में इस अर्थ में हम राष्ट्रीयता के स्थान पर "उपराष्ट्र" शब्द का प्रयोग अच्छा समझते हैं।

की समानता या एकता को राष्ट्रीयता के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। प्रजातीय एकता अनेक राष्ट्रों का लक्ष्य माना जाता है। राष्ट्रीय भेद वशानुक्रम के कारण माने जाते हैं। समान वंशपरंपरा का अतीत काल में राष्ट्र-निर्माण में चाहे जैसा महत्व रहा हो परन्तु वर्तमान काल में प्रजाति की विशुद्धता को राष्ट्रीयता का आवश्यक तत्व नहीं माना जा सकता। प्रजाति एक भौतिक वस्तु है, राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है। राष्ट्रीयता की भावना प्रजाति में से विकसित नहीं हो सकती। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है आज ससार में कोई भी विशुद्ध प्रजाति नहीं है। आजकल जो प्रजातियाँ विद्यमान हैं वे अनेको प्रजातियों के मिश्रण के फल-स्वरूप बनी हैं। आधुनिक राष्ट्रों में से अधिकांश में विभिन्न प्रजातियों के लोग सम्मिलित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्ज़रलैंड में तो प्रजातियों की बड़ी विविधता मिलती है। ब्रिटिश राष्ट्र में केल्ट्स, ट्यूटन और डेन प्रजातियों के लोग सम्मिलित हैं। दूसरी ओर प्रजाति की एकता आवश्यक रूप से एक राष्ट्रीयता का निर्माण नही करती। प्रजातीय दृष्टि से अंग्रेज और आस्ट्रेलिया के निवासी एक ही हैं, परन्तु अब वे दो भिन्न राष्ट्र हैं।

इस प्रकार यह नही कहा जा सकता कि प्रजाति की एकता प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने मे योगदान देती है परन्तु परोक्ष रूप से इसका बड़ा महत्त्व है; क्योंकि इसके कारण प्रजा में भाषा, संस्कृति और परम्परा की एकता का प्रादुर्भाव होता है।

(२) धर्म की एकता—

प्रजाति की एकता के समान ही धर्म की एकता भी राष्ट्रीयता का एक आवश्यक तत्व माना जाता था। पूर्वकाल में राज्यों की एकता एवं संगठन में धर्म ने यथेष्ठ योगदान दिया। परन्तु आज के युग में राष्ट्रीय ऐक्य के बन्धन के रूप में इसका महत्त्व यदि लुप्त नहीं तो बहुत कम अवश्य हो गया है। इसका कारण धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक स्वतन्त्रता की भावना का प्रसार है। आधुनिक काल में विभिन्न धर्मों का पालन करने वाले लोगों ने एक राष्ट्र का निर्माण किया है। जर्मनी एक सबल राष्ट्र बन गया है, यद्यपि वहाँ रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों धर्मों के अनुयायी हैं। इसी प्रकार रोमन कैथोलिक धर्म तथा ग्रीक कैथोलिक धर्म के कारण यूगोस्लाविया राष्ट्र के निर्माण में कोई बाधा नहीं पड़ी। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि

उसमें अनेक धर्मों के होते हुए भी वह एक सबल राष्ट्र है। दूसरी ओर ऐसे भी देश हैं जहाँ धार्मिक मतभेदों के कारण राष्ट्रीय एकता में बड़ी बाधाएँ पैदा हुई हैं। आयरलैंड में अल्स्टर प्रदेश प्रोटेस्टेंट मतानुयायी है और शेष भाग रोमन कैथोलिक है। हमारे देश में हिन्दू-मुसलिम मतभेद हमारी स्वाधीनता के मार्ग में बड़ा बाधक रहा है और अन्त में उसके कारण देश के कृत्रिम विभाजन द्वारा दो स्वतन्त्र राज्यों का जन्म हुआ। इस प्रकार धर्म की एकता राष्ट्रीय एकता के आविर्भाव में सहायक होती है परन्तु वह उसका आवश्यक तत्व नहीं है।

(३) भाषा, संस्कृति तथा परम्परा की एकता—

प्रजाति तथा धर्म की एकता की अपेक्षा राष्ट्रीय चेतना की अभिवृद्धि में भाषा, परम्परा तथा संस्कृति की एकता का बड़ा महत्व है। राष्ट्रीयता के विषय पर जितने लेखक हैं उनमें से अधिकांश ने सामान्य भाषा की आवश्यकता पर अधिक ज़ोर दिया है। फिक्टे (Fichte) का मत है कि सामान्य भाषा राष्ट्र के सदस्यों में एकता का मुख्य बन्धन है। यह ऐसा इसलिये है कि जो व्यक्ति एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं वे एक दूसरे के भावों एवं विचारों को सरलता से समझ लेते हैं और समान विचारों एवं आदर्शों को ग्रहण कर लेते हैं। सामान्य भाषा के अभाव के कारण लोग एक दूसरे को नहीं समझ सकते। इससे सामान्य आदर्श तथा सामान्य चेतना के विकास में बड़ी बाधा पड़ती है। भाषा एकता का ऐसा बन्धन है जिसे लोग खूब समझते हैं और कभी नहीं छोड़ना चाहते। विविध देशों मे जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए हैं उनका सम्बन्ध अधिकांश में भाषा की रक्षा के प्रश्न से रहा है। हमारे देश में विविध भाषाओं के होने के कारण राष्ट्रीय भावना की प्रगति के मार्ग में बड़ी कठिनाइयाँ रही हैं। हिंदी-उर्दू के सबंध में जो विवाद है, उसका सम्बन्ध साम्प्रदायिक समस्या से है।

भाषा की एकता राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, परन्तु उसको हम अत्यन्त आवश्यक तत्व नहीं मान सकते। ऐसे अनेक देशों के उदाहरण हैं जहाँ विभिन्न भाषा-भाषी लोग रहते हैं; किन्तु फिर भी वे सुसंगठित राष्ट्र हैं। कनाडा में दो भाषाएँ और स्विटज़रलैंड मे तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। यह भी सत्य है कि दो राष्ट्र एक ही भाषा का प्रयोग करते रहते हैं और फिर भी वे पृथक् रहते हैं। ब्रिटिश तथा अमेरिकन लोग एक

ही भाषा का प्रयोग करते हैं किन्तु उनके दो पृथक् राष्ट्र हैं। दो राष्ट्रों द्वारा एक भाषा के प्रयोग से उनमें परस्पर मेल-मिलाप की सभावना अधिक रहती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास में भाषा एक मुख्य तत्व है।

(४) भौगोलिक एकता—

एक ही प्रदेश में निवास से भी राष्ट्रीय भावना का विकास होता है। व्यक्ति एक ही प्रदेश में मिल कर रहने से बहुत शीघ्र सांस्कृतिक एकता के बंधन में बँध जाते हैं। उनमें परस्पर सहानुभूति तथा एकता की भावना पैदा हो जाती है। परन्तु समाज में एक बार राष्ट्रीय भावना का विकास हो जाने के बाद उसे क़ायम रखने के लिये सामान्य प्रदेश में आवास आवश्यक नहीं होता। अँग्रेज, जापानी एवं भारतीय अँग्रेज, जापानी एवं भारतीय रहेंगे, वे दुनियाँ के चाहे जिस भाग में रहें। मनुष्य विदेशी वातावरण में भी अपने राष्ट्रीय भावों को क़ायम रखता है।

(५) सामान्य राजनैतिक आकांक्षाएँ—

राष्ट्र-निर्माण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है राजनीतिक आकांक्षाओं की एकता। जनता में भाषा, धर्म तथा संस्कृति की चाहे जितनी विभिन्नताएँ क्यों न हों, एक शासन के आधीन दीर्घकाल तक रहने से उसम राष्ट्रीय भावना का विकास हो जाता है। यदि शासन विदेशी होता है, तो यह राष्ट्रीय भावना बड़े उग्र रूप में विकसित हो जाती है। भारत में राष्ट्रीयता के विकास का मुख्य कारण यह था कि जनता विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त कर भारत को स्वाधान राष्ट्र बनाना चाहती थी। मिश्र तथा आयरलैंड मे भी राष्ट्रीय भावना के विकास का कारण वहाँ की प्रजाओं की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की आकांक्षाएँ थीं। विजय, त्याग तथा बलिदान की प्राचीन स्मृतियाँ लोगों को एकता के बधन में इस प्रकार बाँध देती हैं जिस प्रकार और कोई वस्तु नहीं बाँध सकती। राष्ट्रीय आकाँक्षाओं की एकता के सामने धर्म तथा प्रजाति के विदारक मत-भेद भी विलीन हो जाते हैं। जो व्यक्ति राजनीतिक आन्दोलन में गिरफ़्तार होकर जेलों में रहे हैं वे धार्मिक विचारों में भिन्न होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से पूरित रहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता को जिस शक्ति ने एकता के सूत्र में बाँधा है वह जनता की सामान्य राजनीतिक आकाँक्षाओं की शक्ति ही है। मिल का भी विचार था कि "राष्ट्रीय

इतिहास तथा प्राचीन घटनाओं से संबंधित संस्मरण, गर्व तथा अपमान की सामूहिक भावना, हर्ष एवं विषाद ऐसे शक्तिशाली तत्व हैं जो राष्ट्रीयता की भावना का विकास करते हैं।" यह अब अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि राष्ट्रीयता प्रजाति की विशुद्धता, धर्म, भाषा, तथा लोकाचार की एकता जैसी बाहरी चीजों का परिणाम नहीं है, वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है। वह सारत: मनोवैज्ञानिक है और मानस पर प्रभाव डालने वाली आध्यात्मिक शक्तियों से उत्पन्न होती है। इनमें से सब से महत्त्वपूर्ण तत्व हैं सामान्य राजनीतिक आकाँक्षाएँ, सामान्य आदर्श और सामान्य परम्पराएँ जो लोक गीत तथा लोक-गाथाओं द्वारा प्रकट होती हैं।

क्या भारत एक राष्ट्र है ?—

राष्ट्रीयता के संबंध में हमने ऊपर जो विचार किया है वह अधिक स्पष्ट हो जायगा यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि क्या भारत एक राष्ट्र है। यह प्रश्न केवल सैद्धान्तिक महत्त्व का ही नहीं है; यह अत्यन्त व्यावहारिक भी है। इस प्रश्न के समुचित उत्तर पर देश का कल्याण निर्भर है।

भारत एक राष्ट्र है, इस तथ्य से विदेशी लोगों द्वारा जो भारतवर्ष पर विदेशी शासन बनाये रखना चाहते थे, इन्कार करते थे। अनेक ब्रिटिश लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत एक देश नहीं; वरन् उप महाद्वीप है और इसे योरोपीय राष्ट्रों के समान भारतीय राष्ट्र कहना सर्वथा ग़लत है। भारत में विविध जातियाँ, धर्म तथा सस्कृतियाँ एवं भाषाएँ हैं। इस कारण उसे राष्ट्र नही कहा जा सकता। भारत मे प्रजाति की एकता नहीं है। यहाँ की जनता द्रविड़ों, आर्यों और मंगोलों के सम्मिश्रण से बनी है। संसार के प्राय: सभी महान् धर्मों के अनुयायी यहाँ रहते हैं। इसमे हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि अनेक धर्मों के मानने वाले रहते हैं। समस्त देश में किसी एक सामान्य भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता और एक दर्जन से भी अधिक भाषाएँ तथा सैंकड़ों बोलियाँ (Dialects) बोली जाती हैं। यहाँ परम्परा एवं सस्कृति की एकता भी प्रभाव है। जनता का एक भाग अरब तथा फ़ारस के साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करता है; दूसरा किन्तु विशाल भाग आर्यों के संस्कृत साहित्य से

अपनी संस्कृति तथा आदर्शों के लिये प्रेरणा प्राप्त करता है। इसी कारण सर जॉन स्ट्रेंची का विचार था कि—'भारत के देश मे योरोपियन धारणा के अनुकूल कभी किसी भी प्रकार की एकता—भौतिक तथा राजनीतिक—नहीं रही और न है।' इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रजातीय, धार्मिक, भाषिक तथा सांस्कृतिक बधन जो किसी प्रजा को एक राष्ट्र के रूप में बाँध देते हैं, वे भारत में नहीं हैं।

यह सब सर्वथा सत्य है। हमारे देश में सम्प्रदाय, धर्म, भाषा आदि की विविधता है। किन्तु हमारी भारतीय आकांक्षाओं मे विदेशी तथा देशी आलोचक भारतीय जीवन की इन विविधताओं के भीतर की आध्यात्मिक एकता को नहीं देख पाते। अन्य देशों की भाँति भारत में भी रक्त-सम्मिश्रण हुआ है। भारत मे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो विशुद्ध आर्य, द्रविड़ या मंगोल होने का दावा कर सके। यहाँ के लोग अपने को सचेतन रूप से न आर्य और न द्रविड़ अनुभव करते हैं। अतीत काल से भारत धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध रहा है और यहाँ आश्चर्य-जनक सांस्कृतिक समन्वय बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। हमारे देश में धार्मिक अत्याचार नहीं हुए। वर्तमान काल मे हमारे देश में जो साम्प्रदायिक उत्तेजना है, वह अल्पकालिक है और विभाजन तथा फूट के साथ शासन करने की नीति के समर्थक ब्रिटिश राज्य के नष्ट हो जाने से भारतीय राष्ट्रीय जीवन में से यह साम्प्रदायिकता भी नष्ट हो जायगी। आज से तीन दशाब्दियाँ पूर्व ऐसी कोई समस्या हमारे देश मे नहीं थी। धर्म का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, वह तो राजनीतिक है। दूसरी ओर भारत में जिन भाषाओं तथा लिपियों का प्रचार है, उनमे पर्याप्त समता है, उनमें से अधिकांश की जननी सस्कृत एवं पाली भाषायें हैं। हिन्दी या हिन्दुस्तानी का प्रचार देश के एक बड़े भाग में है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान मिल चुका है और लिपि की समस्या का भी कुछ कठिन होते हुए भी देवनागरी को राष्ट्रलिपि मान कर अन्त कर दिया गया है। भारतीय राष्ट्रीयता में हिन्दी-उर्दू विवाद के कारण कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। भारत जैसे सुविशाल देश में भाषा के भेदों का होना स्वाभाविक है। इन कठिनाइयों से राष्ट्रीय विकास में बाधा नहीं होनी चाहिए। भारत माता के आदेश की अपनी एक भाषा है और उसकी समस्त सन्तान उसे समझती है। जो भारत में संस्कृति की एकता से इन्कार करते हैं, वे अपने और देश के साथ

बड़ा अन्याय करते हैं। वर्तमान् समय में देश में कोई हिन्दू संस्कृति या मुस्लिम संस्कृति नहीं है। देश मे केवल भारतीय संस्कृति है, जिसका समस्त भारतीयों के जीवन पर प्रभाव है। यह सस्कृति अपनी प्रकृति में हिन्दू है, परन्तु इस पर इस्लाम तथा अन्य संस्कृतियों का भी काफी प्रभाव है। हमारी समन्वयात्मक प्रवृति के कारण हिन्दू सस्कृति ने इन सब संस्कृतियों के श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार अब यह विशुद्ध हिन्दू नहीं रही है और भारतीय संस्कृति के रूप में विकसित हो गई है। यह वास्तव में समाज शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों के विरुद्ध बात होती यदि हिन्दू तथा मुसलमान सदियों तक एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हुए भी एक सामान्य सस्कृति का विकास न कर सकते। भारत की सांस्कृतिक एकता उतनी ही पुरातन है जितना कि यह देश। पक्षपात और स्वार्थ के कारण अन्धे बने हुए लोग ही इस सत्य को नहीं देख पाते।

यह सत्य है कि अतीत काल मे भारत मे राष्ट्रीयता की भावना का विकास नही हुआ। यूरोप में भी राष्ट्रीयता २०० वर्षों से अधिक पुरानी नहीं है। किन्तु आज भारत में सहस्त्रों नर-नारियों के स्वाधीनता-यज्ञ में दिये हुए बलिदान के कारण राष्ट्रीयता जगमगा रही है। भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सभी समुदायों—हिन्दू, मुस्लिम, परिगणित जातियों, पारसी, सिक्ख, जैन आदि ने सम्मिलित रूप से कार्य किया है। यह राष्ट्रीय भावना केवल शिक्षितों तक ही परिमित नहीं रही है। राष्ट्रीय कॉंग्रेस के आन्दोलन के कारण राष्ट्र-पिता गॉंधी जी के नेतृत्व में समस्त भारतीय जनता इस भावना से ओत-प्रोत हो गई है। इसके महत्व को न मानना व्यर्थ है।

श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने दो राष्ट्रों के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और जिसने भारतीय राष्ट्रीयता के मूल पर कुठाराघात किया है उसका उद्देश्य दुष्टतापूर्ण है; वह सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वथा अग्राह्य है, और अव्यावहारिक भी है। इसमें सन्देह है कि उसके प्रवर्त्तक इस संबन्ध में सच्चे थे। यह दुष्टतापूर्ण इस लिए है कि इससे राष्ट्रीय एकता नष्ट होती है और साम्प्रदायिक कटुता तथा घृणा बढ़ती है। सैद्धान्तिक रूप से यह सिद्धान्त पुष्ट नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई भी कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र माने जा सकें। उनमें केवल धर्म का भेद है, अन्य सब बातों में वे समान हैं। यह सिद्धान्त यथार्थवादी भी है. क्योंकि हिन्दू तथा मुसलमान प्रत्येक ग्राम तथा नगर

में मिल-जुल कर रहते हैं। उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त का प्रचार इसलिये किया जा रहा था कि मुसलमान राष्ट्रीयता आन्दोलन से पृथक रहें। यह हमारे राष्ट्रीय जीवन तथा इतिहास में एक अल्प-कालीन चीज़ है।

सामान्य राजनीतिक आकांक्षायें; सामान्य कष्ट सहन और सामान्य गौरवपूर्ण विजय के कारण भारत एक राष्ट्र बन चुका है। यदि भारत में राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का प्रचार हो जाय तो भारतीय राष्ट्र बहुत शीघ्र एक सबल सुसंगठित राष्ट्र बन जायगा।

इस द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के समर्थकों में से बहुत से अब उसका त्याग कर चुके हैं, उनके लिये अब उसका उपयोग नहीं रहा। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक और पाकिस्तान के जन्मदाता स्व० श्री जिन्ना के पाकिस्तान संविधान सभा के समक्ष दिये हुए भाषण में ही इसका खण्डन हो गया है। सत्य शाश्वत होता है, क्षणिक घटनाओं से वह बदल नहीं सकता। भारतवर्ष के मुसलमान हिन्दुओं से पृथक राष्ट्र नहीं है। जाति, धर्म आदि के भेद होते हुए भी समस्त भारतवासी एक राष्ट्र हैं। पाकिस्तान के जन्म से यह सत्य मिट नहीं सकता। भारतवर्ष में असंख्य मुसलमान रह गये हैं और वे इस घातक सिद्धान्त का समर्थन करके अब पछता रहे हैं। उन्हें अब पता चल गया है कि कुछ स्वार्थियों के पैशाचिक कुचक्रों में पड़ कर

अध्याय ५

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य के आवश्यक विधायक तत्वों तथा उसके स्वरूप पर विचार करने के बाद हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर, अर्थात् राज्य की उत्पत्ति पर विचार करेंगे। आरम्भ में ही हम अपने विषय की सीमा निर्धारित कर देना चाहते हैं। प्रथम, हम किसी राज्य विशेष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार नहीं करेंगे। किसी राज्य विशेष जैसे इङ्गलैण्ड की उत्पत्ति कैसे हुई, इस पर विचार करना इतिहासकार का कर्त्तव्य है ; इससे राजनीति के विद्यार्थी का कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा विषय है सामान्य राज्य की उत्पत्ति का विचार करना। द्वितीय, हम राज्य की उत्पत्ति पर मीमांसात्मक दृष्टि से विचार करेंगे, ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं।

राज्य का वास्तविक आरम्भ रहस्य में छिपा हुआ है। उसकी खोज करना अत्यन्त दुष्कर है। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समय-समय पर जो सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं, हम उन पर यहाँ आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। उनमे से कुछ तो अपर्याप्त होने के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते ; किन्तु उनका अध्ययन व्यर्थ नहीं है, उससे भी प्रयोजन सिद्ध होता है। सर्व प्रथम, ये सिद्धान्त उस समय की भावना और स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं, जब कि इनका प्रचार था। उनसे उनके प्रतिपादकों के राज्य की प्रकृति तथा राजनीतिक दायित्वों के सम्बन्ध में विचार प्रकट होते हैं। दूसरे, इनमें से कुछ सिद्धान्तों का राजनीतिक विकास पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके बिना घटनाचक्र को समझना सरल नहीं है। रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का फ्रान्स की घटनाओं के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। तीसरे, इन सिद्धान्तों के विवेचन से राज्य-विज्ञान की धारणाओं पर भी प्रकाश पड़ेगा।

ऐसे चार सिद्धान्त हैं जिन पर पृथक् रूप से विचार करना है। (१) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, (२) शक्ति-सिद्धान्त, (३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त और (४) विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त।

इनमें से अन्तिम सिद्धान्त को ही आजकल समुचित माना जाता है। अन्य तीन सिद्धान्तों को भ्रान्तिपूर्ण एवं मिथ्या मान कर अस्वीकार कर दिया गया हैं।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा मानी जाती है; मानवीय इच्छा एव प्रयास के फलस्वरूप नहीं। अन्य अनेकों संस्थाओं के समान राज्य की भी उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है। शासक पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि होता है; वह उसी से शासन करने का अधिकार प्राप्त करता है और अपने कार्यों के लिए वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। इसका केन्द्रीय विचार-बिन्दु यही है कि राजा क़ानून तथा प्रजा के ऊपर है। वह ईश्वर को छोड़ कर किसी के आधीन नहीं है; उसकी आज्ञा का पालन पवित्र कार्य है और उसका प्रतिरोध पाप है। इंगलैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने इसे राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त के रूप में विकसित किया। राजा के विरुद्ध विद्रोह करना ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का प्रयोग राजाओं के निरंकुश शासन का समर्थन करने के लिये किया गया। राजा का प्रजा के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, उसका ईश्वर के प्रति ही दायित्त्व है।

यह सिद्धान्त इतना ही पुरातन है जितना कि राज्य के सम्बन्ध में विचार। समस्त देशों में इसके समर्थक थे। यह बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेंट का सिद्धान्त है, जहाँ ईश्वर को समस्त राजकीय सत्ताओं का आदि-स्त्रोत माना गया है। यहूदियों का विश्वास है कि ईश्वर राजाओं का चुनाव, नियुक्ति, पदच्युति आदि करता है, यहाँ तक कि उन्हें क़त्ल भी करता है। इस प्रकार के विचार महाभारत में भी मिलते हैं। इस्लामी राज्य भी देवाधिराज्य था। इस सिद्धान्त को ईसाई धर्माचार्यों ने मध्ययुग में पुनर्जीवित किया। उन्होंने इसे सन्त पॉल के इस प्रवचन पर आधारित किया :—प्रत्येक आत्मा को सर्वोच्च सत्ताओं के आधीन होना चाहिए, क्योंकि ईश्वरीय सत्ता के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है। जो सत्ता विद्यमान है उसे ईश्वर ने नियुक्त किया है। जो कोई भी इस सत्ता का प्रतिरोध करता है, वह ईश्वरादेश का प्रतिरोध करता है और जो इसका प्रतिरोध करता है, उसको नर्क मिलेगा।" १६ वीं व १७ वीं शताब्दियों में इंगलैण्ड में इस विचार ने राजाओं के दैवी अधिकार के

सिद्धान्त का रूप धारण किया। आज संसार में इस सिद्धान्त का कहीं भी अस्तित्व नहीं है। इसके कोई समर्थक नहीं हैं; यद्यपि इसके अवशेष राजाओं के तथाकथित देवत्व में मिलते हैं। यह सिद्धान्त अब लुप्त हो चुका है; क्योंकि वह राज्य की प्रकृति एवं उत्पत्ति की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं करता। राज्य की उत्पत्ति का कारण ईश्वरीय इच्छा को बतलाना एक ऐसे माध्यम का आश्रय लेना है जिसकी कोई परीक्षा संभव नहीं है। लोगों का यह व्यापक विश्वास कि राज्य ऐतिहासिक विकास का फल है और वह मानवीय संस्था है, दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जिस उद्देश्य से मध्ययुग तथा १६वीं व १७ वीं शताब्दियों में इसका प्रतिपादन किया गया था, वह आधुनिक युग में उचित नहीं मालूम होता।

यद्यपि इस सिद्धान्त से राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या पूर्णतः असन्तोषप्रद मिलती है, फिर भी पूर्व काल में इसने एक बड़े प्रयोजन की सिद्धि की। इससे राज्य की सत्ता को ऐसे समय में अत्यन्त आवश्यक समर्थन प्राप्त हुआ जब कि प्रजा आज्ञापालन एवं अनुशासन का कोई मूल्य नहीं समझती थी और उसे स्वशासन के अधिकार नहीं दिये जा सकते थे। यह अराजकता के विरुद्ध एक बड़ी दुर्ग-पंक्ति की भांति थी। इसने सत्ता को बल प्रदान किया। "इसने मनुष्यों को आज्ञा पालन करना सिखाया जब कि वे स्वयं शासन करने के योग्य नहीं थे।" * राज्य को ईश्वरीय इच्छा पर स्थिर करके, उसने परोक्ष रूप से उसके नैतिक गुण पर ज़ोर दिया और उसे उच्च पदवी प्रदान करके ऐसा बना दिया जिसकी मनुष्यों को पूजा करनी चाहिए। यह इस बात पर भी ज़ोर देता है कि राज्य अन्तिम रूप से शासितों के नैतिक कल्याण के लिए ही है। ये सत्य ऐसे हैं; जिन पर आज भी ज़ोर देने की आवश्यकता है।

शक्ति का सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का कारण सफल युद्ध को मानता है। इसके अनुसार राज्य का प्रादुर्भाव उस समय होता है जब कि सबल दुर्बल को अपने आधीन करके अपने लाभ के लिए उनका दोहन करने लगते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ भौतिक बल राज्य की उत्पत्ति का कारण है। लीकॉक ने इस सिद्धान्त का वर्णन निम्न प्रकार किया है:—ऐतिहासिक रूप से इसका यह अभिप्राय है कि शासन मानव आक्रमण का परिणाम

*Gettell ; Ibid p 81.

है; राज्य का जन्म एक दानव द्वारा दूसरे मानव को दास बनाने तथा एक दुर्बल क़बीले पर एक सबल क़बीले की विजय से हुआ; साधारणतया श्रेष्ठ भौतिक बल द्वारा जो स्वार्थ-परायण आधिपत्य प्राप्त किया गया उसी से राज्य-सत्ता का उदय हुआ। क़बीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य का क्रमिक विकास एक प्रकार से उसी प्रक्रिया का क्रम है।"*

दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की भांति यह सिद्धान्त भी बहुत पुराना है और इससे भी कई प्रयोजन सिद्ध हुए हैं। मध्ययुग में ईसाई लेखक (चर्च फ़ादर) राज्य की निन्दा किया करते थे और धर्म (चर्च) की आधीनता में ही राज्य को उचित बताते थे। उनकी राय थी कि यदि राज्य का मूल पाप तथा आक्रमण में है, तो उसे पुनीत बनाने के लिए धर्म के आशीर्वाद की आवश्यकता है। व्यक्तिवादी लेखकों ने राज्य का कर्त्तव्य केवल शान्ति-व्यवस्था की स्थापना तथा अपराधों के लिए दण्ड-व्यवस्था तक सीमित रखने में इस सिद्धान्त का उपयोग किया। समाजवादी लेखक भी इसका आश्रय ले कर कहते हैं कि वर्त्तमान् राज्य अन्याय एवं शोषण पर स्थिर है, इसलिए उसमें आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। उनके अनुसार मज़दूर-वर्ग उस समय तक अपने श्रम का उचित फल नहीं भोग सकते जब तक सबलों को दुर्बलों के दोहन में सहायता करने वाला राज्य बना रहेगा। कुछ आधुनिक लेखक इस सिद्धान्त द्वारा एक सबल राष्ट्र द्वारा संसार पर आधिपत्य का औचित्य सिद्ध करते हैं। उनके विचार मे यह राज्य के ऐतिहासिक आरम्भ का ही सिद्धान्त नहीं है, वरन् उसके अस्तित्त्व का औचित्य भी इसी में मिलता है। इसका प्रयोग इस सिद्धान्त के औचित्य की सिद्ध करने में किया जाता है कि बल ही न्याय है। व्यक्ति राज्य को दमनकारी सत्ता को इसलिए स्वीकार करता है कि राज्य बलशाली है।

इस सिद्धान्त में निसंदेह सत्य का अंश है। यह सत्य है कि आधुनिक राज्य के विकास में शक्ति एक महत्त्वपूर्ण तत्व रहा है। संसार में ऐसा बिरला ही कोई राज्य होगा जिसका अस्तित्व युद्ध में सफलता के फल-स्वरूप नहीं हो। प्राचीन काल में एक क़बीले के मुखिया ने दूसरे क़बीले द्वारा आक्रमण से सफलतापूर्वक अपनी रक्षा करके और दूसरे कबीलों का दमन कर के ही सत्ता प्राप्त की होगी। राज्य-निर्माण में बल एक प्रमुख

*Leacock : Elements of Political Science, p. 32.

तत्त्व है यह बात इसी से प्रकट होती है कि पुलिस की शक्ति आन्तरिक शांति एवं व्यवस्था तथा सैन्य शक्ति बाहरी आक्रमण से रक्षा के लिए परम आवश्यक है। कुछ विचारकों के अनुसार राज्य का प्रभुत्व अन्त मे शक्ति पर ही स्थिर है। बिना शक्ति के राज्य का शीघ्र विनाश हो जायगा। महात्मा गांधी ही अकेले ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने यह माना कि समाज का निर्माण विशुद्ध अहिंसा के आधार पर बिना पाशविक शक्ति के हो सकता है।

किन्तु राज्य के रक्षण तथा जीवन के लिए शक्ति कितनी ही आवश्यक क्यों न हो, उसे राज्य-निर्माण का एकमात्र तत्व मान लेना तथा यह मानना कि प्रजा राजा की आज्ञा का पालन राज्यबल के भय से करती है ग़लत है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शक्ति के अतिरिक्त अन्य तत्व भी हैं, जो राज्य के उदय के लिए उत्तरदायी हैं, अर्थात् रक्त-सम्बन्ध, धर्म तथा शान्तिमय उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सहयोग की भावना है। यह सिद्धान्त राज्य-निर्माण में एक तत्व (शक्ति) को ही सब कुछ मान कर ग़लती करता है। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि पर्याप्त शक्ति के अभाव में राज्य का विनाश संभव है। परन्तु यह भी सत्य है कि शक्ति ही राज्य का स्थायी आधार नहीं हो सकती। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "न्याय के बिना शक्ति अल्प काल के लिए ही ठीक हो सकती है, किन्तु न्याय के साथ शक्ति राज्य का स्थायी आधार है।" जो न्याय शक्ति से उत्पन्न होता है, शक्ति के साथ समाप्त हो जाता है और शक्ति, जैसा कि हम सब जानते हैं, अधिक समय तक स्थायी नहीं रहती। रूसो का कथन है कि सबसे शक्तिशाली मनुष्य भी कभी इतना शक्तिशाली नहीं होता कि वह सदा स्वामी बना रहे जब तक कि वह अपनी शक्ति को अधिकार और आज्ञा-पालन को कर्तव्य के रूप में परिवर्तित नहीं कर ले। राज्य में जो संयोजक शक्ति उसकी एकता को बनाये रखती है, वह है नैतिक बल, भौतिक बल नहीं। इस प्रकार शक्ति के सिद्धान्त से राज्य की ऐतिहासिक उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति और उसके औचित्य की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं होगी। इस प्रकार यह सिद्धान्त ग़लत है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त—

राजनीतिक विचार के इतिहास में उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों की अपेक्षा

एक दूसरी बात से सम्बद्ध है। यह सिद्धान्त मान लेता है कि मानव जाति का इतिहास दो भागों में विभाजित किया जा सकता है; एक तो समझौते से पहले का और दूसरा उसके बाद का। प्रथम अवस्था में कोई शासन नहीं था। कोई मानव अधिकारी नहीं था और न मनुष्यों के पारस्परिक संबधों के नियमन के लिए कोई मानवकृत क़ानून ही था। यह अवस्था अराजनीतिक थी। इसे प्राकृतिक अवस्था कहते हैं। इसका विविध लेखकों ने विविध ढंग से वर्णन किया है, किन्तु सब इस बात से सहमत हैं कि उस अवस्था में मनुष्यों के सम्बन्धों का नियमन मानव द्वारा निर्धारित नियमों द्वारा नहीं वरन् प्राकृतिक नियमों द्वारा होता था। कुछ लेखकों के अनुसार यह प्राकृतिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय और असहनीय थी। आत्म-स्वार्थ से प्रेरित होकर मनुष्यों ने अपनी इस दुःखद अवस्था का अन्त कर देना चाहा। कोई मानते हैं कि यह स्थिति अत्यन्त असुविधाजनक थी और किसी का विचार है कि यह इतनी सुखमय थी कि अधिक काल तक टिक न सकी। किसी न किसी कारण से मनुष्यों ने इस प्राकृतिक अवस्था का त्याग कर राजनीतिक संगठन निर्माण करने का संकल्प किया जिसमें उनके पारस्परिक सम्बन्ध बिलकुल ही भिन्न हो गये। इस प्रकार राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व समाज में जो प्रकृति का नियम (Law of Nature) प्रचलित था उसके स्थान पर अब मानवकृत नियमों की प्रतिष्ठा हो गई। इस प्रकार मानवी शासन की स्थापना हुई जिसमें प्रत्येक व्यक्ति ने उस प्राकृतिक स्वतंत्रता का त्याग कर दिया जिसका वह राजनीतिक समाज की स्थापना से पूर्व उपभोग करता था और समाज का नियंत्रण स्वीकार कर लिया। अपनी इस प्राकृतिक स्वतंत्रता के परित्याग के बदले में उसे समाज से रक्षण और सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि राज्य के उदय से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों के उपभोग के लिये अपनी सत्ता पर निर्भर था तो राजनीतिक समाज में वह अपने सामाजिक अधिकारों के उपभोग में सम्पूर्ण समाज के बल का रक्षण पाता है। इस प्रकार के सौदे में वह प्राकृतिक स्वतन्त्रता को खो कर सुरक्षा प्राप्त करता है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की तीसरी मुख्य बात समझौते की धारणा है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी प्राकृतिक दशा से राजनीतिक दशा को प्राप्त करता है। इस समझौते (Contract) की भी विभिन्न लेखकों

ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ लेखकों के अनुसार यह सामाजिक है; अन्य लेखकों के अनुसार यह राजनीतिक है और कुछ लेखकों के अनुसार यह सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों है। यह समझौता सामाजिक है यदि यह जनता के बीच में हुआ है और इसका परिणाम नागरिक समाज की स्थापना है। यह राजकीय है यदि यह एक ओर प्रजा और दूसरी ओर शासकों के बीच हुआ है। इसका परिणाम है एक विशेष शासन की स्थापना।

समझौते के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। कुछ लेखक इसे वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य मानते हैं, दूसरे इसे केवल कल्पना मानते हैं जिससे एक दार्शनिक सत्य प्रकट होता है। लॉक इसे ऐतिहासिक तत्त्व मानता है और रूसो तथा काण्ट इसे कल्पनामात्र समझते हैं। इस समझौते के सिद्धान्त का कोई लेखक किस प्रकार उपयोग करता है यह उसकी प्राकृतिक अवस्था और समझौते की धारणा पर निर्भर है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने इस सिद्धान्त का विभिन्न ढंग से प्रयोग किया है और उनके निष्कर्ष भी विभिन्न हैं।

हॉब्स द्वारा समझौते के सिद्धान्त का प्रयोग—

हॉब्स इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला प्रथम आधुनिक लेखक नहीं है। जॉर्ज बूकानन, अल्थूसियस तथा मिल्टन ने शासकों के स्वेच्छाचरितापूर्ण शासन के दावे के विरुद्ध प्रजा के पक्ष के समर्थन मे इस सिद्धान्त का प्रयोग पहले किया था। उनके हाथों में यह लोकतंत्र के समर्थन का एक प्रबल साधन बन गया। उनमे से प्रत्येक ने इसके द्वारा शासन के प्रजा पर जो अधिकार थे उन्हे सीमित करने का प्रयत्न किया। हॉब्स के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि उसने इस सिद्धान्त का प्रयोग शासक की स्वेच्छाचारिता के समर्थन मे किया है; उसके हाथों में यह सिद्धान्त जनता का अधिकारपत्र नहीं वरन् दासता का बंधन हो गया। यह देखना बहुत ही रोचक होगा कि हॉब्स इस प्रकार के अस्वाभाविक परिणाम पर कैसे पहुँचा।

यह परिणाम हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना का तार्किक परिणाम है। यह उसकी मानवप्रकृति की कल्पना पर निर्भर है। हॉब्स का यह मत था कि मनुष्य स्वभाव से बड़ा स्वार्थी, झगड़ालू तथा आक्रमणशील है और उसे सामाजिक जीवन में कोई रुचि नहीं होती। प्रत्येक

व्यक्ति जो कुछ भी उसके पास है उसे सुरक्षित रखना, उसका विस्तार करना और उसका सुख भोगना चाहता है। इतना ही नहीं, वह दूसरों की वस्तुओं पर भी अधिकार करना चाहता है। इस प्रकार संघर्ष पैदा होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपमान और हानि के लिए भी रोष प्रकट करता है। इन कारणों से प्राकृतिक अवस्था एक प्रकार से मानव और मानव के बीच सतत संग्राम, वास्तविक नहीं तो संभावित संग्राम, की अवस्था हो जाती है। हॉब्स के अनुसार "मानव जाति की प्राकृतिक दशा युद्ध है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का शत्रु है।" इस प्रकार भय और शंका की दशा में न कोई ज्ञान-विज्ञान, न कोई उद्योग-व्यवसाय, न कृषि और न कोई समाज ही संभव है। ऐसी दशा मे "सदैव भय तथा हिंसात्मक मृत्यु का खतरा रहता है और मानव जीवन एकान्त, पाशविक, पतित और अल्पकालीन हो जाता है।" पशु जगत से अधिक इस अवस्था में मनुष्यों के कार्यों पर प्रतिबंध लगाने के लिए कोई क़ानून नहीं है, उचित तथा अनुचित में कोई भेद नहीं और न हिताहित तथा न्याय-अन्याय में ही कोई भेद हो सकता है। "जिसे तुम मार सकते हो, उसे मारो और जो कुछ लूट सकते हो उसे लूट लो।" इस सूत्र द्वारा प्राकृतिक अवस्था का पूर्ण चित्रण हो जाता है। हॉब्स की दृष्टि में साधारण नैतिक प्रतिबंधों के अभाव का नाम ही मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अपने जीवन की रक्षा में अपने बल के प्रयोग की स्वतंत्रता है। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकार एक निषेधात्मक धारणा है। इससे न्याय की कोई सनातन व्यवस्था प्रकट नहीं होती जिसके साथ व्यक्ति अपने कार्यों की संगति स्थापित करे। यह उस व्यवस्था का अभाव है।

इस प्रकार की स्थिति असह्य है। आत्म-रक्षण की प्रवृत्ति मनुष्यों को इस स्थिति का अन्त करके दुःखों से बचाने के लिए प्रेरणा करेगी। हॉब्स के अनुसार इस प्रकार की दूषित स्थिति से पिंड छुड़ाने का एक मात्र उपाय जनता द्वारा किया जाने वाला समझौता ही है। यह समझौता परस्पर प्रजा में ही होता है। अतः यह सामाजिक है। प्रजा "एक ऐसी सामान्य सत्ता स्थापित करने के लिए समझौता कर लेती है जो उन्हें भयभीत रखे और उनमें कार्यों को सामान्य हित के लिए निर्देशित करे।" हॉब्स का कथन है कि यह सामान्य सत्ता केवल एक प्रकार से ही स्थापित की जा सकती है, अर्थात् सब मिल कर एक व्यक्ति को या एक परिषद् को अपनी समस्त सत्ता तथा बल समर्पित कर दे और इस प्रकार इच्छाओं

के बाहुल्य को दूर कर उसके स्थान पर इच्छा की एकता की स्थापना करें। मानों प्रत्येक व्यक्ति दूसरे प्रत्येक व्यक्ति से इस प्रकार कहे : "मै अपने आप का शासन करने का अधिकार त्यागता हूँ और इस व्यक्ति अथवा परिषद् को उस अधिकार के प्रयोग करने का अधिकार देता है परन्तु इस शर्त पर आप भी इसी प्रकार अपना अधिकार उस व्यक्ति या परिषद् को सौप दे और उसके कार्यों को स्वीकार करे।" जब इस प्रकार का समझौता हो जाता है तब एक कॉमनवेल्थ (राज्य) का जन्म होता है जो विभिन्न व्यक्तियों के समूह को एकता के सूत्र मे बाँध कर एक व्यक्ति बना देता है।

इस समझौते के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

१—यह एक सामाजिक समझौता है। यह प्रजा मे हुआ है। वह सामान्य सत्ता या व्यक्ति या परिषद् जिसको शासन करने का अधिकार सौंगा गया है, इस समझौते मे शामिल नहीं है। उसकी तो इस समझौते से उत्पत्ति हुई है, दूसरे शब्दों मे हॉब्स का समझौता राजनीतिक नहीं है।

२—शासक समझौते में शामिल न होने के कारण उस से ऊपर है, समझौता उस पर बधनकारी नहीं है। वह चाहे जैसे अन्यायपूर्वक शासन करे, उस पर समझौते की शर्तों के उल्लंघन का दोष नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार शासन स्वेच्छाचारी बन जाता है। प्रजा को शासक के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है। प्रजा सदा के लिये समझौते से बधी हुई है। इस प्रकार औचित्य की दृष्टि से वह शासक के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकती।

३—लोगों ने अपने समस्त अधिकार एवं सत्ताएँ, जिन्हें वे प्राकृतिक अवस्था में भोगते थे, त्याग दिये हैं। उनके पास कोई भी अधिकार नहीं रह जाते। अधिकारों को अपने पास रखने का अर्थ तो यह होगा कि राज्य के ऊपर भी एक स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की गई है। इसके परिणाम-स्वरूप उसके विरोध की संभावना रहेगी। एक बार अधिकारों एव सत्ताओं को त्याग देने के बाद, वे बाद में उनमें से कुछ को या सबको वापिस नहीं ले सकते। इस प्रकार हॉब्स प्रजा को अन्यायी शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं देता। इसका परिणाम शासक को निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी

बना देता है। उसके आदेश देने की शक्ति की कोई सीमा ही नहीं रहती। परन्तु एक बात का ध्यान रखना चाहिये। समझौता आत्म-रक्षा के लिये हुआ था। लोगों ने जब अपने समस्त अधिकारों का त्याग किया तो आत्म-रक्षा का अधिकार नहीं छोड़ा। शासक किसी व्यक्ति को आत्म-हत्या करने का आदेश नहीं दे सकता। सामान्यतया प्रजा के कर्त्तव्य राजा के प्रति तभी तक हैं जब तक कि उसमें उनकी रक्षा करने की शक्ति है। इस प्रकार हॉब्स इस सिद्धान्त का अस्वाभाविक प्रयोग कर उसके द्वारा स्वेच्छाचारिता के औचित्य का समर्थन करता है। यह स्मरण रखना चाहिए हॉब्स स्टुअर्ट काल में विद्यमान था जब कि इंगलैण्ड में निरकुश शासन था। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हॉब्स का सिद्धान्त राज्य की ऐतिहासिक उत्पत्ति का वर्णन नहीं है। वह मानता है कि जिस प्राकृतिक अवस्था का उसने चित्रण किया है वह शायद कभी नहीं थी। उसका आशय केवल इतना ही है कि एक सुदृढ़ राज्य ऐसी मानव-प्रकृति और उसके परिणामों को मान कर ही स्थापित किया जा सकता है।

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि "प्रजा ने ऐसा समझौता क्यों स्वीकार किया जिसके कारण ऐसी सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है?" वे इस प्रकार के समझौते को रद्द क्यों नहीं कर देते जो उन्हें एक स्वेच्छाचारी शासक का दास बना देता है?" इसका उत्तर यह है कि स्वेच्छाचारी सत्ता की आधीनता स्वीकार न करने से पुनः प्राकृतिक अवस्था में रहना पड़ेगा जो अत्यन्त नारकीय है। इस प्रकार हॉब्स नागरिकों के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित कर देता है। उनके सामने दो अवस्थाएँ हैं जिनमें से एक पसन्द करना होगा—प्राकृतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ प्राकृतिक अवस्था के अवर्णनीय दुःख, हिंसात्मक मृत्यु का भय तथा शंका और राज्य की पूर्ण आधीनता के साथ राज्य द्वारा प्रदत्त सुरक्षा एवं शान्ति। अब यह स्पष्ट हो जायगा कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का ऐसा भद्दा और भयंकर चित्र क्यों उपस्थित किया। यदि प्राकृतिक अवस्था में स्थिति साधारणतया भी अच्छी रही होती तो कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा-चारी शासन में रहना नहीं चाहेगा। यहाँ यह निर्देश करना उचित

होगा कि ऑस्टिन का कानूनी प्रभुत्व का सिद्धान्त हॉब्स के सिद्धान्त का विकसित रूप है।

हॉब्स के विचार तार्किक हैं और उनमें कोई असंगति नहीं है। उसके शासक की स्वेच्छाचारिता उसके सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत प्राकृतिक अवस्था का तार्किक परिणाम है। इस कारण उसके आलोचकों को उसकी मान्यताओं के सत्य का ही खण्डन करना पड़ता है। वे यह बतलाते हैं कि प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र उसने अंकित किया है वह अतिरंजित है। मनुष्य इतना लोभी एवं स्वार्थी नहीं है; जैसा उसे चित्रित किया गया है। मानव की प्रकृति का एक सामाजिक और सहानुभूति-पूर्ण पक्ष भी है, जिसकी हॉब्स ने पूर्ण उपेक्षा कर दी है। मानव-प्रकृति के मनोविज्ञान को हॉब्स ने जिस रूप में समझने का प्रयत्न किया है, वह ग़लत है। इस ग़लत मनोविज्ञान के कारण ही उसने मानव-समाज की ग़लत कल्पना की है। मानव-समाज अराजकता के भय से संगठित रूप में नहीं रह सकता। समाज की नींव मनुष्य की सामाजिक प्रकृति में है अर्थात् मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य लोगों के सहयोग की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार पारस्परिक आवश्यकता मनुष्य को समाज के बन्धन में बाँध देती है। हॉब्स के सिद्धान्त में एक दूसरा दोष यह भी है कि उसने राज्य और शासन में कोई भेद नहीं माना। हॉब्स का कथन है कि सफल क्रान्ति समाज का विनाश कर देगी, और उसका परिणाम होगा प्राकृतिक अवस्था की अराजकता की पुनः स्थापना। किन्तु शासन-विशेष के पतन के फलस्वरूप राज्य का पतन नहीं होता। शासन-परिवर्तन के कारण समाज का नाश नहीं होता। इस प्रकार राज्य तथा शासन में भेद न मानने के कारण इस सिद्धान्त में अनेक दोष पैदा हो गये हैं। अन्त में हॉब्स जनता में अन्तिम प्रभुत्व नहीं मानता; वह शासक को ही अन्तिम प्रभु मानता है।

लॉक द्वारा प्रयुक्त समझौते का सिद्धान्त—

लॉक ने समझौते के सिद्धान्त का प्रयोग जिस प्रयोजन एवं उद्देश्य से किया है, वह हॉब्स से सर्वथा भिन्न है। इन भेदों का इन दोनों विद्वानों के सिद्धान्तों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध है। हॉब्स पर इंगलैण्ड के गृह-युद्ध के संकटों का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसे यह विश्वास हो गया कि उसका अन्त करने के लिये निरंकुश शासन की आवश्यकता है।

अतः उसने समझौते के प्रचलित सिद्धान्त का प्रयोग निरंकुश शासन के औचित्य को सिद्ध करने के लिए किया। लॉक की रचना सन् १६८८ की सफल क्रान्ति के बाद की है। वह जेम्स द्वितीय की राज्य-सिंहासन से च्युति का औचित्य सिद्ध कर ब्रिटेन में वैधानिक शासन की स्थापना चाहता था। इस कारण उसने प्राकृतिक अवस्था, उसका अन्त करने वाले समझौते तथा नवीन शासन की प्रकृति का चित्र दूसरे ही ढंग से प्रस्तुत किया है।

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया है, वह हॉब्स के चित्र की अपेक्षा कम कल्पनात्मक है और यथार्थ के अधिक निकट है। वह युद्ध की स्थिति नहीं है जिसमें प्रत्येक एक दूसरे के विरुद्ध लड़ता हो, किन्तु शान्ति, सद्भावना तथा पारस्परिक सहायता की स्थिति है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यों की पूरी स्वतंत्रता है और वह अपनी सम्पत्ति का स्वेच्छानुसार उपभोग कर सकता है। यद्यपि वह पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति है, किन्तु उसमें स्वच्छंदता नहीं है। व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का नियमन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है जो ईसाइयों की कल्पना के अनुसार नैतिक नियम हैं। लॉक प्राकृतिक अवस्था की प्रजा को भद्र ईसाई प्रजा के समान मानता था। दूसरे शब्दों में लॉक ने मानव प्रकृति की पूर्व-सामाजिक कल्पना को जिसका हॉब्स ने त्याग कर दिया था, कुछ अंशों में फिर से स्थापना की। उसकी प्राकृतिक अवस्था कुछ-कुछ सामाजिक है और उसमें प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का प्रयोग होता है। किन्तु इस अवस्था में भी कुछ असुविधाएँ हैं। इन प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने वाले सामान्य एवं सुपरिचित न्यायाधीश का अभाव है। इन नियमों को कार्यान्वित करने में भी कठिनाई थी। ऐसे समाज में कठिनाइयों का पैदा होना स्वाभाविक है जिसमें नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई सर्वोच्च निर्णायक नहीं होता और जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अस्पष्ट प्राकृतिक नियम की व्याख्या करता है और उस पर अमल करता है। इस असुविधा के कारण प्राकृतिक अवस्था का लोगों ने परित्याग कर उसकी स्वतन्त्रता के स्थान पर नागरिक समाज की मर्यादा स्वीकार की।

प्राकृतिक अवस्था से नागरिक समाज की स्थापना समझौते द्वारा हुई। हॉब्स ने केवल एक सामाजिक समझौता माना है जिसके द्वारा

शासन की स्थापना हुई, किन्तु लॉक के वर्णन में हमे दो समझौते मिलते हैं—एक सामाजिक समझौता और दूसरा राजनीतिक, यद्यपि वह स्पष्टतः इन दोनों की चर्चा नही करता। पहला समझौता सामाजिक है। वह प्राकृतिक अवस्था का अन्त कर उसके स्थान पर नागरिक समाज की स्थापना करता है। वह समाज को समस्त व्यक्तियों के लिए सामान्य हित के अनुकूल क़ानून बनाने का अधिकार देता है और प्रत्येक व्यक्ति से उसका पालन कराने में सहायता देने के लिए आदेश देता है। इस प्रकार की निश्चित सत्ता के अस्तित्त्व से नागरिक समाज की प्राकृतिक समाज से भिन्नता प्रकट होती है। दूसरा समझौता राजनीतिक है। वह पहले समझौते की शर्तों के पालन के लिए शासन की स्थापना करता है और समाज इस प्रकार नियुक्त शासक को समस्त व्यक्तियों के हित के लिए प्राकृतिक नियमों के अनुकूल कानून बनाने का अधिकार देकर कार्यकारिणी सत्ता सौंप देता है। समाज इन क़ानूनों के पालन करने में सहायता देने का आश्वासन देता है। दूसरा समझौता पहले के आधीन है। यदि शासक समझौते की शर्तों का पालन करने में विफल रहते हैं, यदि वे ऐसे क़ानून बनाते हैं जो प्राकृतिक नियमों की भावना के विरुद्ध हों, और जनता के अधिकारों की रक्षा नहीं करते और यदि शासक अन्यायपूर्वक प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं तो समाज को यह अधिकार है कि वह उन्हे अपने पद से हटाकर उनके स्थान पर दूसरों की नियुक्ति कर दें, परन्तु इससे समाज फिर से प्राकृतिक अवस्था में नहीं पहुँच जाता। इस प्रकार लॉक इस सिद्धान्त को सीमित राजतन्त्र अथवा वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) का आधार बना देता है। वह सन् १६८८ की राज्य-क्रान्ति को उचित ठहराता है। लॉक का समझौता एक पक्षीय नहीं है। यह शासक के कुछ दायित्व स्थिर करता है और यदि उनका पालन नहीं होता तो शासक हटाया जा सकता है। इस संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लोग अपने वे समस्त अधिकार शासक को समर्पित नहीं कर देते जिनका वह प्राकृतिक अवस्था में भोग करते थे। वह कुछ अधिकारों का परित्याग करते हैं; और शेष अधिकारों को अपने पास सुरक्षित रहने देते हैं। अतः इन अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए ही वे अपने कुछ अधिकारों को त्यागते हैं। लॉक ने शासन-सत्ता की उत्पत्ति प्रजा की अनुमति तथा समझौते से मानी है और इस प्रकार उसने इस सिद्धान्त

को फिर से वही पूर्व सामान्य रूप दे दिया है जिसको हॉब्स ने विकृत कर दिया था।

लॉक के सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उसने राज्य और शासन में भेद माना है। शासन के उलटने से राज्य का विनाश नहीं होता। इस सिद्धान्त ने प्रजा की प्रभुता को भी स्वीकार किया है, यद्यपि वह स्थगित रहती है। इस सिद्धान्त का मुख्य दोष यह है कि लॉक ने राज्य की क़ानूनी प्रभुता के महत्व को नहीं समझा। वह उसे प्रजा तथा शासन के बीच बाँट देता है। वास्तव में उसने प्रभुत्व के विविध रूपों में कोई भेद नहीं किया।

समझौते का सिद्धान्त : रूसो के विचार—

इस सिद्धान्त का रूसो ने हॉब्स तथा लॉक से भिन्न उपयोग किया है। उसके सामने कोई विशेष उद्देश्य या प्रयोजन नहीं था जिसकी सिद्धि उसके लिये अभीष्ट होती। अपनी पुस्तक 'सोश्यल कन्ट्राक्ट' में रूसो ने राज्य के ऐतिहासिक जन्म का वर्णन नहीं किया। उसने केवल यह बताने का प्रयत्न किया है कि औचित्य की दृष्टि से राज्य का सगठन किस प्रकार होना चाहिये। उसका उद्देश्य किसी विशिष्ट शासन-प्रणाली का समर्थन न कर नागरिक समाज की प्रकृति की दार्शनिक व्याख्या करना था। अपने कार्य की सिद्धि के लिये उसने समझौते के सिद्धान्त और प्राकृतिक अवस्था का प्रयोग किया क्योंकि उसके समय में ये सिद्धान्त परम्परागत बन गये थे और सर्वत्र उनकी चर्चा थी। रूसो ने कुछ तत्व लॉक से और कुछ हॉब्स से ग्रहण कर एक नवीन कल्पना की।

रूसो ने जिस प्राकृतिक अवस्था का चित्र खींचा है उसमें मनुष्यों के जीवन में आदिम सादगी थी और पवित्र ग्राम्य सुख था। वे न हॉब्स के शब्दों में दैत्य' थे और न लॉक के शब्दों में सभ्य ईसाई शिष्टजन, वरन् वे अच्छे वन्यजन थे। उसके पास न कोई उद्योग था, न कला और न विज्ञान ही। उनमें न सद्गुण थे और न दुर्गुण ही ; क्योंकि वे उचितानुचित का भेद नहीं समझते थे। किन्तु उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था ; स्वास्थ्य विनाशक सभ्यता का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा था। उनमें मौलिक सहानुभूति की प्रवृत्ति थी जिससे उनका सामाजिक जीवन सुखी था। इस प्रकार की स्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकती। जनसख्या की वृद्धि तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सस्था इस प्रकार के प्राकृतिक

जीवन में बाधा डालती है। व्यक्तियों के लिये इस प्राकृतिक अवस्था में रहना धीरे-धीरे कठिन हो जाता है। अतः उन्हें अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता का त्याग कर राजनीतिक संगठन की स्थापना करनी पड़ती है। उनके सामने मुख्य समस्या एक ऐसे समुदाय की स्थापना करना है जो समाज की पूरी शक्ति के साथ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ बंधा हुआ होने पर भी स्वय अपनी ही आज्ञा मानता है और पूर्ववत् स्वतन्त्र बना रहता है।

ऐसा समझौते द्वारा किया जाता है। वह समझौता सामाजिक होता है। यह प्रत्येक का सबों के साथ समझौता है। यहाँ हॉब्स के विचार की छाया दिखाई देती है। किन्तु यह साथ ही राजनीतिक भी है; क्योंकि यह एक ऐसी सामूहिक संस्था (शासन) को जन्म देता है जिसकी इच्छा समस्त सदस्यों के ऊपर प्रभावशाली होती है। यह बात उस समस्या के रूप का परिणाम है जो प्राकृतिक अवस्था में लोगों के सामने थी। लॉक ने तो दूसरे समझौते द्वारा समाज से भिन्न शासक की स्थापना की। परन्तु रूसो ने एक ही समझौते द्वारा संपूर्ण समाज को सामूहिक रूप में प्रभुत्व-सम्पन्न बना दिया है! जनता प्रभु बनी रहती है। समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने को तथा अपने समस्त अधिकारों को समूचे समाज को सौंप देता है जो इस प्रकार उत्पन्न होता है। वह अपने को किसी एक व्यक्ति को नहीं, समूचे समाज को समर्पित करता है और उस प्रभुत्व-सम्पन्न समाज के अभिन्न अंग के रूप में वह अपने आप को तथा अपने अधिकारों को वापस ले लेता है। इस प्रकार वह अपने सिवा किसी दूसरे की आज्ञा का पालन नहीं करता और पहले के समान स्वतन्त्र बना रहता है।

इस विचार को एक दूसरे रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। रूसो के अनुसार यह समझौता एक ओर व्यक्तियों के बीच व्यक्तिगत रूप में है और दूसरी ओर इन्हीं व्यक्तियों के सामूहिक रूप में है। क, ख, ग तथा घ व्यक्तियों के रूप में अपने सपूर्ण अधिकार समाज के लिए त्याग देते हैं जो क, ख, ग तथा घ से मिल कर बना है। इस प्रभुत्व-सम्पन्न समाज के सदस्य की हैसियत से प्रत्येक जो कुछ समर्पण कर चुका है उसे वापस प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही उसे यह अतिरिक्त लाभ भी होता है कि अब उसके (व्यक्ति के) जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा सम्पूर्ण समाज की

समूची शक्ति द्वारा होगी। समाज को समर्पित कर के किसी भी व्यक्ति ने कुछ खोया नहीं; हरेक व्यक्ति को कुछ मिला ही है। प्रत्येक व्यक्ति के दो रूप हैं। वह प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था का सदस्य है और साथ ही प्रजा भी है। प्रभुत्व सामूहिक संस्था के रूप में समाज में निहित है। शासक आदि तो इस प्रभुत्व-सम्पन्न समाज के प्रतिनिधि या नौकर हैं जिन्हें इसकी इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करने का काम सौंपा गया है। इस कार्य का यदि वे समुचित रीति से संपादन न करें तो उन्हें अपने पद से च्युत किया जा सकता है और उनके स्थान पर नया शासन स्थापित किया जा सकता है। उसे कोई व्यवस्थापक सत्ता प्राप्त नहीं है। वह सत्ता तो प्रभुत्व सम्पन्न जनता के हाथ में है।

प्रभुत्व-सम्पन्न समाज समझौते को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु से बंधा हुआ नहीं है और इस प्रकार वह निरंकुश, निरपेक्ष हो जाता है। लोग अपने समस्त अधिकार एवं सत्ताऐं उसे सौंप देते हैं। इस प्रकार रूसो वैसा ही स्वेच्छाचारवादी है जैसा कि हॉब्स। किन्तु चूंकि वह स्वेच्छापूर्ण सत्ता समस्त जनता को देता है इसलिए वह लॉक की अपेक्षा अधिक जनतन्त्रवादी है। इस प्रकार रूसो का सिद्धान्त लोक-प्रभुत्व का आधार बन जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि रूसो के अनुसार जनता प्रभुत्व-सम्पन्न केवल उसी समय है जब कि वह एकत्रित हो कर साधारण इच्छा का निर्माण करती है, केवल एक समूह के रूप में नहीं। सामान्य इच्छा की धारणा राजनीतिक विचार को रूसो की एक महान् देन है। इस पर पहले विचार किया जा चुका है।

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि रूसो के सिद्धान्त में हॉब्स और लॉक दोनों के ही कुछ तत्व मिले हुए हैं। रूसो का सामाजिक समझौता जैसा डॉ० अप्पादोराई ने कहा है, हॉब्स के प्रमेयों और स्वभाव तथा लॉक के निष्कर्षों का सम्मिश्रण है*। उसके ऊपर हॉब्स का बड़ा प्रभाव दिखाई देता है। उसके वर्णन में कई बातें हॉब्स के समान दिखाई देती हैं। राज्य का निर्माण प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने एक समझौते द्वारा किया है। समझौता एक ही है जिसमें शासन शामिल नहीं है। व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकार समर्पित कर दिए हैं और समझौते के बाद उसके पास वे ही अधिकार रह जाते हैं जो उन्हें क़ानून

* Appadorai : Substance of Politics, p. 30.

के द्वारा प्राप्त होते हैं और प्रभु असीमित है। किन्तु इन सब बातों में समान होते हुए भी रूसो के निष्कर्ष वही नहीं हैं जो हॉब्स के हैं। हॉब्स ने तो शासन को निरंकुश बना दिया है परन्तु रूसो इस सम्बन्ध में लॉक के अधिक निकट है। वह शासन को प्रजा के ऊपर निर्भर रखता है। इसका कारण यह है कि वह मानता है कि व्यक्तियों ने अपने अधिकार शासक को नहीं, समाज को दिये हैं। इसके अतिरिक्त वह राज्य और शासन में भेद करता है। इन दोनों बातों में वह हॉब्स से भिन्न और लॉक के समान है। परन्तु लॉक से भी कई बातों में इसका भेद है। लॉक के अनुसार तो व्यक्तियों ने केवल थोड़े से ही अधिकारों का समर्पण किया है परन्तु रूसो का विचार है कि व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकार त्याग दिये हैं। इस कारण लॉक का प्रभु तो सीमित रहता है परन्तु रूसो का प्रभु असीमित हो जाता है। लॉक के अनुसार जनता की प्रभुता सदा प्रसुप्त अवस्था में रहती है। वह केवल उसी समय जाग्रत हो कर काम करने लगती है जब कि शासन समझौते की शर्तों को भङ्ग करने लगता है। किन्तु रूसो के मत में जनता की प्रभुता सदैव जाग्रत रहती है और कार्य करती रहती है। लॉक ने दो समझौते माने हैं परन्तु रूसो के सिद्धान्त का आधार केवल एक ही समझौता है। जैसा गियर्क का मत है, जब रूसो ने समझौते के सिद्धान्त से राजकीय समझौता निकाल कर अलग कर दिया तो उसने एक क्रान्तिकारी काम कर दिखाया, उसने राज्य को निरंकुश बना दिया।

समझौते के सिद्धान्त की समालोचना—

इस सिद्धान्त की पराकाष्ठा हमें रूसो के ग्रंथों में मिलती है। उसके बाद सिद्धान्त का पतन होने लगा। डेविड ह्यूम ने यह कह कर कि इतिहास इसका समर्थन नहीं करता, इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की। बैंथम ने इसे व्यर्थ बकवाद बतलाया और स्विस विद्वान् ब्लुण्टश्ली ने इसे अत्यन्त खतरनाक कहा। आज इसे अपर्याप्त तथा मिथ्या कहा जाता है। इसके विरुद्ध अनेक तर्क दिये गये हैं। प्रथम, तो इसे ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या कहा गया है। इतिहास में हमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि समझौते के परिणाम-स्वरूप किसी राज्य का उदय हुआ। मेफ्लॉवर कॉम्पेक्ट और इसी प्रकार के कुछ उदाहरण हमें वास्तविक स्थिति का परिचय नहीं देते क्योंकि ये समझौते

ऐसे व्यक्तियों द्वारा किये गये थे जिन्हें राजनीतिक समाज के जीवन का अनुभव था। जब कुछ जनसमूहों में पारस्परिक समझौते द्वारा किसी नये राज्य का निर्माण होता है, जैसे प्रथम युद्ध के बाद मध्य योरोप के राज्यों का, तो इसे हम को केन्द्रिय विकास का परिणाम कहना चाहिये। यह दृष्टान्त इस सिद्धान्त का समर्थन तभी कर सकता है जब कि ऐसे लोग समझौते के द्वारा राज्य की सृष्टि करें जिन्हें राजनीतिक संगठन का कोई ज्ञान न हो। आलोचकों का कथन है कि ऐसी किसी जनता ने जो राजनीतिक संगठन से अनभिज्ञ रही हो, राज्य की स्थापना के लिए कोई समझौता नहीं किया। किसी आदिम जाति के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं। समझौते के लिये सामाजिक तथा बौद्धिक विकास की बहुत ऊँची अवस्था होनी चाहिये जो आदिम जातियों में नहीं होती। ऐसे समाज में ही समझौता हो सकता है जिसमें व्यक्ति का कुछ मूल्य समझा जाता हो। प्राचीन काल में व्यक्ति नहीं वरन् परिवार समाज की इकाई होते थे। पूर्वकालीन क़ानून जातीय थे, वैयक्तिक नहीं। दूसरे, राज्य के प्रादुर्भाव से पूर्व प्राकृतिक अवस्था की कल्पना भी ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है। यह कोरी कल्पना ही है। हम मानव इतिहास को दो भागों में विभाजित नहीं कर सकते, जैसा यह सिद्धान्त मानता है। इसका हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। तीसरे, इस सिद्धान्त की इस मूल मान्यता का भी समर्थन नहीं किया जा सकता कि मनुष्य में राजनीतिक चेतना सहसा उत्पन्न हो गई। मानव संस्थाओं के विकास के सम्बन्ध में हम जो कुछ मानते हैं उससे इसका समर्थन नहीं होता, वे सदा चिरकालीन विकास के परिणाम होती हैं। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक वर्णन के रूप में यह सिद्धान्त सही नहीं है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह सिद्धान्त बिलकुल निरर्थक है। ऐसे भी विचारक हैं जो समझौते को एक ऐतिहासिक घटना के रूप में अस्वीकार करते हैं, किन्तु जो उसे एक बौद्धिक विचार के रूप में मानते हैं जिससे हमें प्राकृतिक अवस्था को समझने में सहायता मिलती है। काण्ट, फ़िक्टे तथा रूसो का ऐसा ही मत था। काण्ट ने लिखा है कि 'समझौते को एक ऐतिहासिक घटना के रूप में नहीं मानना चाहिए; क्योंकि इस रूप में यह संभव नहीं। किन्तु यह एक बौद्धिक भावना है जिसका व्यावहारिक तथ्य यह है कि व्यवस्थापक इस प्रकार से क़ानूनों का निर्माण करे मानों वे सामाजिक समझौते के परिणाम हैं। इस

प्रकार समझौता प्रत्येक सार्वजनिक क़ानून की न्याय्यता की कसौटी बन जाता है। दूसरे शब्दों में, समझौते की कल्पना का उपयोग कई प्रकार में किया जा सकता है; इसके द्वारा शासक तथा शासितों के सम्बन्ध की तथा राजनैतिक दायित्व की व्याख्या की जा सकती है और अन्यायी शासक के विरुद्ध विद्रोह का समर्थन भी इसकी सहायता से किया जा सकता है। ये सिद्धान्त कि शासन अपनी सत्ता शासितों की अनुमति से प्राप्त करता है; शासक को समाज के हित के लिए शासन करना चाहिए; प्रजा को एक अन्यायी तथा अत्याचारी शासक का अन्त कर देने का अविच्छेद्य अधिकार है, इस विचार पर आधारित हैं कि जो सत्ता प्रदान करते हैं तथा जो सत्ता प्राप्त करते हैं, उनके बीच एक उपलक्षित समझौता होता है। प्रजा का यह कर्त्तव्य है कि वह शासन के आदेश का स्वेच्छा से पालन करे और शासन का यह कर्त्तव्य है कि वह समझौते की शर्तों के अनुसार शासन करे। शासक की ओर से समझौते की शर्तों का उल्लंघन होने पर प्रजा अपने दायित्व से मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार व्याख्या करने पर समझौते का सिद्धान्त अधिक व्यवहार्य प्रतीत होता है। शक्ति-सिद्धान्त और दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की अपेक्षा यह सिद्धान्त राजनीतिक कर्त्तव्यों की अच्छी व्याख्या करता है। आज्ञापालन का आधार शासितों की अनुमति को मान कर यह प्रजातन्त्र के लिए भी मार्ग तैयार करता है। इसका यह भी अर्थ है कि शासन को स्वेच्छाचारिता के साथ राज-प्रबन्ध करने का कोई अधिकार नहीं है। इससे यह भी प्रकट होता है कि राजनीतिक संस्थाओं मे मनुष्य द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है; यह राज्य-निर्माण में मानवी इच्छा तथा प्रयोजन के महत्त्व पर जोर देता है। फिर भी यह सिद्धान्त इस रूप में भी स्वीकार्य नहीं है। राज्य की सदस्यता और राज्य का आज्ञापालन करने के कर्त्तव्य की समझौते की भाषा में व्याख्या नहीं की जा सकती। समझौते से जो बातें उपलक्षित होती हैं वे मिथ्या तथा खतरनाक हैं।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :—

१—इससे राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्ध ऐच्छिक हो जाते हैं। यदि राज्य का आधार समझौता है तो व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह उसका सदस्य बने या न बने और यदि एक बार वह सदस्य बन भी जाय वह उसका जब चाहे त्याग भी कर सकता है। इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। राज्य अनिवार्य संस्था है। हम तो

उसकी सदस्यता इच्छा से ग्रहण नहीं करते, हम उसमें जन्म लेते हैं। राज्य का जन्म किसी अस्थायी या आंशिक प्रयोजन से नहीं होता। बर्क ने कहा है कि—'राज्य को काली मिर्चों, क़हवा, छींट या तम्बाकू आदि के व्यापार के लिए सहयोगिता के समझौते जैसा नहीं मानना चाहिए जो अस्थायी प्रयोजन से किया जाता है और जो साझेदारों की इच्छा के अनुसार भंग हो जाता है।······ इसके प्रति आदर भाव रखना चाहिए। वह समस्त विज्ञानों, समस्त कलाओं, समस्त गुणों और समस्त पूर्णता में सहभागिता है। यह उनके बीच साझेदारी है जो विद्यमान हैं और जो उत्पन्न होने वाले हैं।' यह सिद्धान्त राज्य के इस पक्ष के साथ न्याय नहीं करता।

२—जिस प्रकार सन्तति का आज्ञापालन करने का कर्त्तव्य अनुमति पर आधारित नहीं होता उसी प्रकार राज्य के प्रति आज्ञापालन भी अनुमति के सिद्धान्त पर आधारित नहीं हो सकता। राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का मान हम उन लाभों के अनुसार नहीं कर सकते जो हमें राज्य से प्राप्त होते हैं। यह तो वणिक्-मनोवृत्ति हो जायगी। इस वृत्ति से देशभक्ति का महान् गुण उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे यह भी मालूम नहीं होता कि राज्य असहाय तथा ग़रीबों की क्यों सहायता करे। सत्य बात तो यह है कि हम राज्य की आज्ञा इस कारण मानते हैं कि वह हमारी सच्ची अथवा बौद्धिक आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि वह समस्त समाज के सामूहिक नैतिक प्रयास का प्रतीक है। इस प्रकार यह सिद्धान्त राज्य की सावयव प्रकृति की व्याख्या करने में अपर्याप्त है।

३—यह सच है कि शासन का आधार जनता की अनुमति होना चाहिये परन्तु यह सिद्धान्त इस अनुमति की ग़लत ढंग से व्याख्या करता है। प्रारम्भिक समझौता प्रारम्भिक पक्षों पर ही बन्धनकारी हो सकता है; उसके उत्तराधिकारियों पर नहीं। यदि अनुमति का समझौता आधार हो तो पक्षों के प्रत्येक परिवर्तन के साथ उसे भी बदलना पड़ेगा। यह वास्तव में असम्भव है। समझौते की अपेक्षा आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक संस्थाऐं जनता की अनुमति प्राप्त करने के अधिक श्रेष्ठ साधन हैं।

४—यह सिद्धान्त राज्य को विशुद्ध रूप से मनुष्य की बनाई हुई वस्तु बना

देता है, एक ऐसी कृत्रिम वस्तु जिसका मनमाने ढंग से निर्माण और संशोधन किया जा सकता है। इस बात में ऐतिहासिक नियमों तथा प्रतिष्ठित परम्पराओं की उपेक्षा होती है। यह भूल है। राज्य विकसित होता है, बनाया नहीं जाता। राज्य वास्तव में मनुष्यों के उद्योग का फल है; वह उद्योग मनुष्यों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों एवं नियमों के सहयोग में हुआ है, उनकी उपेक्षा करके नहीं। यह सिद्धान्त और भी कई दृष्टियों से दोषपूर्ण है। समझौते का उस समय कोई प्रभाव नहीं होता जब कि वह उसके पक्षों पर बन्धनकारी नहीं रहता। उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिये अधिकारी की आवश्यकता है। यह अधिकारी राज्य होता है। अत: समझौते के लिए आवश्यक है कि उसके पहले राज्य हो। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति समझौते से मानना उसके वास्तविक सम्बन्धों को विपरीत बना देता है। समझौता राज्य के पहले नहीं; उसके बाद ही हो सकता है। दूसरे, इस सिद्धान्त से अधिकारों की भी ग़लत भावना प्रकट होती है। यह मानता है कि प्राकृतिक अवस्था में प्रजा के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं परन्तु हम देख चुके हैं कि अधिकारों के साथ सामाजिक स्वीकृति का प्रश्न उलझा हुआ है। इस तरह यह इस बात के भी विपरीत है। समाज से पृथक् अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है और प्रकृति की अवस्था को अराजनीतिक माना ही है। इससे यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है।

उपर्युक्त आक्षेपों के कारण समझौते के सिद्धान्त को राज्य की उत्पत्ति या प्रकृति का सही सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दियों में यह सिद्धांत व्यापक रूप से स्वीकृत था क्योंकि इस काल में शासकों की स्वेच्छाचारिता का प्रतिरोध करने वालों के लिए इससे एक उपयोगी अस्त्र मिल गया था। जैसा कि लॉर्ड का विचार है—"स्वतन्त्रता के उपासकों ने इसे पसन्द किया क्योंकि इसने निरकुंश सत्ता के दावों को सीमित करने का मार्ग दिखाया। दार्शनिकों ने इसे इस कारण अपनाया कि समझौते पर विचार किया जा सकता है, उस पर बहस की जा सकती है और उसकी आलोचना की जा सकती है और उसमें संशोधन किया जा सकता है किन्तु ईश्वर के आदेशों के साथ यह सब नहीं हो सकता।"*

* Lord : Principles of Politics, p. 43.

प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों के पतन के साथ इस सिद्धान्त की भी आवश्यकता नहीं रही। राज्य-विज्ञान में ऐतिहासिक सम्प्रदाय का उदय और यह विचार कि राज्य एक आविष्कार नहीं हो सकता वरन् सतत विकास है, उसके लिये घातक सिद्ध हुआ। आज कोई भी उसका समर्थन नहीं करता।

विकासवादी सिद्धान्त—

राज्य की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त वर्तमान काल के राज्य-विज्ञान के लेखकों में सर्वमान्य है, वह है विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि राज्य का उदय किसी एक निश्चित समय पर नहीं हुआ। इसका विकास अज्ञात धुंधले अतीत से धीरे-धीरे होता रहा है और उसी विकास का यह परिणाम है। यह सिद्धान्त यह भी मानता है कि राज्य किसी एक शक्ति या योजना का फल नहीं है, वरन् कई तत्वों के सहयोग का फल है। इसकी उत्पत्ति कई स्त्रोतों से और कई अवस्थाओं में हुई है। यह क्रमिक अभिवृद्धि है। प्रोफ़ेसर बर्गेस के अनुसार इस कथन का अर्थ यह है कि राज्य अत्यन्त अपूर्ण प्रारम्भिक अवस्थाओं में से धीरे-धीरे कुछ उन्नत अवस्थाओं में से हो कर मानवता के एक पूर्ण तथा सार्वभौमिक संगठन की दिशा में मानव समाज का क्रमिक विकास है। आज हम जिस रूप में राज्य को देखते हैं, उस रूप में राज्य सदैव नहीं रहा। उसके आरम्भिक रूप आज के रूप से सर्वथा भिन्न थे। किन्तु पूर्व रूपों और आधुनिक रूपों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यह सिद्धान्त सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की इस मान्यता का खण्डन करता है कि इतिहास में किसी एक निश्चित काल मे राजनीतिक चेतना का सहसा प्रादुर्भाव हुआ। वह यह मानता है कि उसके विकास में काफ़ी लम्बा समय लगा है। ऐसा विचार करना कि मानव ने पहले पूर्ण मानसिक तथा शारीरिक विकास प्राप्त कर लिया और तब उसने शासन के आविष्कार के लिए प्रयास किया, उतना ही हास्यास्पद होगा जैसा यह सोचना कि मनुष्य ने पहले अपनी समस्त शक्तियों का विकास कर लिया और बाद में अपने साथियों के साथ वार्त्तालाप की कठिनाई के कारण भाषा का आविष्कार करने का उपाय सोचा। "जिस प्रकार भाषा पशुओं की अस्पष्ट बोली से विकसित हुई

उसी प्रकार शासन का प्रारम्भ भी प्राक्-ऐतिहासिक समाज की आदि अवस्था में हुआ।"*

मातृमूलक तथा पितृमूलक सिद्धान्त—

जो विद्वान ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं वे विकास की अवस्थाओं के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि राज्य का उदय पितृमूलक परिवार से हुआ है जिसमें पिता का सन्तति पर नियन्त्रण था। राज्य परिवार का ही बृहद् रूप है। परिवार प्रथम प्राकृतिक मानव संस्था है। परिवार में कम से कम पति, पत्नी और सन्तति सम्मिलित होते हैं। सन्तान का विवाह हो जाने पर एक नवीन गृहस्थी का उदय होता है। विविध गृहस्थियाँ सबसे वयोवृद्ध पुरुष को अपना बड़ा मानते हैं और उसके प्रति भक्ति रखते हैं। उन सबसे मिल कर पितृमूलक परिवार बनता है। पितृमूलक परिवार वंश का रूप धारण कर लेते हैं और वंश मिल कर एक गोत्र या क़बीला (Tribe) बन जाता है। क़बीले राष्ट्र का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार राज्य का विकास परिवार से होता है। यह पितृमूलक सिद्धान्त कहलाता है। इस प्रकार के परिवार में सबसे वयोवृद्ध पुरुष सारे परिवार पर नियन्त्रण रखता है; वही उसका संरक्षक होता है। ऐसे परिवार में सम्बन्ध पिता से माना जाता है।

अरस्तू की रचनाओं में इस सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। उसका यह विचार है कि जिस प्रकार स्त्री-पुरुष परिवार बनाने के लिए मिलते हैं, उसी प्रकार कई परिवार मिल कर ग्रामों की स्थापना करते हैं और अनेकों ग्रामों के संयोग से राज्य बनता है। आधुनिक लेखकों में सर हेनरी मेन ने इसका बड़ी योग्यता से समर्थन किया है। इसका वज़न इस तथ्य के कारण और भी बढ़ गया है कि आधुनिक राजनीतिक विचारों की सृष्टि में उन्हीं लोगों ने अधिक योगदान दिया और आधुनिक राज्य की सृष्टि भी उन्हीं लोगों ने की है जो पितृमूलक परिवार के आधार पर संगठित थे। गत शताब्दी में जो ऐतिहासिक अनुसंधान हुए हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि पितृमूलक परिवार इतने सार्वभौम नहीं थे जितना कि इसके समर्थक

* Leacock : op. cit. p, 38.

मानते हैं। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि प्रारम्भिक सामाजिक संगठन का रूप परिवार नहीं, कबीला था। परिवार का प्रादुर्भाव क़बीले में से हुआ। क़बीले में सम्बन्ध स्त्रियों द्वारा स्थिर किये जाते थे, पुरुषों द्वारा नहीं। यह विचार पितृमूलक सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसके समर्थक यह मानते हैं कि राज्य की उत्पति मातृमूलक समाज से हुई है। अस्थायी वैवाहिक सम्बन्ध बालकों पर माता का नियन्त्रण, और स्त्री द्वारा सम्बन्धों का स्थिर करना आदि इस प्रकार के सामाजिक संगठन के कुछ मूल लक्षण हैं। राज्य-विज्ञान का यह कार्य नहीं है कि वह पितृमूलक तथा मातृमूलक सिद्धान्तों के विवाद में पड़े। यह तो समाज-विज्ञान का विषय अधिक है। हमारा सम्बन्ध तो केवल इतनी सी बात से ही है कि संगठित राजनीतिक जीवन से पूर्व पारिवारिक जीवन का कोई रूप तथा कुछ न कुछ रक्त-सम्बन्ध अवश्य रहा होगा और एक-पति-पत्नी-परिवार आगे चल कर प्रधान रूप से स्थायी हो गए।

राज्य-निर्माण के तत्व—

हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राज्य की उत्पत्ति की खोज करना अत्यन्त दुष्कर है और उसके विकास-क्रम का इतिवृत्त प्रस्तुत करना भी कठिन है, क्योंकि वह सर्वत्र समान रूप से नहीं हुआ। अतः यह अधिक लाभप्रद एवं व्यावहारिक होगा कि हम उन तत्वों पर विचार करें जिनके कारण राज्य का निर्माण हुआ है।

भौतिक वातावरण के अतिरिक्त जिनके कारण मनुष्य एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं या अलग बने रहते हैं रक्त सम्बन्ध, धर्म तथा राजनीतिक चेतना ऐसे कारण हैं, जिनकी सहायता से राज्य का विकास हुआ। इन तत्वों ने राज्य के विकास में किस प्रकार सहायता दी? इसे समझने के लिए कुछ अन्य आवश्यक तत्वों पर भी विचार करना आवश्यक है, जिनके बिना राज्य का निर्माण नहीं हो सकता। ये हैं एकता और संगठन। इन तत्वों में से कुछ के सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। यहाँ तो केवल यह दिखलाने की आवश्यकता है कि किस प्रकार रक्त संबन्धों, धर्म तथा व्यवस्था एवं सुरक्षा की आवश्यकता ने एकता तथा संगठन का निर्माण किया है।

रक्त-सम्बन्ध—

सामाजिक संगठन का सबसे प्रारम्भिक रूप जिसका हमें ज्ञान है, रक्त-सम्बन्ध पर आधारित था। मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधे रखने वाली वस्तु एक कल्पित अथवा वास्तविक सामान्य पूर्वज से सम्बन्ध में विश्वास था। सामान्य पूर्वज के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान ने अनेकों वंशों को तथा परिवारों को एक बन्धन में बाँध कर एकता का प्रादुर्भाव किया। सामान्य परम्परा और समान धार्मिक कृत्य इस एकता की भावना को और भी पुष्ट कर देते थे। रक्त-संबंध तथा धर्म के अतिरिक्त और कोई ऐसे बन्धन नहीं हैं जिन्होंने मनुष्यों को एक समुदाय मे संगठित कर दिया हो। जिन व्यक्तियों का कोई रक्त सम्बन्ध नहीं था वे एक ही क़बीले के सदस्य नहीं हो सकते थे। इस तथ्य से कि अधिकार तथा दायित्वों का आदर केवल समान-रक्त-सम्बन्धियों में ही होता था और अपरिचितों को शत्रु माना जाता था, पूर्व समाज में रक्त-संबंध का महत्त्व दिखाई देता है। रक्त-सम्बन्ध किस प्रकार एकता तथा सामुदायिक एकता की सृष्टि करता है, यह भारतीय विद्यार्थियों को जो जातपाँत के प्रभाव से सुपरिचित हैं, स्पष्ट होना चाहिए।

यदि रक्त-सम्बन्ध ने एकता की भावना का विकास किया जिसके बिना राज्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं तो पितृ-मूलक परिवार ने सत्ता की आज्ञा का पालन तथा उसके लिये आदर भाव उत्पन्न किया जो राज्य के अस्तित्व के लिये उतने ही आवश्यक हैं। पितृमूलक परिवार में परिवार के प्रमुख की सत्ता अपने सदस्यों पर पूर्ण रूप से निरपेक्ष थी। उसका उनके जीवन और मरण पर भी अधिकार था। पुत्रों को कुलपति द्वारा दिये हुये अधिकारों को छोड़ कर और कोई अधिकार नहीं थे। इस कुलपति को जो बाद में क़बीले का मुखिया बन गया प्रशासन, धर्म, न्याय तथा सेना सम्बन्धी अधिकार थें। यह प्रारम्भिक राज्यों के लिए आदर्श था, जिसका उन्होंने अनुसरण किया। पूर्वकालीन राजा धार्मिक, न्यायिक तथा सैनिक सब प्रकार की सत्ताओं का प्रयोग करते थे। हम कह सकते हैं कि अत्यन्त यथार्थवादी भाव में राज्य का विकास परिवार में से हुआ है।

धर्म—

राज्य में निर्माण धम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसने भी एकता

तथा सत्ता के लिए सम्मान की भावना का प्रादुर्भाव किया। रक्त-सम्बन्ध और धर्म पूर्व समाज में एक ही वस्तु के दो पक्ष थे। पूर्वजों की पूजा धर्म का एक रूप था और प्रकृति पूजा दूसरा। पूर्वजों की पूजा ने रक्त सम्बन्ध को और भी पुष्ट किया और इस प्रकार क़बीले के संगठन को मज़बूत बनाया। आगे चल कर प्रकृति पूजा ने एकता तथा सत्ता के प्रति आदर भाव पैदा किया। लोगों को सत्ता तथा अनुशासन का अभ्यस्त करने में रक्त-सम्बन्ध की अपेक्षा धर्म का प्रभाव अधिक रहा है। जैसा कि गैटल ने लिखा है—'राजनीतिक विकास के प्रारम्भिक एवं अत्यन्त कठिन काल में धर्म ही बर्बरतापूर्ण अराजकता का दमन कर सका और मनुष्यों को आदर भाव तथा आज्ञापालन सिखा सका और अरण्य अराजकता का विनाश कर सका। उस अनुशासन तथा सत्ता के प्रति आदर भाव को उत्पन्न करने में जो शासन के आधार हैं, सहस्त्रों वर्ष लगे।' रक्त संबंध से इन उद्देश्यों की प्राप्ति बड़े पैमाने पर नहीं हो सकती थी। इसके लिये धर्म ही अधिक उपयुक्त था।

राज्य-निर्माण में धर्म का प्रभाव केवल प्रारम्भिक युग में ही नहीं, बाद में भी रहा। मध्य-युग में भी धर्म का प्रभाव पर्याप्त था। ईसाई धर्म के प्रभाव तथा उसकी सत्ता ने ही रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करने वाली बर्बर जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। हमारे देश में आज तक धर्म का राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उसी के कारण देश का विभाजन हुआ। अनेक नेताओं ने राजनीतिक विचारों पर धार्मिक विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। सामान्य धार्मिक विचार आज भी जनता को एकता में बाँधे रहते हैं और संसार के कुछ भागों मे उनका प्रयोग वंशों और राज्य के रूपों के समर्थन में किया जाता है।

राजनीतिक चेतना—

राज्य-निर्माण मे रक्त-सम्बन्ध तथा धर्म का कितना ही महत्त्व क्यो न रहा हो, इनसे एक तीसरे तत्त्व, राजनीतिक चेतना, की सहायता के बिना राज्य का निर्माण नहीं हो सकता था। यह व्यवस्था तथा सुरक्षा की आवश्यकता का दूसरा नाम है, जिसका सब लोग अनुभव करते हैं और जिसके बिना सभ्य और प्रगतिशील जीवन संभव नहीं है।

व्यक्तियों का कोई भी समुदाय उस समय तक एक साथ नहीं रह सकता जब तक कि उनके संबन्धों के नियमन के लिए तथा उन सामान्य

उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो एकाकी व्यक्ति या परिवार के प्रयत्नों से संभव नहीं है, सब का सहयोग प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का सगठन नहीं किया जाता। जनसंख्या की वृद्धि तथा सम्पत्ति में वृद्धि के साथ शान्ति एवं व्यवस्था के लिए तथा विवादों का निर्णय करने के लिए इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता बढ़ती जाती है। यह आवश्यकता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि कभी-कभी समुदायों को दूसरे समुदायों के आक्रमण से अपनी रक्षा करनी पड़ती है। इसके लिए सक्रिय एवं कार्यकुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है। आक्रमण तथा रक्षा में सफलता से नेता की सत्ता स्थापित होती है। यही नेता आगे चल कर राजा बन जाता है। इस प्रकार एक साथ रहने वाले लोगों की नागरिक तथा सैनिक आवश्यकताऐं इस प्रकार के संगठन के निर्माण को आवश्यक बना देती हैं जो सामाजिक सम्बन्धों को नियमित कर सके, शान्ति और व्यवस्था कायम रख सकें और समुदाय की आक्रमण से रक्षा कर सके।

इस प्रकार रक्त-सम्बन्ध धर्म तथा रक्षा और व्यवस्था की आवश्यकता, ये तीन तत्व हैं जिनके सहयोग से राज्य की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

अध्याय ६

राज्य का विकास

गत अध्याय के अन्त में हम बतला चुके हैं कि रक्त-सम्बन्ध तथा धर्म के आधार पर संगठित सामाजिक संगठन से ही राज्य का विकास हुआ। इस संगठन से राज्य के विकसित होने में काफी लम्बा समय लगा होगा। राज्य का विकास जिन विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न समयों में हुआ, उसके कारण उसने विविध रूप ग्रहण किए और शासनों के रूपों में भी विभिन्नता हो गई। इस प्रकार राज्य का एक क्रमागत विकास नहीं हो सका। इस विकास के भग्न क्रम पर विचार करना अत्यन्त कठिन है और उससे कोई लाभ नहीं होगा, किन्तु इस विकास मे राज्य ने जो विविध रूप ग्रहण किए उन पर विचार कर लेना उचित होगा। इसके प्रमुख रूप निम्न प्रकार हैं—पूर्वी साम्राज्य, नगर-राज्य, रोम-सम्राज्य, सामन्ती राज्य तथा आधुनिक राष्ट्रीय राज्य। वे अपने आचार तथा विशेषताओं में विभिन्न रहे हैं और उनके कारण विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं तथा विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

(१) पूर्वी साम्राज्य—

प्राचीनतम राज्यों का जिनका इतिहास ज्ञात है जन्म नील, यू.फ्रेटीज (फरात) और टाइग्रेस (दजला) की घाटियों में हुआ। ये बड़े उपजाऊ प्रदेश थे जिनमें एक बड़ी संख्या में प्रजा के भरण-पोषण के साधन विद्यमान थे। चीन तथा उत्तरी भारत में भी, जहाँ इसी प्रकार के भौतिक साधन थे, महान् साम्राज्यों का उदय हुआ। पश्चिमी गोलार्द्ध में (अमेरिका में) पेरू तथा मेक्सिको में महान् साम्राज्यों का उदय हुआ। इन सभी साम्राज्यों में समय तथा स्थान का अन्तर होने पर भी, कुछ सामान्य लक्षण थे। वे वंशपरम्परागत एकतन्त्रीय राज्य थे। उनमें नागरिकों का कोई नागरिक अथवा राष्ट्रीय जीवन नहीं था। उनके

मुख्य कार्य दो थे : निरंकुश शासक के आदेशों का पालन करना तथा कर देना। गैटेल के शब्दों में 'ये राज्य अपनी प्रजा के लिए दासों को हाँकने वाले तथा केवल कर वसूल करने वाले थे।' इनमें वास्तविक एकता का अभाव था और जनता को कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं थी। राज्य शक्ति के आधार पर स्थिति था और उसका आधार दैवी माना जाता था। जब राजवंश दुर्बल एव शक्तिहीन हो जाता था तो वे साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाते थे और उसके स्थान पर दूसरे राजवंश का साम्राज्य स्थापित हो जाता था।

ये राज्य देवाधिराज्य (Theocratic States) थे। राजा को राजनैतिक अधिकार के साथ धार्मिक अधिकार भी प्राप्त होते थे। पुरोहित वर्ग भी बड़ा शक्तिशाली था। इन लोगों ने राजनीतिक संस्थाओं एवं विचार के विकास में कुछ भी योग नहीं दिया, तथापि सत्ता के प्रति जनता के आदर भाव पैदा कर संस्कृति एवं सभ्यता का आरम्भ करने मे बड़ी सेवा की।

(२) यूनानी नगर-राज्य—

दूसरे प्रकार के राज्य का विकास यूनान में हुआ जहाँ की भौगोलिक स्थिति नील, गङ्गा-यमुना आदि नदियों के प्रदेशों से भिन्न थी। पर्वत मालाओं तथा समुद्र के कारण इस प्रदेश के अनेक खण्ड हो गये हैं और इसमें अनेक द्वीप और घाटियाँ बन गई हैं। इनमें से अनेक खण्ड स्वतन्त्र राजनीतिक प्रवृत्ति का केन्द्र बन गया। इनमे से प्रत्येक इकाई स्वशासित एवं स्वाश्रयी नगर-राज्य बन गई जिसके अपने नागरिक नियम और रिवाज थे और अपना नागरिक जीवन था। यूनान के प्राकृतिक विभागों और जनता की प्रकृति के कारण उस देश में भारत, चीन या मिस्र की भाँति विशाल साम्राज्यों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। अतः ऐसे देश में नवीन ढग के नागरिक जीवन तथा नूतन सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ।

यद्यपि नगर-राज्य जनसंख्या तथा क्षेत्रफल में छोटे थे तथापि उनमें पूर्वी साम्राज्यों की अपेक्षा नाना प्रकार के और उत्कट नागरिक तथा राजनीतिक जीवन का विकास हुआ। स्पार्टा को छोड़ यूनान में प्रत्येक नगर-राज्य एकतंत्र (Monarchy) से कुलीन-तंत्र (Aristocracy), कुलीन-तत्र से स्वेच्छाचारी शासन और अंत में प्रजातन्त्र के रूप में परिवर्तित हुआ जिसने

प्रजा के हाथों में बड़ी सत्ताएँ सौंपी और उन्हें काफ़ी स्वतन्त्रता भी दी। विविध-नगर राज्यों में राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक अनुभव की विविधता के कारण राजनीतिक विचार में भी विकास हुआ। यूनान ने विश्व को दो महान् राजनीतिक विचारक दिये हैं, प्लेटो और अरस्तू। पूर्वी साम्राज्यों की तुलना में यूनान के नगर-राज्यों ने राजनीतिक विचार तथा संस्थाओं के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया है। स्वशासन तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के आधार पर नगर-राज्यों में समुज्ज्वल सभ्यता का विकास हुआ। विविध नगर-राज्यों के बीच संघर्ष की जो कटुता पैदा हो गई उसने उन्हें शक्तिहीन बना दिया। वे मक़दूनिया के फ़िलिप और उसके पुत्र एलेक्जेण्डर और बाद में रोम की सेनाओं का मुक़ाबला नहीं कर सके। उनकी स्वतन्त्रता विलीन हो गयी और उनके साथ उनकी सभ्यता का भी ह्रास हो गया।

(३) रोम का विश्व-साम्राज्य—

रोम मे भी आरम्भ में नगर-राज्य था। यूनान के नगर-राज्यों की भाँति इसमें भी क्रमशः एकतन्त्र, कुलीन-तन्त्र, स्वेच्छाचारी शासन तथा प्रजातंत्र स्थापित हुये, किन्तु प्रजातन्त्रीय प्रवृत्ति अपनी चरम-सीमा तक पहुँच न पाई थी कि कुछ घटनाओं के कारण रोम में राजनीतिक विकास की धारा में परिवर्तन हो गया जिसके कारण नवीन संस्थाओं तथा नूतन राज्य की स्थापना हुई। यह नवीन राज्य विश्व-साम्राज्य था। रोम की अपने पड़ौसी राज्यों से लड़ाइयाँ छिड़ गईं। उनमें रोम की विजय से उसके राज्य का विस्तार होने लगा। सबसे प्रथम उसने अपने दुर्बल पड़ौसी राज्यों पर आधिपत्य जमाया, फिर पश्चिम तथा दक्षिण की ओर पग बढ़ाया और धीरे-धीरे भूमध्यसागर के आसपास के समस्त सभ्य देशों को अपने अधीन कर लिया। रोम का साम्राज्य इङ्गलैण्ड, आधुनिक जर्मनी, फ्रान्स, स्पेन, आस्ट्रिया, बल्कान प्रदेश, यूनान, एशिया माइनर और अफ्रीका के समस्त भूमध्यसागरीय तट के प्रदेशों पर स्थापित हो गया। इस प्रकार नगर-राज्य से विकसित हो कर रोम संसार का उस समय तक का सबसे महान् साम्राज्य बन गया। इतने बड़े साम्राज्य के शासन-प्रबन्ध करने में, जिसमें विविध नियम, लोकाचार तथा सभ्यता वाले लोग थे, रोम ने अपनी क़ानूनी-प्रणाली तथा औपनिवेशिक और नगर शासन की पद्धतियों का विकास किया जो राजनीतिक

संस्थाओं को उसकी देन है। साम्राज्य को सत्ता के केन्द्रीकरण, क़ानून की एकरूपता और केन्द्रीभूत शासन-प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। रोम के साम्राज्य ने इन बातों का ऐसी आश्चर्यजनक मात्रा में विकास किया कि पश्चिम में ५०० वर्षों तक और पूर्व में १५०० वर्षों तक उसका राज्य बना रहा। साम्राज्यवादी रोम की सफलता से रोम-चर्च ने काफ़ी शिक्षा ली और उसका लाभ उठाया। रोम की साम्राज्य-प्रणाली को यूरोप के इंगलैण्ड जैसे साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने भी अपनाया है।

साम्राज्य के सगठन में अनेक दोष भी थे। इसके कारण प्रान्तों में क़ानून की एकरूपता तथा शासन-प्रबन्ध की एकता तो स्थापित हुई किन्तु इसने उन लोगों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा स्थानीय स्वशासन नहीं दिया। रोम साम्राज्य के नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा के वे सुयोग प्राप्त नही थे जो एथेन्स वालों को सुलभ थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जब अपनी आन्तरिक दुर्बलता और बाहर से बर्बर आक्रमणों के कारण रोम साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया, तो प्रान्तों में अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। यूनान ने अपनी जनता को प्रजातन्त्र का दान दिया परन्तु वह उसमें एकता की प्रतिष्ठा नहीं कर सका। इसके विपरीत रोम ने अपनी जनता को एकता दी, परन्तु उसे प्रजातन्त्र से वंचित रखा। आदर्श राज्य को अपने नागरिकों को स्वतन्त्रता और एकता दोनों ही देनी चाहिये।

(४) सामन्ती राज्य—

वास्तव में विचार किया जाय तो सामन्ती राज्य, राज्य नहीं है। राज्य में जिन बातों का समावेश होता है और जिन बातों के लिए राज्य होता है, जैसे सामान्य नागरिकता, सामान्य क़ानून, राज्य के प्रति अविभक्त भक्ति तथा केन्द्रीय सत्ता, उन सबका यह निषेध करता है। सामन्तवाद में स्वामी और दास के वैयक्तिक संबंध ही सामान्य नागरिकता का स्थान ले लेते हैं, सामान्य क़ानून के स्थान पर स्थानीय लोकाचार होते हैं। व्यक्ति अपने निकट-स्वामी के प्रति भक्ति रखते हैं और राजा के प्रति उनकी भक्ति उनके स्वामी के द्वारा ही होती है। केन्द्रीय सत्ता कई मुखियों के बीच विभाजित होती है जो भूमि को राजा से जागीर के रूप में प्राप्त करते हैं और इस प्रकार उसके मुख्य आसामी होते हैं।

सामन्तवाद की मुख्य विशेषता यह है कि राज्य की भूमि का वितरण सामन्ती सरदारों में कर दिया जाता है। राजा के दुर्बल होने पर ये सरदार अधिक से अधिक राजसत्ता हस्तगत कर लेते हैं। सामन्तशाही के उत्तर-काल मे ये सरदार उन व्यक्तियों से भूमिकर संग्रह करते थे, जो इनकी भूमि पर निवास करते थे, वे उनके विवादों का लोकाचार के अनुसार निर्णय करते थे तथा प्रजा की रक्षा करते थे। सरदार अपनी भूमि को अपने काश्तकारों मे बॉट देता था और ये काश्तकार भी उसका वितरण शिकमी काश्तकारों में कर देते थे। इस प्रकार भूमि के स्वाम्य के आधार पर एक सीढ़ीनुमा श्रेणी बन गई है। राजनीतिक सत्ता का भूमि-स्वाम्य से सम्बन्ध जुड़ गया। जो व्यक्ति अपने स्वामी के लिए भूमि जोतता बोता था उसे अपने स्वामी की व्यक्तिगत सेवा भी करनी पड़ती थी। इस प्रकार वह उसके आधीन हो गया। काश्तकार भी अपने प्रमुख काश्तकार के लिए ऐसी ही सेवा करता था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने से ऊपर के व्यक्ति के प्रति भक्ति रखता था। ऐसी परिस्थिति में राज्य-प्रभुत्व की कल्पना संभव नहीं थी। इस प्रकार सामन्तवाद ने राज्य की एकता तथा प्रभुता दोनों का विनाश कर दिया। रोम साम्राज्य ने जो कार्य किया, उसको सामन्तशाही ने मटियामेट कर दिया।

सामन्तवाद का उदय रोम के सत्ता तथा केन्द्रीकरण के आदर्शों और व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता तथा स्थानीय स्वशासन के ट्यूटॉनिक आदर्शों के समझौते के रूप में हुआ। इन आदर्शों को वे बर्बर लोग अपने साथ लाये थे जिन्होंने रोम-साम्राज्य का पतन किया था। यह लड़खड़ाते हुये रोम-साम्राज्य तथा भविष्य में आने वाले राष्ट्रीय राज्य के मध्य का संक्रमण काल था। इस सामन्ती राज्य ने रोमन साम्राज्य के पतन के बाद की अव्यवस्थित दशा मे यूरोप की जनता को शान्ति और सुरक्षा दे कर, जिसकी उन्हें उस समय बड़ी आवश्यकता थी, बड़ी सेवा की।

(५) आधुनिक राष्ट्रीय राज्य—

सामन्तशाही अपनी प्रकृति के कारण ही अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती थी। जब तक यूरोप में अव्यवस्था रही तब तक यह व्यवस्था भी क़ायम रही। अनेक परिस्थितियों के कारण सामन्ती सरदारों की

शक्ति क्षीण हो गई जिनमें से धर्म-युद्ध (Crusade) शतवर्षीय युद्ध, इंगलैण्ड में गुलाबों का युद्ध, और बारूद का आविष्कार मुख्य थे। विद्या के पुनरुत्थान (Renaissance) और धर्म-सुधार (Reformation) ने पश्चिमी यूरोप में नवजीवन का संचार किया और नवीन राज्य की स्थापना के लिए भूमि तैयार की। इस नवीन राज्य की प्रतिष्ठा सर्व-प्रथम इंगलैण्ड में हुई जहाँ ट्यूडर राजाओं ने शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना की। इँगलैण्ड एक द्वीप है, इस कारण उससे राष्ट्रीयता की भावना के विकास में बड़ी सहायता मिली। स्पेन तथा फ्रांस ने इङ्गलैण्ड का अनुकरण किया। बाद में जर्मनी तथा इटली ने भी सामन्तशाही का विनाश कर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की।

इन राज्यों को राष्ट्रीय राज्य (Nation-State) कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि उन सब ने सामान्य भाषा तथा राष्ट्रीयता के कारण एकता के सूत्र में बंधे हुए लोगों को एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत कर लिया। इन नवीन राज्यों की सीमा-निर्धारण में भौगोलिक कारणों से राष्ट्रीयता के भाव को सहायता मिली। इन राज्यों की पृथक्ता तथा भिन्नता और इनके शासकों के इस दावे के कारण कि उन्हें अपने राज्य की सीमाओं के भीतर रहने वाली जनता के लिए बंधनकारी क़ानून बनाने का अधिकार है। राज्य-प्रभुत्व तथा राज्यों की समानता के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ। इसी युग में धर्म तथा राजनीति में भी पृथक्ता स्थापित हो गई।

ये राष्ट्रीय राज्य आरम्भ में एकतंत्रीय राज्य थे। प्रत्येक राज्य में राजा ने सामन्ती सरदारों को शक्तिहीन कर स्वयं अपनी सत्ता सुदृढ़ कर ली। सामन्ती सरदारों तथा पोप के विरुद्ध संघर्ष में जनता राजाओं के साथ थी, क्योंकि राजाओं ने जनता को शान्ति एवं सुरक्षा दी और जनता में भी राजनीतिक चेतना बढ़ती जा रही थी। यह वह समय था जब जेम्स ने राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

किन्तु राजाओं का यह स्वेच्छाचार अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। अनेक परिस्थितियों ने जनता में अपनी सत्ता तथा अपने महत्त्व की चेतना पैदा कर दी थी और वे अपने अधिकारों की माँग करने लगे। इस प्रकार जो प्रजातांत्रिक आन्दोलन आरम्भ हुआ, उसके फलस्वरूप संसार के अनेकों सभ्य देशों में जन-तंत्र शासन की स्थापना हो गई। विविध राज्यों में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र में परिवर्तन

समान रूप से नहीं हुआ। कुछ राज्यों में वह शीघ्र गति से हुआ, कुछ में देर से, और कुछ देशों में तो बड़े रक्तपात के बाद प्रजातंत्र का उदय हुआ।

प्रजातंत्रीय राष्ट्रीय राज्य के विकास में जिस घटना से विश्व की स्थिति पर गभीर प्रभाव पड़ता है, वह है, इन राज्यों में से अनेकों द्वारा महान् साम्राज्यों की स्थापना। इन साम्राज्यों के उद्देश्य परस्पर विरोधी हैं। सन् १६१४—१८ ई० के प्रथम विश्व-युद्ध तथा द्वितीय विश्व-युद्ध (१६३६—४५) इस सघर्ष के परिणाम हैं। इन संघर्षों के कारण सभ्यता के लिए जो महान् ख़तरा है, उसके कारण विश्व के विचारक चिन्तनशील हैं और वे विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए युक्तियाँ सोच रहे हैं। इसका एक उपाय यह बतलाया गया है कि संसार के समस्त प्रजातत्रीय देश अपना एक संघ बना लें। आज संघ-वाद के विचार की मानवता की अनेक समस्याओं के समाधान के रूप में प्राधान्यता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना भी जिसने मृत राष्ट्र संघ का स्थान ले लिया है इस दिशा में एक क़दम है, यद्यपि इसे हम राज्य-मंडल (Confederation) भी नहीं कह सकते। पश्चिमी प्रजातंत्र देशों और रूस के विरोधी सिद्धान्तों तथा बड़े राज्यों के पारस्परिक हितों के संघर्ष के कारण विश्व-संघ की स्थापना असम्भव दिखाई देती है। आजकल तृतीय विश्व-युद्ध का बीज बोया जाता मालूम हो रहा है।

प्रजातांत्रिक राष्ट्रीय राज्य स्वतत्रता का एकता के साथ समन्वय करने में सफल हुआ है। राज्य की प्रजातांत्रिक विशेषता के कारण व्यक्ति बिना किसी विफलता की भावना के अपने जीवनयापन की अपनी इच्छानुसार योजना बना सकता है। इसका राष्ट्रीय रूप इसकी एकता की रक्षा करता है। इसने अपने नागरिकों में यूनानी नगर-राज्यों की तरह अपने देश के टुकड़े किये बिना एक उच्च कोटि की देश-भक्ति तथा कर्त्तव्य की भावना का विकास किया है। इस प्रकार राष्ट्रीय राज्य पहले के राज्य की अपेक्षा एक उच्चतर राजनीतिक संगठन है। कुछ लेखक तो इसे सामाजिक संगठन का उच्चतम रूप मानते हैं।

अध्याय ७

राज्य के सिद्धान्त

तृतीय अध्याय में यह विचार प्रकट किया गया था कि राज्य एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य उसके सदस्यों के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है। राज्य की प्रकृति के संबध में जो अनेक विचार हैं उनमें से यह विचार एक है। राज्य-विज्ञान के लेखकों तथा दार्शनिकों ने राज्य के विविध रूपों पर विचार किया है और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में भी अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। राज्य की प्रकृति का प्रश्न राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्य-विज्ञान के कुछ मौलिक प्रश्न इससे संबधित हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित प्रश्नों के जो उत्तर दिये जायँगे वे अन्त में उस विचार के आधार पर होंगे जो राज्य की प्रकृति के सबन्ध में किसी व्यक्ति के होंगे; जैसे "राज्य के समुचित कार्य क्या हैं?" "राज्य जिस बल का प्रयोग नागरिकों के विरुद्ध करता है, उसका औचित्य किस आधार पर है?" तथा "क्या राज्य आवश्यक है?"

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में चार मुख्य सिद्धान्त हैं :—(१) क़ानूनी सिद्धान्त, (२) सावयव सिद्धान्त, (३) समझौते का सिद्धान्त तथा (४) आदर्शात्मक सिद्धान्त। इनमें दो सिद्धान्त और जोड़े जा सकते हैं :—(५) उपयोगितावाद और (६) सत्ता-सिद्धान्त। जो लोग राज्य-विज्ञान का अध्ययन मनोवैज्ञानिक रीति से करते हैं, वे राज्य को मानव-मन का फल मानते हैं और वे मनोविज्ञान द्वारा बतलाये गए मानसिक जीवन के नियमों के आलोक में उसका अध्ययन करते हैं।

क़ानूनी सिद्धान्त—

क़ानून-सम्बन्धी लेखकों ने संस्थाओं या समुदायों के क़ानूनी व्यक्तित्व के विचार से हमें परिचित कर दिया है। समुदाय के व्यक्तित्व से उनका

आशय यह है कि समुदाय का एक व्यक्तित्व होता है जो उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व से भिन्न है, जो उसके सदस्य हैं और उसकी अपनी इच्छा, अपने हित और अधिकार भी हैं जो समुदाय के व्यक्तियों के अधिकारों, हितों एवं इच्छाओं से पृथक् तथा भिन्न हैं। समुदाय व्यक्तियों के विरुद्ध न्यायालय में दावा कर सकता है और व्यक्ति भी उसके विरुद्ध दावा कर सकते हैं। समुदाय सम्पत्ति अर्जित कर सकता है और वह उसका हस्तान्तरण भी कर सकता है। सक्षेप में, क़ानून के लिए समुदाय में व्यक्ति के सब गुण होते हैं। कुछ जर्मन लेखकों ने व्यक्तित्व की इस कल्पना का विस्तार राज्य तक किया है। उनका यह विचार है कि राज्य को एक व्यक्ति समझना चाहिये जिसकी इच्छा एव अधिकार और हित नागरिकों की इच्छा, अधिकार आदि से भिन्न तथा पृथक् हैं। उसके ऐसे हित हैं जो उसके नागरिकों के हितों के समान नहीं हैं और राज्य उनकी रक्षा करने के लिए सब साधनों का प्रयोग करने का अधिकारी है। कुछ विद्वान् तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और कहते हैं कि राज्य का यह व्यक्तित्व केवल क़ानूनी या काल्पनिक ही नहीं, वरन् एक मनुष्य के व्यक्तित्व की भाँति वास्तक्कि है। इस विचार का व्यापक रूप से समर्थन नहीं किया जाता। अधिकांश लेखक राज्य के व्यक्तित्व को कानूनी या काल्पनिक ही मानते हैं।

इस संकीर्ण अर्थ में भी कुछ लेखक राज्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आक्षेप करते हैं। इनमें प्रो० ड्युग्वी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह राज्य के व्यक्तित्व के सिद्धान्त को "कोरी मानसिक कल्पना" मानते हैं जिसमें वास्तविकता का अल्पांश भी नहीं है, क्योंकि वह किसी यथार्थ तथ्य को अभिव्यक्त नहीं करता और न किसी सामाजिक व्यवहार के नियम को निर्धारित करता है। यह भी कहा जाता है कि "काल्पनिक व्यक्ति को अधिकारों के प्रयोग की क्षमता है" यह विरोधोक्ति है। यह समझना वास्तव में बड़ा कठिन है कि जिस व्यक्ति का कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं उसके अधिकार कैसे हो सकते हैं और वह अधिकारों का कैसे प्रयोग कर सकता है? अधिकारों के उपयोग के लिए व्यक्ति वास्तविक एवं सजीव होना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य काल्पनिक नहीं, वास्तविक है। वह समस्त संस्थाओं में सर्वोपरि है। अतः राज्य को काल्पनिक व्यक्ति कहना ग़लत है। यदि वह व्यक्ति है, तो उसे वास्तविक व्यक्ति होना चाहिए।

इस सिद्धान्त की इस प्रकार की आलोचना अनुचित है। राज्य के व्यक्तित्व को काल्पनिक भाव में मानने से वह काल्पनिक या अवास्तविक नहीं बन जाता। यह सिद्धान्त तो इतना ही कहता है कि राज्य को सर्वोत्तम ढंग से समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए उसे एक व्यक्ति के समान मानना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य एक काल्पनिक व्यक्ति है। राज्य में ऐसे गुण हैं, जो वास्तविक व्यक्ति के ही होते हैं; जैसे साध्य की सिद्धि करने की सत्ता, प्रश्नों का निर्णय करना और निर्णयों को कार्यान्वित करना। राज्य को एक व्यक्ति के समान मानने में कोई हानि नहीं है। राज्य के अध्ययन के लिये एक दृष्टिकोण के रूप में इस क़ानूनी सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है। भ्रान्ति और संकट तो उस समय उपस्थित होते हैं जब हम राज्य को मनुष्य के समान ही एक व्यक्ति मान लेते हैं। इस सिद्धान्त का मुख्य दोष यह है कि इसके द्वारा राजनीतिक दायित्वों की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं हो सकती और न इससे हमें कोई राजनीतिक कार्यक्रम ही मिलता है।

सावयव सिद्धान्त

सिद्धान्त के दो रूप—

क़ानूनी सिद्धान्त, जिसके अनुसार राज्य का क़ानूनी व्यक्तित्व माना गया है, आधुनिक सिद्धान्त है जिसका जन्म गत शताब्दी मे हुआ, किन्तु सावयव सिद्धान्त (Organic Theory) उतना ही पुराना है जितना कि राजनीतिक विचार। प्लेटो ने राज्य तथा व्यक्ति की तुलना कर के उसके आधार पर बहुत से परिणाम निकाले। प्लेटो के मतानुसार राज्य व्यक्ति का विराट् रूप है। अरस्तू ने भी इसी सिद्धान्त को मान कर अपने विचारों का प्रतिपादन किया। रोम के विचारक सिसरो ने भी व्यक्ति और राज्य के बीच तुलना की। सेंट टॉमस एक्वीनास, जॉन ऑफ़ सेलिस्बरी, मारसिल्यो, ओकम आदि कुछ मध्ययुगीन विचारकों ने भी राज्य की सावयव प्रकृति पर विचार किया और मानव समाज तथा उसके अन्तर्गत छोटे समुदायों की तुलना जीवित शरीर से की। इनकी तुलनाएँ कभी-कभी बड़ी विचित्र होती थीं और वे साम्राज्य तथा चर्च के समर्थन में उनका प्रयोग करते थे। आधुनिक काल में हॉब्स तथा रूसो की रचनाओं में भी यह सिद्धान्त मिलता है और हॉब्स ने राज्य

का एक दैत्याकार मानव (Leviathan) के रूप में वर्णन किया है। उसकी भाषा से ऐसा आभास मिलता है कि वह सावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है। परन्तु वास्तव में बात यह नहीं है। वह इसके विपरीत सिद्धान्त का समर्थन करता है जिसके अनुसार राज्य एक कृत्रिम वस्तु है। रूसो का सिद्धांत सावयव मत के अधिक निकट है और उसकी उत्पत्ति की एक भिन्न कल्पना से संबद्ध है जिससे उसका सामंजस्य कठिन है। इस सिद्धांत के आधुनिक व्याख्याकारों में हर्बर्ट स्पेंसर (इङ्गलैंड), ब्लुंट्श्ली (जर्मनी) तथा वर्म्स (फ्रान्स) हैं। जिस रूप में प्राचीन काल तथा मध्य-युग के लेखकों ने इसका प्रतिपादन किया तथा जिस रूप में आधुनिक लेखकों ने इसका अवलोकन किया, उन दोनों में बहुत अन्तर है। प्राचीन लेखक तो इतना ही मानते थे कि राज्य जीवित प्राणी से कुछ अंशों में ही मिलता जुलता है किन्तु आधुनिक अथवा नवीन लेखकों के अनुसार राज्य एक जीवित शरीर ही है। वे राज्य को वास्तविक अर्थ में जीवित शरीर (Organism) मानते हैं, आलंकारिक अर्थ में नहीं। यह मूल भेद है। हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि राज्य एक शरीर के सदृश है—अर्थात् इसकी प्रकृति सावयव है परन्तु इस बात को अस्वीकार कर सकते हैं कि यह स्वयं एक प्राणी है। पहले विचार को बहुत से लोग स्वीकार करते हैं और इसमें सत्यांश भी है किन्तु दूसरा विचार मिथ्या ही नहीं, भयानक भी है और इसका परित्याग कर दिया गया है। जिन दो रूपों में इस सिद्धान्त का विवेचन किया गया है उन पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

राज्य की सावयव प्रकृति—

वास्तव में देखा जाय तो यह व्यक्ति तथा राज्य के बीच सम्बन्धों का सिद्धान्त है, राज्य की प्रकृति का सिद्धान्त नहीं। इसका मुख्य भाव यह है राज्य या समाज के व्यक्ति परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। राज्य व्यक्तियों का समूहमात्र नहीं है, वह उनकी एकता है। राज्य की यह एकता पुस्तक या पत्थरों के ढेर अथवा यन्त्र (मशीन) की एकता से भिन्न है। यदि यह एकता किसी से मिलती है तो मानव या पशु के जीवित शरीर से। जिस प्रकार शरीर में माँस, हड्डी, रक्त, मज्जा, तंतु आदि के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से बनता है उसी प्रकार व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध से राज्य का निर्माण होता है। जिस

प्रकार पत्तियाँ, शाखाएँ तथा जड़ें सब वृक्ष के ही अंग होते हैं, उसके बाहर नहीं, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न नहीं है; व्यक्ति राज्य में रहते हैं और राज्य व्यक्तियों में है। राज्य को व्यक्तियों से पृथक् नहीं किया जा सकता और न व्यक्तियों को ही राज्य से पृथक् किया जा सकता है। राज्य का व्यक्तियों से पार्थक्य करना असम्भव है और राज्य से पृथक् व्यक्तियों की कल्पना भी सम्भव नहीं है। कोई नयनों की शरीर से पृथक् कल्पना कर नहीं सकता। इस प्रकार राज्य की एकता और सदस्यों की पारस्परिक निर्भरता से प्राणी की कल्पना होती है। इस दृष्टि से राज्य निःसन्देह एक शरीर के समान है। यह अपनी प्रकृति में सावयव है। अन्य बातों में भी इन दोनों में सादृश्य है। जिस प्रकार शरीर में विशिष्ट अग विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार राज्य में भी विविध विभाग अपने अलग-अलग कार्यों का संपादन करते हैं। राज्य का सामूहिक जीवन उसी प्रकार का है जैसे कि प्राणधारियों का। यदि इस सिद्धान्त का आशय केवल राज्य की एकता और उसके विभिन्न भागों की पारस्परिक निर्भरता ही है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इसमें कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जिससे उसका यह दावा उचित सिद्ध हो सके कि इस सिद्धान्त में राजनीतिक दर्शन के संपूर्ण सत्य का बीज विद्यमान् है। व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी तथा आदर्शवादी सिद्धान्तों के समान इस सिद्धान्त से राज्य के लिये कोई कार्यक्रम नहीं मिलता इसका एकमात्र गुण यह है कि यह उन सिद्धान्तों का खण्डन करता है जो राज्य को समझौते का परिणाम मानते हैं। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी लीकॉक ने लिखा है कि "यह मानना कि समाज का सावयव सिद्धान्त सामाजिक समस्याओं का एक निश्चित समाधान प्रस्तुत करता है, ग़लत है। इसका वास्तविक उपयोग इसी बात में रहा है कि उसने हमें इस प्रचलित विचार को नष्ट करने में सहायता दी है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता स्वतः एक अच्छी चीज़ है और उस पर उसके गुणों की दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता नहीं है।"*

राज्य—एक शरीर के रूप में—

उन्नीसवीं शताब्दी में प्राणिशास्त्र में विकासवाद के सिद्धान्त के

* The Elements of Political Science, page 77.

उदय तथा ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में उसके प्रयोग के कारण राज्य को एक शरीर मानने वाले सिद्धान्त का जन्म हुआ। राज्य एक व्यक्ति के समान नहीं वरन् एक वास्तविक व्यक्ति बन गया। सर हरबर्ट स्पेंसर ने यह घोषणा की कि राज्य या समाज एक प्राकृतिक शरीर है जो किसी आवश्यक बात में अन्य जीवधारियों के शरीर से भिन्न नहीं है। ब्लुंट्श्ली ने भी इस बात पर ज़ोर दिया कि राज्य "मानव शरीर की प्रतिमूर्त्ति", "जीवित आध्यात्मिक सावयव प्राणी है।" स्पेंसर ने तो यहाँ तक कहा कि राज्य पुलिङ्ग है। इसी प्रकार शेफ़ल ने यह माना कि राज्य तथा पशु-शरीर में शारीरिक, रचनात्मक, जीव-विज्ञान सम्बन्धी तथा जो अन्य सादृश्य हैं, उनके कारण राज्य को एक शरीर मानना चाहिए जिसके कोष्ठ या इकाइयाँ व्यक्तिगत मनुष्य है।

अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिए लेखकों ने समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक रचना का विश्लेषण किया है और यह प्रमाणित किया कि यह सब बातें वैसी ही हैं जैसी एक प्राणि-शरीर में होती हैं। स्पेंसर ने राज्य तथा व्यक्ति के शरीर की जो तुलना की है, वह इस प्रयत्न का एक दृष्टान्त है। उसने निम्नलिखित सादृश्यता पर प्रकाश डाला है :

१—जिस प्रकार मानव-शरीर में कोष्ठ होते हैं, उसी प्रकार समाज में व्यक्ति होते हैं। दोनों में विधायक इकाइयाँ सम्पूर्ण शरीर को जीवन-दान देती हैं।

२—दोनों की समान प्रणालियाँ और प्रक्रियाएं हैं। प्राणी के शरीर में आमाशय है, जिसमें भोजन का पाचन होता है। शरीर में रक्तवाहनियों द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों में रक्त-सञ्चार होता है। शरीर में स्नायविक संस्थान है जिसके द्वारा शरीर की क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है और अन्त में मस्तिष्क है जो सारे शरीर का नियंत्रण करता है। राज्य मे भी इसी प्रकार की प्रणालियाँ हैं—उत्पादन प्रणाली, यातायात प्रणाली, पुलिस व्यवस्था तथा केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् जो शरीर की विभिन्न प्रणालियों के समान काम करती हैं।

३—प्राणि शरीर और राज्य के विकास में रचनात्मक जटिलताएं भी एक-सी दिखाई देती हैं। जीव-शरीर के सम्बन्ध में यह प्रगतिशील जटिलता इस तथ्य द्वारा प्रकट होती है कि नवीन कार्यों के सम्पादन

के लिये जो नवीन अङ्ग उपयुक्त होते हैं, वे वातावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकट होते हैं। सबसे छोटे प्रकार के जीवों के पृथक कोई पेट नहीं होता, न पृथक् फुप्फुस (Lungs) होते हैं, न पृथक आँखें, नाक तथा कान ही होते हैं, जैसे कि बड़े जीवों तथा मनुष्य के होते हैं। इसी प्रकार आदिम समाज मे भी इस प्रकार का श्रम-विभाजन या कार्यों का विशेषीकरण नहीं होता जैसा कि वर्तमान् समाज में दिखाई देता है। आदिम मानव एक शिकारी, योद्धा, कृषक, श्रमिक और एक सैनिक के रूप में जब जैसी आवश्यकता हुई, रहा। आधुनिक समय में व्यवसायियों, सैनिकों, शासन कर्त्ताओं, पुरोहितों, कृषकों, वकीलों, डॉक्टरों और दूकानदारों के जो पृथक् सामाजिक वर्ग दीख पड़ते हैं वे क्रमशः विकास के परिणाम हैं। इस प्रकार पशु-शरीर तथा राज्य दोनों का समान रूप से विकास होता है।

४—पशु-शरीर में विनाश-क्रम जारी रहता है। जो कोष्ठ तथा रक्त-कोष दुर्बल या क्षीण हो जाते हैं उनका स्थान नये कोष्ठ ले लेते हैं। इसी प्रकार सामाजिक शरीर में वृद्ध तथा दुर्बल व्यक्ति मर जाते हैं और उनका स्थान नवजात प्राणी ले लेते हैं। इस प्रकार समाज अपने आप को क़ायम रखता है।

५—प्राणि-शरीर में सब अङ्ग तथा इन्द्रियाँ परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होती हैं। प्रत्येक अङ्ग के समुचित रूप में कार्य करने पर ही शरीर का स्वास्थ्य तथा शक्ति क़ायम रहती है। किसी भी अङ्ग की रोगावस्था दूसरे अङ्गों पर भी प्रभाव डालती है। इसी प्रकार समाज मे विविध वर्ग भी परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। समाज का स्वास्थ्य एवं उसकी शक्ति उसके विविध अंगों के समुचित कार्य सम्पादन करने पर ही निर्भर रहती है। समाज में किसी एक वर्ग की असाधारण स्थिति अथवा राज्य के किसी विभाग में असाधारण स्थिति अन्य वर्गों एवं विभागों के कार्यों पर भी प्रभाव डालती है। इस प्रकार दोनों अपने-अपने अङ्गों पर परस्पर निर्भर रहते हैं।

६—इन दोनों में एक समानता इस बात में भी है कि किसी व्यक्तिगत इकाई की मृत्यु के कारण न तो प्राणि-शरीर और न राज्य की ही मृत्यु होती है। शरीर का एक कोष्ठ मर जाय, तो शरीर का कुछ

भी नहीं बिगड़ता। इसी प्रकार एक व्यक्ति के मर जाने पर समाज का अन्त नहीं हो जाता।

इन उपर्युक्त तुलनाओं के आधार पर यह कहा जाता है कि राज्य भी एक शरीर है, केवल उसके समान ही नहीं है; वरन् इसका जन्म, इसकी वृद्धि, इसका विकास और अन्त में मृत्यु जीवधारी शरीर की भाँति होती है। इन दोनों में सादृश्यता ही नहीं, वरन् एकरूपता भी है। इस एकरूपता के कई परिणाम निकलते हैं। प्रथम, इससे राज्य मे वास्तविक एकता की प्रतिष्ठा होती है। इस एकता को विरोधी हितों वाले व्यक्तियों के बीच किए हुए समझौते के परिणामस्वरूप कोई कृत्रिम वस्तु नहीं समझना चाहिए। यह वास्तविक है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के व्यक्तियों के अपने कोई वास्तविक हित नहीं हो सकते। जिस प्रकार पेट, हृदय, हाथ, पैर स्वयं अपने लिए जीवित नहीं रहते और उनका समूचे शरीर के कल्याण से भिन्न अपना कोई हित नहीं होता, इसी प्रकार कोई व्यक्ति राज्य के विरुद्ध अपने निजी अधिकार पेश नहीं कर सकता। जिस प्रकार एक रोगग्रस्त दाँत निकाले जाने से इन्कार नहीं कर सकता उसी प्रकार कोई व्यक्ति उसे हानिकर प्रतीत होने वाले क़ानून को तोड़ने का अधिकार नहीं रखता। समस्त बातों में राज्य का एक एकीकृत हित है। द्वितीय, इसका अर्थ यह है कि राज्य का शासन किसी काम को करने के लिए कोई कृत्रिम यंत्र नहीं है, वरन् एक प्राकृतिक योजना है, जो प्रत्येक समाज में होनी चाहिए। उसका काम राज्य में वही है जो शरीर में स्नायविक संस्थान का है। तृतीय, एक व्यक्ति के रूप में समाज के सामान्य हित तथा पृथक् व्यक्तियों के रूप में उसके सदस्यों के सम्मिलित हितों में कोई आवश्यक एकरूपता नहीं है। समाज का हित व्यक्तियों के हितों का योगमात्र नहीं है, वह उससे भिन्न भी हो सकता है। अन्त मे, यह भी कहा जा सकता है कि राज्य की अच्छाई या वास्तविकता उसी अनुपात में होती है जिसमें उसके सदस्य शामिल हो कर एक व्यक्ति बन जाते हैं। यह सिद्धान्त सर्वस्वायत्तवाद (Totalitarianism) का समर्थन करता है और अपनी प्रवृत्ति में प्रजातंत्र का विरोधी है। यह राज्य को ही सब कुछ बना देता है और उसकी तुलना में उसके अन्तर्गत जितने समुदाय हैं उन सबको बहुत नीचे गिरा देता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि स्पेन्सर ने स्वयं ये सब परिणाम निकाले हैं।

निर्भर नहीं है जितना एक कोष्ठ शरीर पर होता है। आत्म-चेतना तथा दूरदर्शिता से युक्त होने के कारण व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माण भी एक बड़ी सीमा तक कर सकता है। समाज में उसका स्थान उसके लिए पूर्णतः निर्धारित नहीं है जैसे कि शरीर के कोष्ठों का है। व्यक्तियों और राज्यों के सम्बन्ध तथा कोष्ठों और शरीर के सम्बन्ध में यह भेद मौलिक है। केवल इसी कारण यह परिणाम ग़लत सिद्ध हो जाता है कि राज्य एक शरीर है।

स्वयं स्पेन्सर ने जिस भेद की ओर निर्देश किया है, वह भी इतना ही मौलिक है अर्थात् सामाजिक संगठन की विश्लिष्ट (Discrete) प्रकृति और शरीर की संश्लिष्ट (Concrete) प्रकृति। शरीर के कोष्ठ एक अविच्छिन्न पिंड हैं। वे परस्पर एक दूसरे से घने जुड़े हुए होते हैं। राज्य के व्यक्ति एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। राज्य में कोई मस्तिष्क नहीं होता और न कोई केन्द्रीय चेतना जो उनको शारीरिक एकता में बाँध दे। इसका परिणाम यह है कि व्यक्ति जानबूझ कर अपने आपको राज्य के विरोध में खड़ा कर सकता है और ऐसे कार्य कर सकता है जो समष्टि के उद्देश्यों के विपरीत हों। इससे राज्य शरीर नहीं रह जाता। राज्य के विरुद्ध विरोध की सभावना के साथ ऐसी भी संभावना है कि सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति हार्दिक सहयोग दें और इस प्रकार हम राज्य को अतिप्राणी (Super-Organism) कह सकते हैं। कुछ भी हो, यह भेद मौलिक है और इस सिद्धान्त के साथ इसका सामञ्जस्य नहीं हो सकता कि राज्य एक शरीर है।

यद्यपि राज्य और प्राणि-शरीर की रचना में प्रगतिशील जटिलता है, परन्तु उत्पत्ति तथा विकास के जो नियम प्राणि-शरीर के संबध में लागू होते हैं वे राज्य के संबंध मे नहीं किये जा सकते। प्राणि-शरीर की रचना दो प्राणि-शरीरों के संयोग से होती है, किन्तु राज्य के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका जन्म दो राज्यों या समाजों के संयोग का फल है। जब यह कहा जाता है कि समाज का आरम्भ एक कीटाणु की तरह होता है, तो इसका क्या अर्थ है यह समझना भी कठिन है। दूसरे, शरीर का विकास भीतर से होता है। प्राणी जो कुछ खाता-पीता है, उससे पोषण पाकर शरीर की वृद्धि होती है और वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बना कर भी अपना विकास करता है। उसकी वृद्धि बाहर से किसी वस्तु को अपने में जोड़ कर नहीं होती। इस

के अतिरिक्त व्यक्ति की इच्छा या उद्देश्य से उसकी वृद्धि में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। राज्य की वृद्धि इस प्रकार से नहीं होती। वृद्धि की अपेक्षा उसमें परिवर्तन होता है और व्यक्तियों की चेतन इच्छा तथा प्रयत्नों का उसके विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्राणि-शरीर की वृद्धि में इस प्रकार की इच्छा तथा उद्देश्य का प्रभाव नहीं देख पड़ता। तीसरे, प्राणि-शरीर मरण शील है। वह वृद्ध होता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। राज्य को न वृद्धावस्था सताती है और न प्राकृतिक मृत्यु ही। राज्य का अन्त वृद्धावस्था या मानसिक दौर्बल्य के कारण नहीं होता। वह अपने जीवन को स्थायी बना सकता है। उसका अन्त तो साधारण तथा बाहरी कारणों से होता है। जेलिनेक ने यह सत्य कहा है कि 'वृद्धि, पतन और मृत्यु राज्य-जीवन की आवश्यक प्रक्रिया नहीं है; परन्तु प्राणि-शरीर के जीवन से उन्हें प्रथक नहीं किया जा सकता। प्राणी या वृक्ष की भाँति राज्य का जन्म या प्रत्युद्धार नहीं होता।'

इस प्रकार राज्य तथा प्राणि-शरीर में समानता निर्णायक बातों में भंग हो जाती है। राज्य प्राणि-शरीर के समान नहीं है और न हो ही सकता है। अतः प्राणि-विज्ञान के नियमों के प्रकाश में राज्य की व्याख्या करने का प्रयत्न व्यर्थ है।

तो क्या इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाय? यह जिस ख़तरनाक परिणामों की ओर हमें अग्रसर करता है—अर्थात् राज्य के समक्ष नागरिकों की पूर्ण आधीनता—उसके कारण जेलिनेक ने यही उचित समझा कि इसका परित्याग कर दिया जाय। किन्तु इसे बिलकुल अस्वीकार करना ग़लत होगा।

प्राणि-शरीर की कल्पना को राज्य के सम्बन्ध में लागू करना उपयोगी और आवश्यक दोनों ही है। यह आवश्यक है क्योंकि केवल इससे ही हमें उस प्रकार की एकता का सच्चा ज्ञान होता है जो राज्य में होती है। इस निकटतम एकता का उदाहरण प्राणि-शरीर में ही मिलता है। इससे व्यक्ति व्यक्ति का तथा व्यक्ति और राज्य का सच्चा सम्बन्ध प्रकट होता है जैसा अन्य सिद्धान्तों से प्रकट नहीं होता। व्यक्ति एक दूसरे के होते हैं और एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। यह कल्पना इसलिए उपयोगी है कि यह हमें समझौते के सिद्धान्त के खण्डन के लिए सर्वोत्तम अस्त्र प्रदान करती है। यह कल्पना इस बात को स्पष्ट कर देती है कि राज्य एक व्यापारिक साझेदारी नहीं माना जा सकता, जिसके सदस्य

स्वार्थ के ऐच्छिक बंधन में बंधे होते हैं या राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह-मात्र नहीं है जिसमें वे बिना किसी एकता के बन्धन के एकत्रित हों। राज्य परस्पर आश्रित अगों की एक समष्टि है। जो बन्धन व्यक्तियों को परस्पर बाँधता है वह बहुत ही आवश्यक है। यह बन्धन मानवी इच्छा द्वारा निर्मित नहीं है वरन् मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रकृति से उत्पन्न होता है।

स्पेंसर, ब्लुंट्श्ली आदि लेखकों की भूल यह है कि वे प्राणि-शरीर की कल्पना को राज्य के सम्बन्ध में लागू करते समय बहुत दूर पहुँच गये। वे यह अनुभव करने में असफल रहे कि यह कल्पना राज्य पर पूरी तरह से लागू नहीं होती। यह कल्पना राज्य के नैतिक पक्ष को भूल जाती है। वे इस बात पर भी ध्यान नहीं देते कि राज्य की इकाइयाँ स्वयं चेतनशील हैं; उनकी इच्छा है और वे कार्य करने में भी स्वतन्त्र हैं। वे राज्य में परिवार, धार्मिक समुदाय, राजनीतिक दल जैसी अन्य छोटी संस्थाओं के भी सदस्य होते हैं। इन आपत्तियों पर विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रकृति में शरीर के समान होते हुए भी राज्य शरीर नहीं कहा जा सकता। राज्य एक शरीर जैसा है; परन्तु वह शरीर नहीं है।

समझौते का सिद्धान्त—

राज्य की उत्पत्ति के प्रकरण में हमने इस सिद्धान्त पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। यहाँ राज्य की प्रकृति की व्याख्या करने वाली उसकी मुख्य विशेषताओं पर हम सूक्ष्म रूप मे प्रकाश डालेंगे और बाद में उनकी आलोचना करेंगे।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जिन्होंने कुछ अधिकारों, जैसे जीवन तथा सम्पत्ति के अधिकारों, के समुचित उप-भोग के लिए, जो प्राकृतिक अवस्था में सम्भव नहीं था, अपना राज-नीतिक रूप में संगठन बना लिया। राज्य का निर्माण नागरिकों की इच्छानुसार हुआ और उनकी इच्छा से ही वह संचालित और नियंत्रित भी है। यह सिद्धान्त इस प्रकार राज्य के समझौते सम्बन्धी तथा कृत्रिम पक्ष पर अधिक ज़ोर देता है और उसके प्राकृतिक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करता है। यह राज्य को एक प्रकार की व्यापारी संस्था बना देता है, जिसमें भागीदार निज स्वार्थ से प्रेरित हो कर शामिल रहते हैं।

यह सिद्धान्त यह मानता है कि राज्य की एकता मानवकृत है, मानव प्रकृति तथा उसकी आवश्यकताओं का परिणाम नहीं है। यह राज्य की विशुद्ध यांत्रिक कल्पना को प्रोत्साहन देता है, जिसके अनुसार वह एक कृत्रिम यन्त्र है जो उसके निर्माता की इच्छानुसार बनाया-बिगाड़ा जा सकता है।

यह सिद्धान्त यह मानता है कि शासन की सत्ता, अन्त में, शासित की अनुमति पर स्थिर है। राज्य नागरिकों की रक्षा करता है तथा उसकी अन्य सेवाएँ करता है। इसके बदले में नागरिक राज्य के आदेशों का पालन करते हैं। यदि राज्य अपने समझौते का पालन नहीं करता, तो प्रजा भी अपने कर्तव्यों का पालन करने के दायित्व से मुक्त हो जाती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह मत हॉब्स का नहीं है।

राज्य की प्रकृति तथा राजनीतिक कर्तव्य के सम्बन्ध में यह विचार स्वीकृत नहीं हो सकता; राज्य को एक व्यापारिक संस्था का रूप नहीं दिया जा सकता। उसके अस्तित्व का आधार सेवाओं का आदान-प्रदान नहीं है। जो बन्धन नागरिकों को एकता में बांधे रखता है वह स्वार्थ नहीं है। राज्य की एकता अत्यन्त गहरी है, जहाँ तक समझौते के सिद्धान्त की पहुँच नहीं है और राज्य तथा नागरिकों के सम्बन्ध इतने नैतिक तथा आध्यात्मिक हैं, जिनकी यह सिद्धान्त कल्पना नहीं कर सकता। अतः समझौते का सिद्धान्त राज्य की प्रकृति की व्याख्या करने में सर्वथा अपर्याप्त है।

राज्य का आदर्शात्मक सिद्धान्त

सिद्धान्त की प्रकृति—

आदर्शात्मक सिद्धान्त के अनेकों नाम हैं। इसे कभी-कभी दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इंगलैण्ड की आदर्शात्मक परम्परा के एक श्रेष्ठ विचारक बोसानक्वे ने इस सिद्धान्त का विवेचन करने वाले अपने ग्रन्थ का नाम "राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त" (Philosophical Theory of State) रखा है। हॉबहाउस ने इस सिद्धान्त की आलोचना में इसका नाम 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Metaphysical Theory) रख कर की है। ये नाम अनुपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि आदर्शवादी राजनीतिक समस्याओं का विवेचन दार्शनिक दृष्टिकोण से

करते हैं। कुछ लेखक इसे निरकुश-सिद्धान्त (Absolutist Theory) कहते हैं। कुछ तीव्र आलोचकों ने इसे 'राज्य का रहस्यवादी सिद्धान्त' कहा है। हेगल तथा उसके कुछ जर्मन शिष्यों की रचनाओं में इस सिद्धान्त ने जो रूप ग्रहण किया है, उसके कारण ये नाम उचित भी मालूम पड़ते हैं। ये लेखक व्यक्ति को राज्य के आधीन मान कर राज्य को सर्वथा स्वेच्छाचारी (निरकुश) बना देते हैं। परन्तु यह बात अन्य राजनीतिक आदर्शवादियों के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। निरकुशता, (Absolutism) का विशेषण उनके सिद्धान्तों के साथ नहीं लगाया जा सकता। शायद इस सिद्धात का सर्वोत्तम नाम राज्य का 'आदर्शवादी-नैतिक सिद्धान्त' होगा। यह सिद्धान्त आदर्शात्मक है क्योंकि यह राज्य की परिभाषा एवं व्याख्या उसकी आदर्श प्रकृति एव ध्येय के अनुसार करता है अर्थात् इस दृष्टि से कि राज्य को कैसा होना चाहिए और राज्य क्या बनना चाहते हैं, चाहे वे अपने लक्ष्य से अभी दूर ही हों। आदर्शवादी राज्य की प्रकृति और उसकी संस्थाओं के सम्बन्ध में अपने परिणामों को पूर्णतया या मुख्यतया मनुष्यों के वास्तविक आचरण तथा उन संस्थाओं के संचालन के निरीक्षण पर आधारित नहीं करता। वह मनुष्यों की दुर्बलताओं एवं दोषों तथा उनके पूर्ण आचरण में भेद मानता है और अपने सिद्धान्त का आधार आध्यात्मिक और बुद्धिपरक और इस कारण उसकी प्रकृति के अधिक स्थायी और व्यापक तत्वों पर रखता है। यह सिद्धान्त नैतिक है, क्योंकि यह मानव की नैतिक प्रकृति के साथ आरम्भ होता है और यह राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है, जिसका लक्ष्य अपने नागरिकों के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है। राज्य के अनेक पक्ष हैं —समाज-वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, क़ानूनी, मनोवैज्ञानिक, जीव-वैज्ञानिक तथा नैतिक। आदर्शवाद के अनुसार उसका नैतिक पक्ष अन्य सभी पक्षों से सबल हैं। राज्य आवश्यक रूप से श्रेष्ठतम जीवन का साधन है, वह क़ानूनी कार्यवाही का साधन या उत्तम उत्पादन एव वितरण का साधन केवल गौणरूप से है। इस प्रकार राजनीतिक दर्शन एक नैतिक अध्ययन है जो राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है और उसके नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के उपाय ढूँढ़ता है। राजनीति पर नैतिक दृष्टि से विचार करना प्लेटो तथा अरस्तू की विशेषता थी। राजनीतिक आदर्शवाद की अनेक धारणाएं इन दोनों विचारकों से मिली हैं। प्लेटो की 'रिपबलिक' और अरस्तू की 'पालेटिक्स' का एक बड़े

लम्बे समय से ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम में अपना स्थान रहा है। यह विश्वविद्यालय ही इङ्गलैंड के १६ वीं शताब्दी के राजनीतिक विचार में आदर्शवादी प्रवृत्तियों के पुनरुद्धार के लिए उत्तरदायी है। ग्रीन, ब्रेडले और बोसानक्वे ब्रिटिश आदर्शवाद के प्रमुख व्याख्याता हैं।

राज्य की इस आदर्शवादी कल्पना का कई लेखकों ने, जिनमें प्लेटो, अरस्तू, रूसो, काण्ट, हेगेल, ग्रीन, ब्रेडले तथा बोसानक्वे मुख्य हैं, कई विभिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। इस कारण इसका ऐसे ढङ्ग से विवेचन करना, जिसमे सभी दृष्टिकोणों का सही समावेश हो सके, सरल नहीं है। सबसे अच्छी बात तो यह है कि इसके दो मुख्य रूपों उग्र(Extreme) और मर्यादित (Moderate) में भेद किया जाय और दोनों का अलग-अलग विवेचन किया जाय।

उग्र और मर्यादित आदर्शवाद—अंग्रेज़ी आदर्शवादियों, विशेषकर ग्रीन तथा ब्रेडले, की रचनाओं में राजनीतिक आदर्शवाद का जो रूप है वह साधारणतया मर्यादित कहा जाता है और हेगेल तथा उसके जर्मन अनुयायियों ने जो रूप उसे दिया है वह उग्र कहलाता है। इन दोनों का मुख्य भेद राज्य की तरफ उनके भाव तथा राज्य के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध की कल्पना में है। उग्र आदर्शवाद राज्य को आदर्श का रूप देता है और उसका ऐसा व्यक्तित्व मानता है जो व्यक्तियों के व्यक्तित्वों का केवल अपने में समावेश ही नहीं करता वरन् उनका अतिक्रमण करता है। वह राज्य को एक साध्य मानता है और व्यक्तियों को उसकी पूर्ण आधीनता में रखता है। उसके अनुसार राज्य के अपनी रक्षा तथा विस्तार के अपने ही प्रयोजन हैं जो व्यक्तियों के प्रयोजन से भिन्न और श्रेष्ठ है। मर्यादित आदर्शवाद व्यक्ति के अधिकारों को नहीं भूलता और राज्य के कार्यों पर कुछ मर्यादाऐं आरोपित करता है; उग्र आदर्शवाद के समान वह राज्य को निरपेक्ष नहीं बनाता। राज्य का आदर्शीकरण हेगेल के इस सिद्धान्त में अच्छी तरह प्रकट होता है कि इतिहास की प्रक्रिया में व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय नहीं, वरन् राष्ट्र महत्त्वपूर्ण इकाई हैं। राष्ट्र की बुद्धि अथवा आत्मा व्यक्तियों के द्वारा कर्म करती है परन्तु अधिकांश में उनकी सचेतन इच्छा और प्रयोजन से स्वतन्त्र रह कर उसका कार्य होता है। राज्य ही कला, कानून, सदाचार और धर्म का वास्तविक स्रष्टा है, व्यक्ति नहीं। राज्य, जिससे राष्ट्र की प्रवृत्ति आत्मचेतना को प्राप्त होती है. राष्ट्रीय विकास का निर्देशन

करता है और वही उस विकास का चरम लक्ष्य है। इसके विपरीत ग्रीन इस प्रमेय को लेकर चलता है कि मनुष्य का उद्देश्य आत्म-प्राप्ति है और इस विश्वास से कि वह समाज में तथा समाज के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है वह व्यक्ति और समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। हम हेगेल और ग्रीन के विचारों का विवेचन नहीं करेंगे। केवल आदर्शवाद के इन दोनों रूपों की मुख्य बातें ही बतायेंगे।

मर्यादित आदर्शवाद—

१—यह सिद्धान्त यह मानता है कि राज्य एक प्राकृतिक और आवश्यक संस्था है। यह प्राकृतिक है, क्योंकि यह मानव जाति कि प्राकृतिक, सामाजिक प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है। उसकी आवश्यकता इस कारण पड़ती है कि व्यक्ति अकेला ही स्वाश्रयी नहीं है, उसकी अनेक आवश्यकताएं हैं जो पारस्परिक सहयोग से ही पूरी हो सकती हैं। प्लेटो तथा अरस्तू का यही मुख्य विचार है जिन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक प्राणी है। जिस प्रकार गाय की स्वाभाविक प्रकृति दूध देने तथा चिड़ियों की स्वाभाविक प्रकृति उड़ने की है, उसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति अपना राजनीतिक ढग से सङ्गठन करने की है। उन्होंने यह भी माना कि राज्य का जन्म केवल जीवन के लिए हुआ परन्तु वह श्रेष्ठ जीवन के लिये क़ायम है। वही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य की बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक अवस्थाएें प्रस्तुत करता है। राज्य की सदस्यता के द्वारा ही मानव अपनी चरम उन्नति को प्राप्त कर सकता है। राज्य के बिना वह एक मूढ़ और मर्यादित पशु बना रहेगा। "व्यक्ति का अपने सहयोगियों से पृथक् जीवन प्रकृति के विरूद्ध है और मानव की वास्तविक प्रकृति का विकास समाज में ही सम्भव है।"* राज्य आवश्यक है क्योंकि मनुष्य उसमें और उसके ही द्वारा आत्म-प्राप्ति कर सकता है। ग्रीन ने राज्य की प्राकृतिकता तथा आवश्यकता को इस प्रकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। 'मानव चेतना स्वतन्त्रता की माँग करती है, स्वतन्त्रता में अधिकार समाविष्ट है और अधिकारों

* Joad : Modern Political Theory p. 11.

की प्राप्ति के लिये राज्य की आवश्यकता है।' अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का तथा उसके लिए आवश्यक अवस्थाऐं प्राप्त करने का व्यक्ति को मौलिक अधिकार हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह जीवन की उन सब अवस्थाओं को प्रस्तुत करे जो समान्यतया अधिकार कहलाती हैं।

२—आदर्शवाद राज्य को मौलिक रूप से नैतिक सस्था मानता है। वह उसके नैतिक उद्देश्य को सबसे महत्त्वपूर्ण समझता है। यह उद्देश्य नागरिकों के श्रेष्ठ जीवन के लिए, जो नैतिक होता है, आवश्यक अवस्थाओं को प्रस्तुत करना है। राज्य के इस पक्ष का पूर्ण प्रतिपादन हमें प्लेटो की रिपब्लिक तथा अरस्तू की पॉलिटिक्स में मिलता है। आधुनिक काल मे बोसान्क्वे ने भी इस पक्ष पर ज़ोर दिया है। उसका मत है कि व्यक्ति का सच्चा लक्ष्य सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, जो केवल प्रकृति के नियन्त्रण के स्थान पर बौद्धिक आत्म-नियन्त्रण को स्थापित करने में है। यह बात राज्य में ही सम्भव है।

३—आदर्शात्मक सिद्धान्त राज्य की सावयव प्रकृति (Organic Nature of State) का समर्थन करता है। यह मानता है कि 'व्यक्ति के जीवन तथा समाज के जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। समाज ही व्यक्ति को महत्त्व और मूल्य प्रदान करता है।" यह समाज या राज्य को उन समस्त अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का स्रोत मानता है जो व्यक्ति को प्राप्त हैं। इस प्रकार यह व्यक्ति को समाज पर निर्भर मानता है। "केन्द्रीय व्यक्ति से आरम्भ करने के स्थान में (जिसके साथ सामाजिक व्यवस्था का समन्वय स्थापित किया गया है) आदर्शवादी केन्द्रीय सामाजिक प्रणाली से आरम्भ करता है, जिसमें व्यक्ति को अपने कर्तव्यों की निर्धारित परिधि ढूँढ़ना पड़ती है।"* इस विचार से यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के विरुद्ध है, जो अधिकारों का स्रोत व्यक्ति में मानते हैं और राज्य को मनुष्य की उसके मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए कृत्रिम रचना मानते हैं। प्राकृतिकता, आवश्यकता और राज्य की नैतिक एवं सावयव प्रकृति मानव की सामाजिक एवं नैतिक प्रकृति के कारण हैं, जिनके साथ आदर्शवाद का आरम्भ होता है।

* Barker : Political Thought in England p. 11.

४—इस प्रकार विचार करने पर राज्य व्यक्ति का सबसे श्रेष्ठ मित्र और सहायक सिद्ध होता है। व्यक्ति के ध्येय तथा राज्य के सच्चे ध्येय मे कोई विरोध नहीं हो सकता। दोनों का एक ही लक्ष्य है—मानव प्रकृति का पूर्ण विकास। राज्य के विरुद्ध व्यक्तियों के अधिकार और व्यक्तियों के विरुद्ध राज्य के अधिकारों की कल्पना ही ग़लत है। हमें 'मनुष्य बनाम राज्य' की बाते करना छोड़ देना चाहिए। राज्य और व्यक्ति एक दूसरे से अपरिचित नहीं हैं। अपनी सच्ची प्रकृति में वे एकरूप हैं। व्यक्ति राज्य में और राज्य के द्वारा ही अपनी प्राप्ति कर सकते हैं।

५—आदर्शवादी यह मानता है कि राज्य बल पर नहीं, इच्छा पर आधारित है। जो बन्धन जनता को एकता में बांधता है, वह न तो प्रभु-सत्ता की दमनकारी शक्ति का भय है और न नागरिकों का निजी स्वार्थ ही है, वह तो यह चेतना है कि राज्य सामान्य हित को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है जिसका व्यक्ति का हित एक भाग है। सामान्य ध्येय की सामान्य चेतना ही सामान्य इच्छा (General Will) है। सामान्य इच्छा केवल समाज की ही रचना नहीं करती, वह व्यक्ति के विचार के लिए आवश्यक अधिकारों तथा इन अधिकारों की रक्षा के लिये सत्ता का भी निर्माण करती है। जिस प्रभु-सत्ता के आदेशों का पालन नागरिक अभ्यस्त रूप से करते हैं, वह इस सामान्य इच्छा का साकार रूप है। सामान्य इच्छा विविध नागरिकों की बुद्धियुक्त इच्छाओं के संगठित समुच्चय का नाम है। इस प्रकार इसमें सब का समावेश हो जाता है। राज्य की आज्ञा का पालन करने में हम सामान्य इच्छा की आज्ञा का पालन करते हैं और इस प्रकार हम स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त राजनीतिक दायित्व की समस्या का समाधान करता है। यदि राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह हमारी शक्तियों के विकास के लिये अनुकूल अवस्थाएँ पैदा करे, यदि राज्य का होकर रहना हमारी प्रकृति में है, यदि राज्य की सदस्यता के बिना हमारा नैतिक तथा बौद्धिक जीवन ही कुण्ठित हो जाता है, यदि सामान्य इच्छा की प्रतिमा के रूप में राज्य में वह सब शामिल है जो हमारे व्यक्तित्व में श्रेष्ठ है और यदि वह उस हित की अभिवृद्धि

करता है जिसका हमारा हित एक अंग है तो यह स्पष्ट है कि उसके प्रति भक्ति रखना, उसके आदेशों का पालन करना हमारा विवेकपूर्ण कर्तव्य हो जाता है। राज्य के प्रति भक्ति-भाव एक प्रकार से अपनी अधिक सच्ची, उच्चतर और बौद्धिक आत्मा के प्रति भक्तिभाव है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति राज्य के प्रति अपनी भक्ति को रोक नहीं सकता, उसके कार्यों की आलोचना नहीं कर सकता या उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकता। यदि राज्य के कार्य आदर्श के प्रतिकूल हों, यदि वे ऐसी अवस्थाऐं पैदा करते हों, जिनमें उसके सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती तो व्यक्ति उनकी आलोचना कर सकता है। जब राज्य अपने आदर्श का परित्याग कर देता है और सामान्य हित की सिद्धि न कर वर्गगत या साम्प्रदायिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए प्रयन्न करता है या वह सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता तो व्यक्ति राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर सकता है। किन्तु राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने से पूर्व व्यक्ति को वैधानिक साधनों द्वारा अन्याय के निवारण के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

उग्र आदर्शवाद—

राज्य की आलोचना करने और उसके विरुद्ध विद्रोह करने के अधिकार को सभी आदर्शवादियों ने स्वीकार नहीं किया है। हम ऊपर उग्र और मर्यादित आदर्शवाद के भेद बतला आये हैं। उग्र आदर्शवाद व्यक्ति को राज्य की आलोचना करने तथा उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं देता। काण्ट का विचार है कि राज्य-सत्ता की आज्ञा का पालन हर समय, चाहे उसकी सत्ता अवैध हो और उसके कार्य अन्याय-पूर्ण भी हों, पवित्र कर्त्तव्य है। काण्ट राज्य-क्रान्ति से भयभीत था। वह राज्य को सर्व-शक्ति-सम्पन्न, दैवी और अभ्रान्त मानता था। राज्य को सर्व-शक्तिमान, सर्व-शक्ति-सम्पन्न, सर्वगुण-सम्पन्न, दैवी और अभ्रान्त मानने में उसने उग्र रूप में आदर्शवाद की स्थापना की, जो व्यक्ति को राज्य के अधीन मानता है, जो राज्य को स्वयं साध्य मानता है और जो राज्य को ऐसे सर्वोच्च आसन पर स्थापित कर देता है कि उसके विरुद्ध विद्रोह अथवा उसके कार्यों की आलोचना अनैतिक एवं दुष्टतापूर्ण हो जाती है। व्यक्ति को राज्य के प्रति जो भाव रखना चाहिए वह राज्य

को पूज्य मानने तथा सदैव उसकी आज्ञा-पालन करने का होना चाहिये, क्योंकि उसकी इच्छा पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है, क्योंकि राज्य 'विश्व में ईश्वर का प्रयाण' है। इस प्रकार के सिद्धान्त को 'निरंकुश-तात्मक' ठीक ही कहा गया है। निरंकुशात्मक सिद्धान्त राज्य की इच्छा मानता है और उसका व्यक्तित्व मानता है, जो उसके सदस्यों के व्यक्तित्वों तथा इच्छाओं के समुच्चय से भिन्न हैं और उनका अतिक्रमण करते हैं। इस प्रकार राज्य का मानवेतर-व्यक्तित्व हो जाता है जिसका अस्तित्व व्यक्तियों के अस्तित्व से भिन्न होता है। राज्य के वास्तविक व्यक्तित्व के कारण उसे स्वयं ही लक्ष्य और ऐसे अधिकारों से युक्त मानना चाहिये जो व्यक्तियों के अधिकारों को, यदि उनका उनसे संघर्ष हो, कुचल सकते हैं। वैसे तो राज्य के अधिकारों तथा व्यक्तियों के अधिकारों में कोई विरोध नहीं हो सकता। व्यक्ति को उन अधिकारों के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं है, जिन्हें राज्य उसे प्रदान करता है और उनका राज्य के अधिकारों से कोई विरोध नहीं हो सकता।

राज्य की इच्छा सामान्य इच्छा है। यह प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जहाँ तक वह दूसरे की इच्छाओं से सामंजस्य रखती है और जहाँ तक वह सबों के कल्याण की इच्छा करती है। सामान्य इच्छा विवेकपूर्ण एवं अभ्रान्त है। सामान्य इच्छा के इन गुणों से राज्य की प्रकृति एवं कार्यों के सम्बन्ध में तीन परिणाम निकलते हैं:—

(१) राज्य कभी अप्रातिनिधिक रूप में कार्य नहीं कर सकता। राज्य जो कुछ भी करता है, वह सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति की असली इच्छा के अनुकूल है। यहाँ तक कि जब चोर कारागार की ओर ले जाया जाता है तो राज्य का यह कार्य उसकी असली इच्छा के अनुसार ही होता है। वह जेल जाने से अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। स्वतन्त्रता राज्य के नियमों का पालन करने में है। स्वतन्त्रता और कानून एकरूप हैं। इस प्रकार हेगेल के सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण तत्व पर प्रकाश पड़ता है। हेगेल के अनुसार "मानव-हृदय में स्वतन्त्रता की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना है उसी का साकार रूप राज्य है।" राज्य के बिना स्वतन्त्रता की भावना कभी सिद्ध नहीं होगी। हेगेल का तर्क इस प्रकार है:—स्वतन्त्रता बुद्धि के आदेश का पालन करने में है। परन्तु एक व्यक्ति की बुद्धि सदा विश्वसनीय नहीं होती। कभी-कभी

वह तात्कालिक और अस्थायी कारणों से प्रभावित हो जाती है और किसी विशिष्ट हित की ओर झुकी रहती है। राज्य के क़ानूनों द्वारा जो बुद्धि व्यक्त होती है उसमें ये दोष नहीं होते। वह सार्वभौम होती है, विशिष्ट नहीं। इस कारण सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानून का पालन करने में ही है। राज्य के सदस्य के रूप में व्यक्ति स्वतन्त्रता का भोग कल्पित प्राकृतिक अवस्था की अपेक्षा अधिक वास्तविक रूप में करता है।

(२) जो संबन्ध व्यक्ति को अपने साथी नागरिकों तथा राज्य के साथ बाँधते हैं, वे उसकी आत्मा के अभिन्न अंग हैं। उनके बिना वह जो कुछ है नहीं रह सकेगा। इस प्रकार यह उसके लिए असम्भव है कि वह ऐसे हित की इच्छा करे जो सामान्य हित के विरुद्ध हो या वह राज्य-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करे।

(३) राज्य में समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता का समावेश होता है। राज्य सामाजिक सदाचार का संरक्षक है। इसका यह आशय नहीं है कि वह नागरिकों के साथ व्यवहार में नैतिक नियमों द्वारा बधा हुआ है। इससे उसकी सर्व-शक्ति-सम्पन्नता में कमी आजाएगी। राज्य व्यक्तिगत सदाचार के नियमों से ऊपर है। श्रेष्ठ या निकृष्ट-इन नैतिक शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थ मे राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता। राज्य अपने ही सदाचार के आदर्श का पालन करता है।

गार्नर ने हेगल के सिद्धान्त का सक्षेप में इस प्रकार विवेचन किया है। "हेगल की दृष्टि में राज्य 'ईश्वरीय राज्य' है, जो कोई ग़लती नहीं कर सकता, जो सर्वशक्तिशाली है, जो अभ्रान्त है और जो नागरिकों के अपने हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग तथा बलिदान के लिए वह अपने नागरिकों को आदेश देता है, उसके कारण वह व्यक्ति का उत्थान कर देता है और उसे श्रेष्ठत्व प्रदान कर देता है। व्यक्ति की प्रवृत्ति स्वार्थमयी है, परन्तु इस प्रकार वह 'उसे सार्वभौमिक पदार्थ के जीवन में वापस खींच ले जाता है'।"

जिस प्रकार आदर्शात्मक सिद्धान्त के मर्यादित रूप का स्रोत मानव की सामाजिक प्रकृति में मिलता है, जो राज्य को एक प्राकृतिक और आवश्यक संस्था बना देती है, उसी प्रकार आदर्शात्मक सिद्धान्त के इस उग्र-रूप का स्रोत प्लेटो तथा अरस्तू के इस मत में है कि राज्य स्वाश्रयी

संस्था है। यदि राज्य स्वयं स्वाश्रयी है तो वह अपने नागरिकों के लिए समस्त मानव समाज के बराबर हो जाता है। इस मत का प्राकृतिक परिणाम व्यक्ति के नागरिक के रूप में राज्य से सम्बन्ध तथा व्यक्ति के रूप में समस्त मानव समाज से सम्बन्ध, इन दोनों विभिन्न सम्बन्धों को बराबर एक रूप कर देना है। व्यक्ति की समस्त आकांक्षाओं तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य पर्याप्त माना जाता है। राज्य की सहायता के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है जिसकी व्यक्ति आकांक्षा कर सकता है। इस स्थिति से निरंकुशता के सिद्धान्त को पहुँच जाना सरल है। चूंकि राज्य व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देता है, इसलिये वह निरपेक्ष सत्ता के साथ नागरिकों की पूर्ण भक्ति की माँग कर सकता है। राज्य सैद्धान्तिक रूप से नागरिक पर सदैव अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग कर सकता है।

सिद्धान्त की समालोचना—

अनेक दृष्टिकोणों से आधुनिक काल में इस सिद्धान्त की विशेषकर इसके उग्र रूप की बड़ी तीव्र आलोचना की गयी है। कुछ लोग इसे ग़लत तथा खतरनाक कह कर इसकी निन्दा करते हैं। दूसरे इसे भावात्मक तथा एक-पक्षीय कहते हैं। कुछ विद्वान कहते हैं कि यह जीवन के अनेक तथ्यों की उपेक्षा करता है, जोड का विचार है कि यह सिद्धान्त, सिद्धान्त की दृष्टि से सही नहीं है; तथ्यों के अनुकूल नहीं है और इसमें वर्तमान राज्यों के विदेशीय नीति के क्षेत्र मे अविवेकपूर्ण कार्यों का समर्थन करने की प्रवृत्ति है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो आक्षेप किये जाते हैं, वे निम्न प्रकार है :—

(१) राज्य का व्यक्तित्व—

यह सिद्धान्त राज्य को एक वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करता है, जिसमें उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व का समावेश होता है जो उसके सदस्य हैं। यह व्यक्तित्व उस क़ानूनी या काल्पनिक व्यक्तित्व से भिन्न है, जिसका प्रतिपादन क़ानूनी सिद्धान्त करता है। यह सजीव व्यक्तित्व है। हेगल के अनुसार राज्य सजीव व्यक्ति है। उसकी एकता आत्मचेतना की एकता है। राज्य के वास्तविक व्यक्तित्व के सिद्धान्त को ग्युग्वी तथा मैक आइवर जैसे लेखकों ने विचित्र तथा असंगत मान कर अस्वीकार कर दिया है। मैक आइवर का मत है कि राज्य की एकता की प्रकृति

उसके सदस्यों की एकता की प्रकृति के समान नहीं हो सकती। व्यक्तियों का एक समूह एक व्यक्ति उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार कि एक अश्व-समूह एक अश्व नहीं हो सकता या विद्यार्थियों का एक समूह विद्यार्थी नहीं हो सकता। मैक आइवर का यह मत तर्कपूर्ण प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार एक सीमित में एक मन का दूसरे मन से सम्पर्क होने पर एक सामान्य मन या इच्छा का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार समाज में सामान्य इच्छा या चेतना हो सकती है, जिसे हम राष्ट्रीय इच्छा या चेतना कहते हैं जो विविध व्यक्तियों की इच्छाओं से भिन्न होती है। किन्तु यदि हम इस दावे को स्वीकार भी कर लें और राज्य के व्यक्तित्व में विश्वास भी करें, तो भी हम उन सब बातों को स्वीकार नहीं कर सकते जो उग्र आदर्शवादी कहते हैं। राज्य को कोई अति-मानव नहीं माना जा सकता जिसमें अपने सदस्यों का समावेश हो। जो राज्य के इस अति-व्यक्तित्व में विश्वास करते हैं, वे यह नहीं बतलाते कि यह किस प्रकार अपने नागरिकों के व्यक्तित्व का अपने में समावेश कर सकता है। यह समझना सरल नहीं है कि एक व्यक्तित्व में किस प्रकार दूसरे व्यक्तित्व का समावेश हो जाता है।

राज्य को एक सजीव व्यक्तित्व मान लेने से जो परिणाम निकलते हैं वे अत्यन्त खतरनाक हैं। उसका राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता तथा निरंकुशता का प्रचार करने में प्रयोग किया जाता है। इससे व्यक्ति राज्य की पूर्ण आधीनता में आ जाता है और अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। वह व्यक्ति को क्रान्ति का अधिकार नहीं देता, यहाँ तक कि वह राज्य के किसी कार्य के औचित्य में संदेह करने का अधिकार भी नहीं देता। राज्य की दैवी प्रकृति और उसकी अभ्रान्तता के कारण व्यक्ति राज्य के अनुचित कार्यों की भी आलोचना करने से वंचित कर दिया जाता है। इन समस्त बातों में इस सिद्धान्त का हम समर्थन नहीं कर सकते। यह उल्लेख करना उचित होगा कि ये विचार समस्त आदर्शवादियों के नहीं हैं। ये हेगल तथा उसके जर्मन अनुयायी बर्नहार्डी और ट्रिटस्के के विचार हैं। यह आलोचना गम्भीर तथा मर्यादित आदर्शवादी ग्रीन आदि के सम्बन्ध में उपयुक्त नहीं है।

(२) राज्य और समाज—

आदर्शात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह

आज के सामाजिक जीवन के समस्त तथ्यों पर विचार नहीं करता। राज्य तथा समाज की एक रूपता, जिसको मानकर यह सिद्धान्त चलता है, सही नहीं है। यदि हम एक बार राज्य और समाज में भेद करें और हम यह अनुभव करें कि सामाजिक जीवन में ऐच्छिक सस्थाओं का क्या महत्त्व है, तो हम राज्य को उस उच्चासन पर आसीन नहीं कर सकते जिस पर हेगल ने उसे बिठला दिया है। राज्य तथा समाज में भेद न करना इस सिद्धान्त का एक बड़ा भारी दोष है। यह आलोचना भी आदर्शात्मक सिद्धान्त के उग्र रूप के सम्बन्ध में ही सत्य है। यह उसके मर्यादित रूप के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकती।

बोसन्क्वे का यह विचार कि राज्य सदाचार के सिद्धान्तों से ऊपर है और अपने सदस्यों तथा दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने में वह इन नियमों का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है सर्वथा ग़लत है। यह समझ में नहीं आता कि एक राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में नैतिक नियमों का पालन क्यों न करें और उसके राज्य के अन्दर के कामों के सम्बन्ध में भी नागरिक की नैतिक स्वीकृति या अस्वीकृति उसके लिये आवश्यक क्यों नहीं है।

(३) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निषेध—

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरा आक्षेप यह भी किया जाता है कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और क़ानून के आदेश के पालन को एक ही चीज़ मान कर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के तत्व एवं महत्त्व को कम कर देता है। यह मानता है कि सच्ची स्वतन्त्रता विवेकपूर्ण कार्य करने की स्वतन्त्रता है, वह विवेकपूर्ण आत्म-संयम है। परन्तु यदि व्यक्ति में ये गुण नहीं हैं तो इस कमी की पूर्ति समाज को करनी पड़ती है, वह अपने क़ानूनों के द्वारा अपने सदस्यों को स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार क़ानून का पालन करना ही स्वतन्त्रता का उपभोग करना हो जाता है। इस प्रकार एक मूर्ख को उस समय भी स्वतन्त्र कहा जा सकता है जब कि उसे उससे अधिक बुद्धिमान समाज ने क़ैद कर रखा है। समाज उसे स्वतन्त्र बनने के लिये उसके साथ बलात्कार कर सकता है। यह बात चाहे कितनी ही सत्य हो कि स्वतन्त्रता राज्य के क़ानूनों द्वारा सब पर समान रूप से प्रतिबन्ध लगाने से ही सम्भव होती है, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि आदर्शवादी सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नैतिक

स्वतन्त्रता को एक समझ कर तथा व्यक्ति के वैयक्तिक विवेक और समाज के अवैयक्तिक विवेक के भेद की उपेक्षा कर के बड़ी भूल करता है। एक व्यक्ति उसी समय स्वतन्त्र कहा जा सकता है जब कि वह उस काम को कर सके जिसे वह उचित समझता है, जब कि वह दूसरों को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता से वंचित न करता हुआ अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। जब उसे उन कार्यों को करने के लिए विवश किया जाता है जिन्हे दूसरे उचित समझते हैं तो वह स्वतन्त्र नहीं रहता। लास्की ने कहा है कि जब व्यक्ति उन क्षेत्रों में, जिन्हे वह महत्त्वपूर्ण समझता है, विफलता का अनुभव करता है तो उसके लिए कोई स्वतन्त्रता नहीं रह जाती। वास्तव में स्वतन्त्रता तभी होती है जब कि शासन के स्वेच्छाचार पर प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति हो। आदर्शवादी क़ानून के पालन और स्वतन्त्रता को एक समझने में इस महत्त्वपूर्ण बात को भूल जाते हैं। किन्तु यह आक्षेप आदर्शात्मक सिद्धान्त की इस प्रतिज्ञा को मिथ्या सिद्ध नहीं करता कि क़ानून स्वतन्त्रता की पूर्व शर्त है। यह केवल यही दिखलाता है कि कुछ क़ानून ऐसे नही होते जैसा उन्हें होना चाहिए। आदर्शवादी यह पूर्णतः स्वीकार कर लेंगे कि ऐसे क़ानूनों का प्रतिपालन स्वतन्त्रता नहीं है।

(४) यह सिद्धान्त भावात्मक है—

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि यह वास्तविकता की उपेक्षा करता है। वह आदर्श के रूप में तथा एक वास्तविक संस्था के रूप में राज्य मे भेद नही करता। राज्य की कल्पना इस सिद्धान्त द्वारा जिस रूप मे की गई है, वह वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से बहुत दूर है। ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना स्वर्ग मे भले ही की जा सके किन्तु भूतल पर उनकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसका यह विचार कि राज्य प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा की स्वतन्त्र अनुमति तथा सहयोग पर आधारित है, वास्तविक राज्यों के सम्बन्ध मे लागू नहीं होता। यह सत्य है, किन्तु अप्रासंगिक है क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि आदर्शवाद के अनुसार किसी संस्था की सच्ची प्रकृति का ज्ञान उससे सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों के पर्यवेक्षण द्वारा नहीं होता, वरन् उस कल्पना के भावात्मक विश्लेषण द्वारा होता है जो उसके मूल में काम करती हैं। किसी सिद्धान्त की परीक्षा उन आदर्शों के अनुसार नहीं करनी चाहिए जिनसे वह अलग रहता है।

आदर्शवादी राजनीतिक समस्याओं को जिस ढग से सुलझाते हैं उसके सम्बन्ध में भी आक्षेप किये जाते हैं। उनके विषय में हम आगे विचार करेंगे।

इन आलोचनाओं के मूल्यों के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें आदर्शात्मक सिद्धान्त के मर्यादित तथा उग्र रूपों के भेद का ध्यान रखना चाहिए। ये आक्षेप हेगल के विचारों के विरुद्ध तो ठीक हैं जिनका आज कोई समर्थन नहीं करता। गार्नर ने लिखा है कि—'आज समस्त राजनैतिक लेखक हेगल के अधिकांश विचारों को अस्वीकार करते हैं, विशेष रूप से राज्य की स्वेच्छाचारिता के सिद्धान्त, उसकी तथाकथित दैवी प्रकृति, सत्ता का ऐसी अवस्था में अज्ञ आज्ञा-पालन जब कि वह अवैध तथा अन्यायपूर्ण हो और यह सिद्धान्त कि राज्य ही लक्ष्य है, एक रहस्यमय अति-व्यक्तित्व है, केवलात्मा का अवतार है जिसके नागरिकों से भिन्न अपने अधिकार एवं हित हैं। ये आलोचनाएँ ग्रीन जैसे आधुनिक आदर्शवादी विचारकों के सम्बन्ध मे लागू नहीं हैं। उन्होंने आदर्शात्मक सिद्धान्त की जो व्याख्या की है उसमें अनेक मूल्यवान् तत्व हैं। राज्य स्वाभाविक तथा आवश्यक है; उसका मुख्य उद्देश्य ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न करना है जिनमे नागरिक अपने नैतिक व्यक्तित्व का विकास कर सकें; राज्य अपनी प्रकृति में सावयव है; वह अन्य समस्त संस्थाओं में सर्वोपरि है; वह समस्त क़ानूनों और अधिकारों का स्त्रोत है, वह अपनी रक्षा के लिये अपने सदस्यों (नागरिकों) से अपने प्रति भक्ति तथा बलिदान का अधिकार रखता है; राज्य इच्छा पर आश्रित है, शक्ति पर नहीं। ये सब बातें सत्य हैं जिन्हें कोई भी राज्य का सही सिद्धान्त उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।

राजनीति में उपयोगितावाद

उपयोगितावाद का अर्थ—

वास्तव में, उपयोगितावाद (Utilitarianism) एक नैतिक सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह है कि मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिए सर्वाधिक सुख या आनन्द प्राप्त करना है। वे कार्य अच्छे होते हैं जो दुःख की अपेक्षा सुख अधिक देते हैं और वे कार्य बुरे होते हैं जो सुख की अपेक्षा दुःख अधिक देते हैं। यह राजनीति

के विद्यार्थियों के लिए इस कारण रोचक है कि १८ वीं सदी में अनेक अंग्रेज़ लेखकों ने उपयोगितावाद के सिद्धान्त का प्रयोग प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त और उसके आधार पर राज्य के कार्यों के सिद्धान्त का विरोध करने के लिये किया और इसके आधार पर क़ानूनी तथा राजनीतिक सुधार की एक योजना पेश की। उपयोगितावादी इस प्रकार क़ानूनी सुधारक थे, उन्होंने यह आग्रह किया कि उन समस्त कानूनों में संशोधन करना चाहिए जो समाज की प्रगति मे बाधा डाल रहे हैं, चाहे उनका आधार लोकाचार (Customary Law) हो या प्राकृतिक अधिकार। उचित और अनुचित, श्रेष्ठ या निकृष्ट (अच्छाई या बुराई) की कसौटी जिसका प्रयोग राज्य करे जनता के सुख की ही दैवी प्रेरणा है, अन्तरात्मा का आदेश या विवेक के कोरे सिद्धान्त नहीं। उपयोगितावादी यह मानते थे कि अन्य कार्य-क्षेत्रों के समान, राजनीति में भी उपयोगिता या मानव कल्याण का हेतु होना ही अच्छाई की कसौटी है। वह शासन सर्वश्रेष्ठ है, जिसका संगठन ऐसा है जो राज्य के अधिक से अधिक नागरिकों के सर्वाधिक सुख या कल्याण का सम्पादन करता है।

इस प्रकार उपयोगितावाद राज्य का सिद्धान्त नहीं है, राज्य के लक्ष्य का सिद्धान्त है। यह लक्ष्य है सर्व साधारण का कल्याण। यह दार्शनिक नहीं वरन् एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रणाली है। यह राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे कुछ मान्यताओं को ले कर ही आगे बढ़ता है। इसका यह विश्वास है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसकी स्थापना मनुष्यों ने अपनी सुरक्षा एवं सुविधा के लिए की है, ऐसी संस्था जिसकी स्थापना मनुष्यों ने ज्ञानपूर्वक स्वेच्छा से की है और जिसमें वे इच्छानुसार आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं। अन्य सामाजिक वस्तुओं के समान उसका आधार भी लोक-कल्याण की वृद्धि के आवश्यक साधन के रूप में उपयोगिता है। यह नागरिकों की रचना है, अतः इसकी कोई स्वतन्त्र प्रकृति नहीं है। यद्यपि कुछ उपयोगितावादी मनुष्य को सामाजिक मानते थे तो भी उपयोगितावादी इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि राज्य सावयव है। इस सिद्धान्त का मूल व्यक्तिवादी मान्यताओं में है।

उपयोगितावादियों की यह धारणा थी कि मानव जीवन की अवस्थाओं में राज्य के क़ानूनों द्वारा सुधार किया जा सकता है। अतः उन्होंने पार्लामेंटरी प्रतिनिधित्व की प्रणाली, शासन की आर्थिक नीति, अपराधियों की दशा तथा शिक्षा आदि में क़ानून बनवा कर सुधार-

वाने के प्रयत्न किये। बैन्थम के सार्वभौम वयस्क मताधिकार, वार्षिक पार्लमैंट, बैलट द्वारा मतदान, नगर-शासन सुधार, जेलों में सुधार, जेलों, के नियमों में संशोधन, धार्मिक परीक्षा के रद्द करने, भिक्षुकों के सुधार आदि की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। इन सुधारों के कारण बड़े महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। इनके कारण बहुत से लोग इन्हें दार्शनिक क्रान्तिवादी कहने लगे। बैन्थम, जेम्स मिल, जान तथा स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद के प्रमुख व्याख्याकार हैं।

सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के क्षेत्र में उपयोगितावादियों ने क्या-क्या कार्य किए इसका सुन्दर वर्णन डेविडसन ने अपनी "इगलैंड में राजनीतिक विचार" नामक पुस्तक में इस प्रकार किया है—"उपयोगितावादी क्रान्तिवादियों का इङ्गलैंण्ड बड़ा ऋणी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश में उनके विचारों का प्रचार रहा और इसका परिणाम यह हुआ कि सक्रिय राजनीति, सामाजिक सुधार और हितकारी क़ानून रचना में इतनी दिलचस्पी ली गयी कि जिसकी पहले कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसका लाभ आज अनुभव हो रहा है। ...उन्होंने अपने सिद्धान्तों का क्रमशः प्रचार किया और उसमें प्रत्येक महान् विचारक ने स्थायी मूल्य का योगदान दिया। प्रगति उनका मुख्य नारा था। स्वतन्त्रता के लिए तथा लोक हित के लिए उत्साह से इनको महान् प्रेरक शक्ति मिली। यही वर्तमान् युग ने इन लोगों से प्राप्त किया है। उन्होंने दुनिया को कोई पूर्ण दार्शनिक प्रणाली नहीं दी, परन्तु कुछ सुनिश्चित सिद्धान्त भेट किए, जो काल की कसौटी पर सच्चे प्रमाणित हुए हैं और जिनका अब भी अत्यन्त लाभप्रद प्रयोग हो सकता है।

यह अखण्डनीय है कि उपयोगितावादी विद्वानों ने बड़े लोकहितकारी कार्य किये हैं। उनके सिद्धान्त बड़े सामाजिक मूल्य के सिद्ध हुए हैं। यह सिद्धान्त राजनीतिज्ञों को तथा साधारण जनों को एक अच्छी ग्राह्य कसौटी प्रदान करता है, जिससे वे शासन की नीतियों एवं कार्यक्रमों की उत्तमता एवं निकृष्टता की जाँच कर सकते हैं। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह मत सही नहीं है। सुख की प्राप्ति को वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप से मानव-जीवन का चरम ध्येय मान लेना असंभव है। सामान्य हित की भावना में, जिसकी अभिवृद्धि करना राज्य का कर्त्तव्य है, नैतिक मूल्यों का प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

जिस ध्येय के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए वह तो अपने नैतिक व्यक्तित्व की पूर्णता है, केवल अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना ही नहीं। दूसरे, प्रत्येक कार्य को उससे उत्पन्न होने वाले सुख दुःख का विचार करके करने की आदत भी सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित नहीं है। जो व्यक्ति नैतिक आदर्श से प्रभावित या प्रेरित है, उसे प्रायः इस विचार की उपेक्षा करनी पड़ती है कि किसी कार्य का परिणाम अधिक सुख होगा या दुःख। इस विचार को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने स्वेच्छापूर्वक कुछ सुविधाओं के लिए की है। यह राज्य की सावयव प्रकृति तथा प्राकृतिकता के साथ भी न्याय नहीं करता, जिस पर आदर्शवादी ज़ोर देते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी के मध्य में इंगलैंड में जो स्थिति पैदा हो गई थी उसका मुक़ाबला करने में उपयोगितावादी असफल सिद्ध हुआ। उस समय पुरानी विचारधारा में महान् परिवर्तन की आवश्यकता थी, अथवा यों कहिये कि उस समय एक नवीन सिद्धान्त की आवश्यकता थी। वह नवीन सिद्धान्त आदर्शवादी समुदाय ने प्रस्तुत किया जिसका ग्रीन प्रमुख अँग्रेज़ प्रतिनिधि है।

वर्गीय रचना के रूप में राज्य—

आधुनिक काल मे ओपेनहीम तथा कार्ल मार्क्स जैसे लेखकों ने इस विचार को प्रचलित किया है कि राज्य सारतः एक वर्गीय रचना (Class Stiucture) है। अर्थात् वह एक ऐसी सस्था है जिसके द्वारा एक वर्ग अपने हित के लिये दूसरे वर्ग का शोषण करता है। साम्यवादियों तथा सिन्डीकेलिस्टों के राज्य-विरोधी भावों का यह एक मुख्य कारण है। इनके सम्बन्ध में हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि यह आजकल के राज्यों के सम्बन्ध में लागू भले ही हो, जो अधिकांश में पूँजीवादी हैं, परन्तु यह सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्त के रूप में कभी सही सिद्ध नहीं हो सकेगा। राज्य इस प्रकार का होने का दावा नहीं करता। वह तो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति और प्राप्ति का साधन है, यद्यपि यह भी ठीक है कि कभी-कभी अवांछनीय प्रभावों के कारण वह अपने ध्येय से हट जाता है और समाज का कोई वर्ग उसे अपने स्वार्थ सिद्धि का साधन बना लेता है।

राज्य—एक सत्ता के रूप में—

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक सत्ता-पद्धति है। इसका यह अर्थ है कि जिस लक्षण या प्रयोजन से मनुष्यों का राज्य के रूप में संगठन किया जाता है, जो उसकी रचना का निर्धारण करता है और उसकी नीतियों का नियंत्रण करता है वह है सत्ता का प्रेम। जो ऐसा विश्वास करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति सबलों की निर्बलों पर विजय द्वारा अथवा मानवों की दुष्प्रतियों पर प्रतिबंध लगाने के लिए हुई है, वे इस विचार का समर्थन करेंगे और सत्ता-प्रयोग को राज्य का विशेष गुण मानेंगे। वे ऐसी प्रत्येक चीज़ को विशेष महत्त्व देंगे जो दुर्बल राष्ट्रों पर आधिपत्य में वृद्धि करेगा। वे ऐसी किसी चीज़ को महत्त्व नहीं देंगे जिससे समस्त जनता का कल्याण एवं हित हो। इस प्रकार के सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम है युद्ध का गौरव गान।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राचीन तथा मध्य-युगीन लेखको ने नही किया। यह सिद्धान्त प्लेटो और अरस्तू के विचारों के प्रतिकूल है। मध्य युग मे भी यह भावना नहीं थी। इसका सबसे प्रथम प्रतिपादन मेकियावली ने किया। आधुनिक समय में कार्वर, ट्रिटस्के और हेगल के अन्य अनुयायियों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। नीत्से के सत्ता की इच्छा तथा अतिमानव के सिद्धान्तों ने इसे दार्शनिक महत्त्व दिया है।

सिद्धान्त की आलोचना—

राज्य की वर्गीय रचना के सिद्धान्त की भांति यह सिद्धान्त भी कुछ वर्तमान् राज्यों के उद्देश्यों एवं नीतियों का न्यूनाधिक प्रतिनिधित्व करता हुआ माना जा सकता है। राज्य कैसा होना चाहिए इसका यह सच्चा विवेचन नहीं करता। सत्ता किसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन होती है। सत्ता का सत्ता के लिए ही गौरव-गान वृथा है। जो लोग छोटे राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये सत्ता का गौरव-गान करते हैं, वे साधारणतया अपने आचरण का समर्थन अन्य आधारों पर करते हैं, जैसे सभ्यता का प्रचार, मूर्त्ति-पूजकों मे ईसाई धर्म का प्रसार आदि। इससे इस सिद्धान्त की निर्बलता प्रकट होती है। दूसरे, शक्ति राज्य के नागरिकों में एकता का कारण नही हो सकती। यह

राज्य की एकता की व्याख्या करने में अपर्याप्त है। जो एकता शासक की सत्ता के कारण होगी, वह सत्ता के साथ ही समाप्त भी हो जायगी। शक्ति राज्य के आधार के रूप में अपर्याप्त है—इस पर गत अध्याय* में जो विचार किया गया है वह यहाँ पर भी लागू होता है। राज्य के निर्माण में सत्ता एक तत्त्व है परन्तु वह भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। राज्य उसी समय बना रहता है और समृद्धि प्राप्त करता है, जबकि वह जनता की अनुमति पर टिका रहता है, और सामान्य इच्छा का सच्चाई से प्रतिनिधित्व करता है। इस सत्य की यह सिद्धान्त बिलकुल उपेक्षा करता है।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय—

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की मुख्य बातों पर भी विचार कर लें क्योंकि इसका राजनीतिक विचार से आधुनिक इतिहास में बड़ा महत्त्व है। यह हमे राज्य का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं देता जिसे हम आदर्शात्मक सिद्धान्त, सावयव सिद्धान्त या समझौते के सिद्धान्त के समकक्ष रख सकें। इस पर यहाँ इसीलिये विचार किया गया है कि यह बुद्धिवाद की, जो आदर्शवाद तथा अन्य राजनीतिक सिद्धान्तों की विशेषता है, आलोचना है और उसकी प्रतिक्रिया भी है।

राजनीति तथा मनोविज्ञान के बीच पुराना साहचर्य है, किन्तु मनोविज्ञान का राजनीतिक विश्लेषण में सुव्यवस्थित रूप मे प्रयोग बेजहॉट की सन् १८७३ ई० में प्रकाशित 'भौतिक विज्ञान तथा राजनीति' (Physics and Politics) नामक पुस्तक की रचना के समय से हुआ। उसने राजनीति की समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक ढग से विचार करने की प्रणाली आरम्भ की जब कि उससे पूर्व राजनीतिक प्रश्नों पर प्राणि-विज्ञान के प्रकाश में विचार करने की प्रणाली ही प्रचलित थी। राजनीतिक समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक ढग से विचार करने पर ज़ोर देने वाले विद्वानों में ग्राहम वालास का नाम प्रसिद्ध है, जिसकी 'राजनीति में मानव प्रकृति' (Human Nature in Politics) तथा "महान समाज" (The Great Society) नामक पुस्तकें बहुत ही विचारपूर्ण हैं।

---

* पृष्ठ ६६

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का एक प्रमुख मन्तव्य यह है कि राज्य और उसकी संस्थाएँ मन के परिणाम या फल हैं अतः उनका अध्ययन मन की भाषा द्वारा ही भली भाँति किया जा सकता है। मानवीय व्यवहार के अध्ययन की कुञ्जी मनोविज्ञान ही है। यदि इस का अर्थ केवल यही हो कि समस्त राजनीतिक विचारों का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिए तो इससे कोई भी इन्कार नहीं करेगा। प्लेटो, अरस्तू, मैकयावेली, हॉब्स, लॉक और रूसो के ग्रन्थ पर्याप्त रूप से इसका स्पष्टीकरण करते हैं। किन्तु कभी-कभी इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जाती है कि चूंकि सामुदायिक जीवन के तथ्य सामुदायिक चेतना के तथ्य हैं, इसलिए उनके अध्ययन की एकमात्र समुचित पद्धति मनोवैज्ञानिक प्रणाली ही है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जाता है कि राज्य-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये जो अब मनोवैज्ञानिक हो गया है अध्ययन की उचित विधि प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन की विधि है। इस विधि के दो प्रमुख लक्षण हैं। प्रथम, यह समस्त तथ्यों पर विचार करती है और उसके मूल्यों में कोई भेद नहीं करती। यह कुछ तथ्यों को अच्छा और दूसरों को हेय नहीं मानती। दूसरे, यह जटिल घटनाओं को उनके सरल घटकों में परिवर्तित कर उन सरल घटकों के प्रकाश से उन जटिल समस्याओं का अध्ययन करती हैं।

प्राकृतिक विज्ञानों की इस विधि के राज्य-विज्ञान में प्रयोग करने के दो परिणाम होंगे। राज्य-वैज्ञानिक के लिए समस्त सामाजिक तथ्यों का समान मूल्य होगा। उसके लिए एक कबीले का वही मूल्य होगा, जो एक मज़दूर संघ का। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। राज्य-विज्ञान का आदर्शात्मक पहलू भी है, एक सीमा तक यह मूल्यों पर विचार करता है। मूल्य का अस्तित्व न वैज्ञानिक के लिये है और न मनोवैज्ञानिक के लिये ही। इसका यह अर्थ निकला कि राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन पूर्ण रूप में मनोवैज्ञानिक के बतलाये ढंग से नहीं किया जा सकता, और न राज्य-विज्ञान जटिल घटनाओं को सरल घटनाओं द्वारा समझाने की रीतियों का प्रयोग ही सफलता के साथ कर सकता है। सामाजिक विज्ञानों में व्याख्या सदैव ध्येय या उद्देश्यों की दृष्टि से ही होती है, आरम्भिक अवस्था की दृष्टि से नहीं। निम्नतम की व्याख्या उच्चतम द्वारा हो सकती है, परन्तु उच्चतम की व्याख्या निम्नतम द्वारा नहीं हो सकती। राजनीतिक जीवन की सरल घटनाएँ

जिनका पूर्वकाल में विकास हुआ और बाद में विकसित जटिल घटनाएँ इन दोनों की व्याख्या लक्ष्य की प्राप्ति में विभिन्न अवस्थाओं के रूप में की जानी चाहिए। किन्तु समाज-मनोवैज्ञानिक प्रारम्भिक अवस्था को समय के विचार से नहीं, महत्त्व के विचार से लक्ष्य से पूर्ववर्त्ती समझता है। सारांश में, वह सभ्य जीवन की व्याख्या असभ्य प्रवृत्ति की भाषा में करता है।* इस प्रकार वह तथ्यों को ग़लत सिरे से क्रमबद्ध करता है।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का दूसरा प्रमुख विचार यह है कि राजनीतिक कार्य और व्यक्तियों के विचार को विशुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया के प्रतिफल मानना भूल है। उनके विचार तथा तर्क उन पर निस्सन्देह प्रभाव डालते हैं, किन्तु इनसे कहीं अधिक महत्त्व प्रवृत्तियों तथा मनोभावों के प्रभावों का होता है। जो राजनीतिक सिद्धान्त मानव प्रकृति के अबौद्धिक पहलू की उपेक्षा करता है और उसकी क्रियाओं को जो 'बौद्धिक शक्ति' के प्रतिफल समझता है, वह ग़लत प्रतिज्ञा से आरम्भ करता है और ग़लत परिणामों से बच नहीं सकता। आदर्शवाद में यह बात दिखाई देती है राज्य को बुद्धि या विवेक-पूर्ण इच्छा का फल मानने में वह एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना करता है जो आज तक के किसी भी राज्य के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता। जिस राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार करता है, वह कहीं स्वर्ग में विद्यमान हो, इस भूतल पर उसका कहीं भी अस्तित्व नहीं है। यही बात उसके राजनीतिक दायित्वों की व्याख्या के सम्बन्ध मे है। वास्तविक व्यवहार में मनुष्य राज्य की सत्ता की आज्ञा का पालन जिस भावना के साथ करता है वह यह अनुभूति नहीं है कि राज्य सामान्य इच्छा की प्रतिमा है और न यह मानना ही कि इस प्रकार आदेश पालन से सामान्य हित की सर्वाधिक सिद्धि होगी। राजनीतिक नियन्त्रण अपने आधार में सामाजिक ही है। समाज में जो सुव्यवस्था और सामंजस्य है वह लोकाचार, लोकमत, सुझाव, अभ्यास एवं अनुकरण आदि अनेक सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक तथ्यों के, जो क़ानून के क्षेत्र से बाहर की बातें हैं, परिणाम हैं।

समाज-मनोवैज्ञानिक ने राज्य-वैज्ञानिक का ध्यान प्रवृत्तियों तथा मनोभावों के अस्तित्व तथा मनुष्य की सहज प्रकृति की समस्त उपचेतन पक्ष की ओर आकर्षित करके एक बड़ी सेवा की है। मनुष्य

* Barker : op cit., p. 160.

के राजनीतिक जीवन का कोई भी अध्ययन पर्याप्त और पूर्ण नहीं हो सकता यदि उनके अस्तित्व पर तथा राजनीतिक मत या आचरण के निर्माण में उनके कार्य पर विचार नहीं किया जाय। राजनीति की कला अधिकांश में लोकमत के निर्माण में मानव के भावात्मक पक्ष का विचारपूर्वक उपयोग करने में ही है। राजनीतिक नेता बड़ी चतुरता के साथ हमारे मनोभावों को अपने उद्देश्य के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं; वे कुछ विचारों के लिये नूतन नाम रखते हैं और उनको हमारे मनोभावों के साथ जोड़ देते हैं। राजनीतिक दल भावात्मक विचारों के प्रतीक हैं। भावों का सामाजिक आचरण पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसके लिए अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। ग्राहम वालास के अनुसार "राजनीति एक अल्पमात्रा में ही चेतनामय तर्क-बुद्धि का परिणाम है। यह प्रधानत; अभ्यास तथा प्रवृत्ति, सुझाव तथा अनुकरण का ही परिणाम है।"

समाज-मनोवैज्ञानिकों ने जिन महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, उन्हे अस्वीकार करना व्यर्थ होगा। वे निःसन्देह हमारे राजनीतिक विचारों एवं क्रियाओं का निर्धारण करते हैं। किन्तु इस खोज के उत्साह में समाज मनोविज्ञानी उन तथ्यों को अधिक महत्त्व देता है और बौद्धिक तत्त्वों को कम। बुद्धि और विवेक हमारे जीवन में कार्य करते हैं और एक बड़ी सीमा तक ये राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण एवं संचालन मे भी काम करते हैं, जिसे मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते। राज्य तथा उसकी संस्थाऐं बुद्धिमूलक हैं; किन्तु इस अर्थ में नहीं कि उनका निर्माण बुद्धि के विचार पूर्ण कार्य के फलस्वरूप हुआ है। वे बुद्धिमूलक इस भाव में हैं कि उनकी बुद्धि के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। उनका निर्माण मनुष्यों के द्वारा हुआ है जिनके जीवन में बुद्धि-तत्त्व प्रधान है। यह सत्य है कि राज्य-सत्ता के आदेश का पालन करते समय न तो साधारण मनुष्य और न दार्शनिक, न तो सामान्य इच्छा का स्मरण करता है और न सामान्य लोक-संग्रह का। किन्तु यह विचार विद्यमान रहता है और मन द्वारा गुप्त रूप से अपना प्रभाव डालता है। इस बात पर कि राज्य की एकता अनुकरण अथवा सुझाव के अबौद्धिक प्रभाव पर टिकी हुई है विश्वास करना असंगत है। यह स्वीकार करना कि

समाज सुझाव तथा अनुकरण के कारण ही क़ायम है उसे अबौद्धिक संस्था बना देता है जो वह नहीं है । एक संस्था और कुछ चाहे हो या न हो, उसके पीछे बुद्धि अवश्य कार्य करती है। बार्कर के निम्नलिखित वाक्य में मनोवैज्ञानिक समुदाय की आलोचना का सारांश निहित है : "समाज-मनोविज्ञान हमें पहले भौतिकवाद की ओर अग्रसर करता है और निम्नतम के द्वारा उच्चतम की व्याख्या करवाता है, और इसके बाद वह हमें अबुद्धिवाद की ओर ले जाता है जिससे हम समाज को अनुकरण का परिणाम समझते हैं और उसके नागरिकों को मनमाने सुझावों का जादू भरा परिणाम ।"

रूस में साम्यवाद के अभ्युदय, इटली में फ़ैसिज़्म तथा जर्मनी मे नात्सीवाद के उत्थान ने हमें राज्य के सम्बन्ध में नवीन विचारों से परिचित किया है । यह नवीन रूप सर्वस्वायत्त राज्य (Totalitarian State) कहलाता है । इसकी व्याख्या अन्यत्र इसी ग्रन्थ में की गई है ।

अध्याय ८

राज्य का प्रभुत्व

प्रभुत्व की प्रकृति—

तृतीय अध्याय में हम लिख चुके हैं कि प्रभुत्व राज्य का एक प्रमुख विधायक तत्व है। एक जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि वह ऐसे आन्तरिक संगठन का विकास न कर ले जो नागरिकों को आदेश दे और उनका पालन करवा सके। राज्य को जनता के मामलों का नियंत्रण एवं नियमन करने की सर्वोच्च सत्ता भी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह सत्ता बाहरी नियन्त्रण से मुक्त या प्रायः मुक्त होनी चाहिये। इस प्रकार संगठित जनता की सत्ता पर बाहरी अथवा भीतरी किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। राज्य का यह लक्षण प्रभुत्व (Sovereignty) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि "प्रत्येक राज्य में कोई व्यक्ति, परिषद्, या समुदाय (यथा निर्वाचक मण्डल) हो, जिसे सामूहिक इच्छा को क़ानून के रूप में अभिव्यक्त करने तथा उसे लागू करने की सर्वोच्च सत्ता हो अर्थात् उसे आदेश देने तथा उसका पालन कराने की अन्तिम सत्ता हो" * सारांश मे, इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राज्य में एक सार्वजनिक सत्ता ऐसी होती है जिसके क़ानूनी रूप में सब हित आधीन होते हैं, जिनका वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से नियमन एवं नियन्त्रण कर सकता है। इस प्रभुत्व के कारण अपनी सीमा के भीतर राज्य समस्त व्यक्तियों एवं सस्थाओं से उच्च होता है और उनके व्यवहार का नियमन करने के लिये नियम तथा क़ानून निर्धारित कर सकता है, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है। विरोध होने पर राज्य की इच्छा को ही मान्यता दी जाती है। उसका आदेश अन्तिम होता है। अपने प्रभुत्व के कारण ही

* Garner, op. cit. p. 156.

राज्य उन अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का आदि-स्त्रोत है जिनका नागरिक भोग करते हैं। इसी प्रभुत्व के कारण वह समाज में एकमात्र क़ानून बनाने वाली सत्ता है और क़ानूनी तथा ग़ैर क़ानूनी के भेद का स्त्रोत है। क़ानून का स्त्रोत होने के कारण प्रभु अपने बनाये हुए क़ानून के ऊपर होता है और इसी कारण असीमित होता है। सर्वोच्च होने के कारण वह सबको आदेश देता है परन्तु किसी से आदेश प्राप्त नहीं करता। उसकी इच्छा की कोई कानूनी सीमा नहीं है। उसके बनाये हुए क़ानून सही समझे जाते हैं चाहे सामाजिक हित की दृष्टि से उनका मूल्य कुछ भी हो। लास्की के शब्दों मे, जिस वस्तु का वह इरादा करता है वह इरादे की घोषणामात्र से ही ठीक समझी जाती है। संक्षेप मे इसका यह अर्थ है कि समाज में राज्य से बढ़ कर कोई ऊँची या बड़ी सत्ता नहीं है।

राज्य-प्रभुत्व के कभी कभी दो पहलू बताये जाते हैं : आन्तरिक और बाह्य। जो कुछ ऊपर कहा गया है वह उसका आन्तरिक पहलू है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि राज्य को अपने समस्त व्यक्तियों एवं समुदायों को बिना किसी शर्त के आदेश देने का और उनसे उनका पालन करवाने का अधिकार है। बाह्य प्रभुत्व का अर्थ 'स्वाधीनता' शब्द से अधिक अच्छी तरह प्रकट होता है। इसका अर्थ है कि अन्त-. राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य को बिना किसी दूसरे राज्य के हस्तक्षेप के अपनी नीति निर्धारित करने और कार्य करने की स्वतन्त्रता है। किसी राज्य को दूसरे राज्यों को उनके कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में आदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यो के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। वह केवल अपनी इच्छा से ही बधा रहता है। इस प्रकार राज्य के प्रभुत्व में दो बातें स्पष्ट हैं—राज्य की सीमा के भीतर समस्त व्यक्तियों एव सस्थाओं पर उसकी सर्वोपरि सत्ता और विदेशी नियंत्रण से मुक्ति। पहला पहलू बोदां की व्याख्या में स्पष्ट हो जाता है। उसने कहा है कि नागरिकों तथा प्रजा पर क़ानून से अमर्यादित राज्य की सर्वोपरि सत्ता का नाम प्रभुत्व है। जेलिनेक ने अपनी परिभाषा में दूसरे पहलू पर ज़ोर दिया है। प्रभुत्व 'राज्य की वह विशेषता है जिसके कारण क़ानूनी रूप से वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी इच्छा द्वारा अथवा अपनी सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता द्वारा मर्यादित नहीं है। बर्गेस ने प्रभुत्व की परिभाषा निम्न प्रकार

की है : "यह समस्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर मौलिक, निरपेक्ष और असीमित सत्ता है।" "यह आदेश देने तथा उसका पालन कराने की अप्राप्त एवं स्वतंत्र सत्ता है।" इस परिभाषा में प्रभुत्व की निरपेक्षा तथा असीमित प्रकृति पर जोर डाला गया है। हम कह सकते हैं कि राज्य की क़ानून बनाने तथा अपने पूर्ण बल से उनका अमल करवाने की सत्ता प्रभुत्व है।

प्रभुत्व का इतिहास—

राज्य के प्रभुत्व का (कानूनी) सिद्धान्त आधुनिक है। यह राज्य-विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण भावनाओं में से एक है और अन्तर्राष्ट्रीय विषय सम्बन्धी विवाद में इसका प्राधान्य है। अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' पुस्तक में प्रभुत्व शब्द कहीं नहीं है और न इसका प्रयोग रोमन विचारकों ने ही किया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे इस भावना से परिचित नहीं थे। अरस्तू ने राज्य की सर्वोच्च सत्ता (Supreme Powei of State) की चर्चा की है। रोमनों ने भी सर्वोच्च सत्ता (Summa Potestas) का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे राज्य में सर्वोच्च सत्ता की आवश्यकता का अनुभव करते थे। किन्तु ऐसी सर्वोच्चता, जिसकी उन्होंने कल्पना की, आधुनिक प्रभुत्व-सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। रोम तथा यूनान मे ऐसी स्थिति नहीं थी जिसमें प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का आविर्भाव संभव होता। राज्य तथा व्यक्ति एवं संस्थाओं के बीच उस समय विरोध नहीं था और यह विचार कि राज्य ही कानून का स्त्रोत है। यूनान में विद्यमान नही था। वहाँ राज्य क़ानून के आधीन था। मध्य युग मे राज्य के लिए कोई भावना नहीं थी और केन्द्रीय सत्ता पर कोई एक-रूप-निर्भरता नहीं थी। एक प्रदेश में सत्ता कुछ प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं के बीच वितरित थी। उस युग में चर्च, रोमन सम्राट्, सामन्त तथा व्यापारिक संघ व्यक्तियों पर अपने-अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील थे। ऐसी स्थिति में प्रभुत्व-सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के लिए कोई अनुकूल अवसर ही नहीं था। मध्य-युग के अन्त मे उस समय की अव्यवस्था में समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय राज्यों (National State) का उदय हुआ। इन राज्यों के एकतन्त्रीय शासकों ने नागरिक क़ानून के निर्माण के एकान्तिक अधिकार का दावा

किया। इसके लिये यह आवश्यक था कि शासक लोन पोप, सामन्तों और स्वशासित नगरों की सत्ता का निषेध करते। इस प्रकार आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु यह शासक (Monarch) का प्रभुत्व था, राज्य का नहीं। धीरे-धीरे यह शासक के प्रभुत्त्व से राज्य का एक प्रमुख विधायक तत्त्व माना जाने लगा। बोदाँ ने १६ वीं सदी में सबसे प्रथम राज्य-प्रभुत्व का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया। उसके अनुसार प्रभु का मुख्य कार्य क़ानून बनाना है। प्रभु को अपने निर्मित क़ानूनों से ऊपर बतला कर उसने प्रभुत्व को निरपेक्ष बना दिया। उसने इतना अवश्य विचार किया कि प्रभु (Sovereign) दैवी विधान तथा प्राकृतिक नियम से बाध्य है और वह ईश्वर के समक्ष अपने समस्त कृत्यों के लिये उत्तरदायी हैं। बोदाँ ने तो आन्तरिक प्रभुत्व का प्रतिपादन किया और ग्रोशियस ने उसके बाहरी पहलू पर ज़ोर दिया किन्तु लोक-प्रभुत्व (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त पर न तो बोदाँ ने और न ग्रोशियस ने और न बाद में हॉब्स तथा लॉक ने कोई प्रकाश डाला। रूसो के 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त से ही लोक प्रभुत्व के आधुनिक सिद्धान्त का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के आधुनिक व्याख्याकारों में ऑस्टिन, ग्रीन और बोसनक्वे प्रसिद्ध हैं। ऑस्टिन ने इस पर क़ानूनी दृष्टि से विचार किया और राज्य के कानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या की। ग्रीन तथा बोसानक्वे का विवेचन दार्शनिक अधिक था। ग्रीन ने ऑस्टिन के मत और रूसो के मत में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। हाल में प्रभुत्व के परम्परागत सिद्धान्त की जिसके अनुसार राज्य निरंकुश और सर्वशक्तिसम्पन्न माना जाता है बहुवादी लेखकों ने बड़ी तीव्र आलोचना की है। उन्होंने परम्परागत सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत राज्य की नई भावना प्रस्तुत की है।

प्रभुत्व के लक्षण—

परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राज्य-प्रभुत्व के निम्नलिखित लक्षण माने गये हैं: (१) असीमता, निरपेक्षता अथवा निरकुशता, (२) एकता, (३) अनन्यता अथवा वर्जनशीलता, (४) सर्वव्यापकता, (५) स्थायित्व, (६) अविच्छेद्यता।

(१) निरपेक्षता—

राज्य का प्रभुत्व निरपेक्ष अथवा असीम होता है। इसका अर्थ यह है कि समाज में प्रभु से महान् और ऊँची अन्य कोई सत्ता नहीं होती। प्रभु की क़ानून बनाने की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध या किसी प्रकार की कानूनी मर्यादा नहीं है यद्यपि प्रभु स्वय उन क़ानूनों से ऊपर है। यह बात ऑस्टिन के सिद्धान्त में सर्वथा स्पष्ट है। उसने यह माना है कि निश्चित मानव-प्रभु समस्त क़ानूनों का स्त्रोत है और इस कारण उस पर किसी उच्च क़ानून द्वारा कोई मर्यादा नहीं लगाई जा सकती। राज्य में प्रभुत्वसम्पन्न अधिकारियों की कोई एक सीढ़ीनुमा श्रंखला नहीं हो सकती। क़ानूनी दृष्टि से यह सिद्धान्त मानना ही पड़ेगा कि प्रभु क़ानूनी रूप से अनियंत्रित है। यह मानना कि प्रभु पर भीतरी या बाहरी किसी बड़ी सत्ता का नियन्त्रण है, स्वय प्रभुत्व का निषेध होगा। यह सर्वथा विरोधोक्ति होगी।

अनेक व्यक्ति इस असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे ऐसी अनेक बातें हमारे सामने पेश करते हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि राज्य की असीम सत्ता जैसी कोई चीज़ नहीं है। प्रभुत्व भीतर से व्यक्तियों तथा समूहों के अधिकारों, दैवी कानून की मर्यादाओं, न्याय की भावना, धार्मिक शिक्षा आदि तथा परम्परा से स्थापित लोकाचार तथा देशाचार से सीमित है। संसार में आज तक ऐसा कोई भी स्वेच्छाचारी नहीं हुआ और न कभी हो सकता है जो सर्वथा अनियंत्रित सत्ता का उपभोग करता हो। तुर्की के सुल्तान और रूस के ज़ार भी अपने-अपने देश के लोकाचार से विपरीत नहीं चल सके। जो राज्य नैतिक विचारों की उपेक्षा करता है और नागरिकों के धार्मिक व्यापारों में हस्तक्षेप करता है उसका नाश हो जाता है। प्रत्येक काल में तथा प्रत्येक स्थान मे राज्य की सत्ता उसके आदेशों की अवज्ञा की संभावना के कारण सीमित रही है। भारत में ब्रिटिश पार्लामेण्ट की सत्ताऐं क़ानूनी दृष्टि से असीमित थी, किन्तु वह भारतीय जनता की इच्छा से विरुद्ध भारत पर कोई संविधान नहीं लाद सकी। इस विचार से कई लेखक प्रभुत्व को 'सीमित' करना पसन्द करते हैं।

एक अर्थ में राज्य का प्रभुत्व सीमित कहा जा सकता है ; जिन प्रति-बंधों की चर्चा ऊपर की गयी है वे वास्तव में हैं। स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी शासक भी अपनी प्रजा की मांगों को अधिक समय तक

नहीं ठुकरा सकता। प्रत्येक सभ्य राज्य को सदाचार तथा न्याय के सिद्धान्तों को मान्यता देनी पड़ती है और उनका आदर करना पड़ता है। मनुष्य के प्राकृतिक तथा जन्मसिद्ध स्वत्वों के कारण भी प्रभुत्व पर जो प्रतिबन्ध उत्पन्न होते हैं, वे भी वास्तविक हैं। किन्तु इन समस्त प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे क़ानूनी नहीं हैं। वे उसी सीमा तक राज्य के लिए बंधनकारी हैं, जिस सीमा तक वह उन्हें स्वीकार करता है। वे राज्य द्वारा स्वयं आरोपित हैं। जो प्रतिबन्ध किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने ऊपर लगाया जाय, वह वास्तव में प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब वह चाहे तब उसे हटा सकता है। और राज्य के अतिरिक्त ऐसा कौन है, जो इस बात का निर्णय कर सके कि राज्य ने इन नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया है या नहीं। अतः हम गार्नर के इस कथन से सहमत हैं कि क़ानूनी दृष्टि से ये मर्यादाऐं वास्तव में राज्य प्रभुत्व की मर्यादाऐं नहीं हैं। "प्रकृति के नियम, सदाचार के सिद्धान्त, ईश्वरीय नियम, मानवता तथा विवेक बुद्धि के आदेश, लोकमत का भय तथा प्रभुत्व पर अन्य तथाकथित प्रतिबंधों का कोई भी क़ानूनी प्रभाव नहीं है। यह प्रभाव केवल उसी समय और उसी सीमा तक है जहाँ तक राज्य उन्हें स्वीकार कर लेता है और उन्हें अमल मे लाता है।" अतः हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि राज्य-प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं हैं। गार्नर ने लिखा है कि—"जब तक हम उस सत्ता तक नहीं पहुँच जाते जो क़ानूनी रूप में असीमित है, तब तक हमे प्रभुत्व का साक्षात्कार नहीं होता। ऑस्टिन ने कहा है कि क़ानून द्वारा सीमित सर्वोच्च सत्ता विरोधोक्ति है।

ऐसे भी विद्वान हैं जो असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन अपने इन मन्तव्यों के आधार पर करते हैं कि यह नागरिकों की स्वाधीनता के प्रतिकूल है; इससे राज्य स्वेच्छाचारी बन जायगा; आज की स्थिति में राज्य की सत्ताओं को मान्यता देने की अपेक्षा नागरिक स्वतन्त्रता पर अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता है। यह आक्षेप दोहरी भ्रान्ति के कारण किया जाता है। सर्वप्रथम यह सिद्धान्त तार्किक रूप से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि राज्य का यह क़ानूनी अधिकार है कि वह अपने अधीन प्रजा के समस्त व्यापारों पर नियन्त्रण रखें। इसमें राज्य का ऐसा करने का नैतिक अधिकार समाविष्ट नहीं है। समस्त राज्यों मे राज्य की नैतिक

अधिकार सीमा के परे व्यक्तिगत जीवन का क्षेत्र स्वीकृत है। दूसरे, यह समझना भी कठिन है कि राज्य का प्रभुत्व नागरिकों की स्वाधीनता के कैसे प्रतिकूल है। जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, राज्य का प्रभुत्व नागरिकों की स्वतन्त्रता का विरोधी न होकर उसकी सर्वथा अनिवार्य शर्त है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो चीज़ संकट में डालती है वह शासन की अनियंत्रित सत्ता है—राज्य की सत्ता नहीं। यह सिद्धान्त राज्य के प्रभुत्व का प्रतिपादन करता है, शासन के प्रभुत्व का नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भावात्मक दृष्टि से प्रभुत्व असीमित है। इसके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे भ्रान्तिजन्य हैं। किन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि क़ानून निर्माण के क्षेत्र में जिसमें प्रभुत्व के सिद्धान्त को विशेष रूप से लागू किया जाता है, यह बात केवल सैद्धान्तिक रूप से ही सत्य है। क़ानून निर्माण करने वाली संस्थाओं की व्यवस्था में ऐसी सत्ता अवश्य होनी चाहिये जिसके ऊपर कोई उच्च सत्ता नहीं हो और जिसकी क्षमता इस प्रकार आवश्यक रूप से असीमित हो। किन्तु व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र मे असीमित प्रभुत्व का विचार अवास्तविक है। बहुत सी बाते ऐसी हैं जिन्हे करने की क़ानूनी दृष्टि से राज्य को क्षमता है परन्तु जिन्हें वह वास्तव मे कर नहीं सकता।

(२) एकता अथवा अविभाज्यता—

प्रभुत्व की एकता से प्रयोजन यह है कि उसको हम खण्डों में विभाजित नहीं कर सकते। वह सदैव अविभाज्य ही रहता है। प्रभुत्व का सार इच्छा की सर्वोच्चता में है और राज्य के भीतर केवल एक ही सर्वोच्च इच्छा हो सकती है। यदि एक ही राज्य में दो अधिकारियों द्वारा प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग किया जाता है, तो वह एक राज्य नहीं, दो राज्य हैं। एक लेखक केल्हाउन ने ज़ोरदार शब्दों मे कहा है कि—"प्रभुत्व समूची चीज़ है; उसे विभाजित करना उसका नाश कर देना है। यह राज्य में सर्वोच्च सत्ता है। अर्ध-प्रभुत्व की बात करना वैसा ही है जैसा आधे वर्ग अथवा आधे त्रिभुज की बात करना।"

प्रभुत्व की अविभाज्यता उसकी असीमता का अनिवार्य परिणाम है। विभाजित प्रभुत्व उसी प्रकार विरोधोक्ति है जिस प्रकार कानून के मर्यादित प्रभुत्व। जो लेखक राज्य की असीमता का विरोध करते हैं, वे उसकी एकता का भी निषेध करते हैं। वे विभाजित प्रभुत्व की बातें करते

है। इस प्रकार लॉविल ने लिखा है कि एक ही राज्य में दो प्रभुत्व सम्पन्न अधिकारी एक ही प्रजा को आदेश दे सकते हैं, किन्तु भिन्न मामलों में। लॉर्ड का भी विचार है कि दो समकक्ष अधिकारियों के बीच प्रभुत्व का विभाजन हो सकता है। ऐसा संघ-राज्य में होता है। सघ-शासन संघीय विषयों के सम्बन्ध में प्रभुत्व-सत्ताओं का प्रयोग करता है और स्थानीय या राज्यों के शासन राज्य के मामलों में प्रभुत्व-सत्ताओं का प्रयोग करते हैं। किन्तु इन मामलों में जिस सत्ता का विभाजन किया गया है, वह राज्य-प्रभुत्व नहीं, शासन सम्बन्धी है। एक ही प्रभुत्व सत्ता अनेक रूपों में प्रकट होती है। संघ राज्य मे जनता की सर्वोच्च इच्छा संघीय विषयों के सम्बन्ध में सघ-शासन के द्वारा अभिव्यक्ति होती है और राज्यों के विषयों के सम्बन्ध मे राज्यों के शासन द्वारा। प्रभुत्व इच्छा की सर्वोच्चता है, अतः उसका विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा का विभाजन नहीं हो सकता। बहुवादी लेखक प्रभुत्व को राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच विभाजित करते हैं। इस विचार का समर्थन नहीं हो सकता। समुदाय राज्य के समकक्ष नहीं हो सकते, वे राज्य के आधीन ही रहते हैं, चाहे उनके स्वायत्त शासन का क्षेत्र कितना ही विस्तृत हो। बहुवाद को पूर्णतः अमल में लाने से राज्य का ही अन्त हो जायगा।

(३) अनन्यता—इसका अर्थ यह है कि एक राज्य में एक ही प्रभु-सत्ता हो सकती है।

(४) सार्वभौमता—प्रभुत्व की वह विशेषता जिसके कारण राज्य के भीतर सभी व्यक्ति एव सस्थायें उसकी आधीनता में रहती हैं, सार्वभौमता कहलाती है। कोई भी व्यक्ति या संस्था उसके नियन्त्रण से मुक्ति पाने का अधिकार नहीं रखती। किन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं। वैदेशिक राजदूत तथा व्यापारिक प्रतिनिधि, किसी राज्य के भीतर से निकलती हुई विदेशी सेनाएँ, विदेशी राजा जो अस्थायी रूप से उस राज्य में रह रहे हों अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के अनुसार उस राज्य की प्रभुत्व-सत्ता के नियंत्रण से मुक्त होते हैं। कभी-कभी एक निर्बल राज्य अपनी सीमा के अन्दर रहने वाले किसी सबल राष्ट्र के नागरिकों को ऐसा अधिकार दे देता है जिसके द्वारा वे अपने ही राज्य के क़ानूनों से बाध्य होते हैं। ऐसी अवस्था में निर्बल राज्य की प्रभुता का उल्लंघन होता है।

पिछले कुछ वर्षों तक ऐसी स्थिति देखी जाती थी, परन्तु अब प्रायः नहीं रही।

(५) स्थायित्व—राज्य के स्थायित्व के संबन्ध में हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अतः प्रभुत्व के स्थायित्व के सम्बन्ध से अधिक प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है। इस गुण के कारण जब तक राज्य क़ायम रहता है तब तक उसका प्रभुत्व भी निरन्तर क़ायम रहता है। किसी प्रभुत्व-सत्ताधारी की मृत्यु के कारण प्रभुत्व का अन्त नहीं हो जाता। वह तुरन्त ही नवीन उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है। निम्नलिखित वाक्य का यही वास्तविक महत्त्व है : 'राजा का स्वर्गवास हो गया; राजा चिरायु हो।' (The King Dead; Long Live the King)।

(६) अविच्छेद्यता—प्रभुत्व की अविच्छेद्यता (Inalienability) का अर्थ यह है कि राज्य अपनी प्रभुता का त्याग अपना विनाश किये बिना नहीं कर सकता। प्रभुत्व राज्य का प्राण है। उसका त्याग करना आत्महत्या करना है। प्रभुत्व दिया जा सकता है या नहीं यह प्रश्न पहले बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अब इसका कोई महत्त्व नहीं रहा।

इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रभुत्व के उपर्युक्त लक्षण कानूनी अथवा वैध प्रभुत्व के ही हैं। प्रभुत्व की क़ानूनी भावना उसकी अनेक भावनाओं मे से केवल एक है। अब हम उन अन्य भावनाओं पर विचार करेंगे।

प्रभुत्व के विभिन्न अर्थ—

यह वास्तव में चिन्तनीय बात है कि राज्य का एक मुख्य तत्त्व होते हुए भी प्रभुत्व शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं।

नाममात्र का प्रभुत्व (Nominal Sovereignty)—प्रभुत्व के विविध अर्थों का स्पष्टीकरण उस समय अच्छी प्रकार हो जायगा, जबकि हम किसी वास्तविक राज्य के संबंध में विचार करें। ब्रिटेन का ही प्रश्न लें। वहाँ कौन प्रभु है? साधारण व्यक्ति उत्तर देगा कि राजा ही प्रभु है। राजकीय भाषा में भी इंगलैंड के राजा को प्रभु (Sovereign) कहा जाता है। जब अतीत काल में इङ्गलैंड के राजा को वास्तविक सत्ता प्राप्त थी तभी से ऐसा प्रयोग होने लगा। आज इङ्गलैण्ड के राजा को वास्तविक सत्ता प्राप्त नहीं है, उसकी सत्ता नाममात्र की है। वह राज्य का नाममात्र का प्रभुत्व है। उसकी वास्तविक सत्ता अन्यत्र है। एक पद के रूप में ही

राजा को प्रभु कहा जाता है । इस प्रकार का प्रभुत्व नाममात्र का प्रभुत्व है ।

क़ानूनी प्रभुत्व (Legal Sovereignty)—जो सब व्यक्तियों पर लागू होने वाले क़ानून बनाने की सर्वोच्च सत्ता को प्रभुत्व का मुख्य लक्षण मानते हैं वे तुरन्त ही कहेंगे कि पार्लामैंट अथवा राजा सहित पार्लामैंट ही प्रभु है । इस प्रकार का प्रभु क़ानूनी प्रभु है और इस प्रकार के प्रभुत्व को क़ानूनी प्रभुत्व कहते हैं । यह राज्य-प्रभुत्व की एक वकील की कल्पना है । वह राज्य में प्रभु और सर्वोच्च नियामक मे एकरूपता मानता है । इसके द्वारा जिस कानून की घोषणा की जाती है वही राज्य का कानून होता है और सब नागरिकों पर बन्धनकारी होता है । न्यायालय उसी क़ानून पर अमल करते हैं, जिसका क़ानूनी प्रभु निर्माण करता है । उसकी क़ानून बनाने की सत्ता पर कोई मर्यादा नहीं होती । क़ानूनी दृष्टि से ब्रिटिश पार्लामैंट सर्वशक्तिशाली है । जैसा डायसी का कथन है, 'वह एक बालक को पूर्ण वयस्क कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है, वह दोगली सन्तान को औरस सन्तान बना सकती है और यदि वह उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने ही मामले मे न्यायाधीश बना सकती है ।' ऐसे कोई भी नागरिक अधिकार नहीं हैं, जिन्हे वह रद्द न कर सके ।

कानूनी प्रभु सदैव निश्चित और स्पष्ट होता है । वह एक शासक, (जैसे एकतंत्र राज्य में) या एक परिषद् (जैसे प्रजातन्त्र में) हो सकता है । परिषद् बड़ी हो या छोटी, किसी भी समय उसमें एक निश्चित संख्या में सदस्य होते हैं । इस प्रकार क़ानूनी प्रभु एक निर्दिष्ट मानवी सत्ता होता है । वह निश्चित रूप से संगठित और कानून द्वारा स्वीकृत होता है । वही क़ानूनी भाषा में राष्ट्र की इच्छा को घोषित कर सकता है । सब अधिकार उसी से प्राप्त होते हैं । किसी भी व्यक्ति को उसके विरुद्ध अधिकार नहीं होता । क़ानूनी प्रभु सर्वोच्च और निरपेक्ष होता है ।

राजनीतिक प्रभुत्व (Political Sovereignty)—एक अर्थ में इंगलैण्ड में ब्रिटिश पार्लामैंट सर्वोच्च नहीं है । यद्यपि इङ्गलैण्ड में ऐसी कोई सत्ता या अधिकारी नहीं है जो पार्लामैंट के निर्णय को रद्द कर सके या जिसके मत या निर्णय को उसे मानना पड़े किन्तु

उसके पीछे एक सत्ता है जिसके आदेश का उसे पालन करना पड़ेगा और अन्त में जिसकी इच्छा ब्रिटिश राज्य में प्रधान होती है वह निर्वाचक-मण्डल अथवा लोकमत का बल या जनता की शक्ति है। इसलिए यदि हमें सत्ता के अन्तिम आश्रय की खोज करनी है, तो हमें क़ानूनी प्रभुत्व तक पहुँच कर ही नहीं ठहर जाना चाहिये। हमें अपना विश्लेषण आगे बढ़ाना चाहिए और प्रभुत्व की खोज करनी चाहिए जिसके सामने क़ानूनी प्रभु भी नतमस्तक होता है। उसे राजनीतिक प्रभु कहते हैं और उसकी सत्ता राजनीतिक प्रभुत्व कहलाती है।

क़ानूनी तथा राजनीतिक प्रभु में भेद तो स्पष्ट है किन्तु जब राजनीतिक प्रभु की भावना को एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया जाता है तो बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। राजनीतिक प्रभु को लोकमत मानना उचित नहीं है क्योंकि प्रजातान्त्रिक देश मे निर्वाचित विधान-मण्डल ही लोकेच्छा का व्याख्याता माना जाता है। इसका अर्थ तो यह होगा कि जो वास्तव में क़ानूनी प्रभु है, वही राजनीतिक प्रभु भी है। इसके अतिरिक्त लोकमत ऐसी वस्तु है जो स्थायी नही होती। यह सदा किसी न किसी बात से प्रभावित होती रहती है और बड़ी चञ्चल है। जनता को भी राजनीतिक प्रभु मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि वह भी धर्माधिकारियों, ज़मींदारों अथवा सैनिकवादियों के प्रभाव मे हो सकती है। ऐसी अवस्था मे जनता नही वरन् वे व्यक्ति ही राजनीतिक प्रभु बन जॉयगे। जब निर्वाचक-मण्डल को राजनीतिक प्रभु मान लेते हैं तब भी ऐसी ही कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। जहाँ मतदान जनता के एक भाग तक ही सीमित होता है, वहाँ मत न देने वाला विशाल जन समुदाय भी मतदाताओं पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण ही कुछ लेखक राजनीतिक प्रभुता की कल्पना को व्यर्थ मानते हैं। इस प्रकार लीकॉक का कथन है कि राजनीतिक प्रभुत्व के लिये "जितनी ही अधिक खोज की जाती है, उतना ही वह अधिक दूर देख पड़ता है।" यों देखने में तो राजनीतिक प्रभुत्व का विचार अत्यधिक विवेकपूर्ण और तार्किक प्रतीत होता है, किन्तु इसकी अधिक परीक्षा करने पर यह एक राजनीतिक 'आदि कारण' बन जाता है; जिसकी भौतिक विज्ञान की तरह राज्य-विज्ञान के क्षेत्र में व्याख्या नहीं की जा सकती। ऑस्टिन की निश्चित क़ानूनी भावना के बाहर सर्वत्र भ्रान्ति ही भ्रान्ति देख पड़ती है। आधुनिक राज्य मे जिन व्यक्तियों को क़ानून

करना और भी कठिन है। क्या समस्त असंगठित जनता जिसमें स्त्रियाँ तथा बालक भी सम्मिलित हैं प्रभु हैं? इसका उत्तर है—'नहीं'। असंगठित जनता कभी एक प्रभु के रूप में कार्य नहीं कर सकती। यदि हम 'जनता' से तात्पर्य मतदाताओं से लें, तो भी यह स्पष्ट है कि वे भी प्रभु नहीं हो सकते, जब तक कि वे क़ानून द्वारा स्वीकृत माध्यम से अर्थात् अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा कार्य न करें। मतदाताओं द्वारा अनियमित ढग से दिया गया निर्णय उसी प्रकार क़ानून नहीं माना जा सकता जैसे विधान मण्डल के सदस्यों द्वारा स्वीकार किया गया ग़ैर-सरकारी प्रस्ताव। यदि हम तर्क के लिए यह मान भी लें कि किसी अनिश्चित भाव में निर्वाचक प्रभु हैं, तो भी उनकी ओर से प्रभुत्व सत्ता का प्रयोग निरन्तर नहीं हो सकता, वे प्रत्येक प्रश्न पर अपना निर्णय नहीं दे सकते। प्रभुत्व तो सदैव प्रयोग किये जाने की वस्तु है किन्तु निर्वाचक तो समय-समय पर ही कार्य करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र वाले राज्य में इस शब्द के किसी भी प्रचलित अर्थ में निर्वाचकों को प्रभु नहीं माना जा सकता। केवल उन्ही राज्यों मे जहाँ विधान-मण्डल द्वारा स्वीकृत क़ानूनो पर जनता का मत अनिवार्य रूप से प्राप्त किया जाता है अथवा जनता को कानून बनाने का प्रारम्भिक अधिकार (Initiative) है या जहाँ सामान्य इच्छा को व्यक्त करने के लिये जनता एकत्रित होती है, लोक-प्रभुत्व की भावना की उपलब्धि होती है।

किन्तु अप्रत्यक्ष जनतंत्र वाले बड़े राज्यों में भी लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्तों को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इसमें सत्यता नहीं होती तो इसे प्रजातंत्र का आधार नहीं मान लिया जाता। इसका यह अर्थ मानना चाहिये कि राजनीतिक सत्ता का एकमात्र सच्चा स्त्रोत जनता है और समस्त सत्ता का उद्गम जनता से ही होता है। वह (जनता) प्रभुत्व सत्ता का प्रयोग स्वयं नहीं करती वरन् ऐसी सत्ता का प्रयोग समाज में जिस संस्था द्वारा होगा वह जनता की सद्भावना और उसकी अनुमति पर आधारित होगा। जनता विधान-मंडल के कार्य में तथा नीति-निर्माण के कार्य में भाग न ले, किन्तु उसे समस्त वैध सत्ता का स्त्रोत मानना चाहिये। इस अर्थ में यह सिद्धान्त ग्राह्य है और अकाट्य भी है। डा० आर्शीवादम् ने इस सिद्धान्त के निम्नलिखित परिणाम बतलाये हैं :—

(क) शासन का अस्तित्व स्वय अपने हित के लिए नहीं, जनता के हित के लिए है।

(ख) यदि जनता की इच्छा की जानबूझ कर उपेक्षा की जाय, तो क्रान्ति की सम्भावना रहती है।

(ग) लोकमत की क़ानूनी रूप में अभिव्यक्ति के लिए सरल साधन प्रस्तुत करने चाहिए।

(घ) शासन को निम्नलिखित साधनों द्वारा जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी बनाना चाहिये, जैसे समय-समय पर निर्वाचन, स्थानीय स्वराज्य, जनमत सग्रह, जनता द्वारा क़ानून का प्रारम्भिक निर्माण तथा प्रतिनिधियों का वापस बुलाना (Recall) आदि।

(ङ) शासन को अपनी सत्ता का प्रयोग देश के क़ानून के अनुसार ही करना चाहिए, स्वेच्छाचारी ढग से नहीं।

राष्ट्रीय प्रभुत्व—

फ़ैसिज्म ने राज्य का एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। यह लोक-प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करता और उसके स्थान पर राष्ट्र (Nation) के प्रभुत्व का प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्त का यह अभिप्राय है कि राष्ट्र केवल व्यक्तियों के समूहमात्र से कुछ अधिक है; वह एक रहस्यमय एकता है जिसमे अतीत, वर्त्तमान तथा भावी सन्तति का भी समावेश रहता है। उसकी व्यक्तियों की इच्छाओं से भिन्न अपनी इच्छा होती है। यह इच्छा प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त द्वारा मानी हुई लोक-इच्छा या सामान्य इच्छा से भी भिन्न होती है। राज्य के रूप में सगठित राष्ट्र ही प्रभु है। राष्ट्र के हितों तथा व्यक्तियों के हितों में जब संघर्ष या विरोध हो तो राष्ट्र के हित को ही सर्वोपरि होना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति राज्य की पूर्ण आधीनता में रहते हैं। यह सिद्धान्त लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त के, जिसमे व्यक्ति के मूल्य का इतना महत्व है और जो प्रजातन्त्र का मुख्य आधार है, सर्वथा विपरीत है।

क़ानूनी एवं वास्तविक प्रभुत्व—

कुछ लेखकों ने भौतिक बल पर आधारित प्रभुत्व और क़ानूनी अधिकार पर आधारित प्रभुत्व में भेद माना है। पहले को वास्तविक

प्रभुत्त्व (De facto Sovereignty) और दूसरे को वैध प्रभुत्व (De Jure Sovereignty) कहते हैं। यह भेद क्रान्ति-काल में स्पष्ट देखा जा सकता है। जब कोई विजेता या अपहरणकर्त्ता पुराने शासक को बलपूर्वक राजसिंहासन से उतार कर स्वयं अपनी शक्ति के कारण शासन करने लगता है तब उसे वास्तविक प्रभु माना जाता है। हिटलर जर्मनी के सैनिक राज्यपालों के द्वारा शासन करके सन् १९४२ ई० से १९४५ ई० तक हॉलैंड तथा नॉर्वे का वास्तविक प्रभु रहा। काबुल से अमानुल्ला के पलायन के बाद बच्चा सक्का अफगानिस्तान का वास्तविक प्रभु था। जो प्रभु अपनी सत्ता को संविधान या क़ानून पर आधारित करता है और जनता की अनुमति से शासन करता है, वह वैध प्रभु कहलाता है। सामान्य प्रवृत्ति यह है कि धीरे-धीरे दोनों एक हो जाते हैं। जो वास्तविक प्रभु होता है वह वैध प्रभु बन जाता है जब कि उसके द्वारा निर्मित संविधान या क़ानून को जनता स्वीकार कर लेती है। अबीसीनिया पर इटली के राजा का प्रभुत्व आरम्भ में वास्तविक था, किन्तु जब संसार के अन्य राज्यों ने विजय स्वीकार कर ली, तब वह वैध प्रभुत्व हो गया।

ऑस्टिन इस भेद को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रभु सदैव वैध होता है, क्योंकि प्रभु की इच्छा ही कानून है। यह भेद शासनों के संबध में लागू हो सकता है जो वास्तविक और वैध हो सकते हैं। इस प्रकार का भेद करना ग़लत नहीं है परन्तु इसका कोई महत्त्व नहीं है।

ऑस्टिन का प्रभुत्व-सिद्धान्त—

प्रभुत्व के जिन रूपों का हमने विवेचन किया है, उनमें से राज्य-विज्ञान की दृष्टि से क़ानूनी तथा लोक-प्रभुत्व ही सबसे अधिक महत्त्व के है। आधुनिक समय मे पहले सिद्धान्त का विवेचन अनेक विचारकों ने किया है जिनमें बोदाँ, हॉब्स तथा बेंथम के नाम प्रसिद्ध हैं। इसका सर्वोत्तम विवेचन १९ वीं शताब्दी के अंग्रेज़ विद्वान जान ऑस्टिन ने किया है। उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि "यदि एक निर्दिष्ट श्रेष्ठ मानव, जो इसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन करने का अभ्यस्त नहीं हो, किसी समाज के अधिकांश भाग को आदेश देता है, और वह अभ्यस्त रूप से उसका पालन करता है, तो उस समाज में वह निश्चित

मानव प्रभु होता है और वह समाज (उस श्रेष्ठ व्यक्ति सहित) राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज होता है १।" प्रभुत्व की यह परिभाषा उसकी क़ानून की उस परिभाषा पर आधारित है, जिसमें उच्चतम व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिये गये आदेश को क़ानून माना गया है। ऑस्टिन ने आगे यह भी लिखा है कि प्रभुत्व-सम्पन्न व्यक्ति या संस्था द्वारा स्वतन्त्र राजनीतिक समाज के व्यक्तियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से जो कुछ भी आदेश दिया जाय उसके अतिरिक्त क़ानून और कुछ नहीं है।

इसे ठीक-ठीक समझने के लिए इस कथन का विश्लेषण निम्न प्रकार किया जा सकता है। (१) प्रभुत्व सत्ता प्रत्येक राजनीतिक समाज के लिए आवश्यक है क्योंकि उसके बिना कोई क़ानून नहीं हो सकता और क़ानून के अभाव मे कोई राजनीतिक समाज नहीं हो सकता। (२) यह प्रभु सदैव निश्चित होता है चाहे वह एक व्यक्ति हो या संस्था। इसके द्वारा प्रभुत्व के अस्तित्व को अनिश्चित जन-समाज में या अव्यक्त सामान्य इच्छा में मानने से सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। (३) इस निश्चित श्रेष्ठतम मानव के आदेशों का समाज का अधिकांश अभ्यस्त रूप से पालन करता है। इस प्रकार प्रभुत्व का जनता द्वारा आदेश पालन से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिस समाज का बहुमत प्रभु के आदेश का पालन करने का अभ्यासी नहीं होता उसमें वह स्थगित हो जाता है। (४) मानव प्रभु को समस्त नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिए। उसे किसी समाज के अन्दर या बाहर किसी अन्य मानव से आदेश प्राप्त करने का अभ्यास नहीं होना चाहिए। जिसके ऊपर और कोई नहीं होता, वह सर्वोच्च होता है। प्रभुत्व असीमित और निरपेक्ष होता है। (५) क़ानून प्रभु का आदेश होता है। प्रभु की जो इच्छा होती है, उसी का नाम कानून है। समाज के लिये स्वतन्त्र रूप से क़ानून बनाने की सत्ता प्रभुत्व का मुख्य लक्षण है। चूँकि क़ानून प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति है इस कारण कोई भी क़ानून उसके लिए बन्धनकारी नहीं होता। प्रभुत्व क़ानूनी दृष्टि से असीमित है। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि ऑस्टिन ने यह कदापि नहीं माना कि प्रभु की सत्ता पर कोई भौतिक, नैतिक, बौद्धिक या सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं है। उसने केवल राज्य के क़ानूनी निरपेक्ष प्रभुत्व के

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना—

उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रत्येक बात की तीव्र आलोचना की गई है, किन्तु उन सब में कुछ सत्यांश अवश्य है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे पहली आपत्ति यह की जाती है कि यह पूर्वी साम्राज्यों पर और आधुनिक राज्यों पर भी लागू नहीं किया जा सकता। ऑस्टिन ने जिस प्रकार के प्रभु (Sovereign) का प्रतिपादन किया है, उसका अस्तित्व हम कहीं भी नहीं पाते। यहाँ तक कि तुर्की के सुलतान, रूस के ज़ार और भारत के मुग़ल सम्राटों को भी हम इस रूप में नही देखते। हर हेनरी मेन ने अपने महान् ऐतिहासिक ज्ञान के बल पर यह आग्रहपूर्वक बतलाया है कि पूर्वी समाजों मे स्वेच्छाचारी राजाओं की इच्छा ही सर्वोपरि नहीं थी। उनके आदेश ऐसे नहीं थे जिनको ऑस्टिन क़ानून कह सकता। जो नियम प्रजा के जीवन का नियमन करते थे उनका स्रोत अतीत काल से प्रचलित लोकाचार, भावनाओं, विश्वासों और अंधविश्वासों मे था। अधिकांश मामलों में उनका अमल घरेलू न्यायालयों द्वारा होता था, राजाओं द्वारा नहीं। यह विचार कि क़ानून राजा द्वारा निर्धारित किया जाता है, आधुनिक है; प्राचीन समाजों मे इसका अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार ऑस्टिन का सिद्धान्त प्राचीन समाजों पर लागू नहीं होता। आधुनिक राज्यों में भी यह सिद्धान्त उसी समय लागू हो सकेगा, जबकि हम समाज तथा शासन के सभी लक्षणों को एक ओर उठा कर रख दें और केवल बल को ही रहने दें। इस आपत्ति का अर्थ यही है कि यह सिद्धान्त समाज में तथा क़ानून के पीछे काम करने वाले प्रभावों तथा शक्तियों की उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह अपनी प्रकृति में केवल नियमनिष्ठ (Formal) तथा अव्यावहारिक एवं भावात्मक (Abstract) है। जैसा कि सर जेम्स स्टीफ़न ने संकेत किया है, यह सिद्धान्त केवल भावात्मक रूप में ही सत्य है, क्योंकि प्रकृति में एक पूर्ण वृत्त नाम की कोई चीज नहीं है और न पूर्णत: कठोर पदार्थ; या जिस प्रकार कोई ऐसी यांत्रिक प्रणाली नहीं है जिसमें कोई संघर्ष न हो, अथवा ऐसी कोई सामाजिक स्थिति नहीं है जिसमें मनुष्य केवल अपने लाभ के लिए ही काम करता है, उसी प्रकार प्रकृति में भी कोई पूर्ण निरपेक्ष प्रभु (Absolute Sovereign) नहीं है।"* जिस प्रकार वास्तविक वृत्त ज्यामिति-विश

*Quoted by Leacock Elements of Political Science p. 57.

द्वारा निर्दिष्ट समस्त सत्यों को पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता उसी प्रकार किसी वास्तविक समाज में ऑस्टिन के प्रभु का भी अस्तित्व सम्भव नही है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि राज्य और उसके प्रभुत्व की क़ानूनी प्रकृति की कल्पना के रूप में यह सिद्धान्त बिलकुल ही अग्राह्य है। ऑस्टिन ने राज्य मे प्रभु द्वारा प्रयुक्त सत्ताओं की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया।, वह तो केवल प्रभुत्व की कल्पना का अर्थ समझने के लिये उसका विश्लेषण कर रहा था। इस आपत्ति के मूल्यांकन के लिये हमे राज्य की वास्तविक क्षमता और क़ानूनी कल्पना के रूप में प्रभुत्व के बीच भेद करना चाहिये।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि यह राज्य में सच्ची प्रभुत्व-सत्ता के विश्लेषण एवं खोज का कार्य पूर्णता के साथ नहीं करता। यह केवल क़ानूनी प्रभु का ही विचार कर के रुक जाता है और राजनीतिक प्रभु के सम्बन्ध में मौन है,। जिसके सामने वास्तव में उसे झुकना पड़ता है। यह आधुनिक राज्य मे लोकमत के प्रभाव की उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह अपर्याप्त है। राजनीतिक प्रभुत्व के सम्बन्ध मे विचार करने की कठिनाइयों का पिछले पृष्ठों में उल्लेख हो चुका है; अतः उसके सम्बन्ध मे यहाँ अधिक विवेचन अनावश्यक होगा।

इसके विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह है कि निश्चित श्रेष्ठतम मानव की कल्पना प्रभुत्व की दार्शनिक कल्पना के विपरीत है जिसके अनुसार प्रभुत्व सामान्य इच्छा मे है। सामान्य इच्छा की व्याख्या करना कठिन भले ही हो परन्तु उसे केवल कपोल-कल्पना समझना ग़लत होगा। प्रजातन्त्र में विश्वास उसी के आधार पर टिका हुआ है। जो प्रभुत्व सिद्धान्त सामान्य इच्छा पर विचार नही करता, वह वास्तव में अपर्याप्त है। ग्रीन ने भली भाँति प्रमाणित किया है कि ऑस्टिन सिद्धान्त के निश्चित श्रेष्ठतम मानव के आदेशों का समाज का बहुमत इस कारण पालन करता है, कि वह जन साधारण की इच्छा का प्रतिनिधि माना जाता है। समाज को जो चीज सगठित रूप में रखती है वह प्रभुत्व सत्ता की शक्ति या भय नही, वरन् सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना है जिसका दूसरा नाम सामान्य इच्छा है। ऑस्टिन का सिद्धान्त इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि समाज इच्छा पर आधारित है, बल पर नहीं। वह बल पर अनावश्यक ज़ोर देता है और इच्छा के तत्व की उपेक्षा करता है

इस सिद्धान्त का एक दूसरा दोष यह है कि इसकी क़ानून की कल्पना अधूरी है। यह सत्य है कि कोई भी नियम क़ानून का रूप उस समय तक धारण नहीं कर सकता जब तक उसका निर्धारण क़ानूनी प्रभु द्वारा नहीं होता, किन्तु यह भी सत्य है कि क़ानून का स्रोत विधान-मण्डल की इच्छा से भिन्न है। क़ानून का स्रोत लोकाचार, न्याय भावना आदि हैं। क़ानून को केवल प्रभु का आदेश मानना बिलकुल ग़लत है। इस पर आगे विचार किया जायगा।

अन्त में, इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी आक्षेप किया जाता है कि इसने राज्य को पूर्ण स्वेच्छाचारी बना दिया है। आजकल अनेक लेखक यह मानते हैं कि राज्य का प्रभुत्व सीमित है। वे निरंकुश प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इस पर विचार किया जा चुका है।

सब कुछ देखते हुए, क़ानूनी दृष्टि से ऑस्टिन का सिद्धान्त सही है। एक आधुनिक राज्य में जितने भी प्रभाव काम करते हैं उन सब पर हम विचार कर सकते हैं और इस सिद्धान्त से उनका सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, परन्तु ऐसा करने से इस सिद्धान्त की यथार्थता और निश्चितता नष्ट हो जायगी। यदि हम इन गुणों को पसन्द करते हैं तो हमें ऑस्टिन का सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ेगा।

प्रभुत्व का स्थान—

कुछ राज्यों में यह जान लेना सरल है कि निश्चित उच्चतम मानव कौन है जो समाज के बहुमत से अपने आदेशों का अभ्यस्त रूप से पालन कराता है और जिससे श्रेष्ठ और कोई ऐसा नहीं है जिसके आदेश को मानने का वह अभ्यासी हो। इंगलैण्ड जैसे देश में जहाँ वैधानिक क़ानून तथा साधारण क़ानून में कोई भेद नहीं है, पार्लमैंट क़ानूनी प्रभु है। उसकी क़ानून बनाने की सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु अमेरिका के संयुक्त राज्य जैसे देश में जहाँ विधान-मण्डल की क़ानून बनाने की सत्ता पर लिखे संविधान द्वारा प्रतिबन्ध लगे हुए हैं, जिन्हें विधान-मण्डल नहीं हटा सकता और जहाँ सर्वोच्च न्यायालय किसी भी क़ानून को अवैधानिक घोषित कर सकता है, क़ानूनी प्रभुत्व के स्थान को खोजना बहुत ही कठिन है। कुछ विचारकों के अनुसार ऐसे राज्य में प्रभु ऐसी संस्था है जो संविधान में संशोधन कर सकती है। इस प्रकार के उत्तर में

कठिनाई यह है कि संविधान परिषद् समय-समय पर ही काम करती है, निरन्तर नहीं, परन्तु प्रभुत्व का प्रयोग अविराम रूप में होता है।

गैटल प्रभुत्व को "शासन की समस्त कानून निर्माण करने वाली संस्थाओं की समष्टि में मानता है।" क़ानून बनाने वाली संस्थाओं में विधान-मण्डल, न्यायालय (क्योंकि वे क़ानून का निर्माण क़ानूनों की व्याख्या करके करते हैं, प्रशासनाधिकारी (जब कि वे अध्यादेश आदि ज़ारी करते हैं) तथा निर्वाचक-मण्डल (जब वह जनमत संग्रह आदि का प्रयोग करता है) आदि सब आ जाते हैं यह विचार राज्य तथा शासन में भेद नहीं करता। अनेक कानून बनाने वाली सस्थाऐं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है शासन के अँग हैं, उनकी सत्ताएँ मौलिक नहीं हैं। यह मत सन्तोषजनक नहीं है।

क्या सामान्य इच्छा प्रभु है ?—

प्रभुत्व की दार्शनिक कल्पना के अनुसार सामान्य इच्छा (General Will) को ही प्रभु माना जाता है। यह सिद्धान्त क़ानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यह सामान्य इच्छा की कल्पना आधुनिक राज्य-विज्ञान को रूसो की देन है। इस विचार की व्याख्या करना कठिन है। यह सर्वथा भावात्मक है जिसकी स्थिति दृश्य जगत में नहीं है। ग्रीन की व्याख्या के अनुसार सामान्य उद्देश्य वाली सामान्य चेतना को सामान्य इच्छा कह सकते हैं जिसके बिना समाज एक सामूहिक इकाई के रूप में क़ायम नहीं रह सकता। राज्य केवल व्यक्तियों के समूह का ही नाम नहीं है। वह उनकी नैतिक तथा सामूहिक एकता का नाम है। अब प्र[illegible] उठता है कि व्यक्तियों को नैतिक एकता के सूत्र में कौन बाँ[illegible] ग्रीन का उत्तर है—प्रजा या जनता एकता के सूत्र में सामान्य उद्दे[illegible] के सामान्य चेतना के कारण बँधी रहती है। सामान्य उद्देश्य [illegible]मान्य चेतना को सामान्य इच्छा कहा जा सकता है। यह सामान्य चेतना ही अधिकारों को जन्म देती है और उन्हें क़ायम रखने के लिये आवश्यक स्थितियाँ प्रस्तुत करती हैं। इसलिए इसे प्रभु मानना उचित है। ऑस्टिन के निश्चित श्रेष्ठ मानव के आदेशों का पालन समाज का बहुमत इस कारण करता है कि जनता उसे सामान्य इच्छा की साकार प्रतिमा मानती है, वह यह अनुभव करती है कि उसके सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा

से प्रेरित हैं । जिस समय वह उच्चतम मानव सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करना त्याग देता है या जनता का विश्वास-भाजन नहीं रहता तो वह जनता की भक्ति का भी पात्र नहीं रहता । अतः अन्तिम विश्लेषण में; सामान्य इच्छा या सामूहिक ढंग से सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करने वाले समाज से कम कोई वस्तु प्रभु नहीं है ।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा एकात्मक इच्छा है, परन्तु यह एक व्यक्ति की इच्छा नहीं है । यह एकात्मक इच्छा इस अर्थ में है कि यह अपने संघात रूप में समस्त समाज की इच्छा है । बोसानक्वे की भाषा में यह समाज की इच्छा है । इसे जो एकात्मकता प्राप्त होती है, वह उस सामान्य उद्देश्य के कारण होती है जो व्यक्तियों को सम्बद्ध कर एकता के सूत्र में बाँधता है और जो इसके बनने में प्रभाव डालता है । यह इच्छा सामान्य तथा एकात्मक उस समय नहीं रहती, जब कि उसको बनाते समय व्यक्तियों का लक्ष्य सामान्य हित नहीं रहता । यह सब की इच्छा भी नहीं है जिसका अर्थ वैयक्तिक इच्छाओं का योग होता है और जिससे उसका (सामान्य इच्छा का) संघर्ष हो सकता है। वह आवश्यक रूप से बहुमत की इच्छा भी नहीं होती । बहुमत सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता यदि वह स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत लाभ की भावना से प्रेरित होता है । इस प्रकार सामान्य इच्छा जनसंख्या का प्रश्न नहीं है, वह तो भावना या प्रयोजन की बात है । इसका प्रादुर्भाव उस समय होता है जबकि समाज का प्रत्येक सदस्य सार्वजनिक हित को अपना हित बना लेता है और इस प्रकार अपने आप को सब लोगों के साथ समान उद्देश्य में बाँध लेता है । वाइल्ड ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—'एक बुद्धिमान मनुष्य की उस हित की ओर अमिट प्रेरणा, जो (हित) अपना विस्तार करके सामान्य हित में परिणत हो जाता है ।' जो बात ध्यान में रखना चाहिये वह यह है कि इच्छा की सामान्यतया उसके समर्थकों की संख्या से नहीं बनती, वरन् सामान्य हित से बनती है । कभी-कभी महात्मा गांधी जैसी एक आत्म-त्यागी तथा पवित्र आत्मा समाज के बहुमत की अपेक्षा समाज की सामान्य इच्छा को सर्वश्रेष्ठ ढग से प्रतिनिधित्व करती है । इससे हमको सामान्य इच्छा का एक दूसरा लक्षण मिलता है । साधारण इच्छा विवेकपूर्ण एवं तर्क-संगत है । सामान्य इच्छा विवेक से कम नहीं है क्योंकि मानव जीवन के कार्यों के पथ-प्रदर्शन में वह सक्रिय रहता है । मनुष्य

सामान्य इच्छा को अपनी इच्छा समझते हैं और जानबूझ कर उसका आदेश पालन करते हैं क्योंकि प्रत्येक को उसमें अपनी इच्छा दिखाई देती है जो अपनी वास्तविक प्रकृति में विवेकपूर्ण है। हम उसको नागरिकों की असली इच्छाओं का सगठित रूप अथवा उसमे जो कुछ सर्वोत्तम है उसकी अभिव्यक्ति समझ सकते हैं। डॉ० आशीर्वादम् ने उसे नागरिकता की मूर्त भावना कहा है। सामान्य इच्छा पवित्र और निरपेक्ष है, क्योंकि वह विवेकपूर्ण है। विवेकपूर्ण एव पवित्र होने के कारण वह सदैव ठीक होती है। उसका ध्येय उस वस्तु को प्राप्त करना है जो निर्धारित परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ होती है। जो सर्वश्रेष्ठ है उसके संबंध में यदि हमारा निर्णय ग़लत है, तो सामान्य इच्छा भी ग़लत हो सकती है, परन्तु फिर भी वह ठीक है, क्योंकि उसका लक्ष्य सामान्य हित है। जैसा कि स्वयं रूसो ने कहा है—"सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है; किन्तु जो निर्णय उसका पथ-प्रदर्शन करता है वह सदैव उचित नहीं होता।" लॉर्ड ने सामान्य इच्छा के एक दूसरे लक्षण, उसके स्थायित्व की ओर सकेत किया है। यह विचारों तथा हितों के सादृश्य में पाई जाती है, जो लोगों मे परिव्याप्त हो कर उन्हें एक निश्चित रूप देता है। चरित्र, जैसा कि दर्शन-शास्त्र के ज्ञाता हमे बतलाते हैं, इच्छा की स्थायी वृत्ति का नाम है। यह अपेक्षाकृत स्थायी एव निश्चित होती है। सामान्य इच्छा स्थायी होने के कारण "जनता की भावना के तूफान में या राजनीतिज्ञ की तरंगो में, चाहे वह कितना ही लोकप्रिय हो, नहीं होती। वह तो जनता के चरित्र में होती है।" इस प्रकार सामान्य इच्छा अक्षय होती है। उसका नाश जनता के नाश के साथ ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यह कल्पना भावात्मक है; यह एक आदर्श की व्याख्या है जिसे पूर्ण रूप मे कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु अन्य आदर्शों के समान यह सामाजिक जीवन का नियमन करता है और उस सीमा तक इस आदर्श की नित्य प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार यह आदर्श तथा वास्तविक वस्तु दोनों ही है।

सामान्य इच्छा की कल्पना का काफ़ी राजनीतिक महत्त्व है। इसका अर्थ यह है कि राज्य एक सावयव एकता है जिसकी अपनी इच्छा है। वह स्वार्थी तथा असंबद्ध व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है। इस इच्छा का नागरिकों की इच्छाओं से पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता, किन्तु

इसको नागरिकों की इच्छाओं से एकरूप नहीं माना जा सकता। वह उनके आगे निकल जाती है और उनमें प्रवेश कर जाती है और उनमें से किसी मे भी उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरे, यह इस कथन की पुष्टि है कि 'राज्य एक जीवित आदर्श और आध्यात्मिक वास्तविकता है।' यह कोई ऐसी युक्ति नहीं है जिससे व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपना स्वार्थ सिद्ध कर सके। "राज्य का वास्तव में अपने नागरिकों के जीवन से पृथक् कोई जीवन नहीं है, किन्तु उसका जीवन किसी भी व्यक्ति या उसके नागरिकों की किसी पीढ़ी के जीवन से अधिक लम्बा, पूर्ण एव विस्तृत है।" ऑस्टिन के सिद्धान्त की एक मुख्य अपूर्णता इसी मे है कि वह सामान्य इच्छा की कल्पना के विपरीत है।

राज्य-प्रभुत्व के सिद्धान्त की आलोचना—

प्रभुत्व की परिभाषा, अर्थ तथा प्रकारों के सम्बन्ध में विचार करने के बाद हम प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना की आलोचना पर विचार करेंगे। इसकी आलोचना अनेक विद्वानों ने अनेक प्रयोजनों से की है। इसका सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक महत्व भी है। प्रभुत्व सिद्धान्त पर सबसे बड़ा प्रहार बहुवादी करते हैं जो इसे खतरनाक और व्यर्थ मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लेखक तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रेमी राज्य की बाह्य प्रभुता को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सहयोग की अभिवृद्धि में एक बड़ी बाधा मानते हैं। तीसरा आक्षेप यह किया जाता है कानून राज्य से भी पूर्व का है और इस कारण वह राज्य से स्वतन्त्र है। ऐसे भी लेखक हैं जो प्रभुत्व को राज्य का विधायक-तत्व नहीं मानते। अब इन पर विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

(१) राज्य-प्रभुत्व का निषेध—

राज्य-विज्ञान के अनेक लेखक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों को स्वीकार करते हुए भी यह मानते हैं कि राज्य के निर्माण में प्रभुत्व कोई आवश्यक तत्व नहीं है। वे यह कहते हैं कि प्रभुत्व कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है। राज्य के विकास में उसका आकस्मिक घटना के रूप में विकास हुआ है। संक्षेप मे, वह एक ऐतिहासिक वस्तु है। प्राचीन काल में ऐसे भी राज्य थे जो प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं थे, उदाहरणार्थ, मध्ययुग के सामन्ती राज्य। भविष्य में भी ऐसे राज्य हो सकते हैं जो प्रभुत्व-सम्पन्न न हों। उनके अनुसार राज्य और प्रभुत्व आवश्यक रूप से एक रूप नहीं हैं। राज्य का सार तत्व प्रभुत्व

में नहीं ; राज्य-सत्ता में अर्थात आदेश देने और उनका पालन कराने तथा शासन करने की सत्ता में है। वे इसे आधिपत्य (Domination) की सत्ता, समाज को आदेश देने और अपने ही अधिकार से शासन करने की सत्ता कहते हैं। इस अर्थ में संघ के राज्य भी राज्य कहलायेंगे।

प्रभुत्व को राज्य का आवश्यक तत्व माना जाय या नहीं यह लेखक की प्रभुत्व तथा राज्य की कल्पना पर निर्भर है। यदि वह संघ-राज्य के अन्तर्गत इकाइयों को राज्य (State) माने तो वह असीमित राज्य-प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेगा। बहुमत इस पक्ष में नहीं है कि राज्य की कल्पना इतनी विस्तृत हो कि उसमें सघ के राज्य भी सम्मिलित हो जाँय। अनेक लेखक प्रभुत्व और आधिपत्य की सत्ता में कोई भेद नहीं मानते। दोनों ही एक वस्तु हैं, केवल नाम का भेद है।

(२) प्रभुत्व पर बहुवादी आक्रमण—

बहुवादी लेखक प्रभुत्व की आवश्यकता को ही अस्वीकार नहीं करते, वे राज्य-प्रभुत्व के अस्तित्व को भी नहीं मानते। वे इसे कोई कपोल-कल्पना मानते हैं जिसका वर्तमान काल के तथ्यों से कोई सामंजस्य नहीं है। प्रो० लिन्डसे का कथन है कि "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है।" बार्कर का भी मत है कि कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्फल नहीं है जितना कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों का सिद्धान्त। प्रो० लॉस्की का निष्कर्ष है कि "राजनीतिक दर्शन के लिए क़ानूनी प्रभुत्व के सिद्धान्त को समुचित मानना असम्भव है।" उसका विचार है कि प्रभुत्व कल्पना को त्याग देना राज्य-विज्ञान के लिए स्थायी रूप से उपयोगी होगा।" अब हमें उन आधारों पर विचार करना है, जिन पर ये विचार टिके हुए हैं।

(क) बहुवादी राज्य की पुरातन अद्वैत कल्पना को स्वीकार नहीं करते; क्योंकि उसकी राज्य-कल्पना जिसके अनुसार राज्य के अन्दर के समस्त समुदाय उसकी दया पर निर्भर रहते हैं, आजकल के तथ्यों के अनुकूल नहीं है। राज्य हमारे समस्त सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अन्य संस्थाऐं भी आवश्यक हैं। उनका मत है कि राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह-मात्र ही नहीं है जिनका राज्य को छोड़ कर एक

दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो; वह समुदायों का समुदाय है। उसकी इकाइयाँ असम्बद्ध या पृथक् व्यक्ति नहीं है, वरन् वे व्यक्ति हैं जो पहले से ही सामान्य जीवन युक्त समुदायों के रूप में सगठित हैं। ये समुदाय व्यक्तियों तथा राज्य के मध्य में स्थित है। बहुवादी 'राज्य बनाम व्यक्ति' की नहीं 'समुदाय बनाम राज्य' की बात करते हैं। अधिकांश में ये समुदाय राज्य के किसी रचनात्मक प्रयत्न के बिना जन्म लेते हैं और व्यक्तियों की उनके प्रति भक्ति होती है। मैक आइवर का विचार है कि ये महान् समुदाय न तो राज्य के भाग हैं और न केवल उसकी प्रजा ही हैं; उनका अस्तित्व राज्य के समान अपने ही अधिकार से है। राज्य की सत्ता के समान ही उसकी स्वयं अपनी सत्तायें होती हैं। उनमें से कुछ संस्थायें तो ऐसी हैं जो अपने संदस्यों के हितों का राज्य की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व करती हैं और सदस्य उनके आदेशों का पालन अधिक श्रद्धा के साथ करते हैं उनके प्रति उनकी भक्ति भी अधिक होती है। जब ऐसी संस्थाओं के प्रति भक्तिभाव का राज्य के प्रति भक्तिभाव के साथ विरोध होता है, तो संस्थाओं के प्रति भक्ति की विजय हो सकती है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता कि राज्य के प्रतिभक्ति को किसी अन्य संस्था के प्रति भक्ति की अपेक्षा प्राथमिकता क्यों मिलनी चाहिए। राज्य को खुले बाजार में नागरिकों की भक्ति के लिये अन्य संस्थाओं के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में बहुवाद यह नहीं मानता कि राज्य कोई अनुपम संस्था है जिसका अन्य संस्थाओं पर श्रेष्ठता का नैतिक अधिकार है या जो अन्य संस्थाओं से आवश्यक रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्य समुदायों का केवल एक समुदाय है जो अन्य समुदायों के समकक्ष है और जो किसी प्रकार भी उनसे ऊँचा नहीं है। उसे समाज की अद्वितीय प्रभुता नहीं दी जा सकती। उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध समानता का है, आधीनता का नहीं। यदि राज्य भी एक समुदाय ही है तो उसे नागरिकों की भक्ति का अन्य समुदायों से अधिक अधिकार नहीं है। उसका यह दावा कि वह एक स्वाश्रयी तथा अनिवार्य संस्था है, निराधार हो जाता है और अन्य समुदायों का यह दावा प्रमाणित हो जाता है कि उन्हें बिना किसी बाधा एवं नियंत्रण के कार्य करने का अधिकार है। उन्हे कार्य करने की अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। कानून निर्माण तथा नियम की सत्ता पर इस समय राज्य का जो एकाधिपत्य है उसका उसे त्याग कर देना

चाहिए और उसमें अन्य समुदायों को भी भाग मिलना चाहिए। राज्य को कारखानों में काम के घण्टे आदि निश्चित करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। यह प्रश्न तो उन्हीं पर छोड़ दिया जाना चाहिये जो कारखानों में काम करते हैं। इसी प्रकार राज्य को विश्वविद्यालयों तथा धर्म-संस्थाओं पर भी कोई नियन्त्रण नहीं रखना चाहिए। उन्हें अपने हितों की अभिवृद्धि के लिए स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देना चाहिये। समाज के एकात्मक संगठन के स्थान पर संघात्मक संगठन होना चाहिये। समाज के विधायक अङ्गों को अपने कार्यों के संपादन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए; उन्हें अपने क्षेत्र में क़ानून बनाने का अधिकार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में राज्य के कार्य, क़ानून और व्यवस्था की रक्षा, अपराध की रोकथाम और विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा आदि सामान्य कार्यों तक ही सीमित रहने चाहिये।

(ख) प्रोफ़ेसर लॉस्की का यह तर्क है कि राज्य की प्रस्तावित योजनाओं एवं क़ानूनों का जब कुछ समुदाय दृढ़ता से विरोध करते हैं तो राज्य उन्हे वापिस कर लेने के लिए बाध्य हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है राज्य के प्रभुत्व का सिद्धान्त अव्यावहारिक और असमर्थनीय है। उसने इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—सन् १६१४-१८ ई० के महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार वेल्स की खानों के विद्रोही मज़दूरों के विरुद्ध म्युनिशन एक्ट को लागू नहीं कर सकी। संयुक्त राज्य अमेरिका की रेलवे यूनियन ने आम हड़ताल की धमकी दे कर कॉंग्रेस को आठ घण्टे का दिन स्वीकार करने को बाध्य कर दिया। अपने ही देश में राष्ट्रीय भारतीय कांग्रेस के नेतृत्व में जनता के विरोध के फलस्वरूप रौलट बिल का व्यवहार में प्रयोग नहीं हो सका। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि राज्य अपने नागरिकों के सम्बन्ध में सर्व-शक्ति-सम्पन्न नहीं है। उसे ऐसी नीतियों को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, जिनके वह विरुद्ध हो। लॉस्की ने राज्य की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध एक नैतिक तर्क भी दिया है। राज्य व्यक्ति की भक्ति का उस समय तक अधिकारी नहीं, जब तक उसकी अन्तरात्मा उसे आज्ञा न दे, और अन्तरात्मा उस समय तक आज्ञा नहीं देगी जब तक कि राज्य का आदेश नैतिक आधार पर नहीं

होगा। राज्य का मुझ पर अधिकार उसके आदेशों की नैतिकता के अनुपात में है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि राज्य के प्रभुत्व पर बहुवादियों द्वारा जो आक्रमण किया गया है, वह इस इच्छा से प्रेरित है कि समाज में विविध समुदायों को अधिक स्वतन्त्रता मिले और उनके तथा व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा हो जो शासन की बढ़ती हुई सत्ता के कारण बड़े संकट में हैं। आज जिस बात की आवश्यकता है वह राज्य की सत्ताओं पर ज़ोर देने की नहीं, वरन उसकी सत्ताओं पर मर्यादा लगाने की है। नैतिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से राज्य के असीमित प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि हम प्रभुत्व के सिद्धान्त को क़ायम रखना चाहते हैं, तो यह उचित होगा कि हम व्यक्तियों एव समुदायों के जन्मसिद्ध नैतिक अधिकारों द्वारा सीमित प्रभुत्व की बात करें। इस प्रकार बहुवाद आवश्यक रूप से राज्य-विरोधी नहीं है। वह राज्य का अन्त नहीं चाहता, केवल उसकी अपरिमित शक्ति को सीमित करना चाहता है।

जिन तथ्यों का बहुवादी हवाला देते हैं, वे यथार्थ और महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन काल में जब कि राज्य और समाज मे कोई भेद नहीं किया जाता था कुछ भी उचित रहा हो, किन्तु आज हम राज्य को व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अपने में समाविष्ट करने नहीं दे सकते। धर्मसंस्था, पाठशाला, श्रम-संघ तथा राजनीतिक दल आदि वैकल्पिक समुदाय हमारी ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जिन्हे राज्य पूरा नहीं कर सकता। अतः वे हमारी भक्ति चाहते हैं। व्यावसायिक समुदायों को अधिक स्वशासन अवश्य मिलना चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह उनके हितों के सम्बन्ध मे विचाराधीन क़ानून के मसौदों पर उनके प्रतिनिधियों से परामर्श करें। यह सब स्वीकार कर लेने का मतलब यह नहीं है कि राज्य अन्य समुदायों से उच्चतम नहीं है अथवा उसे अन्य समुदायों के समकक्ष कर देना चाहिए। राज्य प्रभुत्व का परित्याग नहीं कर सकता और न अन्य समुदायों को उसमें भाग दिया जा सकता। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि हम मध्य-कालीन अर्द्ध-अराजक स्थिति में पहुँच जायँगे। विविध स्वशासित समुदायों की स्वीकृति का अर्थ यह नहीं है कि राज्य अपनी सत्ता का त्याग कर दे। यही नहीं, विविध संस्थाओं एवं समुदायों के बीच संघर्ष या विवादों को दूर करने के लिये

तथा समुदायों के सदस्यों को उनके अत्याचार से बचाने के लिये राज्य-सत्ता की पहले से भी अधिक आवश्यकता होगी। प्रोफ़ेसर बार्कर ने इस बात को बड़े सुन्दर ढंग से कहा है' 'हम यह देखते हैं कि राज्य को व्यापारिक संघ, राष्ट्रीय संघ या धर्म-संघ की प्रगति के सामने पीछे हटने के लिए निमन्त्रण दिया जाता है। तथापि ये समुदाय चाहे जितने अधिकार प्राप्त कर लें, राज्य परस्पर सामंजस्य स्थापन करने वाली शक्ति बना रहेगा। यह भी सम्भव है कि यदि ऐसे समुदायों को नये अधिकार मिलते हैं तो इससे राज्य को भी लाभ होगा; शायद उसे क्षति की अपेक्षा लाभ अधिक होगा, क्योंकि उसे उस समय अधिक महत्त्वपूर्ण, गम्भीर तथा जटिल समस्याओं का समाधान करना पड़ेगा।'

सामाजिक न्याय की रक्षा, प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तियों एवं समुदायों के विवादों का निर्णय करने तथा सामान्य हितों की अभिवृद्धि के लिए राज्य की सदा आवश्यकता रहेगी। इन कार्यों के सम्पादन के लिए जिस दमनकारी सत्ता की आवश्यकता है, वह एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य मे ही सम्भव है। समुदाय चाहे जितने महत्त्वपूर्ण क्यों न हों उन्हें राज्य के आधीन रहना होगा। प्रभुत्वहीन राज्य की बहुवादी कल्पना समर्थनीय नहीं है। प्रभुत्व की कल्पना राज्य-विधान से बहिष्कृत करने का उसका विचार भी अग्राह्य है। राज्य तथा नागरिकों के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रभुत्व की क़ानूनी कल्पना अत्यन्त आवश्यक है फिर भी प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों की ओर से जो अनुचित दावे किये गये हैं उनकी ओर बहुवादियों ने ध्यान आकर्षित करके महान् सेवा की है। यह स्मरण रखना उचित होगा कि राज्य की सत्ता पर नैतिक मर्यादा का बन्धन है। इससे परम्परागत सिद्धान्त भी इन्कार नहीं करता। वह नैतिक स्वच्छन्दता से भिन्न क़ानूनी स्वच्छन्दता का दावा करता है।

जिन तथ्यों की ओर लास्की ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वे अखण्डनीय हैं। यह देखा गया है कि कभी-कभी राज्य में समुदायों द्वारा प्रतिरोध के कारण शासन अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने में अशक्ति का अनुभव करता है; उसे सार्वजनिक दबाव के सामने झुकना पड़ता है। इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि राज्य अपनी नीतियों के लिए हमारा समर्थन उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वे नैतिक धारणा के विपरीत प्रतीत होती हैं। किन्तु इन सब बातों का राज्य के प्रभुत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये आपत्तियां तो शासन के स्वेच्छाचार

के विरुद्ध हैं। लास्की ने राज्य और शासन के भेद के सम्बन्ध में भ्रान्ति में पड़ कर यह आपत्ति की है।

(ग) राज्य-प्रभुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता—राज्य-प्रभुत्व पर दूसरा आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के कारण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विकास से राज्य के प्रभुत्व पर कई प्रतिबन्ध लग गये हैं। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रभुत्व के सिद्धान्त ने अराजकता की स्थिति पैदा कर दी है। राज्यों के बीच विवादों के शान्तिमय समाधान के मार्ग में यह सिद्धान्त बाधक रहा है। इसने राष्ट्रसंघ (League of Nations) की मानववादी तथा अन्य कार्यों के मार्ग में भयंकर बाधाएँ उपस्थित कीं। सर्वोच्चता की भावना, जिस पर यह सिद्धान्त आधारित है, राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के क्षेत्र में बिलकुल लागू नहीं हो सकता। समस्त राष्ट्र समान हैं (उनके समान अधिकार हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के निर्णय में उनके मत समान नहीं हैं), कोई भी एक राज्य दूसरे राज्य से श्रेष्ठ नहीं है। अतः किसी भी राज्य को अपने मनमाने ढंग से कोई ऐसा कार्य करने नही दिया जा सकता जिसका अन्य राज्यों पर प्रभाव पड़ता है। उसे उनके हितों का भी ध्यान रखना पड़ता है और उनकी स्वाधीनता के लिए समुचित आदर-भाव रखना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के शक्तिशाली समर्थक हैराल्ड लॉस्की ने राज्य-प्रभुत्व के विरुद्ध इस प्रकार अपना विचार प्रकट किया है—'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य.का विचार मानवता के कल्याण के लिए घातक है। जिस ढग से एक राज्य को दूसरे राज्य के साथ व्यवहार करना चाहिए वह ऐसा विषय नही है जिसके सम्बन्ध में राज्य को ही एकमात्र निर्णायक मान लिया जाय। राज्यों का सामान्य जीवन राज्यों के सामान्य समझौते का विषय है! इङ्गलैंड को यह निर्णय नहीं करना है कि वह किस प्रकार के शास्त्र बनायगा और कितने प्रवासियों को अपने देश में आवास की अनुमति देगा। इन बातों का राष्ट्रों के सामान्य जीवन से सम्बन्ध है और इसलिये इसका मतलब यह है कि इसके सम्बन्ध के लिये कोई एक विश्व-संगठन हो।*

एक ऐसे विश्व-संगठन का आदर्श, जिसमें पृथक्-पृथक् राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुता का परित्याग कर दें, व्यवहार्य हो या नहीं परन्तु इससे

* Laski : A Grammar of Politics, p. p, 65-66.

कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य द्वारा अपने प्रभुत्व पर ज़ोर देना राज्यों के बीच सहयोग की भावना के विकास में बाधक रहा है और इसने युद्ध की भावना को प्रोत्साहन दिया है। हम उस समय तक संसार में न्याय की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते और युद्ध बन्द नहीं कर सकते, जब तक कि प्रत्येक राज्य एक दूसरे के सम्बन्ध में अपने हितों का स्वयं अपने को निर्णायक मानता रहेगा और युद्ध के द्वारा अपने हितों की रक्षा करने की प्रणाली का आश्रय लेता रहेगा। मानवता के हितों की यह माँग है कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की कल्पना को अन्तर्राष्ट्रीय विधान से बहिष्कृत कर दिया जाय।

राज्य की आन्तरिक प्रभुता को क़ायम रखते हुये बाह्य प्रभुता का अन्त कर देना असम्भव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान से सम्बद्ध राज्य की सर्वोच्चता का किसी भी प्रकार से उस सर्वोच्च सत्ता से संघर्ष नहीं होता जिसका प्रयोग नागरिकों के सम्बन्ध में किया जाता है।

(घ) राज्य-प्रभुत्व और क़ानून—

राज्य-प्रभुत्व के सिद्धान्त की आलोचना करने वालों मे प्रो० ड्युग्वी का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका यह कथन है कि प्रभुत्वसम्पन्न राज्य मर चुका या मरणासन्न है। वह एक अन्य फ्रेंच लेखक चार्ल्स बेनॉइट के राज्य-प्रभुत्व के सम्बन्ध में इस विचार का समर्थन करते हुए कहता है कि 'प्रभुत्व का सिद्धान्त अपनी उत्पत्ति में मिथ्या है; इतिहास ने भी उसे मिथ्या सिद्ध कर दिया है और सभी बातों का विचार करते हुए यह व्यर्थ एवं खतरनाक भी हैं।' क़ानून की प्रकृति के विषय में उसका अपना सिद्धान्त है जिसके आधार पर वह इस मत का निषेध करता है। वह ऑस्टिन के इस मत को उचित नहीं मानता कि क़ानून प्रभु का आदेश है जिसे बल का समर्थन प्राप्त है। वह इस विचार को भी स्वीकार नहीं करता कि राज्य ही वह सत्ता है जो वैध या अवैध वस्तु में भेद स्थापित करती है। राज्य क़ानून का निर्माण नहीं करता। प्रो० ड्युग्वी के अनुसार क़ानून राजनीतिक संगठन से पूर्व का है, वह उससे श्रेष्ठ है और स्वतन्त्र भी है; वह वस्तुगत है, चेतनात्मक नहीं। क़ानून व्यवहार के नियम हैं, जिन्हें समाज द्वारा प्रदत्त हितों एवं लाभों की रक्षा के लिए व्यक्तियों को मानना चाहिए और उनका पालन करना चाहिये। वे सामाजिक जीवन के परिणाम हैं और सामाजिक एकता की

आवश्यक शर्त हैं। जनता उसका पालन इसलिए नहीं करती कि उसकी रचना ऐसे अधिकारी द्वारा की गई है जिसके पास दमनकारी सत्ता है, वरन् इसलिए कि उनका पालन करके ही सामाजिक जीवन की रक्षा की जा सकती है। इस प्रकार उनका बल मनोवैज्ञानिक है राजनीतिक नहीं। मनुष्यों को क़ानून का पालन कराने मे दण्ड-भय उतना काम नही करता जितनी कि सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति। किसी व्यक्ति या राज्य द्वारा किया गया कोई भी कार्य जो सामाजिक एकता के नियम का उल्लंघन करता है, अवैध है। इस प्रकार क़ानून की मान्यता क़ानून के स्रोत या उत्पत्ति पर निर्भर नहीं है। इसका निर्णय तो उद्देश्य से होता है जिसे वह पूरा करना चाहता है। इस प्रकार क़ानून राज्य को सीमित करता है, राज्य क़ानून की सीमा निर्धारित नहीं करता। क्रैब के भी ऐसे ही विचार हैं। वह भी क़ानून को राज्य से ऊपर और उससे स्वतन्त्र मानता है। इस प्रकार वह इस विचार का खण्डन करता है कि क़ानून राज्य द्वारा बनाया जाता है और प्रभु की इच्छा ही क़ानून है। इसका आधार समाज की न्याय-भावना है, सार्वजनिक उपयोगिता नही।

क़ानून के इस सिद्धान्त मे सत्यांश है। क़ानून राजा या व्यवस्थापक परिषद् के आदेश मात्र ही नहीं हैं। उन पर प्रचलित सामाजिक न्याय-भावना तथा मत का भी प्रभाव पड़ता है। राज्य की कोई एक संस्था क़ानूनों के सार (Content) का निर्धारण नहीं कर सकती। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जनता का मत, उनकी सामाजिक न्याय-भावना, अथवा सार्वजनिक उपयोगिता का विचार ही क़ानून बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। जब तक कोई नियम समुचित अधिकारी द्वारा प्रचारित न किया जाय तब तक वह क़ानून नहीं हो सकता। क़ानून के लिए इन उपर्युक्त बातों से अधिक किसी वस्तु की आवश्यकता है। उक्त प्रभावों द्वारा हमें क़ानून का सार तो प्राप्त हो सकता है; परन्तु उसके रूप (Form) के लिए हमे व्यवस्थापिका परिषद् का आश्रय लेना होगा। क़ानूनी प्रभुत्व का सिद्धान्त क़ानून के रूप पर अधिक ज़ोर देता है, उसके सार पर कम। ड्युग्वी, क्रैब आदि बहुवादी लेखकों ने क़ानूनी प्रभुत्व के दोषों पर प्रकाश डाल कर अच्छी सेवा की है। किन्तु हम पूर्ण रूप से उनके इस विचार का समर्थन नहीं कर सकते कि क़ानून राज्य से

स्वतन्त्र हैं। वास्तविक रूप में राज्य ही कानून बनाता है; वही विभिन्न स्त्रोतों के क़ानून के सार ग्रहण कर उसे क़ानून का रूप देता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि राज्य-प्रभुत्व का परम्परागत सिद्धान्त काफ़ी सही है। बहुवादियों का यह कथन है कि इस युग में उसका खण्डन हो चुका है, अतिशयोक्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने राज्य के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समुदाओं के सामाजिक जीवन में महत्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है। हम उनकी इस मांग का भी समर्थन करते हैं कि राज्य मे इन समुदायों को कार्य करने के लिए पूर्ण सुयोग एवं स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि उनके कुछ अधिकार हैं जिनकी शासन द्वारा अतिक्रमण से रक्षा होनी चाहिए। किन्तु हम बहुवादियों के समान इन संस्थाओं को राज्य के समकक्ष नहीं मान सकते। राज्य को सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए और वे सब आवश्यक सत्ताएँ' भी होनी चाहिए जिससे वह जनता के नैतिक कल्याण की रक्षा और अभिवृद्धि कर सके। उसके प्रभुत्व पर कोई क़ानूनी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता, हाँ, उसे नैतिक मर्यादाओं का पालन अवश्य करना चाहिए। किन्तु राज्य-विज्ञान के लिए राज्य के प्रभुत्व का सिद्धान्त कितना ही आवश्यक क्यों न हो, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में से उसका बहिष्कार होना चाहिए। इस क्षेत्र में उसने बुराई और अव्यवस्था के अतिरिक्त और किसी वस्तु को जन्म नहीं दिया है। क़ानून का सार निश्चित करने में राज्य पर कई बातों का प्रभाव हो सकता है, परन्तु समस्त नागरिकों पर लागू होने वाले क़ानून बनाने का एकमात्र अधिकार उसे ही होना चाहिये।

अध्याय ९

क़ानून (विधि)

पिछले अध्याय मे हमने कई स्थानों पर क़ानून की चर्चा की है। हमें अब इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करना है। इस शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है । प्राकृतिक जगत में इस शब्द से कार्य-कारण संबन्ध प्रकट होता है और मालूम होता है कि घटनाएँ किस प्रकार होती है, उदाहरणार्थ, पानी ढाल के नीचे की ओर बहता है, यह प्राकृतिक क़ानून है। मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन करने वाले नियम भी क़ानून कहलाते हैं। यदि उनका सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा और इरादे से होता है तो वे नैतिक क़ानून कहलाते हैं और यदि उसके बाह्य कामों से तो उन्हें सामाजिक या राजनीतिक क़ानून कहते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि क़ानून कई प्रकार के होते हैं जिनका सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है—(१) प्राकृतिक, जिनके अनुसार प्राकृतिक जगत में घटनाएँ घटती हैं। इन नियमों का मनुष्य निर्माण नहीं करता, वरन् प्राकृतिक जगत में होने वाली घटनाओं को देख कर उन्हें ढूँढ़ निकालता है जो मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अर्थात् तथा-कथित प्राक-सामाजिक अवस्था में काम में आते थे। इस सम्बन्ध में इसके अनेक अर्थ किये गये हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे। (२) नैतिक क़ानून जिनका संबन्ध मनुष्य की इच्छा या इरादे से रहता है। इनसे उचितानुचित तथा अच्छे-बुरे का भेद मालूम होता है । (३) मनुष्य के बाह्य आचरण-सम्बन्धी क़ानून जो दो प्रकार के होते हैं। (अ) केवल समाज द्वारा स्वीकृत क़ानून जिनमें रीति-रिवाज, प्राचीन रूढ़ियाँ आदि सामाजिक जीवन के वे प्रतिष्ठित नियम शामिल हैं जिनका पालन लोकमत के भय से होता है और जिनके उल्लघन के लिये उपहास, निन्दा, सामाजिक बहिष्कार आदि

के अतिरिक्त कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता। (आ) राजकीय क़ानून जो राज्य द्वारा स्वीकृत होते हैं और जिनका भंग होने पर राज्य दण्ड देता है। राज्य-विज्ञान का सम्बन्ध इसी प्रकार के क़ानून से है और यहाँ उस पर ही विचार किया जायगा।

राजकीय क़ानून—

राज्य-विज्ञान की अन्य भावनाओं के समान कानून की कल्पना भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न की है। विलोबी के अनुसार 'आचरण के वे नियम राजकीय क़ानून कहलाते हैं जिनके अनुसार न्यायालय न्याय करते हैं, जो उन अनेक नियमों से जो समाज में न्यूनाधिक मात्रा में सामान्यतया माने जाते हैं भिन्न होते हैं और जिनका पालन अन्ततोगत्वा राज्य की पूरी शक्ति के दबाव के कारण होता है।' हालैंड ने भी कहा है कि क़ानून बाहरी आचरण का 'वह सामान्य नियम है जिस पर प्रभुत्व-सम्पन्न राजनैतिक सत्ता अमल करवाती है।' गेटेल के अनुसार 'क़ानून प्रतिष्ठित विचारों एवं आदतों के उस अंश का नाम है जिसको शासन की सत्ता और शक्ति का समर्थन प्राप्त सामान्य नियमों के रूप में स्पष्ट और नियमानुरूप मान्यता प्राप्त हो चुकी है।' उसका कथन है कि केवल वही नियम जिनकी सृष्टि राज्य करता है या जिन्हे राज्य मानता है और जिन पर अमल करवाता है कानून बनते हैं। ऑस्टिन के मत मे प्रभु का आदेश ही कानून है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में इतना तो मतैक्य है कि राजकीय क़ानून बाह्य आचरण के नियम हैं और राज्य उन पर अमल करवाता है। परन्तु उन नियमों का स्वरूप क्या है इस पर मत भेद है। ऑस्टिन का कथन है कि प्रभु का आदेश ही कानून है, परन्तु गेटेल के अनुसार वे नियम भी क़ानून कहलाते हैं जो पहले से विद्यमान हैं और जिन्हें राज्य ने मान लिया है। इसी प्रकार जनता क़ानून को क्यों मानती है इस पर भी मतभेद है। क़ानून का यथार्थ स्वरूप समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उन विभिन्न सिद्धान्तों की कुछ चर्चा करें जिनके अनुसार विभिन्न लेखकों ने कानून की कल्पना की है।

विश्लेषणात्मक अथवा आदेशात्मक सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक बोदाँ, हाब्स, बेन्थम। ऑस्टिन आदि

थे। वर्तमान काल में इंगलैण्ड में हॉलैण्ड और अमेरिका में विलोबी भी इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं। यह लोग वर्तमान क़ानूनों का विश्लेषण कर के तथा उनकी अभिव्यक्ति के रूप, उनकी मान्यता तथा उन्हें व्यवहार में लाने के ढंग आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण करके क़ानून के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हैं। ऑस्टिन के अनुसार क़ानून प्रभु का आदेश है। उसकी सृष्टि प्रभु द्वारा होती है और वह क़ानून इसीलिये है कि वह उसका आदेश है। उसका पालन इस कारण होता है कि प्रभु की शक्ति उसके पीछे है। जिस नियम को इस शक्ति का समर्थन प्राप्त नहीं है वह क़ानून नहीं कहला सकता। हॉलैण्ड का कथन है कि क़ानून का सब से स्पष्ट लक्षण यह है कि वह नियन्त्रणकारी है।

ऐतिहासिक सिद्धान्त—

विश्लेषणात्मक सिद्धान्त का एक मुख्य दोष यह है कि इसके अनुसार क़ानून प्रगतिशील न होकर निश्चल वस्तु रह जाता है, उसका क़ानून के विकास की ओर ध्यान नहीं जाता। इस दृष्टि से ऐतिहासिक सिद्धान्त के समर्थकों ने उसकी बड़ी कड़ी आलोचना की है। उनका कथन है कि क़ानून प्रभु का आदेश नहीं वरन् प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों का विकसित रूप है। मनुष्य आरम्भ से ही समाज में रहता आया है और तभी से आवश्यकतानुसार सामाजिक नियम बनते रहे हैं जिन्हें लोग मानते आये हैं। सभ्यता की उन्नति के साथ इन नियमों में आवश्यक हेर-फेर और वृद्धि होती रही। इन नियमों में से अनेक राज्य द्वारा स्वीकार कर लिये गये और उनका पालन कराने का भार राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। शेष अब भी समाज में बिना राज्य के समर्थन के वैसे ही माने जा रहे हैं। आजकल भी जो नये क़ानून बनाये जाते हैं उनमें जनता के रीति-रिवाजों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में से मुख्य जर्मनी का सेविग्नी तथा इंगलैण्ड के सर हेनरी मेन, मेटलैण्ड तथा सर फ्रेडरिक पॉलक हुए हैं। मेन ने 'एन्श्येण्ट लॉ' नामक पुस्तक में विश्लेषणवादियों की कड़ी आलोचना की है। इस पर हम ऊपर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं।* उसका कथन है कि प्राचीन जातियों में क़ानून

* पृष्ठ १२०-१२१

धर्म के अंग थे, राजा स्वयं उनको मानता था, उनका निर्माण नहीं कर सकता था और न उनमे कोई परिवर्तन ही कर सकता था। उसने पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अत्यन्त शक्तिशाली और निरंकुश होते हुए भी उसे प्राचीन रीति-रिवाजों के अनुसार ही शासन करना पड़ता था, वह उन्हे हटाकर नये क़ानून बनाने का साहस नहीं कर सकता था। इस प्रकार इतिहास से प्रकट होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि कानून प्रभु का आदेश हो। इसके उत्तर में ऑस्टिन का कथन है कि प्रभु जिसके लिये अनुमति दे दे वह उसका आदेश ही है। किन्तु प्रभु अनुमति देने या न देने से स्वतन्त्र नहीं होता, जिन रीति-रिवाजों को जनता मानती है उनके लिये प्रभु को अनुमति देनी ही पड़ती है। प्रतिष्ठित रीति-रिवाजों में परिवर्तन करने का प्रभु साहस नही कर सकता, नहीं तो उसका अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ सकता है।

(३) दार्शनिक सिद्धान्त—

रूसो, कॉण्ट आदि दार्शनिकों का मत है कि कानून जनता की असली इच्छा (Real will) को प्रकट करते हैं जिसके सामने क्षणिक, तात्कालिक इच्छा (Actual will) से भिन्न सदा नैतिक लक्ष्य ही रहता है। जब हम क़ानून मानते हैं तो हम अपनी ही अन्तरात्मा की सच्ची वाणी को मानते हैं। दार्शनिक दृष्टि से प्रजातन्त्र मे तो यह मत ठीक हो सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में भी जहाँ शासन दलबन्दी के आधार पर होता है इस मत को स्वीकार करना कठिन है। निरंकुश राज्यों में तो जनता की इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त—

प्रख्यात फ्रेञ्च समाजशास्त्री ड्युग्वी और डच लेखक क्रैब का मत हम ऊपर बहुवादी सिद्धान्त की चर्चा करते समय प्रकट कर आये हैं।* उनके विचार में क़ानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं। समाज में ठीक तरह से रहने और सामाजिक जीवन से लाभ उठाने के लिये व्यक्तियों को कुछ नियम पालने पड़ते हैं। यही नियम कानून हैं। लोग

---

* पृष्ठ १६४.

उनका पालन इस कारण नहीं करते कि उनका प्रभु ने आदेश दिया है, और उनका भंग करने पर दण्ड मिलेगा वरन् इस कारण उनका पालन करते हैं कि उनका पालन किये बिना सामाजिक जीवन ठहर नहीं सकता। प्रभु इन कानूनों का निर्माण नहीं करता, केवल ढूँढ़ निकालता है। क़ानून प्रभु को उसके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराते हैं और इस कारण वे उससे भी बढ़कर हैं।

(५) नैतिक सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त क़ानून के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डालता, केवल यह बताता है कि हम उनका पालन क्यों करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम राज्य के क़ानूनों को इस कारण नहीं मानते कि वे प्रभु के आदेश हैं या प्राचीन रीति रिवाज हैं वरन् इसलिये कि वे हमारे अधिकारों और कर्तव्यों का निर्देश करते हैं और हम उन्हें उचित समझते हैं। इस प्रकार क़ानूनों के पालन का आधार हमारी नैतिक प्रकृति के अनुकूल होने के कारण उनका औचित्य है। यही कारण है कि जनता कुछ क़ानूनों को मानती है और कुछ का विरोध करती है। यदि ऐसा नहीं होता तो सभी क़ानूनों का समान रूप से पालन होता। इस सिद्धान्त के समर्थक लॉस्की, * रॉस्को पाउण्ड आदि हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तों में से कोई भी ऐसा नहीं है जो कानून के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करा सके, यद्यपि प्रत्येक में कुछ सत्यांश अवश्य है। आदेशात्मक सिद्धान्त के अनुसार क़ानून प्रभु के आदेश होते हैं परन्तु सभी क़ानून आदेश नहीं होते। कुछ कानून तो आदेशात्मक होते हैं जैसे कर-सम्बन्धी कानून, जिनके द्वारा हमे नियमानुकूल कर देना पड़ता है और यदि न दें तो राज्य की ओर से दण्ड के भागी होते हैं। ऐसे क़ानूनों में निषेधात्मक कानून भी सम्मिलित हैं जिनके द्वारा कुछ प्रकार के कार्य करने की राज्य की ओर से मनाही की जाती है और जिनका भंग करने पर दण्ड मिलता है। परन्तु कुछ क़नून ऐसे होते हैं जो आदेशात्मक नहीं, अनुमतिदायक होते हैं, जैसे मतदान संबन्धी क़ानून। जिस व्यक्ति में मतदाता की योग्यता हो वह मत दे सकता है परन्तु यदि वह अपना मत न दे तो उसे कोई दण्ड नहीं मिलता। यह भी सत्य है कि क़ानूनों का आधार बहुत बड़े अंश तक हमारे प्राचीन रीति-

* Laski ; Grammar of Politics, pp. 288-89.

रिवाज हैं और क़ानून का धीरे-धीरे विकास होता है। परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि बदलती हुई परिस्थिति में राज्य को नितान्त नये क़ानून भी बनाने पड़ते हैं, जैसे कारखानों में आकस्मिक दुर्घटना के लिए श्रमिक को हर्ज़ाना दिलाने की व्यवस्था करने वाले क़ानून, जिनका हमें प्राचीन रीति-रिवाजों में चिन्ह भी नहीं मिलता। बहुत से क़ानून हमारी अन्तरात्मा के अनुकूल होते हैं परन्तु सभी नहीं। यह भी सत्य है कि क़ानून सामाजिक जीवन के परिणाम हैं और व्यक्ति उन्हे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं किन्तु सामाजिक जीवन के आदर्श तथा न्याय की भावना सभी व्यक्तियों में समान नहीं होती और सभी व्यक्ति इस भावना से क़ानूनों का पालन नहीं करते। इस बात से भी हम इन्कार नहीं करते कि हम क़ानूनों को केवल इसीलिए नहीं मानते कि वे प्रभु के आदेश हैं प्रत्युत इसलिए भी मानते हैं कि वे हमारी नैतिक प्रकृति के अनुकूल होने के कारण उचित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपूर्ण होते हुए भी प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ सत्य एवं ग्राह्य तत्व हैं। सभी सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं और इनके तत्वों का उचित समन्वय करके ही हम क़ानून का यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। क़ानून के स्रोत अनेक हैं जैसा हम अभी आगे देखेंगे; उन्हें हम मानते भी अनेक कारणों से हैं। परन्तु इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि क़ानून के लिए राज्य की स्वीकृति आवश्यक है और उसके पक्ष में राज्य का बल होना चाहिए अन्यथा बहुत से लोग उचित होते हुए भी क़ानूनों को नहीं मानेंगे और व्यवस्था बिगड़ जायगी। इस दृष्टि से आदेशात्मक सिद्धान्त अपूर्ण होते हुये भी अधिक ग्राह्य है, उसकी त्रुटियों की पूर्ति अन्य सिद्धान्तों की सहायता से की जा सकती है। क़ानून में जिन-जिन बातों का समावेश होता है वे अनेक स्त्रोतों से प्राप्त होती हैं परन्तु उनको निश्चित और नियमित रूप देने वाली शक्ति प्रभु ही है जिसकी मान्यता प्राप्त किये बिना कोई नियम राज्य की समस्त जनता पर समान रूप से बन्धनकारी नहीं हो सकता और न उसका उपयोग ही न्यायालय न्याय करने में कर सकते हैं।

क़ानून के स्रोत—

हॉलैण्ड ने क़ानून के ६ स्रोत बताये हैं—

(१) रीति-रिवाज—

यह क़ानून का सबसे प्राचीन स्रोत है। प्राचीन काल में समाज में लिखित क़ानून नहीं होते थे। उस समय लोग अपने पारस्परिक व्यवहार मे कुछ रीति-रिवाजों का पालन करते थे जो आदत, अनुभव, उपयोगिता न्याय-भावना आदि के कारण अपने आप धीरे-धीरे बन गये थे या जान बूझ कर बना लिये गये थे। इनके निर्माण में राज्य का कोई हाथ नहीं था। इनका विकास समाज की आवश्यकता के अनुसार होता रहा है और समय-समय पर इनमें परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत से रीत-रिवाज प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। उसका क़ानून के समान आदर होता है और न्यायालयों में भी वे माने जाते हैं। कई रीति-रिवाजों को तो क़ानून का ही रूप दे देता है और वे राज्य के लिखित क़ानूनों में सम्मिलित हो जाते हैं। इङ्गलैण्ड का कॉमन लॉ प्राचीन रीति-रिवाजों का ही संग्रह है।

(२) धर्म—

धर्म का आरम्भ से ही मनुष्य जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल में रीति-रिवाजों और धार्मिक नियमों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था और उनमें कोई भेद नहीं समझा जाता था। अनेक रीतिरिवाज तो ऐसे थे जो धर्म के ही अङ्ग माने जाते थे। समाज में जितने नियम बनाये जाते थे उन पर धर्म की दृष्टि से विचार किया जाता था, उन नियमों का उल्लंघन पाप समझा जाता था और ऐसा विश्वास किया जाता था कि उनका उल्लंघन करने पर ईश्वर दण्ड देगा। इस प्रकार रीति-रिवाज अधिक पुष्ट हो जाते थे और लोग उनका अच्छी प्रकार पालन करते थे। विल्सन ने बतलाया है कि रोम के प्रारम्भिक क़ानून धार्मिक नियमों के संग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं थे। भारतवर्ष में तो व्यक्ति के समस्त जीवन पर धर्म का बड़ा नियन्त्रण रहा है और हिन्दुओं के अधिकांश सामाजिक नियम उनके धर्म-ग्रन्थों के आधार पर स्थित हैं। आजकल भी हिन्दुओं के वैयक्तिक क़ानून (हिन्दू लॉ) का आधार धर्म-शास्त्र है। इसी प्रकार मुसलमानों के वैयक्तिक क़ानून (मुस्लिम लॉ) क़ुरान तथा शरियत के आधार पर बने हुए हैं।

(३) न्यायालयों के निर्णय—

न्यायाधीश न्याय करते समय केवल क़ानूनों को लागू ही नहीं करते वे बहुधा नये क़ानून का निर्माण कर देते हैं। कई बार उनके सामने ऐसे अभियोग आते हैं जिनके सम्बन्ध में क़ानून अस्पष्ट होता है। ऐसे अवसर पर उन्हें क़ानून की अपनी न्याय-बुद्धि और नैतिकता के अनुसार सूक्ष्म व्याख्या करनी पड़ती है और उसे स्पष्ट करना पड़ता है तथा उस व्याख्या के अनुसार अपना निर्णय देना पड़ता है। इस तरह वे क़ानून का विस्तार करते हैं और एक प्रकार से नये क़ानून की सृष्टि करते हैं। बड़े-बड़े न्यायाधीशों के पेचीदा मामलों में दिये हुए निर्णय आगे के लिये प्रमाण बन जाते हैं और दूसरे न्यायाधीश निर्णय करने में उनका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार बने हुए क़ानून न्यायाधीश-निर्मित क़ानून कहे जा सकते हैं।

(४) न्यायाधीश की न्याय-भावना (Equity)—

न्यायाधीश अस्पष्ट क़ानूनों को अपनी व्याख्या द्वारा स्पष्ट करने के अतिरिक्त एक काम और करते हैं। कभी-कभी उनके सामने ऐसे अभियोग भी आते हैं जिनके सम्बन्ध में क़ानून मौन होता है। ऐसे मौक़ों पर वे अपने विवेक तथा अपनी न्याय-भावना के अनुसार अपना निर्णय देते हैं और नये क़ानून का निर्माण करते हैं। इस स्रोत को हम तीसरे में ही शामिल कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार बना हुआ क़ानून भी न्यायाधीश-निर्मित ही है।

(५) वैज्ञानिक विवेचना—

उपर्युक्त रीति से जो काम न्यायाधीश करते हैं वही काम अन्य क़ानून विशारद भी करते हैं। प्रत्येक देश में प्रत्येक युग में बड़े-बड़े नीतिज्ञ, दार्शनिक और क़ानून-विशारद हुए हैं जिन्होंने बड़े परिश्रम से आचार-विचार के नियमों का संग्रह और विवेचन किया है। भारतवर्ष में मनु, याज्ञवल्क्य तथा विज्ञानेश्वर; ग्रीस में सोलन, इङ्गलैण्ड में कोक और ब्लेकस्टोन, अमेरिका में स्टोरी और केण्ट इसी प्रकार के क़ानून-विशारद हुए हैं। आजकल भी बड़े बड़े अधिकारी क़ानून-विशारद, क़ानून की व्याख्या और समालोचना करते हैं, जिसके द्वारा क़ानून स्पष्ट हो

जाता है और उसका विस्तार होता है। वे कभी-कभी क़ानून की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हैं और उनको दूर करने के लिए सुझाव प्रस्तुत करते हैं। अधिकारी विशारदों के मत का न्यायाधीश आदर करते हैं और न्याय करते समय उसको क़ानून के समान ही प्रामाणिक मानकर उसका उपयोग करते हैं।

(६) विधान-मण्डल (धारा-सभा)—

क़ानून का यह स्त्रोत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जितने भी लिखित क़ानून हैं वे सब किसी अधिकारी व्यक्ति या संस्था द्वारा बनाये हुए होते हैं। निरंकुश राज्यों में क़ानून बनाने का अधिकार राजा को ही होता है परन्तु जनतन्त्रीय राज्यों में यह अधिकार जनता के प्रतिनिधि विधान-मण्डलों को होता है जो नये क़ानून बनाते हैं और पुराने क़ानूनों में संशोधन करते हैं या उन्हें अनावश्यक समझ कर रद्द करते हैं। आजकल अधिकांश क़ानून इन्हीं संस्थाओं द्वारा बनाये जाते हैं। कहीं-कहीं जहाँ प्रत्यक्ष जनतन्त्र है वहाँ समस्त नागरिक भी मिलकर क़ानून निर्माण करते हैं। विधान-मंडलों द्वारा निर्मित क़ानून जनता की अभिव्यक्त इच्छा ही है। क़ानून बनाने की इस परिपाटी के कारण अब क़ानून के अन्य स्त्रोतों का महत्व बहुत कम हो गया है। रीति-रिवाज का स्थान अब धारा सभा द्वारा निर्मित सुनिश्चित क़ानूनों ने ले लिया है। क़ानून बनाते समय विधान-मण्डल द्वारा समुचित विचार होने तथा एक ही विषय से सम्बद्ध विभिन्न क़ानूनों का संग्रह करने के कारण अब न्यायाधीश-निर्मित क़ानूनों का क्षेत्र भी संकुचित हो गया है और शास्त्रीय व्याख्याएँ अब मुख्यतः विवाद में काम आती हैं। नये क़ानून के निर्माण में रीति-रिवाज, धार्मिक मत, विवेक-भावना आदि भी काम करते हैं परन्तु अब क़ानून के स्त्रोत के रूप में उनका महत्व नहीं रहा, वे केवल प्रभाव डालने वाले तत्व के रूप में रह गये हैं।

राजकीय क़ानून के भेद—

राजकीय कानूनों के भेद अनेक प्रकार से बताये जा सकते हैं। हॉलैण्ड ने राजकीय क़ानून दो प्रकार के बताये हैं—निजी (Private) और सार्वजनिक (Public)। जो क़ानून नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करते हैं, जैसे सम्पत्ति, वसीयत, ऋण आदि के सम्बन्ध में, वे

निजी क़ानून कहलाते हैं। ऐसे मामले व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में ही होते हैं। जो क़ानून व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं वे सार्वजनिक क़ानून होते हैं। जब कोई व्यक्ति राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करता है, जैसे चोरी, डकैती अथवा हत्या करके, तो उसका मुक़द्दमा सार्वजनिक कानून के अनुसार होता है। ऐसे अपराधों में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाता है परन्तु ऐसे अपराध सार्वजनिक शान्ति एवं व्यवस्था में भी बाधक होते हैं। चूँकि सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करना राज्य का काम है इसलिए इस प्रकार के अपराध राज्य के विरुद्ध समझे जाते हैं। सार्वजनिक क़ानूनों में वे क़ानून भी सम्मिलित होते हैं जिनका राज्य के संगठन और शासन की शक्तियों के वितरण से सम्बन्ध होता है और जो वैधानिक भी कहलाते हैं।

राजकीय क़ानूनों मे राष्ट्रीय (Municipal or National) और अन्तर्राष्ट्रीय (International) कह कर भी भेद किया जाता है। हॉलैण्ड द्वारा निर्दिष्ट निजी और सार्वजनिक क़ानून राष्ट्रीय क़ानून हैं क्योंकि उनके द्वारा राज्य के अन्दर व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का नियमन करने वाले क़ानून अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं।

राजकीय क़ानूनों का एक तीसरी प्रकार से भी वर्गीकरण किया जाता है—वैधानिक तथा साधारण। वैधानिक क़ानून की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। राज्य के अन्दर शेष जितने क़ानून रह जाते हैं वे सब साधारण कानून कहलाते हैं। साधारण क़ानून भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कानून के स्त्रोतों का उल्लेख करते समय हम उनकी कुछ चर्चा कर आये हैं। जिस ढंग के अनुसार कानून का निर्माण होता है उसके अनुसार साधारण क़ानून निम्न प्रकार हो सकते हैं।

(१) साधारण क़ानून (Statute law) जो क़ानून राज्य के विधान-मंडल द्वारा बनाये जाते हैं। कई देशों में वैधानिक कानून का निर्माण भी विधान-मडल करते हैं परन्तु इन दोनों प्रकार के कानूनों में भेद है जिसका उल्लेख अभी हो चुका है।

(२) अध्यादेश (Ordnance) असाधारण परिस्थिति में राज्य के मुख्य अधिकारी को अस्थायी क़ानून बनाने का अधिकार रहता है। जितने समय के लिये वे बनाये जाते हैं उसके बाद वे अपने आप ही

रद्द हो जाते हैं ; उनकी अवधि का विस्तार भी हो सकता है या निर्दिष्ट विधि के अनुसार अवधि के पहले भी वे रद्द हो जाते हैं या किये जा सकते हैं।

(३) न्यायाधीश-निर्मित क़ानून जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

(४) रीति-रिवाज तथा प्राचीन परम्पराओं पर आश्रित क़ानून। इसका वर्णन भी ऊपर किया जा चुका है।

(५) प्रशासनीय क़ानून (Administrative Law)—

ऐसे क़ानून प्रत्येक देश में नहीं होते। इंगलैंड, अमेरिका तथा भारतवर्ष में इस प्रकार के क़ानून नहीं हैं। फ़्रान्स तथा यूरोप के कई अन्य देशों में प्रशासनीय कानून हैं जिनके द्वारा सरकारी कर्मचारियों की विशेष स्थिति और तत्सम्बन्धी उत्तरदायित्व स्थिर किये जाते हैं और उनके प्रति नागरिकों के अधिकारों का निर्देश किया जाता है। यदि कोई कर्मचारी सरकारी कर्नचारी की हैसियत से सरकारी कर्तव्य पालन करते समय कोई अपराध करता है तो उसका न्याय एक पृथक् न्यायालय—प्रशासनीय न्यायालय—में प्रशासनीय क़ानून के अनुसार होता है। उसका मामला साधारण न्यायालयों में नहीं जाता।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून—

वे क़ानून हैं जिनके द्वारा विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है। वे कानून विभिन्न राज्यों में आपस में की हुई संधियों, पारस्परिक समझौतों, प्रथाओं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के निर्णयों और उनके आधार पर निर्मित नियमों पर आश्रित रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वहीं तक राजकीय क़ानून की कोटि में आते हैं जहाँ तक राज्य उन्हें अपना क़ानून मान कर देश में लागू करता है। जिन क़ानूनों को राज्य स्वीकार नहीं करता वे राजकीय क़ानून नही कहे जा सकते।

यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को स्वीकार करना या न करना राज्य की इच्छा पर निर्भर है। स्वीकार कर लेने पर भी यदि कोई राज्य उनका उल्लंघन करता है तो उस राज्य को दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसी कारण बहुत से क़ानून-विशारद जिनमें ऑस्टिन जैसे विश्लेषणवादी मुख्य हैं, इनको कानून की कोटि में रखने

के लिये तैयार नहीं है। उनके मत के अनुसार क़ानून प्रभु का उसके अधीनस्थ जनता को आदेश होता है, उसका स्त्रोत सुनिश्चित होता है, और जनता को उसका पालन करना पड़ता है और उल्लंघन होने पर प्रभु द्वारा निर्दिष्ट ढग से न्यायालय द्वारा दण्ड दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून में इन बातों में से एक भी नहीं हैं। वह किसी प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता का आदेश नहीं है, उसका स्त्रोत भी सुनिश्चित नहीं है, राज्य उसे मानने या न मानने में स्वतन्त्र हैं और उनका उल्लघन करने वाले राज्य को दण्ड देने की युद्ध के अतिरिक्त कोई व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून क़ानून नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के नियम हैं जिनका पालन युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के भय से होता है।

इस मत के विपरीत, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, मेन जैसे ऐतिहासिक क़ानूनज्ञों का कथन है कि क़ानून आवश्यक रूप के प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता का सुनिश्चित आदेश नहीं होता, उसमें कई प्राचीन रीति-रिवाज भी शामिल होते हैं जिनको किसी प्रभु ने कभी जन्म नहीं दिया। क़ानून की वास्तविक कसौटी दण्डमय नहीं, जनता का नैतिक अनुमोदन और उसके फलस्वरूप उसकी सामान्य मान्यता है। राज्य में कई सुनिश्चित क़ानून होते हैं जिनका पालन नहीं होता और जनता के विरोध के भय से शासन उन पर अमल करवाने का प्रयत्न नहीं करता। इस दृष्टि से क़ानून वास्तव में उन नियमों के संग्रह का नाम है जिनको क़ानूनी रूप दे दिया गया है, जिनको सामान्यतया लोकमत का समर्थन प्राप्त है और जिनका पालन वे लोग करते हैं जिनके आचरण का नियमन करने के लिये वे बनाये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को हम यदि इस कसौटी पर कसे तो वह ठीक उतरता है और क़ानून की कोटि में आ जाता है।

यह समस्त विवाद परिभाषा का है। यदि हम क़ानून के आदेशात्मक सिद्धान्त को स्वीकार करें तो 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून' पद में ही विरोधोक्ति है। आदेश देने वाला और उस पर अमल करवाने वाला कोई सुनिश्चित राजनीतिक प्रभु होना चाहिये। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को वास्तविक क़ानून बनाने के लिये एक विश्व राज्य और विश्वप्रभु होना चाहिये। और यदि वह वास्तविक क़ानून है तो वह एक विश्वराज्य का राष्ट्रीय क़ानून हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून नहीं। इसके अतिरिक्त

इस सिद्धान्त के अनुसार आदेश प्रभु द्वारा आधीन लोगों को दिया जाता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तो समान राज्यों के पारस्परिक समझौते द्वारा बनाए हुए नियम हैं, किसी सर्वोपरि शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून नैतिक नियमों का संग्रह मात्र रह जाता है। किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो यह क़ानून नैतिक नियमों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इसके स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की एक प्रकार की राजनैतिक सत्ता में है, इनके द्वारा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे उनका प्रयोग भी होता है। उनके भङ्ग किये जाने पर आर्थिक बहिष्कार, कूटनीतिक बहिष्कार आदि दण्ड दिये जाते हैं और कभी-कभी भङ्ग करने वाले राज्य में सशस्त्र हस्तक्षेप भी होता है, जिस प्रकार आजकल उत्तरी कोरिया में हो रहा है। संसार के अधिकांश राष्ट्र उन्हें मानते भी हैं और उनके अनुसार आचरण भी करते हैं। इनका आधार भी वही अनुमति और बल है जो राजकीय क़ानून और राजनीतिक प्रभु का होता है। इन्हीं बातों को देखते हुए गेटेल का कथन है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून अपूर्ण रूप से संगठित राजनीतिक संसार में एक अर्ध-विकसित और अपूर्ण क़ानून है तो भी उसके नियम क़ानून की सीमा पर जा पहुँचे हैं और केवल नैतिक नियमों का सग्रहमात्र न हो कर वह वास्तविक क़ानून हैं। उनमे जो त्रुटियाँ हैं वे वहीं हैं जो विकास की प्राथमिक अवस्था में सभी क़ानूनी व्यवस्थाओं मे होती हैं। यदि क़ानून की परिभाषा को कुछ विशद कर दें ताकि उसमे किसी भी जनसमूह के बाह्य आचरण के वे सब नियम आ जॉय जिन पर उस जनसमूह की सामान्य अनुमति से आन्तरिक विवेक बुद्धि नहीं वरन् कोई बाह्य शक्ति अमल करवा सके तो अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के नियम वास्तविक क़ानून कहे जा सकते हैं।*

प्राकृतिक क़ानून और मानवीय क़ानून—

इस अध्याय के आरम्भ में हमने क़ानून शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख किया था और मोटी तौर पर क़ानून का त्रिविध वर्गीकरण किया था—प्राकृतिक, नैतिक तथा मानवीय (जिनका मनुष्य के बाह्य

*Gettell : Political Science, p. 455.

आचरण से सम्बन्ध होता है)। यहाँ इन विभिन्न प्रकार के क़ानूनों के भेदों पर कुछ विशेष प्रकाश डालना उचित होगा।

जिस प्रकार क़ानून शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उस प्रकार प्राकृतिक क़ानून के भी अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ में तो इससे प्राकृतिक (भौतिक) जगत की घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकट करने वाले नियमों का बोध होता है। इस अर्थ में यदि हम इन क़ानूनों को भौतिक क़ानून कहें तो अनुचित नहीं होगा। सामाजिक समझौते वालों ने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था में काम में आने वाले नियमों को प्राकृतिक क़ानून कहा है। नागरिकों की सर्वोच्च एवं सर्वतोमुखी उन्नति के लिये जो आदर्श क़ानून किसी भी राज्य में माने जाने चाहिये उन्हें भी ग्रीन जैसे लेखकों ने प्राकृतिक क़ानून कहा है।* इसी प्रकार प्राकृतिक क़ानून के अन्य अर्थ भी हैं।

भौतिक नियमों के अर्थ में प्राकृतिक क़ानून और मानवीय क़ानून में बड़ा अन्तर है। भौतिक नियमों से तो यह प्रकट होता है कि भौतिक जगत में घटनाऐं किस प्रकार घटती हैं परन्तु मानवीय क़ानून बतलाते हैं कि मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिये; वे मनुष्य के आचरण पर नियन्त्रण लगाते हैं। भौतिक नियमों की प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण द्वारा खोज की जाती है, वे बनाये नहीं जाते, किन्तु मानवीय क़ानूनों का मनुष्य द्वारा निर्माण होता है। भौतिक नियम सर्वदा सत्य हैं और उनके अनुसार सदा काम होता रहता है, चाहे मनुष्य जाने या न जाने, किन्तु मनुष्यकृत मानवीय नियमों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। कुछ लागू किये जा सकते हैं, कुछ नहीं और कुछ अनावश्यक प्रमाणित होने पर रद्द कर दिये जाते हैं। यदि कोई घटना भौतिक नियम के प्रतिकूल होती है तो वह घटना ग़लत नहीं होती वरन् यही समझा जाता है कि उस नियम में त्रुटि थी और उस त्रुटि को दूर कर सत्य नियम की खोज की जाती है। किन्तु यदि मनुष्य किसी मानवीय क़ानून के विपरीत आचरण करता है तो क़ानून ग़लत नहीं समझा जाता, उसका आचरण ही क़ानून-विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता है। भौतिक नियम सर्वत्र और सदा स्थिर, निश्चित और एक से होते हैं; उनका भंग नहीं हो सकता और उनके

* Green : Lectures on the Principles of Political Obligation. p. 33.

विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु मानवीय कानून देशकाल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न होते हैं और बदलते रहते हैं। उनका विरोध हो सकता है और वे भंग भी किये जा सकते हैं।

मानवीय व्यवहार का नियमन करने वाले नियमों के रूप में प्राकृतिक कानून के अर्थ के सम्बन्ध में, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, बड़ा मत-भेद है और उसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा देना संभव नहीं है। समय-समय पर इसके अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। प्राकृतिक क़ानून की कल्पना सबसे पहले यूनानी दार्शनिकों ने की थी। उनका विश्वास था कि विश्व का संचालन किसी आधार भूत सिद्धान्त द्वारा होता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने प्रकृति का नाम दिया। उनके विचार के अनुसार भौतिक और नैतिक जगत की घटनाएँ कुछ सरल और सामान्य नियमों के अनुसार होती हैं जिन्हें प्राकृतिक नियम कह सकते हैं। यह कल्पना स्टॉइक (Stoic) दार्शनिकों के मस्तिष्क में विकसित हुई। उन्होंने बतलाया कि विश्व का संचालन करने वाला सिद्धान्त ईश्वरीय विवेक है और प्राकृतिक नियम उसी ईश्वरीय विवेक की अभिव्यक्ति हैं। मनुष्य भी विश्व का अग है, इस कारण उसका भी नियमन यही विवेक करता है। इस प्रकार प्राकृतिक नियम विवेक के नियम के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। और बुद्धि के द्वारा उनका पता लगाया जा सकता है। ईश्वरीय विवेक पर आधारित होने के कारण ये नियम नित्य और सर्वत्र सत्य हैं। समस्त राज्यों के क़ानून इन्हीं नियमों के अनुरूप होने चाहिये।

जब रोम ने ग्रीस पर विजय प्राप्त कर ली तो प्राकृतिक नियम का सिद्धान्त रोम की कानून-व्यवस्था मे प्रविष्ट हो गया। पहले रोम में केवल एक प्रकार का क़ानून था—'जस सिविल' (Jus Civile)—जो केवल रोमन लोगो पर लागू होता था परन्तु बाद मे स्टॉइक दार्शनिकों के प्रभाव के और कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण एक दूसरे प्रकार का कानून 'जस जेन्टियम' (Jus Gentium) का निर्माण हुआ जो रोम के आधीन उन समस्त जातियों के लिये था जिन पर 'जस सिविल' लागू नहीं हो सकता था। धीरे-धीरे यह विश्वास बन गया कि जस जेन्टियम वास्तव मे प्राकृतिक क़ानून है जो समस्त जातियों पर लागू हो सकता है और 'जस जेन्टियम' का नाम भी 'जस नेचुरल' (Jus Naturale) हो गया। बाद में मध्य-युग के धार्मिक तथा दार्शनिक

लेखकों ने भी इस कल्पना को अपनाया। इस प्रकार यह कल्पना क़ानून में क्षेत्र से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जा पहुँची और प्राकृतिक क़ानून एक नैतिक आदर्श बन गया। कई लेखकों ने उसकी ईश्वरीय नियम से एकरूपता बताई और इस प्रकार यह आवश्यक हो गया कि राजा उसके अनुसार शासन करे और प्रजा उनका पालन करे। यदि राजा प्राकृतिक नियमों अर्थात् ईश्वरीय नियम का उल्लंघन करे तो प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने के कर्त्तव्य से मुक्त हो जाती है। इस विचार में हमें आधुनिक प्रजातन्त्रीय विचारों का पूर्वाभास मिलता है।

आधुनिक युग में हॉब्स, लॉक, स्पिनोज़ा, रूसो आदि ने अपने समझौते के सिद्धान्त की नींव प्राकृतिक अवस्था और उसमें काम में आने वाले प्राकृतिक क़ानून पर रखी परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, इन लोगों की प्राकृतिक क़ानून की कल्पना समान नहीं थी। आगे चल कर इस कल्पना का प्रयोग व्यक्तिवाद के समर्थन में हुआ। स्पेन्सर ने बतलाया कि प्राकृतिक क़ानून केवल एक है और वह है मनुष्यों का स्वतन्त्रता का समान अधिकार। इसके आधार पर उसने व्यक्तिवाद का समर्थन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृतिक क़ानून के विषय में एक मत का बिलकुल अभाव है। प्राकृतिक क़ानून ही क्या, प्रकृति शब्द के ही अनेक अर्थ किये जाते हैं। ब्राइस ने बतलाया है कि रोमन क़ानूनज्ञ प्रकृति शब्द का प्रयोग ६ अर्थों में करते थे। ऐसी दशा में प्राकृतिक क़ानून की कल्पना का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं रह जाता। हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इसमें मानने वाले कई अधिकारी लेखकों का उद्देश्य कुछ ऐसे आदर्श नियमों को बनाना रहा है जिन पर व्यावहारिक जीवन में आचरण हो सके। आज भी हम इस कल्पना को आदर्श क़ानून के अर्थ में ग्रहण करते हैं और इसके आधार पर राजकीय नियमों में सुधार होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त इस कल्पना का आधुनिक क़ानून पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ा है। हमने ऊपर क़ानून के स्रोतों में विवेक की चर्चा की है जो स्टॉइक दार्शनिकों की कल्पना के अनुसार प्राकृतिक क़ानून का तत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के आधार में भी प्राकृतिक क़ानून की कल्पना विद्यमान् है। जूरी द्वारा जो न्याय होता है उसमें भी इस क़ानून की कल्पना काम करती है क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि कई मनुष्य मिल कर स्वाभाविक

न्याय को अधिक अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल प्रत्येक सभ्य राज्य में जीवन और सम्पत्ति के अधिकार सुरक्षित रहते हैं जो प्राकृतिक क़ानून की धारणा के अनुकूल है।

इस प्रकार यदि हम प्राकृतिक क़ानून को आदर्श क़ानून के अर्थ में ग्रहण करें तो भी हमें प्राकृतिक क़ानून और मानवीय क़ानून में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। प्राकृतिक क़ानून आदर्श हैं। उनका किसी ने निर्माण नहीं किया, विवेक और तर्क से उनकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसके विपरीत मानवीय क़ानून मनुष्यकृत और सुनिश्चित होते हैं। आदर्श होने के कारण प्राकृतिक क़ानून सर्वत्र और सदा एक रहते हैं परन्तु मानवीय क़ानून देश काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रारम्भिक क़ानून आदर्श होने के नाते परिपूर्ण और त्रुटि रहित होते हैं परन्तु मानवीय क़ानून पूर्णता में उनको नहीं पाते, उनमें अनेक त्रुटियाँ रहती हैं जिनका समय-समय पर संशोधन द्वारा निराकरण किया जाता है। सर्वत्र मानवीय क़ानूनों को यथासम्भव पूर्ण और निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार आदर्श क़ानून तक पहुँचने की कोशिश की जाती है।

राजकीय क़ानून और नैतिक क़ानून—

दूसरे अध्याय में हम राज्य-विज्ञान और नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कर चुके हैं और उसके द्वारा राजकीय क़ानून और नैतिक क़ानून का पारस्परिक सम्बन्ध भी बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है। क़ानून और नैतिकता के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय हमें नैतिकता के दो रूपों में भेद करना चाहिये। सिजविक ने आदर्श नैतिकता (Individual morality) और यथार्थ नैतिकता (Positive morality) में भेद किया है। आदर्श नैतिकता से तात्पर्य व्यक्ति की नैतिक भावना, उसके उचितानुचित, भले-बुरे की भावना का है। इस प्रकार वह वैयक्तिक नैतिकता है। यथार्थ नैतिकता से तात्पर्य सामाजिक नैतिकता का है। किसी भी समय समाज में उचितानुचित तथा भले-बुरे की जो सामान्य भावना होती है उसे सिजविक ने यथार्थ नैतिकता कहा है। जब हम क़ानून और नैतिकता की तुलना करते हैं तो वह तुलना क़ानून और यथार्थ नैतिकता की होती है।

क़ानून और नैतिकता में बहुत अन्तर है। नैतिकता का सम्बन्ध

पालन व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आदेश से या लोकमत के भय से करता है।

किन्तु इतना अन्तर होते हुये भी दोनों मे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध भी है। मानवीय क़ानून और नैतिक क़ानून दोनों का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है और चूंकि मनुष्य वही है इस कारण इन दोनों में कुछ समानता होना स्वाभाविक है। दोनों की उत्पत्ति सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक युग में मनुष्य की आदतों और उसके अनुभवों से हुई, जब कि नैतिक और राजनैतिक विचारों में कोई भेद नहीं था। प्राचीन काल में दोनों एक ही थे। किन्तु जब राज्य ने एक स्पष्ट संस्था का रूप धारण कर लिया और राजकीय क़ानून नैतिक नियमों से पृथक् हो गये तो भी दोनों का सम्पर्क बना रहा। समाज में जिन नैतिक विचारों का प्राधान्य होता है उनका समावेश राज्य के क़ानूनों मे धीरे-धीरे हो जाता है और जो क़ानून समाज की नैतिक भावना के प्रतिकूल होते हैं उन पर अमल नहीं हो पाता और उन्हे रद्द करना पड़ता है। जो कानून समाज पर ऐसे नैतिक विचार लादना चाहता है जिनके लिए वह तैयार नहीं, उन पर भी अमल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मद्य-निषेध का उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार नैतिकता सदा क़ानून पर प्रभाव डालती रहती है। इसके साथ ही किसी अंश तक कानून भी समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक देश में समाज का नैतिक आदर्श होता है और वह क़ानून की सहायता से उस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। किसी समाज का नैतिक आदर्श कैसा है यह उसके क़ानून को देख कर मालूम किया जा सकता है। क़ानून समाज की नैतिकता का दर्पण है।

क़ानून का उद्देश्य—

हम अभी क़ानून और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करते हुये बतला आये हैं कि कानून समाज को अपने नैतिक आदर्श की ओर बढ़ने में सहायक होते हैं। इससे हमें क़ानून के उद्देश्य का आभास मिलता है। यहाँ हम इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे। जैसा हम बतला चुके हैं क़ानून मनुष्य के बाह्य आचरण के नियम हैं। ये नियम अनेक प्रकार के हैं परन्तु जिन नियमों को राज्य स्वीकार कर लेता है या बनाता है वे क़ानून की कोटि मे आते हैं। इस तरह एक प्रकार से, जैसा कि ऐतिहासिक क़ानून विशारदों ने कहा है,

क़ानून राज्य से भी पहले की वस्तु है। वास्तव में नियम सामाजिक जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। जहाँ कई लोग मिल कर एक साथ रहते हैं वहाँ नियमों का होना अनिवार्य है। नियमों द्वारा मनुष्य की स्वच्छंदता पर नियत्रण लगता है। यदि नियम न हों तो प्रत्येक मनुष्य अपनी मनमानी करने लगेगा और ऐसी अवस्था में सामाजिक जीवन संकट में पड़ जायगा। जो शक्तिशाली होंगे वे अपने बल से निर्बलों का जीना हराम कर देंगे। इसीलिये जहाँ कई लोग मिल कर एक साथ रहते हैं वहाँ नियम अपने आप ही बन जाते हैं। प्रारम्भिक समाज में जब जीवन सरल था तो नियम थोड़े ही थे परन्तु जब जीवन में जटलिता आने लगी तो नियमों की सख्या बढ़ने लगी और सामाजिक संगठन भी बढ़ने लगा। धीरे-धीरे राज्य का संगठन हुआ और जो नियम सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिये बहुत ही आवश्यक थे उनका पालन कराने का भार राज्य ने ले लिया। इस प्रकार वे क़ानून बन गये। इनका प्राथमिक उद्देश्य था समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनुष्य की अनियंत्रित स्वतन्त्रता पर रुकावट डाल कर वैयक्तिक शक्ति के प्रयोग के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देना, लोगों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या करना और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करना आदि कामों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार समाज में शान्ति और सुव्यवस्था क़ायम होती है और क़ानून का प्राथमिक उद्देश्य पूरा होता है। ग्रीन ने क़ानून की जो परिभाषा की है उसमे उसके उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख है। उसके अनुसार अधिकारों और कर्तव्यों की जिस व्यवस्था पर राज्य अमल करवाता है उसी का नाम क़ानून है। परन्तु क़ानून का काम इतने ही से पूर्ण नहीं हो जाता। हम ऊपर लिख चुके हैं कि क़ानून समाज को अपने नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर होने में सहायता करता है। समाज का नैतिक आदर्श है व्यक्ति का अधिकतम नैतिक विकास और उसके द्वारा समाज की प्रगति है। अधिकारों तथा कर्तव्यों की व्यवस्था से राज्य में सुव्यवस्था तो क़ायम हो सकती है परन्तु उससे व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायता भी मिलेगी इसकी गारण्टी नहीं दी जा सकती। अधिकारों और कर्तव्यों की व्यवस्था राज्य के उद्देश्य पर निर्भर रहती है। लास्की का कथन है कि क़ानून राज्य के लक्ष्य की पूर्ति करते हैं जो किसी भी समय राज्य में

वर्तमान वर्ग सम्बन्ध (Class-relations) द्वारा निर्धारित होता है इस तरह क़ानून का काम समाज के वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों को क़ायम रखना होता है। 'सामन्ती राज्य में राज्य का उद्देश्य वही होता है जो भूमि-पतियों का होता है और क़ानून उसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। पूंजीवादी राज्य (जैसे इङ्गलैण्ड) में क़ानून के सार का निर्धारण पूंजी-पतियों द्वारा होता है। समाजवादी राज्य (जैसे रूस) में, जहाँ उत्पादन के साधनों के सामान्य स्वाम्य (Common Ownership) के कारण एक वर्ग के हित समस्त समाज के हितों के आधीन हो गये हैं, क़ानून का सार इसी तथ्य के द्वारा निर्धारित होता है।' * यदि वर्तमान राज्यों के क़ानूनों पर दृष्टि डाली जाय तो लास्की के कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी। किसी भी देश में राजनीतिक सत्ता उसी वर्ग के हाथ मे होती है जिसके हाथ में आर्थिक सत्ता होती है। फलत: राज्य के क़ानून भी उसी के हित में होते हैं और ऐसे समाज में व्यक्ति का पूर्ण विकास संभव नहीं होता। इसलिये व्यक्ति की उन्नति के मार्ग में बाधा डालने वाली जितनी बुराइयाँ हैं। (जैसे अज्ञान, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में असमानता आदि) उन्हें यथाशक्ति दूर करना और व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने मे सहायता देने के लिये उसकी बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति करना कानून का दूसरा और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हो जाता है। रॉस्को पाउण्ड ने कानून के चार प्रयोजन बतलाये हैं—(१) शान्ति स्थापन, (२) सभी व्यक्तियों के लिये अवसर की समानता सुलभ करना, (३) व्यक्ति के विकास मे उपस्थित बाधाओं का निराकरण, (४) व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति। † ये प्रयोजन वही हैं जिनका हमने अभी उल्लेख किया है।

अच्छे और बुरे कानून—

राज्य में सभी कानूनों का समान रूप से पालन नहीं होता। किन्ही क़ानूनों का पालन लोग अपनी इच्छा से और सरलता से करते हैं, किन्हीं का पालन दण्ड के भय से होता है और कई कानून ऐसे होते हैं जिनका लोग दण्ड का भय होते हुए भी विरोध करते हैं। इस सम्बन्ध

---

* Laski : A Grammar of Politics, pp. IX–X

† R. Pound : An Introduction to the Philosophy of Law. pp. 72–89, quoted in I. Ahmad: The First Principles of Pol., p. 192.

में हम अच्छे और बुरे कानून के भेद पर कुछ प्रकाश डालेंगे। कानून-विशारद क़ानून के संबंध में अच्छे-बुरे के भेद को निरर्थक समझते हैं। उनका मत है कि अच्छा और बुरा यह नैतिक भेद है, क़ानून का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं, वे तो स्वरूप में अनैतिक होते हैं। वे क़ानून इस कारण नहीं हैं कि उनका कोई नैतिक उद्देश्य है वरन् इस कारण हैं कि वे प्रभु के आदेश हैं जिनका पालन करना आवश्यक है। उन्हें क़ानून का स्वरूप इसी ज़रिये से मिलता है, न कि उनके उद्देश्य या आशय से। सभी क़ानून प्रभु के आदेश हैं, इस कारण सभी समान रूप से माननीय हैं। परन्तु यह मत मान्य नहीं हो सकता। क़ानून का केवल रूप (Form) ही नहीं होता, बग़ैर आशय और उद्देश्य के क़ानून कानून नहीं हो सकता। क़ानून बग़ैर उद्देश्य के नहीं हो सकते और वह उद्देश्य है सार्वजनिक कल्याण। क़ानून के अच्छे बुरे की पहिचान इसी कसौटी पर होनी चाहिये। जो क़ानून इस उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायक होता है वह अच्छा है और जो बाधक है वह बुरा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि क़ानून निष्पक्ष हो और समानता के सिद्धान्त का घातक न हो। ऐसा न हो कि किसी एक वर्ग को उसके उचित अधिकारों से भी अधिक प्राप्त हो सके और दूसरे वर्ग के न्यायोचित अधिकार भी छिन जाँय। उसे समाज की नैतिक भावना के अनुकूल होना चाहिये। बेन्थम ने अच्छे क़ानून के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं—(१) स्थायित्व—क़ानून जल्दी-जल्दी नहीं बदलना चाहिये। इससे जनता को अड़चन होती है और उनका पालन करने का अभ्यास नहीं हो पाता। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिये कि क़ानून आवश्यकता पड़ने पर भी न बदला जाय और स्थितिपालक बन जाय। यदि ऐसा हुआ तो वह प्रगति में बाधक हो जायगा। (२) व्यापकता—क़ानून निष्पक्ष रूप से समस्त जनता के लिये समान होना चाहिये। (३) सरलता—जिससे लोगों को उसे समझने में कठिनाई न हो। (४) पालने में सरलता—क़ानून ऐसा होना चाहिये जिसका लोग सरलता से पालन कर सकें। यदि उसका पालन करना कठिन होगा तो उसके भंग किये जाने की सम्भावना रहेगी। बेन्थम ने अच्छे क़ानून के जो लक्षण बताये हैं वे ठीक हैं परन्तु उसने क़ानून की सच्ची कसौटी, उसके उद्देश्य—सार्वजनिक हित—की चर्चा नहीं की। किसी क़ानून में उसके बतलाये हुए सब लक्षण हो सकते हैं

परन्तु यदि उससे सार्वजनिक हित की सिद्धि नहीं होती तो वह कानून अच्छा नहीं कहा जा सकता।

आजकल प्रायः सभी सभ्य देशों मे जनता के प्रतिनिधियों द्वारा क़ानून बनाने की व्यवस्था है जिससे अवांछित क़ानून बनने का डर नहीं रहता, फिर भी ऐसे क़ानून बन जाने की संभावना रहती है जो हानिकर हो। ऐसे क़ानून का विरोध करना और उसे रद्द करवाना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। परन्तु इसके लिये प्रयत्न करने के पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि क़ानून वास्तव में बुरा है या नहीं। यदि यह क़ानून किसी की व्यक्तिगत हानि करता है तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी कसौटी तो सार्वजनिक हित है। हाँ, यदि कोई क़ानून किसी बुरे वर्ग के विरुद्ध हो तो वह अवश्य बुरा है। किसी क़ानून को बुरा बतलाने के पहले यह भी देख लेना चाहिये कि जनता में से अधिकांश समझदार व्यक्ति भी उसे बुरा समझते हैं या नहीं। जब यह निश्चय हो जाय कि कोई क़ानून वास्तव में बुरा है और समझदार व्यक्ति उसे बुरा समझते हैं तो उसे रद्द कराने के लिये नागरिक का कर्त्तव्य है कि जनता का ध्यान उसकी बुराइयों की ओर आकर्षित करे, अखबारों मे लेख लिखे, सभाओं में भाषण दे, प्रदर्शन करे तथा सरकार के पास आवेदनपत्र भेजे। इस आन्दोलन का परिणाम यह होगा कि सरकार को उस क़ानून के विरुद्ध जनमत का पता चल जायगा और वह उस पर पुनर्विचार करने को मजबूर होगी। यदि देश मे जनता की प्रतिनिधि-संस्थाएँ हैं तो उनमें प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्ताव प्रस्तुत किये जांय और चुनाव के समय उसी प्रश्न को सामने रखे। यदि देश में पूर्ण जनतत्र हो तो इस प्रकार के वैध आन्दोलन द्वारा इस कानून को रद्द करवाने में सफलता मिलेगी। परन्तु फिर भी यदि वह रद्द नहीं होता तो उस अन्यायपूर्ण क़ानून का विरोध आवश्यक हो जाता है। ग्रीन का मत है कि सभी वैध उपायों के असफल हो जाने पर विरोध उचित होगा, अनिवार्य नहीं, क्योंकि सरकार का विरोध करने से राज्य की शान्ति और सुव्यवस्थाओं में बाधा पहुँचती है। सार्वजनिक शान्ति और सुव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। एक या दो अन्यायपूर्ण बातों का मूल्य उसके सामने कुछ नहीं है। राज्य की अवहेलना करना सार्वजनिक शान्ति को खतरे में डाल कर समस्त सामाजिक जीवन को अव्यवस्थित कर देना है और एक या दो

आवश्यक अधिकारों की प्राप्ति के लिये अन्य समस्त अधिकारों की हानि का खतरा उठाना है। * लास्की का मत है कि यदि लोकमत मेरे पक्ष में न भी हो और मै अन्याय से सहमत न हो सकूँ तो विरोध करना मेरा कर्त्तव्य है। † परन्तु विरोध करते समय उसके लिये एक अच्छे नागरिक की तरह दण्ड स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये। दण्ड से दूर भागना कायरता ही नहीं, राज्य के प्रति, जिसने हमारे साथ इतनी भलाई की है, कृतघ्नता भी है। सुकरात ने सरकार का विरोध किया और सहर्ष मृत्यु-दण्ड स्वीकार किया। महात्मा गांधी का भी यही मत था। उन्होंने अहिंसात्मक असहयोग द्वारा जो उपाय अन्याय-पूर्ण क़ानून के विरोध करने का बतलाया है वह अद्वितीय है। उससे सफलता मिलती है और साथ ही अव्यवस्था फैलने का डर नहीं रहता। परन्तु इस उपाय को बहुत सोच विचार कर और अनिवार्य होने पर ही काम मे लाना चाहिये। क़ानून का विरोध करने का अधिकार साधारण नहीं है। यदि बारम्बार इस अधिकार का प्रयोग किया जाय तो जनता में क़ानून के लिये जो आदर भावना होनी चाहिये वह शिथिल पड़ जायगी और उसके साथ राज्य की व्यवस्था में भी शिथिलता आ जायगी जो उसके अस्तित्व के लिये खतरनाक होगी।

अन्यायपूर्ण क़ानून का विरोध तो आवश्यक होता है परन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं अच्छे क़ानूनों पर अमल करना और दूसरों को उन पर अमल करने मे सहयोग देना नागरिक का कर्त्तव्य है। राज्य में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने और प्रत्येक व्यक्ति को अपने उन्नति के लिये स्वतन्त्रता देने के लिये क़ानूनों पर अमल करना आवश्यक होता है। इसी कारण जो लोग क़ानून तोड़ते हैं उन पर रुकावट लगाना आवश्यक होता है। प्रत्येक राज्य क़ानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। सरकार का दण्ड देने का अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता में उसी प्रकार बाधक नहीं होता जिस प्रकार क़ानून बाधक नहीं होते। वास्तव में अपराधी को दण्ड दे कर ही राज्य नागरिकों को एक दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक होने से रोकता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और दण्ड-नीति पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

* Green : Lectures on the Principles of Political Obligations, pp. 115-120.

† Laski ; A Grammar of Politics, pp. 289-90,

अध्याय १०

स्वतन्त्रता

गत अध्याय मे यह निर्देश किया गया था कि अनेक विचारकों के राज्य-प्रभुत्व के सिद्धान्त को अस्वीकार करने का एक कारण यह था कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल था। यह प्रश्न किया जाता है कि यदि राज्य सर्वोपरि एव सर्वशक्तिमान हो तो व्यक्ति उसमे कैसे स्वतन्त्र रह सकता है। राज्य की सत्ता नागरिक की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण है। इन दोनों में सामंजस्य नहीं है। यदि राज्य स्वेच्छाचरी या निरंकुश है तो व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता और यदि व्यक्ति को स्वतन्त्रता है तो राज्य की प्रभुता टिक नहीं सकती। राज्य-प्रभुत्व तथा नागरिक की स्वतंत्रता के सम्बन्ध पर इस प्रकार विचार करने का कारण है राज्य और उनके कार्यों के सम्बन्ध में ग़लत विचार। इसका विवेचन व्यक्तिवाद तथा अराजकता सम्बन्धी साहित्य मे मिलता है। किन्तु यह सर्वथा ग़लत धारणा है। ये दोनों परस्पर सम्बन्धित विचार हैं। राज्य की प्रभुता के अभाव में व्यक्ति के लिये सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नही और राज्य के अस्तित्व का हेतु इस तथ्य मे है कि प्रभुत्व-सत्ता के माध्यम द्वारा स्वतंत्रता का वह वातावरण उत्पन्न करता है जिसमे व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है। इस अध्याय का उद्देश्य यह दिखलाना है कि स्वतत्रता राजनीतिक रूप में सगठित समाज में ही सम्भव है और प्रभु-सत्ता को माने बिना स्वतत्रता शब्द में कोई सार नहीं रहता। स्वतत्रता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है। अतः उन पर यहाँ विचार करना उचित होगा।

यथार्थ स्वतन्त्रता (Positive Liberty) तथा निषेधात्मक स्वतन्त्रता—

सबसे प्रथम यथार्थ तथा निषेधात्मक स्वतत्रता में भेद करना आवश्यक

है। जब यह मान लिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उस पर आरोपित प्रत्येक प्रतिबंध अनुचित है अतः उसका अंत कर दिया जाना चाहिये (जैसा कि अराजकतावादी मानते हैं), तो ऐसे लोगों का तात्पर्य निषेधात्मक स्वतंत्रता से है, जिसका अर्थ है स्वतत्रता पर प्रतिबंध मात्र का अभाव। इसे प्राकृतिक स्वतंत्रता भी कहा जा सकता है। यह इस शब्द का अवैज्ञानिक प्रयोग है और इसके लोग अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं। साधारण रूप में इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी बाधा के इच्छानुसार कार्य करे। इसका अर्थ है व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाय। जिन लोगों का ऐसा विश्वास है कि राजनीतिक समाज की स्थापना से पूर्व मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे वे मानते हैं कि उस कल्पित अवस्था में लोग इसी प्रकार की स्वतत्रता का उपभोग करते थे। नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना प्राकृतिक स्वतत्रता का अतिक्रमण है। इसी प्रकार रूसो का विचार है कि सामाजिक समझौता (Social Contract) से मानव ने अपनी प्राकृतिक स्वतत्रता तथा अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के असीमित अधिकार को खो दिया।

इस पर थोड़ा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वतन्त्रता सब चाहते हैं और जो मानव जीवन की सबसे आवश्यक और आधारभूत शर्त है वह इस प्रकार की स्वतत्रता नहीं है। एक व्यक्ति की जैसा चाहे वैसा काम करने की स्वतत्रता एक समय में एक व्यक्ति के लिये ही हो सकती है। अत्यंत शक्तिशाली व्यक्ति ही ऐसी स्वतत्रता का भोग कर सकता है ; दूसरे व्यक्तियों को उसका दास बनकर रहना पड़ेगा। इस प्रकार जो ऐसे व्यक्ति की स्वतत्रता है वह अन्य व्यक्तियों की दासता होगी। यदि कुछ बलवान् व्यक्ति हों, जो अपनी इच्छा की सन्तुष्टि करने की शक्ति रखते हों, तो उनमें लगातार संघर्ष होता रहेगा और इसका परिणाम यह होगा कि उनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक समय में समस्त व्यक्तियों की असीमित स्वतंत्रता असम्भव है। यह परस्पर विरोधी विचार है। एक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतत्रता दूसरे व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण करेगी और इस प्रकार सब की प्राकृतिक स्वतंत्रता नष्ट हो जायगी। इस प्रकार प्राकृतिक स्वतंत्रता कदापि सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती। यह स्वतत्रता का निषेध है। इस अर्थ में स्वतंत्रता स्वीकार नहीं की जा सकती।

नागरिक स्वतन्त्रता—

जिस वस्तु की इच्छा है और जो अभीष्ट है वह है यथार्थ स्वतंत्रता (Positive Liberty)। इसका अर्थ है एक व्यक्ति की इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता, परन्तु इस शर्त पर कि दूसरे व्यक्ति की कार्य करने की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न हो। यह प्रत्येक ऐसे कार्य करने की स्वतन्त्रता है, जिससे दूसरे की हानि नहीं होती। यही सर्वाधिक स्वतन्त्रता है, जिसकी एक व्यक्ति मांग कर सकता है, अर्थात् व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार काम करने की उस समय तक स्वतन्त्रता हो जब तक वह इसी प्रकार की दूसरे की स्वतन्त्रता मे कोई बाधा न डाले। इस प्रकार की स्वतन्त्रता सदैव सीमित होती है। इन प्रतिबन्धों का सब व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है। यथार्थ स्वतन्त्रता का सब व्यक्ति समान शर्तों पर समान रूप से भोग करते हैं। इसके यथार्थात्मक और निषेधात्मक दोनों पहलू हैं। निषेधात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ है दूसरों की ओर से स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप का अभाव। यथार्थात्मक पक्ष मे उसका अर्थ है 'स्वतन्त्र कार्य करने का अधिकार, आत्माभिव्यक्ति एव आत्म-विस्तार की सुविधा। लास्की के शब्दों में स्वतन्त्रता अपना विस्तार करने की शक्ति है, बाहर से आरोपित किसी प्रतिबन्ध के बिना व्यक्ति द्वारा अपने जीवन का पथ पसन्द करने की स्वतंत्रता।

दूसरों के द्वारा स्वतंत्रता के उपभोग में हस्तक्षेप से मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी अधिकारी की आवश्यकता है। इस प्रकार की सत्ता बिना किसी समुचित केन्द्रीय संगठन के संभव नहीं। जो संगठन समस्त व्यक्तियों की प्राकृतिक स्वतंत्रता को सीमित करके समाज के समस्त व्यक्तियों के लिए दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्त स्वतंत्रता को प्राप्त करा सकता है वह राज्य ही है। अपनी प्रभुता के कारण और क़ानून की व्यवस्था द्वारा राज्य सब व्यक्तियों को समान स्वतत्रता की गारंटी करता है। यथार्थ स्वतंत्रता राज्य में ही संभव है। यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता-क्षेत्र को सीमित कर देने की उसकी सत्ता द्वारा वास्तविक स्वतंत्रता बनती है। इसे ही कभी-कभी नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty) कहते हैं। राज्य की प्रभुता और निषेधात्मक या प्राकृतिक स्वतंत्रता में चाहे जो असगति हो किन्तु राज्य-प्रभुत्व तथा नागरिक स्वतंत्रता मे कोई विरोध या असंगति नहीं हो सकती।

नागरिक स्वतंत्रता से राज्य-सत्ता का विरोध तो तनिक भी नहीं है, वरन् राज्य-सत्ता करने योग्य कामों को करने की स्वतंत्रता के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। राज्य-सत्ता के अभाव का अर्थ है नागरिक स्वतंत्रता का विनाश। रिची ने सत्य ही कहा है कि "आत्म-विकास के लिए सुयोग के अर्थ मे स्वतन्त्रता कानून की सृष्टि है। वह कोई ऐसी वस्तु नही है जो राज्य के कार्य से स्वतन्त्र होकर रह सके। राज्य-सत्ता या क़ानून का पालन स्वतन्त्रता की शर्त है, उसका निषेध नहीं। लीकॉक के इन शब्दों मे इसका सार मिलता है—'कोई भी स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्ति को छोड़, किसी के लिए पूर्ण एवं निरपेक्ष नहीं हो सकती। जो स्वतन्त्रता सब के उपभोग की है उसके लिये प्रत्येक व्यक्ति के कार्य पर अनिवार्य रूप से प्रतिबन्ध होता है। यह राज्य का कार्य है कि वह इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगावे और इस प्रकार वह स्वतन्त्रता को जन्म दे।"*

यह प्रमेय कि राज्य-सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता परस्पर एक दूसरे को पृथक् नहीं रखती, वरन् राज्य-सत्ता स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए अत्यन्त आवश्यक है, स्वतः सिद्ध सत्य मालूम होती है। लॉक के इस कथन की सत्यता से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि जहॉ कोई क़ानून नहीं वहॉ कोई स्वतन्त्रता भी नही हो सकती। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि देश में अनेक क़ानून होते हैं, किन्तु सभी क़ानून स्वतन्त्रता की गारंटी नहीं करते। परतंत्र राज्यों में विदेशी सत्ता प्रायः ऐसे क़ानून बनाती है जो राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन करते हैं। ऐसे दमनकारी क़ानून स्वतन्त्रता की शर्त नहीं कहे जा सकते। केवल वे ही क़ानून स्वतन्त्रता की शर्त कहे जा सकते हैं जो न्यायपूर्ण तथा बुद्धिसंगत हैं और जो सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वतन्त्रता स्वयं आरोपित क़ानून का पालन करने में है; उस क़ानून के पालन करने में नहीं है जो हमारे आत्म-विकास की प्रवृति को विफल कर देता है। मनुष्य उस समय स्वतन्त्र नहीं है जब कि उसे ऐसे क़ानूनों को मानना पड़ता है जिसे उसकी विवेक-बुद्धि अवांछनीय ठहरा कर अस्वीकार कर देती है और जिसका वह विरोध करता है। ऐसी परिस्थितियों में सत्ता तथा स्वतन्त्रता के बीच विरोध अवश्य है किन्तु जब तक राज्य स्वयं अपने प्रति सच्चा हो और वह अपने उच्च नैतिक ध्येय

* Leacock op. cit., p 70

की पूर्ति के लिए प्रयत्न शील रहता है जब तक क़ानून नागरिकों को स्वतंत्रता की प्राप्ति में सहायता अवश्य देते हैं।

नागरिक स्वतन्त्रता का सार—

चूँकि यथार्थ स्वतंत्रता, जिसका अर्थ है बिना किसी बाहरी बाधा के विस्तार तथा विकास करने की सत्ता, व्यक्ति के लिए राजनीतिक रूप से संगठित समाज द्वारा सम्भव है इसलिये इसका नाम नागरिक स्वतंत्रता अधिक उपयुक्त है। नागरिक स्वतंत्रता राज्य द्वारा निर्मित एवं रक्षित अधिकारों तथा विमुक्तियों का नाम है जैसे शरीर की स्वतंत्रता, जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा, क़ानून के समक्ष समता, अन्तरात्मा की स्वतत्रता, भाषण तथा विचार एवं कार्य की स्वतत्रता, जीविका की स्वतंत्रता आदि संक्षेप में नागरिक की स्वतत्रता उन समस्त नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों से बनती है जिनकी राज्य द्वारा नागरिकों को गारण्टी दी जाती है। भिन्न-भिन्न युगों तथा राज्यों में ये अधिकार भिन्न-भिन्न रहे हैं। आज भी समस्त सभ्य राष्ट्र अपने नागरिकों को समान अधिकार नहीं देते। नागरिक स्वतत्रता की मात्रा जिसका हमारे देश-बन्धु ब्रिटिश राज्य मे उपभोग करते रहे हैं, वह उससे कहीं कम थी जिसका अँग्रेज़ अथवा फ्रेंच अपने देश मे उपभोग करते हैं। इसका कारण यह है कि भारत में ब्रिटेन तथा फ़्रान्स की भांति लोकप्रिय शासन नहीं था। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि किसी राज्य में नागरिक स्वतंत्रता के विस्तार से इस बात का पता चल सकता है कि उस देश मे लोकप्रिय शासन कहाँ तक है। सोवियत रूस के संविधान द्वारा उसके नागरिकों को ऐसे अधिकार प्रदान किए गए हैं जो अंग्रेज़ों को भी प्राप्त नहीं है; जैसे वेतन के साथ काम करने का अधिकार, वृद्धावस्था तथा रोगावस्था में भौतिक सुरक्षा का अधिकार आदि।

जहाँ तक नागरिक स्वतंत्रता का यह अर्थ है कि राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों के उपभोग में दूसरों द्वारा हस्तक्षेप से मुक्ति हो वहाँ तक उसकी रक्षा करना राज्य का सदैव मुख्य कर्तव्य माना गया है, किन्तु यह मान्यता कि शासन द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता पर होने वाले अतिक्रमण से उसकी रक्षा की जाय, नवीन है। ऐसे संविधान हैं जो नागरिकों को ऐसे अधिकार प्रदान करते हैं जिनसे सरकार भी उन्हें वंचित नहीं कर सकती। यह बात अमेरिका के संयुक्त राज्य के संविधान के सम्बन्ध में

सच है। यह संविधान शासन को व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप करने, निर्यात कर लगाने तथा किसी नागरिक को पदवीदान करने का निषेध करता है। ऐसे अधिकार तथा विमुक्तियाँ भी नागरिक स्वतंत्रता में सम्मिलित हैं। ब्रिटेन में ऐसे अधिकार नागरिकों को प्राप्त नहीं है क्योंकि वहाँ वैधानिक क़ानून तथा साधारण क़ानून में कोई भेद नहीं है। कुछ लेखक ऐसी विमुक्तियों को संवैधानिक स्वतंत्रता भी कहते हैं। किन्तु यह शब्दावली अधिक लोकप्रिय नहीं है। जहाँ इस प्रकार की स्वतंत्रता है, वहाँ वह नागरिक स्वतंत्रता का ही अंग मानी जा सकती है। कुछ अमेरिकनों के समान केवल संविधान-परिषद् द्वारा प्रदत्त अधिकारों को ही नागरिक स्वतंत्रता मानना उचित नहीं मालूम होता। यही अच्छा है कि राज्य जितने भी अधिकार और विमुक्तियाँ प्रदान करता है वे सभी नागरिक स्वतन्त्रता में समाविष्ट समझी जाँय।

राजनीतिक स्वतन्त्रता—

प्रारम्भ मे नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत राजनीतिक अधिकारों का समावेश नहीं था। स्वेच्छाचारी शासकों अथवा कुलीन-तन्त्र के विरुद्ध जो लोग अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़े थे उनका नागरिक स्वतन्त्रता से केवल यही मतलब था कि उनके नागरिक अधिकार स्वीकृत हों और स्वेच्छाचारी सत्ता के प्रयोग से उन्हें सुरक्षा मिले। रोमनों तथा यूनानियों ने इसका यही अर्थ ग्रहण किया था और जिन ब्रिटिश रईसों और पादरियों ने राजा से मेगना कार्टा नामक अधिकारपत्र प्राप्त किया था, उसका भी यही विचार था। किन्तु यह शीघ्र ही विदित हो गया कि नागरिक अधिकारों की स्वीकृति मात्र से ही स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश सत्ता से उनकी रक्षा नहीं हो सकी। इसके लिए जनता के हाथ में ऐसी सत्ता होनी चाहिए कि वह शासन को इन नागरिक अधिकारों का आदर करने के लिए बाध्य कर सके। यह कार्य राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political freedom) की प्राप्ति से ही हो सकता था। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों को राज्य-कार्यों में सक्रिय भाग लेने का, विधान-परिषद् में अपने प्रतिनिधि चुन कर भेजने तथा पद-ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिये। जहाँ प्रजातन्त्र है, वहीं राजनीतिक स्वतन्त्रता है। यह लोक प्रिय शासन या स्वशासन का दूसरा नाम है। यह नागरिक स्वतत्रता की पूरक है। राजनीतिक सत्ता के अभाव में संविधान अथवा देश के क़ानून

द्वारा प्रदत्त अधिकारों का कुछ भी मूल्य नहीं। अब तक हमारे यहाँ देशी रियासतों में जनता को कोई नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, क्योंकि उन्हें कोई राजनीतिक अधिकार नहीं थे।

आर्थिक स्वतन्त्रता—

जिस प्रकार प्राचीन काल में रोमनों तथा यूनानियों और अंग्रेज़ों को यह प्रकट हुआ कि राजनीतिक सत्ता के बिना नागरिक अधिकारों का कोई अधिक मूल्य नहीं, उसी प्रकार जिस ढंग से आज के पूँजीवादी प्रजातांत्रिक देशों में शासन-प्रबन्ध होता है, उससे मज़दूरों को यह भली भाँति प्रकट हो गया है कि केवल मतदान के अधिकार तथा प्रतिनिधि का पद पा लेने मात्र से शासकों द्वारा उनके आर्थिक शोषण से रक्षा नहीं हो सकती। वर्तमान् औद्योगिक युग में राजनीतिक सत्ता आर्थिक सत्ता की दासी बनी हुई है। जो राष्ट्र में आर्थिक जीवन का नियंत्रण करते हैं, वे ही राजनीतिक सत्ता का भी प्रयोग करते हैं। मज़दूरों को राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों के मिल जाने पर भी वे आज अपने पूर्वजों से अधिक स्वतन्त्र नहीं हैं जिन्हे ये अधिकार प्राप्त नही थे। वे अपने जीवन-स्तर को उच्च नही बना सकते। इसमे पद-पद पर उन्हे नैराश्य एव विफलता का सामना करना पड़ता है। अतः सर्वत्र यही माँग सुनाई पड़ती है कि जनता को सच्ची स्वतन्त्रता देने तथा उसे अपने आत्मविकास के लिए सुयोग देने के लिए उसे आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र बनाना चाहिए; औद्योगिक जीवन का संगठन इस प्रकार से होना चाहिए कि मज़दूर पूँजीपति के बन्धन से मुक्त हो जाय और उसे अपने श्रम का समुचित फल मिले। दूसरे शब्दों में, समाज की सबसे महान् आवश्यकता जनता के लिये आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना है। समाजवादी लेखक स्वतन्त्रता के इस अर्थ पर अधिक जोर देते हैं।

उपर्युक्त दलीलों का सार इस प्रकार दिया जा सकता है। एक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त हो इसके लिए कई बातों की आवश्यकता है। प्रथम, जिस समुदाय से उसका सम्बन्ध है उसे स्वतन्त्र होना चाहिए। इसे हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कह सकते हैं। द्वितीय, प्रजातन्त्र की स्थापना होनी चाहिए। जब राज्य की नीतियों का निर्धारण एक निरकुश शासन अथवा कुछ लोगों के हाथ में ही होता है तो व्यक्ति को जो कुछ वह अच्छा समझता है उसे करने की कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं हो

सकती। तृतीय, निजी पूंजी का अन्त होना चाहिये। जब तक कि पूंजी-पति वर्ग का शासन में प्राधान्य है और वह मज़दूरी की अवस्थाएं निर्धारित करता है तब तक समाज के एक बहुत बड़े भाग को कोई सच्ची स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इस कारण जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है राजनीतिक, आर्थिक अथवा औद्योगिक स्वतन्त्रता की स्थापना, या यों कहिये एकतन्त्र, अल्पजनतन्त्र और पूंजीवाद का नाश। इस प्रकार 'स्वतन्त्रता की समस्या व्यक्ति को खोज निकालने की तथा उसे उन अनेक सामाजिक परतों से मुक्त करने की समस्या है जो उसका दम घोंटते रहते हैं और उसके कार्य में बाधक बने रहते हैं।*'

नैतिक स्वतन्त्रता—

यह सम्भव है कि नागरिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी व्यक्ति को इनसे कोई लाभ न पहुँचे, यदि उसे नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त न हो। नैतिक स्वतन्त्रता सबसे महान् स्वतन्त्रता है; यही वास्तव में अन्य प्रकार की स्वतंत्रताओं को वास्तविक मूल्य या महत्त्व प्रदान करती है। नैतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि हम सत्य का पालन कर सकें और जो वास्तव मे उचित है, उसी को हम कर सकें, इसलिये कि वह उचित है; हम विवेक द्वारा काम कर सकें और अपनी इन्द्रियों को विवेक के वश मे रख सकें। महाकवि मिल्टन ने कहा है—'यह समझलो कि स्वतंत्र होना सदाचारी होने, बुद्धिमान होने, संयमी, न्यायकारी, मितव्ययी, सन्तोषी, उदार तथा वीर होने के समान है।' जो व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धि के विरुद्ध इच्छा करता है और कार्य करता है, वह सबसे बड़ा ग़ुलाम है और उसका जीवन सबसे दुःखी है। वह अपने नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग अपने सुधार के लिए नहीं वरन् पतन के लिए करेगा। किन्तु नैतिक स्वतत्रता कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, राज्य उसे व्यक्तियों के लिए प्राप्त नहीं कर सकता। इसे तो नागरिकों को स्वयं प्राप्त करना है। राज्य उसे प्राप्त करने में सहायता करता है। नैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति समाज या राज्य में ही सम्भव है क्योंकि इसके द्वारा ही व्यक्ति अपनी प्रच्छन्न शक्तियों को जान पाता है और उनके विकास के साधन प्राप्त करता है।' इस प्रकार राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन का आधार है।

* Wilde, op. cit., page 194,

वैयक्तिक स्वतन्त्रता—

लास्की जैसे बहुवादी और मिल जैसे व्यक्तिवादी नैतिक स्वतन्त्रता के स्थान पर वैयाक्तिक स्वतन्त्रता की चर्चा करते हैं। इससे उनका आशय यह है कि व्यक्ति की विचार, भाषण और सभा-संबंधी स्वतन्त्रता पर कोई अनुचित प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। व्यक्ति को अपने जीवन का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जिन सामाजिक अवस्थाओं पर उसका वैयक्तिक सुख निर्भर है उन पर कोई प्रतिबंध नहीं होना चाहिये। जिन वस्तुओं से उसका प्राथमिक संबन्ध है, जैसे उसका भोजन, उसके धार्मिक रीति-रिवाज, संस्कार, व्यवसाव, धंधा तथा काम के घंटे, रहन-सहन आदि। उनके संबन्ध में कोई प्रतिबंध तब तक नहीं होना चाहिए जब तक कि वे नैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल न हों। दूसरे शब्दों में, वैयक्तिक स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाये रखना है जिसमें व्यक्तियों को अपनी सर्वोत्तम उन्नति करने के लिये सर्वोत्तम अवसर मिल सके।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—

अब तक जिन स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में विचार किया गया है, उनका सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों से है। कभी-कभी स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग राष्ट्र के सम्बन्ध में भी किया जाता है जैसे भारतवर्ष की स्वतन्त्रता अथवा इँगलैण्ड की स्वतन्त्रता। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि एक राजनीतिक रूप में संगठित जनता दूसरे राज्यों के हस्तक्षेप के बिना अपना शासन का रूप निर्धारित करने में स्वतन्त्र हो। इसे केवल 'स्वतन्त्रता' कह सकते हैं। यह बाह्य प्रभुत्व है। इसका तार्किक परिणाम आत्म-निर्णय का सिद्धान्त है।

राजनीतिक धारणा के रूप में स्वतन्त्रता—

हमने ऊपर जिन स्वतंत्रताओं के सम्बन्ध में विचार किया है, उनमें से नागरिक एवं राजनीतिक स्वतत्रता राज्य-विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नागरिक स्वतंत्रता के यथार्थ तथा निषेधात्मक दोनों पक्ष होते हैं। निषेधात्मक रूप में स्वतत्रता का यह अर्थ है कि किसी व्यक्ति की कार्य करने की स्वतंत्रता पर कोई अनुचित बंधन न हो। हम कह सकते हैं कि मनुष्य उस समय स्वतंत्र है

अथवा स्वतंत्रता का उपभोग करता है जब कि उन सामाजिक स्थितियों पर कोई मर्यादा नहीं होती जो मानव के सुख तथा आनन्द के लिए आवश्यक हैं; वह परतन्त्र उस समय कहा जाता है जब कि उसे ऐसी अवस्था में रहना पड़ता है जिसमें उसे ऐसा आचरण करना पड़ता है, जिसे उसकी विवेक बुद्धि पसंद नहीं करती, जैसे जब वह विदेशी या निरकुंश शासन के अधीन रहता है । यथार्थ रूप से विचार करने पर नागरिक स्वतत्रता का अर्थ है आत्म-विकास के सुयोग जिससे व्यक्ति अपना विकास सर्वश्रेष्ठ ढंग से कर सके । यह सक्रिय आत्म-निर्णय है । इसका सार उन अनेक अधिकारों में हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है और जिनमें से विचार, भाषण, कार्य तथा सभा की स्वतंत्रता मुख्य है । प्रत्येक व्यक्ति शासन से यह आग्रह कर सकता है कि वह इन अधिकारों की सरंक्षण करे ।

इस प्रकार जिस स्वतंत्रता की व्याख्या की गयी है, उसके लिए अनेक खतरे हैं। ऐसे स्वतत्रता के लिए अन्य नागरिकों तथा राज्य दोनों की ओर से खतरे रहते हैं । इन दोनों से उसकी रक्षा करने की आवश्यकता है । देश का क़ानून उसकी पहले खतरे से रक्षा करता है और संविधान में "मौलिक नागरिक अधिकारों" को स्थान देने से दूसरे खतरे से रक्षा होती है । साधारणतया प्रजातन्त्रीय राज्यों में ही नागरिक स्वतंत्रता प्राप्त करते हैं और उसका उपभोग भी करते हैं । इस दृष्टि से प्रजातन्त्र की परिभाषा इस प्रकार भी की गई है कि यह पार्लामैंटरी संविधान द्वारा सुरक्षित स्वतन्त्रताओं की पद्धति है । किन्तु उसका वास्तविक संरक्षण नागरिकों की भावना में है । नागरिकों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सदा तत्पर और सतर्क रहना चाहिए । लॉस्की ने यह ठीक ही कहा है कि "सतत सतर्कता स्वतन्त्रता का मूल्य है" (Eternal Vigilance is the Price of Liberty)। यदि नागरिक शासन के कार्यों को जागरूक होकर न देखते रहे और अपने अधिकारों की रक्षा के लिये तत्पर न रहे तो उनकी स्वतन्त्रता अनिश्चित रहेगी ।

अधिकारों की प्रकृति—

उपर्युक्त विवेचन में अधिकार शब्द का प्रयोग अनेकों बार हुआ है । अतः यह आवश्यक है कि इस शब्द के अर्थ पर भी यहाँ विचार

कर लिया जाय। राज्य-विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण धारणा होने से भी उस पर विचार करना आवश्यक है।

१७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी के लेखकों ने मानव प्रकृति में निहित अधिकारों की चर्चा की। उनका यह विचार था कि वे मनुष्यों को प्रकृति से ही प्राप्त हैं; वह उन अधिकारों के साथ जन्मा है। वे उसकी प्रकृति के वैसे ही अंग हैं जैसे उसकी चमड़ी का रंग। लॉक का मत था कि सब व्यक्ति स्वतन्त्र और समान उत्पन्न हुए हैं। जीवन-अधिकार, सम्पत्त्याधिकार, निर्णय-अधिकार, सुरक्षा का अधिकार आदि कुछ अन्य "प्राकृतिक अधिकार" हैं जिन्हें इन लेखकों ने स्वीकार किया है। समाज उन अधिकारों से मनुष्यों को वंचित नहीं कर सकता जिन्हें प्रकृति ने प्रदान किया है। यही प्राकृतिक अधिकारों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है जो अमेरिकन तथा फ्रेन्च 'अधिकारों की घोषणाओं' का आधार था। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भी इसको मानता है।

अधिकारों की प्रकृति के सिद्धान्त के रूप में इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। इसकी ये दोनों मान्यताएँ ग़लत हैं कि (१) अधिकार राज्य से स्वतन्त्र रूप मे और राजनीतिक समाज से पूर्व भी विद्यमान थे और (२) राज्य प्रकृति द्वारा प्रदत्त अधिकारों से मनुष्यों को वंचित कर देता है। जैसा कि आगे चल कर सिद्ध किया जायगा, अधिकार केवल 'नागरिक समाज' (Civil Society) में ही हो सकते हैं; राजनीतिक दृष्टि से संगठित समाज के सदस्य के रूप में ही व्यक्ति उनका उपभोग कर सकता है। समाज की सदस्यता इनका आधार है और इनके उपभोग के लिए परम आवश्यक है। प्राकृतिक अधिकारों की कोई सर्व-सम्मत सूची तैयार नहीं की गई है। इस सिद्धान्त में और भी अनेकों कठिनाइयाँ हैं, जिन पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे।

प्रकृति से व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है वह सत्ता (Power) है जैसे देखने, सुनने, खाने-पीने आदि की शक्तियाँ। ये शक्तियाँ अधिकार नहीं हैं; किन्तु वे अधिकारों के आधार हो सकती हैं। प्रकृतिदत्त कुछ शक्तियाँ तो जन्म के समय परिपक्व होती हैं, अन्य शक्तियों के विकास के लिये समय तथा वातावरण की अपेक्षा होती है। मानव शिशु में अनेक शक्तियों का भण्डार होता है किन्तु शैशव में वह कई काम नहीं कर सकता। उसमें खड़े होने, भाषण करने तथा विचार करने की

शक्ति है किन्तु आरम्भ में वह इन कार्यों को तुरन्त नहीं कर सकता। इनका विकास शनैः शनैः होता है। वह गणित के प्रश्नों का हल नहीं कर सकता और न निबंध लिख सकता है, यद्यपि उसमें प्रतिभा और बुद्धि होती है। इन शक्तियों के विकास की आवश्यकता होती है। इनका विकास समाज में और समाज द्वारा ही सम्भव है। समाज में ही व्यक्ति को अपनी समस्त शक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त माध्यम और प्रेरणा तथा प्रोत्साहन मिलते हैं। जीवन की वे समस्त सामाजिक अवस्थाएँ ही, जो उसके विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, मानव के अधिकार हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इनकी व्यवस्था करे। इस प्रकार अधिकारों की यह परिभाषा की जा सकती है कि वे मानव-विकास के लिए आवश्यक बाहरी अवस्थाएँ हैं। वाइल्ड के अनुसार कुछ कार्यों के सम्पादन की स्वतन्त्रता का उचित दावा ही अधिकार है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अधिकारों की प्रकृति सामाजिक है। वे व्यक्तियों के अधिकार समाज का सदस्य होने के कारण ही हैं। वे सामाजिक जीवन के पहलू हैं। एक योगिराज जो हिमाचल की कन्दरा में योगसाधना करता है या जो किसी वनप्रदेश में एकान्त जीवन व्यतीत करता है तथा जिसका मानवों से कोई सम्पर्क नहीं, उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते।

इस प्रकार प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास करना ग़लत है, यदि इनका प्रयोजन उन अधिकारों से है जिनका मनुष्य समाज तथा राज्य की उत्पत्ति से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में उपभोग करते थे और जिनको प्रकृति की देन कहा जाता है। परन्तु यदि इनमें हमारा प्रयोजन उन अधिकारों या अवस्थाओं से है जो मानव की प्रकृति के विकास के लिए आवश्यक हैं, चाहे वे राज्य द्वारा स्वीकृत हों या न हों और उनकी राज्य ने व्यवस्था की हो या न की हो, तो राज्य-विज्ञान में एक आवश्यक धारणा के रूप में इनका स्थान बना रहना चाहिए। 'प्राकृतिक अधिकारों' से हमें उन अधिकारों का मतलब लेना चाहिए जो प्रत्येक नागरिक को दिये जाने चाहिए जिससे व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके। उन्हें 'आदर्श' अधिकार कहा जा सकता है। इसके द्वारा हम समाज में स्वीकृत और प्रचलित वास्तविक और क़ानूनी अधिकारों की परीक्षा कर सकते हैं। राज्य द्वारा संरक्षित अधिकार इन आदर्श अधिकारों से जितने दूर होंगे, राज्य उतना ही पिछड़ा हुआ होगा। इससे

यह स्पष्ट है कि समस्त प्राकृतिक अधिकारों के लिए समाज द्वारा स्वीकृति आवश्यक नहीं है। वे समाज की नैतिक बुद्धि द्वारा अवश्य स्वीकृत होने चाहिए। यदि जनता किसी अधिकार की निरन्तर माँग करेगी तो नैतिक स्वीकृति के फलस्वरूप उसे क़ानूनी स्वीकृति कभी न कभी अवश्य मिल जायगी।

अधिकारों में सामाजिक स्वीकृति समाविष्ट है; उनका देश के क़ानून से सम्बन्ध है। उनका सदाचार से भी उस सीमा तक सम्बन्ध है जहाँ तक वे नागरिक के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं। सदाचार तथा नैतिकता से इनका सम्बन्ध इसलिए भी है कि इन अधिकारों को समाज की नैतिक बुद्धि या चेतना द्वारा भी स्वीकृति आवश्यक है। इन अधिकारों का अस्तित्त्व इसी आधार पर है कि उनके द्वारा नैतिक हित की सिद्धि होती है। अधिकार नैतिक व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है; अतः इससे यह परिणाम निकलता है कि जिसका कोई व्यक्तित्व नहीं तथा जिसमें कोई नैतिक क्षमता नहीं उसे कोई अधिकार नहीं मिल सकता। इसी कारण पशुओं के कोई अधिकार नहीं होते। इस प्रकार अधिकार अपने आदर्श उद्देश्य को प्राप्त करने की अनुमति के लिए आत्म-चेतनायुक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ तथा समाज द्वारा स्वीकृत दावा है।

अधिकारों के दो अन्य पक्ष भी हैं। प्रथम, अधिकार आवश्यक रूप से सार्वभौम हैं। अधिकार एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का निजी मामला नहीं हो सकता। यदि अधिकार व्यक्तिगत आत्मविकास के लिए आवश्यक है तो वह सबों के लिए ही आवश्यक है। अतः वह समान रूप से सब को प्राप्य होना चाहिये। दूसरे, अधिकारों के साथ कर्त्तव्य भी जुड़े हुए हैं। अधिकारों का अस्तित्त्व कर्त्तव्य-जगत में ही हो सकता है; एक व्यक्ति के अधिकार से दूसरे व्यक्तियों का उसके अधिकार का आदर करने का कर्त्तव्य हो जाता है। मेरी सम्पत्ति पर मेरे अधिकार का अर्थ यह है कि दूसरे व्यक्ति उसे मेरी अनुमति के बिना प्राप्त नहीं कर सकते। जीवन-सम्बन्धी मेरे अधिकार का यह अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति मुझे मारेगा नहीं और न हानि पहुँचायेगा। दूसरे अर्थ में भी अधिकारों के साथ कर्त्तव्य जुड़े हुए हैं। अधिकार केवल आत्म-विकास की शर्त ही नहीं है; वह सार्वजनिक हित की वृद्धि का साधन भी है। समाज व्यक्ति को

अधिकार की गारण्टी इसलिए देता है कि वह अपनी नैतिक प्रकृति को पूर्ण बना सके और सामाजिक प्रगति में सहायक हो सके। इस प्रकार व्यक्ति को जो अधिकार दिया गया है, वह उस पर उसका प्रयोग समाज के कल्याण के लिये करने के कर्तव्य का भी आरोप करता है। जिस समय वह उसका प्रयोग ऐसे ढंग से करने लगता है जो समाज के लिए अहितप्रद होता है, उस समय वह उसका अधिकारी नहीं रहता। यही कारण है कि राज्य ऐसे व्यक्तियों को बन्दी बना देता है जो समाज के लिए खतरा बन जाते हैं।

दण्ड के सिद्धान्त—

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व स्वतन्त्रता से सम्बन्धित दो विषयों पर विचार करना वांछनीय है—(१) राज्य का व्यक्तियों को दण्ड देने का अधिकार जो प्रगट रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध है और (२) स्वतन्त्रता तथा समता का सम्बन्ध। जिस प्रकार राज्य के प्रभुत्व तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की असंगति देखने में ही थी, उसी प्रकार राज्य-दण्ड ऊपर से ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता हुआ प्रतीत होता है। वास्तव मे देखा जाय तो अपराधियों को दण्ड दे कर ही राज्य अपने नागरिकों को दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्त रख सकता है। विचारकों ने दण्ड की प्रकृति तथा उसके औचित्य के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त का निरूपण किया है:—(१) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory), (२) निरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) तथा (३) संशोधनात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)।

(१) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त का यह नामकरण उचित नहीं है क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि राज्य व्यक्ति से उसी प्रकार बदला लेना चाहता है, जिस प्रकार क्षति भुगतने वाला व्यक्ति बदला लेना चाहता है। इस प्रकार का विचार सर्वथा ग़लत है। राज्य द्वारा दण्ड का सार तो व्यक्तिगत प्रतिशोध का अपाकरण है। राज्य-व्यक्ति के प्रतिशोध के अधिकार को छीन लेता है और उसके स्थान पर अपने दण्ड का आरोप कर देता है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि दण्ड अपराधी के समाज-विरोधी कार्य

का स्वाभाविक परिणाम है। अपराधी अपने अपराध के द्वारा नैतिक व्यवस्था की सत्ता एवं प्रधानता को भंग करता है और उसे दण्ड दे कर उसकी पुनः स्थापना एवं रक्षा की जाती है। राज्य के रूप में संगठित समाज दण्ड दे कर उस कार्य के प्रति अपनी नाराज़ी प्रकट करता है। उसे दण्ड न देना वैसा ही होगा जैसा कि कि किसी रोगी को औषधि न देना। इस प्रकार दण्ड अपराध के लिये निषेधात्मक पुरस्कार है। अपराधी इसका पात्र होता है। दण्ड के द्वारा व्यक्ति किसी ऐसी चीज से वंचित नहीं हो जाता जो उसके पास होती है। वह तो उसे उसकी देय वस्तु ही देता है। काण्ट और हेगल के यही विचार हैं।

(२) निरोधात्मक सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि दण्ड क़ानून के भग्न गौरव की पुनः प्रतिष्ठा के लिए नहीं, वरन् अपराधी को भविष्य में अपराध करने से रोकने के लिए दिया जाता है। अपराध के साथ भय का सम्बन्ध स्थापित कर के अपराधी को अपराध करने से रोका जाता है। यह सिद्धांत अपराधी तथा दूसरों पर दण्ड के प्रभाव पर विचार करता है। एक न्यायाधीश के अपराधी के प्रति इस कथन से कि उसे भेड़ चुराने के लिए दण्ड नहीं दिया गया है, वरन् इसलिये कि भविष्य मे भेड़ें न चुराई जा सकें, यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। अब तक यह सिद्धान्त व्यापक रूप से प्रचलित था और इसमें सत्यांश भी है। हम देखते हैं कि अपराध कीं पुनरावृत्ति के साथ दण्ड बढ़ जाता है। ऐसा इसी सिद्धान्त के आधार पर होता है।

(३) संशोधनात्मक सिद्धान्त—

वर्तमान काल में यह सिद्धान्त प्रचलित हो गया है। यह इस युग की लोकहितैषी प्रवृत्तियों के अनुकूल है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराध उन परिस्थितियों का फल माना जाता है, जिनमें समाज अपने सदस्यों को रहने के लिये बाध्य करता है। यह अपराध को एक रोग समझता है जिसके लिए अपराधी की चिकित्सा होनी चाहिए, उसे दण्ड नहीं मिलना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार जेलों के स्थान पर मानसिक चिकित्सा-गृह तथा सुधार-गृह होने चाहिए। दण्ड का उद्देश्य

अपराधी के चरित्र में ऐसा सुधार करना है जिससे वह राज्य का एक भद्र नागरिक बन जाय और अपना जीवन अधिक अच्छी तरह बिता सके।

इस विचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करना कठिन है। अपराधों को रोग नहीं माना जा सकता। अपराधी के सुधार के लिए दण्ड को अपराधी की आन्तरिक इच्छा के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता। इतना अवश्य ठीक है कि दण्ड से अपराधी अपने कार्य के दोष देख कर सुधर सकता है। दण्ड के सच्चे सिद्धान्त में उक्त तीनों सिद्धान्तों का समन्वय होना चाहिए। यदि प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त की ठीक तौर से व्याख्या की जाय तो उससे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है।

स्वतन्त्रता और समता—

स्वतन्त्रता मानव जीवन की अत्यन्त आवश्यक शर्तों में से एक है। राज्य का यह सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह व्यक्ति के लिये उसके उपभोग की पूर्ण सुविधा प्रदान करे, यद्यपि यह राज्य का एकमात्र या मुख्य कार्य नहीं है। किन्तु इस कार्य के लिये ऐसी शर्तों की आवश्यकता है जो आसानी के साथ पूरी नहीं की जा सकतीं। इनमें से एक शर्त है समता। स्वतन्त्रता उस समय तक वास्तविक नहीं हो सकती और न वह अपने ध्येय को प्राप्त ही कर सकती है जब तक कि उसके साथ समता न हो। समता के अभाव में स्वतन्त्रता एक स्वप्नमात्र रह जाती है।

हमने ऊपर बतलाया है कि नागरिक स्वतन्त्रता का उस समय तक कुछ भी मूल्य नहीं होता जब तक कि उसके साथ राजनीतिक स्वतन्त्रता न हो। इन दोनों का आर्थिक समता के अभाव में कोई मूल्य नहीं रह जाता। आर्थिक समता उस समाज में सम्भव नहीं है, जहाँ विषमता का राज हो, जहाँ ऊँच-नीच के भेदभाव हों और जहाँ कोई विशेषाधिकारयुक्त वर्ग दलित वर्ग पर आधिपत्य रखता हो। इंगलैण्ड तथा अमेरिका के संयुक्त राज्य जैसे देशों में भी जनता को वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। स्थापित स्वार्थ, जिनकी अधिकारियों तक बड़ी सरलता से पहुँच हो सकती है, उसके मार्ग में अनेक बाधाएँ खड़ी करते हैं। जिस समाज व्यवस्था का आधार स्वतन्त्र प्रतियोगिता और व्यक्तिगत पूँजी हो, तो जिनके पास पूँजी नहीं होती, उनको केवल अपनी श्रमजीविका

के लिए बेचने और भूखों मरने की स्वतन्त्रता होती है। धनी व्यक्ति अपने पद तथा धन के कारण जिन सुयोगों को प्राप्त करते हैं, वे साधारण जनता को प्राप्त नहीं होते।

जब यह कहा जाता है कि समता स्वतन्त्रता की आवश्यक शर्त है, तो समता का अर्थ समान व्यवहार अथवा असमान कार्य के लिए समान वेतन नहीं समझना चाहिये। जो समता का प्रचार करते हैं वे सबको बिलकुल एक स्तर पर नहीं लाना चाहते। वे यह चाहते हैं कि थोड़े से व्यक्तियों को विशेषाधिकार न हों और समस्त जनता को पर्याप्त सुविधाएँ दी जाँय। समता की यह माँग है कि थोड़े से व्यक्तियों को विलासमय जीवन व्यतीत करने देने के पहले सब व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी की जाँय। सत्ता का प्रयोग स्वार्थपूर्ति के लिये नहीं, वरन् लोक-संग्रह के लिए होना चाहिये। यह स्पष्ट है कि वर्तमान् पूँजीवादी राज्यों की अपेक्षा इस प्रकार सगठित समाज में जनता को कहीं अधिक स्वतन्त्रता होगी।

अध्याय ११

राज्यों का वर्गीकरण तथा उनके रूप

वर्गीकरण का आधार—

राज्य के प्रदेश के आकार, जनसख्या तथा उसके शासन के रूप एवं प्रणाली के भेदों को देख कर प्लेटो से ले कर आधुनिक काल तक के लेखकों ने राज्यों का वर्गीकरण किया है। राज्यों के जो वर्गीकरण किए गए हैं, उनमें से कोई भी पूर्णतः सतोषप्रद नहीं है। प्रदेश के आकार तथा नागरिकों की संख्या के आधार पर राज्यों को छोटे बड़े मानना व्यर्थ है। उनकी सम्पत्ति, प्राकृतिक साधनों, आयात-निर्यात, व्यापार, उद्योग-धन्धे तथा सैनिक-शक्ति आदि के आधार पर उनका वर्गीकरण करना भी व्यर्थ होगा। इस प्रकार का वर्गीकरण एक अर्थ-शास्त्री के लिये ठीक हो सकता है परन्तु राज्य वैज्ञानिक के लिए उनका कोई मूल्य नहीं है क्योंकि इनमें से किसी से भी वैज्ञानिक वर्गीकरण का आधार नहीं मिलता। उनके कारण राज्य की विशिष्टता का कोई ज्ञान नही होता।

प्रभुत्व राज्य की एक आवश्यक विशिष्टता है; यही राज्य को अन्य ऐच्छिक संस्थाओं से अलग करता है। प्रभुत्व का स्थान सब राज्यों में समान नहीं है। प्रभुत्व सत्ता किसमें निहित है, इस विचार के आधार पर राज्यों में भेद किया जा सकता है। यदि प्रभुत्व राज्य में एक व्यक्ति में निहित है, तो उसे हम एकतन्त्र या राजतन्त्र कहेंगे। यदि प्रभुत्व कुछ व्यक्तियों में निहित है जो धन, बुद्धि तथा राजनीतिक क्षमता के कारण अन्यों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, तो उसे कुलीन-तन्त्र कहेंगे, और यदि प्रभुत्व समस्त जनता में निहित है, और वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसका प्रयोग करती है तो उसे हम जनतन्त्र कहेंगे। अरस्तू के समय से राज्यों का वर्गीकरण इस प्रकार से होता रहा है। इसके महत्त्व के कारण हम अरस्तू का वर्गीकरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

अरस्तू का वर्गीकरण—

अरस्तू ने अपने वर्गीकरण का दोहरा आधार रखा है। प्रथम, वह ध्येय के आधार पर राज्यों के दो भेद मानता है—सामान्य तथा विकृत। जब राज्य समस्त समाज के हित के लिए कार्य करता है, तब वह सामान्य कहलाता है और जब शासक या शासक वर्ग समाज के हितों की उपेक्षा कर अपने स्वार्थ के लिये शासन करता है तब उसे विकृत कहते हैं। दूसरे, जितने व्यक्तियों में राज्य का प्रभुत्व निहित है, उनकी सख्या के अनुसार भी उसने भेद किये हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार तीन प्रकार के राज्य माने गये हैं- एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र। इन दोनों आधारों को शामिल कर के उसने राज्यों के ६ रूप बतलाये हैं—

	विशुद्ध अथवा सामान्य राज्य	विकृत राज्य
एक व्यक्ति का शासन	एकतन्त्र	अन्यायी शासन
अल्प व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र	अल्पजनतन्त्र
समस्त जनता का शासन	लोकराज्य	जनतन्त्र

राज्य एकतन्त्र उस समय होता है जब कि एक व्यक्ति, जिसके हाथ में सर्वोच्च सत्ता है, वह उस सत्ता का प्रयोग समस्त प्रजा के लाभ के लिये करता है। जब वह अपने स्वार्थ के लिए सत्ता का प्रयोग करता है और समाज के हितों की अवहेलना करता है, तब वह अन्यायी शासन (Tyranny) कहलाता है। राज्य की सर्वोच्च सत्ता जब अल्प व्यक्तियों के हाथ में होती है और जब ये अल्पसंख्यक व्यक्ति समूचे समाज के कल्याण के लिये शासन करते हैं, तब उसे कुलीनतन्त्र (Aristocracy) कहते हैं किन्तु जब ये अल्पसंख्यक व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए शासन करने लगते हैं तब उसे अल्पजनतन्त्र (Oligarchy) कहते हैं। जब राज्य की सत्ता समस्त जनता में–लोक में–निहित होती है और वह सबके कल्याण के लिए शासन करती है, तब उसे लोकराज्य (Polity) कहते हैं और जब जनता अपने स्वार्थ के लिये शासन करती है, सबके कल्याण के लिए नहीं, तब उसे जनतन्त्र (Democracy) कहते हैं। इस प्रकार लोकराज्य (Polity) विशुद्ध रूप है और जनतन्त्र (Democracy) विकृत रूप है।

इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में दो बातों पर विशेषतः विचार करना है। अरस्तू ने कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा अल्पजनतन्त्र (Oligarchy) इन दोनों में स्पष्ट भेद माना है। आधुनिक प्रथा के अनुसार इनमें भेद नहीं माना जाता। हम एक ही अर्थ में दोनों का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है धनपतियों का शासन। हम जनतन्त्र को विकृत राज्य का रूप नहीं मानते। इसके विपरीत हम उसे राज्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं। दूसरे शब्दों में, अरस्तू ने जिसे पॉलिटी कहा है, उसे हम पामरजन तन्त्र (Mobocracy or Ocholocracy) कहते हैं। अरस्तू ने जनतन्त्र की जो निन्दा की है, उससे आधुनिक विद्यार्थियों को आश्चर्य होगा, किन्तु उसका आश्चर्य उस समय दूर हो जायगा जबकि उसे यह विदित हो जायगा कि उसके इस शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ मे किया है। आधुनिक लेखक विशुद्ध तथा विकृत राज्यों का भेद नहीं मानते। इस कारण आधुनिक समय मे राज्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—एकतन्त्र, धनिक-तन्त्र और जनतन्त्र। प्राचीन वर्गीकरण को फिर से अपनाना और कुलीनतन्त्र तथा अल्पजन-तन्त्र में भेद करना अच्छा होगा।

गार्नर तथा दूसरे लेखको ने अरस्तू द्वारा राज्य के वर्गीकरण (एकतन्त्र, कुलीन-तन्त्र तथा जनतन्त्र) की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की है :—

१—अरस्तू का यह वर्गीकरण सविधानों तथा शासनों का है, राज्यों का नहीं। उसको राज्यों का वर्गीकरण मान लेना राज्य और शासन को एक मानने के बराबर होगा। किन्तु यह ठीक नहीं है। ये दोनों भिन्न हैं और इनमें भेद स्थापित करना चाहिये। यह सत्य है कि वह जब राज्यों के वर्गीकरण की समस्या पर विचार करता है तो वह शासनों तथा संविधानों की भी बात करता है। ऐसा इसलिए किया गया है कि राज्य तथा शासन में भेद बाद के युग में हुआ है। अरस्तू के युग में इन दोनों में भेद नहीं माना जाता था। चूँकि वह प्रभुत्व-सत्ता के सम्बन्ध मे विचार करता है, इस कारण हम उसे राज्यों का ही वर्गीकरण मान सकते हैं, शासनों का नहीं। एकतन्त्र, कुलीन-तन्त्र तथा जनतंत्र राज्यों के भेद हैं और शासनों के भी। हम प्रो० बर्गेस के इस विचार से सहमत हैं कि अरस्तू के

वर्गीकरण का राज्यों के सम्बन्ध में प्रयोग सही और सर्वाङ्गपूर्ण है। यदि कोई इससे सहमत न हो तो भी यह वर्गीकरण ऐसा है जिस पर इस प्रसङ्ग पर विचार करना उचित है।

२—यह वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। इसका आधार मात्रात्मक है, गुणात्मक नहीं; इसका आधार संख्या है, गुण नहीं। इन तीनों रूपों मे जो भेद है वह उस जनसंख्या के आधार पर है जिसके हाथ में प्रभुत्व है, राज्य के किसी विशिष्ट लक्षण के आधार पर नहीं। यह आलोचना उचित नहीं है। इसमें एक बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की जाती है, जिस पर अरस्तू ने बड़ा ज़ोर दिया था। कुलीन-तन्त्र उस अल्पसंख्यक जनता द्वारा शासन है जो बुद्धिमान् तथा योग्य है। जनतन्त्र केवल जनता द्वारा ही शासन नहीं है वरन् ऐसी जनता द्वारा शासन है जो धनहीन है। कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र में इस प्रकार जो भेद है वह केवल यही नहीं है कि पहले मे अल्प व्यक्तियों के हाथ मे सत्ता होती है और दूसरे में समस्त जनता के हाथ में। यह भेद वास्तव में अल्पसंख्यकों तथा बहुसंख्यकों के चरित्र का है। यह वर्गीकरण सावयव सिद्धान्त के आधार पर है। इसका सम्बन्ध राजनीतिक चेतना के विकास से है। जब राजनीतिक चेतना एक व्यक्ति या एक परिवार तक सीमित होती है तब राज्य एकतन्त्रीय होता है। जब वह अल्प व्यक्तियों या परिवारों तक सीमित होती है तब राज्य कुलीन तन्त्रीय होता है और जब समस्त जनता राजनीतिक चेतनामय हो जाती है तब राज्य प्रजातान्त्रिक हो जाता है।

३—यह वर्गीकरण वर्तमानकाल के राज्यों के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता। अरस्तू ने यह वर्गीकरण यूनान के नगर राज्यों को ध्यान में रख कर किया था। जो परिस्थितियों एव अवस्थाएँ इस समय विद्यमान हैं, वे प्राचीन काल की परिस्थितियों से बहुत भिन्न हैं। आज नवीन प्रकार के राज्य उत्पन्न हो गये हैं। उनकी समस्याएँ तथा उनकी संस्थाएँ विभिन्न हैं और उनके चरित्रों में भी विभिन्नताएँ हैं। इस प्रकार पुराना वर्गीकरण सामयिक नहीं रहा, उसका परित्याग कर देना चाहिए।

इस आक्षेप में बहुत कुछ सत्य है। यह शासनों के वर्गीकरण के संबंध में तो और भी उचित है। आगामी अध्याय में इस पर विस्तारपूर्वक विचार

किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही उल्लेख पर्याप्त होगा कि आजकल ऐसे नवीन राज्यों का उदय हो गया है, जिन्हें इस वर्गीकरण मे स्थान नहीं दिया जा सकता, जैसे एकात्मक या सघात्मक राज्य। वैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy) को, जो एकतंत्र तथा प्रजातन्त्र का मिश्रण है, हम किस श्रेणी में रखेंगे ? इंगलैण्ड को एकतंत्र कहेंगे या प्रजातंत्र ? फ्रान्स, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड को एक ही वर्ग में रखना उनके मौलिक लक्षणों की उपेक्षा करना होगा। इस प्रकार अरस्तू के वर्गीकरण से हमें आधुनिक राज्यों की समानताओं और विभिन्नताओं को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती क्योंकि उन सभी में अधिकतर प्रभुता जनता मे निहित है, एक या कुछ व्यक्तियों में ही नहीं। जर्मनी, इटली तथा रूस में जो अधिनायकतंत्रीय राज्य नये स्थापित हो गये हैं उन्हें भी उसके वर्गीकरण में कोई स्थान नहीं मिलता।

आधुनिक समय मे इस समस्या पर वेज़, वॉन मोहल, ब्लुंट्श्ली, बर्गेस और जेलिनेक ने विचार किया है। बर्गेस ने राज्यों को गणतंत्र, देवाधि राज्य, एकतंत्रीय राज्य, एकात्मक राज्य, संहत राज्य (Composite States) सघ-राज्य तथा राज्यमण्डल (Confederation) मे वर्गीकृत किया है। इस वर्गीकरण का स्पष्ट दोष यह है कि यह किसी एक सिद्धान्त के आधार पर नही है। वॉन मोहल ने जो वर्गीकरण किया है उसमें भी यही दोष है। उसने निम्न प्रकार के राज्य माने हैं : पितृ मूलक राज्य, देवाधि राज्य, प्राचीन राज्य, कानूनी राज्य, अत्याचारी या स्वेच्छाचारी राज्य। ब्लुंट्श्ली ने अरस्तू के वर्गीकरण में एक नये राज्य-देवाधिराज्य—को जोड़ दिया जिसके विकृत रूप का नाम उसने आइडियोक्रेसी (Ideocracy) रखा। इसके साथ ही उसने कुछ गौण राज्य भी बताये हैं जैसे स्वतन्त्र राज्य, अर्द्ध-स्वतत्र राज्य तथा परतत्र राज्य। किन्तु इससे पुराने वर्गीकरण का मूल्य कम हो गया ; इस प्रकार संशोधन कर उसने पुराने वर्गीकरण में कोई सुधार नहीं किया।

प्रो० जेलिनेक ने राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति के ढंग को आधार मान कर राज्यों का जो वर्गीकरण किया है वह सबसे सरल और सुसंगत है। उसने राज्यों के दो भेद माने हैं—एकतंत्र तथा गणतन्त्र। जिस राज्य में इच्छा का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति एक व्यक्ति के

द्वारा होती है वह एकतंत्र और जिसमें कम या अधिक व्यक्तियों के द्वारा होती है, वह गणतंत्र होता है। गणतंत्रों के दो भेद हो सकते हैं—कुलीन तंत्र और जनतन्त्र।

इन दोनों में जो भेद हैं वह गुण का नहीं, मात्रा का है। इस वर्गीकरण का आधार अरस्तू के आधार, अर्थात् प्रभुता के स्थान, से भिन्न नहीं है क्योंकि कुलीनतंत्र तथा प्रजातन्त्र में भेद केवल मात्रा का नहीं; गुण का है। जेलिनेक का वर्गीकरण अरस्तू के वर्गीकरण की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है। कुलीनतंत्र का आधार योग्यता है और जनतंत्र का समानता।

प्राचीन काल से आज पर्यन्त राज्य का जो विकास हुआ है और उसमें राज्यों ने जो रूप धारण किये हैं उनके अनुसार राज्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है: पूर्वी साम्राज्य, नगर-राज्य, रोम साम्राज्य, सामन्ती राज्य तथा आधुनिक राष्ट्रीय राज्य। ये एक दूसरे से भिन्न हैं। किन्तु इस वर्गीकरण का भी कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं है। यह ऐतिहासिक अधिक है; तार्किक कम।

राज्यों के वर्गीकरण में मुख्य कठिनाई यह है कि उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से और अनेक आधारों पर हो सकता है। कोई एक योजना सब दृष्टिकोणों एवं हितों को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। यदि हमे राज्यों का वर्गीकरण करना ही है तो सबसे अच्छा वर्गीकरण शासनों का वर्गीकरण करके किया जा सकता है। शासनों के वर्गीकरण पर आगे विचार किया जायगा।

राज्यों के संयोग

जिस प्रकार कुछ सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए मनुष्य समुदायों या संस्थाओ के रूप मे संगठित हो जाते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी राज्य यह आवश्यक समझते हैं कि वे संयुक्त हो जॉय। ऐसे संयोग सगठित या असंगठित दोनों प्रकार के ही हो सकते हैं। सन् १९१४–१८ ई० के प्रथम विश्वयुद्ध में इङ्गलैंड, फ़ान्स और इटली के बीच गुट क़ायम हो गया था और द्वितीय युद्ध मे जर्मनी, इटली तथा जापान के बीच भी गुटबंदी क़ायम थी। ये असंगठित संयोगों (Un-organised Unions) के उदाहरण हैं। ऐसे सयोगों में कोई केन्द्रीय प्रशासन की

स्थापना नहीं होती और ये बड़ी आसानी के साथ भंग किए जा सकते हैं। संगठित संयोग उसे कहते हैं, जिसमें राज्य परस्पर एक दूसरे के साथ कानूनी रूप से संगठित होते हैं और उनकी अपनी एक सामान्य केन्द्रीय संस्था भी होती है। संगठित सघों के उदाहरण निम्न प्रकार हैं। व्यक्तिगत संयोग (Personal Unions) वास्तविक संयोग (Real Unions), राज्य-मंडल (Confederation), सघ (Federal Unions) और अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन संघ। ये सब एक दूसरे से परस्पर भिन्न हैं; परन्तु उन सब में एक सामान्य लक्षण है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये उनकी एक केन्द्रीय संस्था होती है।

व्यक्तिगत संयोग

जब दो या अधिक राज्य एक ही व्यक्ति को अपना राजा या राजनीतिक प्रभु स्वीकार कर लेते हैं, तब उसे व्यक्तिगत संयोग (Personal Union) कहते हैं। इस प्रकार का संयोग उन राज्यों के उत्तराधिकार के ऐसे नियमों के फल-स्वरूप बनता है जिनके कारण उनका उत्तराधिकारी शासक एक ही व्यक्ति होता है। इस प्रकार पृथ्वीराज के अधीन देहली तथा अजमेर के दो राज्यो का एक संयोग स्थापित हो गया था। इंगलैंड और स्कॉटलैंड व्यक्तिगत संयोग के रूप में सन् १६०३ से सन्१७०७ तक क़ायम रहे। रानी विक्टोरिया के शासन-काल के आरंभ तक हैनोवर का राज्य इगलैंड से मिला हुआ था।

व्यक्तिगत संयोग केवल एकतंत्रीय राज्यों में ही सभव है और वह भी आकस्मिक होता है। इस प्रकार सम्मिलित राज्यों के संविधान, अधिकार, नागरिकता एव संस्थाएं पृथक् रहती हैं। उनसे मिल कर कोई नवीन राज्य की स्थापना नहीं होती और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनका पृथक् व्यक्तित्व बना रहता है।

वास्तविक संयोग

जब दो या अधिक राज्य एक सामान्य राजा के आधीन किसी वैधानिक व्यवस्था द्वारा मिल जाते हैं और वे शासन-प्रबन्ध के लिए सामान्य संस्थाओं की स्थापना करते हैं, तब वास्तविक सयोग (Real Union) बनता है। इसमें और वास्तविक संयोग में यह भेद है कि

व्यक्तिगत संयोग उत्तराधिकार के नियमों के फल-स्वरूप जन्म लेता है और वास्तविक संयोग वैधानिक व्यवस्था द्वारा। इसलिए यह बन्धन सावयव है, आकस्मिक नहीं। यह सामान्य प्रभु की मृत्यु के कारण भंग नहीं हो जाता और इस प्रकार व्यक्तिगत संयोग की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के उद्देश्य से संयोग में सम्मिलित होने वाले राज्यों का अपना पृथक् अस्तित्व हो सकता है; परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार उन्हे पृथक् राज्य नहीं माना जा सकता। व्यक्तिगत संयोग तथा वास्तविक संयोग में यह भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भेद है। वास्तविक संयोग का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य जिसका प्रथम विश्व-युद्ध के बाद नाश हो गया। वर्तमान समय में वास्तविक संयोग का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता।

राज्य-मण्डल

राज्य-मंडल (Confederation) राज्यों की एक परिषद् का नाम है जिसकी स्थापना किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा अपनी बाह्य सुरक्षा के लिये अधिक, की जाती है; परन्तु इसमें वे अपने पृथक् प्रभुत्वों का परित्याग नहीं करते। इस प्रकार मंडल में जो राज्य सम्मिलित होते हैं, वे अपना पृथक् अस्तित्व क़ायम रखते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत उन्हें पृथक् राज्य माना जाता है। वे विदेशी सत्ताओं के साथ संधि आदि कर सकते हैं; और दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध बिना अपने साथियों को अपने साथ घसीटते हुए युद्ध भी कर सकते हैं। इस प्रकार राज्य-मंडल एक प्रकार का शिथिल संगठन है। इसकी कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं होती जिसके आदेशों का पालन सम्मिलित होने वाले राज्यों के लिए आवश्यक हो। वे कुछ सामान्य काम करने के लिये ही सहमत होते हैं। जब आवश्यक होता है तब विविध राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र होते हैं और सामान्य हितों के मामलों पर विचार कर सामान्य कार्य करने के लिए निश्चय करते हैं। इस प्रकार के निर्णय अपने आप कार्य रूप में परिणित नहीं होते। उन्हें विविध सरकारों के पास स्वीकृति के लिए भेजना पड़ता है और जब सब राज्यों की सरकारें उन्हें स्वीकार कर लेती हैं तभी वे कार्यान्वित किए जा सकते हैं। राज्य-मण्डल के कोई नागरिक नहीं होते

जिन्हें वह आदेश दे सके या जिनसे कर्तव्यपालन की आशा की जा सके। राज्य-मंडल से किसी नवीन राज्य या सामान्य प्रभुत्व की स्थापना नहीं होती।

जो बन्धन राज्यमण्डल के सदस्यों को बाँधता है वह राजनीतिक होता है। यह राज्यों के बीच राजनीतिक निर्णय का परिणाम है, किसी क़ानूनी समझौते का नहीं। राज्यमण्डल उस प्रकार से स्थापित नहीं होते जिस प्रकार कि वास्तविक सयोग और व्यक्तिगत संयोग स्थापित होते हैं। वे स्थायी अथवा अक्षय नहीं होते। कोई भी राज्य राज्य-मण्डल की सदस्यता से जब चाहे पृथक् हो सकता है। इस प्रकार यह संघ (Federation) से भी भिन्न होता है। इस कारण राज्य-मण्डल अल्पजीवी होते हैं। अतीत में कई राज्य-मण्डल थे, किन्तु आजकल दुनिया के किसी भाग में कोई राज्य-मण्डल नही है। अपनी दुर्बलता के कारण ये या तो शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं अथवा संघ का रूप धारण कर लेते हैं।

इतिहास मे हमें राज्य मण्डलों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्राचीन यूनानी इतिहास में हमें इटैलियन, ऐकियन तथा डेलियन लीग के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। मध्य-युग मे हेनसियाटिक नगरों ने अपना एक मण्डल स्थापित किया था। आधुनिक काल मे केन्द्रीय अमेरिकन राज्यों ने भी एक समय इसी आधार पर अपना सगठन किया था। हमारे देश में भी मराठा राज्य-मण्डल था। राष्ट्र-संघ, सयुक्त राष्ट्र-संघ और (ब्रिटिश) कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स मे भी राज्य-मण्डल के लक्षण मिलते हैं।

संघ

संघ राज्यों का महत्त्व—

ऊपर हमने जिन संयोगों का विचार किया है उनकी अपेक्षा संघ-राज्य (Federal State) का कहीं अधिक महत्त्व है। आधुनिक राज्यों के विकास में संघ-वाद का पर्याप्त महत्त्व रहा है। आज के प्रसिद्ध राज्य अधिकांश में सघ-राज्य ही हैं। इसके द्वारा अनेक राज्य मिल कर एक प्रभुत्व के अन्तर्गत एक संघ बना लेते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के

निवारण का एकमात्र उपाय है विश्व-संघ-राज्य की स्थापना। जॉन फ़िस्के, हेनरी सिजविक तथा वैस्टर मार्क जैसे विद्वानों ने इसका गुणगान किया है।

सङ्घ-राज्य की प्रकृति—

जब कुछ स्वतन्त्र-राज्य जो संयोग के इच्छुक हों, एकता के नहीं, एक सामान्य प्रभुत्व के अधीन मिल जाते हैं और अपने सामान्य हितों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों के प्रबन्ध के लिये एक केन्द्रीय शासन की स्थापना करते हैं तो सङ्घ-राज्य का निर्माण होता है। संयोग की इच्छा का अर्थ यह है कि विभिन्न राज्य कुछ कामों के लिये एक स्वतन्त्र राज्य के अन्तर्गत शामिल होते हुए भी अन्य कामों के लिये अपना स्वतन्त्र सङ्गठन क़ायम रखना चाहते हैं। एकता चाहने का अर्थ यह है कि वे अपनी स्वतन्त्रता को बिलकुल त्याग कर एक एकात्मक राज्य के अधीन अङ्ग बन जाँय। यह राज्य-मण्डल से अनेक मामलों में भिन्न होता है। सबसे प्रथम तो सङ्घ के द्वारा एक नवीन राज्य की स्थापना हो जाती है जिसकी प्रभुता अपने शासन के विषयों के सम्बन्ध में अपने समस्त नागरिकों पर होती है। इस नवीन राज्य का विधायक राज्यों से भिन्न अपना विधान-मण्डल, अपनी कार्य-पालिका तथा अपनी न्याय-व्यवस्था होती है। राज्य-मण्डल में ऐसी व्यवस्था नहीं होती। संघ के अन्तर्गत सभी राज्यों के नागरिकों की सङ्घ-शासन के प्रति भक्ति होती है. वे उसके भी नागरिक होते हैं। दूसरे, सङ्घ-शासन के अन्तर्गत जो राज्य सम्मिलित होते हैं वे स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय इकाई नहीं माने जाते। वे अपने आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में स्वतन्त्र होते हैं, किन्तु अन्य देशों के साथ वे अपने सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। वे स्वयं स्वतन्त्र रूप से युद्ध तथा शान्ति-सन्धि नहीं कर सकते। अपने वैदेशिक सम्बन्धों के मामलों में वे संघ-शासन पर निर्भर होते हैं। संघ के सदस्यों के बीच युद्ध गृह-युद्ध (Civil War) कहलाता है। परन्तु राज्य-मण्डल के अन्तर्गत राज्यों के बीच युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध (War) कहलाता है। तीसरे, संघ स्थायी तथा अक्षय संस्था है। संघ में एक बार सम्मिलित हो जाने पर किसी भी राज्य को उससे पृथक् होने का अधिकार नहीं रहता। बर्मा ने सन् १९३५ ई० के एक्ट के अनुसार भारतीय संघ में सम्मिलित

होना इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वह सदैव के लिए भारत के साथ सम्बद्ध हो जाना नहीं चाहता था। इसके विपरीत राज्य-मण्डल भंग हो सकता है, वह अपनी प्रकृति से ही स्थायी नहीं होता। संघ राज्य की एकता अन्य संयोगों (Unions) की अपेक्षा अधिक गहरी और ठोस होती है। उसके विधायक राज्यों (इकाईयों) को अपने विषयों में स्वशासन का पूर्ण अधिकार रहता है और वे एक निश्चित सीमा के भीतर अपने शासनाधिकारियों का पूर्ण प्रयोग करते हैं। फ्रीमैन ने इस विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है: 'संघ शासन का नाम विधायक सदस्यों के किसी भी ऐसे सयोग के लिए व्यवहृत किया जा सकता है, जहाँ एकता की मात्रा गुटबन्दी से, चाहे वह कितनी ही घनिष्ट हो, अधिक बढ़ जाती है और जहाँ प्रत्येक विधायक राज्य की स्वतन्त्रता की मात्रा स्थानीय स्वशासन की स्वतन्त्रता से अधिक हो।' इस प्रकार संघ का सार-तत्व पहले से विद्यमान स्वतन्त्र राज्यों के आधार पर एक नवीन राज्य का इस प्रकार निर्माण करने में है कि उनमें से प्रत्येक राज्य का अपना एक क्षेत्र बना रहता है जिसमें उनका प्रभुत्व बना रहता है और क़ानूनी रूप से वे संघ-शासन के नियंत्रण से स्वतन्त्र रहते हैं। इस क्षेत्र का निश्चय उस संविधान द्वारा किया जाता है जिसके द्वारा संघ-शासन की स्थापना की जाती है। इसमें न केन्द्रीय शासन और न राज्य-शासन ही कोई परिवर्तन कर सकते हैं। इसमें केवल संविधान में संशोधन द्वारा ही परिवर्तन हो सकता है। वे सघ-राज्य जिनमें विधायक राज्यों पर उनके क्षेत्र में भी केन्द्रीय या सघीय सरकार का न्यूनाधिक नियन्त्रण रहता है सच्चे संघ नहीं कहे जा सकते ; वे आदर्श से नीचे रह जाते हैं। रूस, सन् १९३५ ई० के प्रस्तावित भारतीय संघ तथा नवीन विधान के अनुसार भारतीय संघ इसी प्रकार के अपूर्ण संघों के उदाहरण हैं।

चूंकि संघ-राज्य में केन्द्रीय शासनों तथा राज्य-शासनों के बीच अनेकों विवाद इस सम्बन्ध मे खड़े हो जाते हैं कि अमुक मामले का प्रबन्ध केन्द्रीय शासन के आधीन है या राज्य-शासन के, अतः ऐसे विवादों के निर्णय के लिये तथा सविधान की व्याख्या करने के लिये एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार संघ के आवश्यक तत्व निम्न प्रकार हैं—

(१) एक संख्या में स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व।

(२) संविधान जो संघ राज्यों के बीच सत्ता का वितरण करे।

(३) संविधान की व्याख्या करने के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय संघ-राज्य में प्रत्येक नागरिक की दोहरी नागरिकता और दोहरी भक्ति होती है। वह संघ राज्य का नागरिक होता है और उसके प्रति उसकी भक्ति होती है। वह अपने राज्य का भी, जिसमें वह निवास करता है; नागरिक होता है और उसके प्रति भी उसकी भक्ति होती है।

संघों की उत्पत्ति—

संघ-राज्य की उत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है। सबसे अधिक प्रचलित तरीक़ा तो यह है कि कुछ स्वाधीन राज्य स्वेच्छा से एक प्रभुत्व की आधीनता में शामिल हो कर सामान्य कामों की व्यवस्था के लिये एक केन्द्रीय शासन की स्थापना कर लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विस संघ का जन्म इसी प्रकार हुआ। दूसरा तथा कम प्रचलित तरीक़ा यह है कि एक केन्द्रित एकात्मक राज्य (Centralized Unitary State) खण्ड-खण्ड होकर स्वायत्त शासित इकाइयों मे विभाजित हो जाता है और फिर ये इकाइयाँ शामिल होकर सघ-राज्य की स्थापना करती हैं। २६ जनवरी सन् १६५० ई० को भारत मे सघीय गणतन्त्र का जन्म हुआ। इसका जन्म भी इसी प्रकार एकात्मक राज्य के विघटन से हुआ है। कनाडा में भी इसी प्रकार से संघ-राज्य की स्थापना हुई थी। इन दोनों के संघ-राज्य की स्थापना के लिए प्रेरणा बाहर से आई। लोगों ने इसकी इच्छा नहीं की वरन् आन्तरिक शासन में सुधार करने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने दोनों जगह इस विचार को जन्म दिया। इस प्रकार दोनों ढंग से बनने वाले सघों के प्रयोजन विभिन्न होते हैं। कुछ स्वतन्त्र राज्यों को अकेली अवस्था मे आक्रमण का भय रहता है। वे सामान्य रक्षा की आवश्यकता के कारण मिलकर अपना संघ बना लेते हैं। ग्रेट ब्रिटेन से स्वतन्त्र होने के बाद किसी योरोपियन सत्ता के आक्रमण के भय से अमेरिका के तेरहों उपनिवेशों ने अपना संघ बनाया था जो आगे चल कर संयुक्त राज्य अमेरिका के रूप में विकसित हुआ। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों ने जापान के आक्रमण के भय से अपना संघ स्थापित किया। इस प्रकार विदेशी

सत्ताओं से स्वतन्त्र रहने की इच्छा और यह अनुभव कि स्वतन्त्रता संयोग द्वारा ही सम्भव है, ये दोनों बातें ही मुख्यतया स्वतन्त्र राज्यों को संघ-निर्माण के लिए प्रेरित करती हैं। संयोग-जन्य आर्थिक लाभ भी एक कारण होता है। परन्तु सामान्य रक्षा की आवश्यकता के समान प्रभावशाली नहीं। अमेरिकन संयुक्त राज्य के विभिन्न राज्यों की आर्थिक स्थिति, यदि वे संघ में शामिल नहीं होते तो, कभी ऐसी अच्छी नहीं हो सकती थी। आर्थिक कल्याण की इच्छा से ही सम्भव है कि भविष्य में पूर्वी बंगाल पश्चिमी बंगाल के साथ फिर शामिल हो कर पाकिस्तान से सम्बन्ध विच्छेद कर ले और भारतीय संघ का फिर से अंग बन जाय। राजनीतिक संस्थाओं की समानता तथा जाति, धर्म, भाषा आदि की एकता संघ की आवश्यक शर्तें नहीं हैं। उनके अभाव में भी संयोग की इच्छा प्रबल और सक्रिय हो सकती है, यदि सैनिक असुरक्षा का डर और आर्थिक लाभ की आशा विद्यमान हो।

संघ राज्य के लिए आवश्यक बातें—

संघ-राज्य की स्थापना चाहे जिस प्रकार से हो, यह आवश्यक है कि विधायक इकाइयों (राज्यों) के निवासी सामान्य राष्ट्रीय भावना द्वारा अनुप्रेरित और सम्बद्ध हों; और उनके राजनीतिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक हितों में समानता हो। जब तक उनमें इस प्रकार के बन्धन न हों, उनका एक राज्य में बने रहना असम्भव नहीं तो महान् कठिन अवश्य है। धर्म, भाषा तथा जाति के तीव्र भेद संघवाद के लिए संकटप्रद हैं, क्योंकि उनका प्रभाव हित-साम्य के विपरीत होता है। विधायक राज्यों में परस्पर भौमिक सम्पर्क होना आवश्यक है; वे परस्पर एक दूसरे से मिले हुए हों, दूर-दूर न हों। भौगोलिक सामीप्य से उनकी सामान्य रक्षा, आर्थिक सहायता तथा हित-साम्य को सहायता मिलती है। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए संघ-प्रणाली की योजना सफल नहीं हो सकी क्योंकि (ब्रिटिश) राष्ट्र-मण्डल (Commonwealth) के देश एक दूसरे से समुद्रों द्वारा पृथक् हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान एक दूसरे से एक हज़ार मील से अधिक दूर होते हुए भी एक संघ के सदस्य हैं। इस दूरी और आर्थिक हितों की असमानताएँ होते हुए भी ये दोनों भाग कब तक साथ रह सकेंगे यह तो भविष्य ही बतलायगा। संघ-राज्य का एक तीसरा आवश्यक तत्व यह है कि

विविध राज्यों में संघ में सम्मिलित हो कर अपने पृथक् अस्तित्व को विलीन किये बिना एक नवीन राज्य की स्थापना के लिए तीव्र भावना हो। उनमें संयोग की भावना होनी चाहिये, एकता की नहीं। संघवाद के द्वारा राष्ट्रीय एकता की इच्छा का राज्य-प्रभुत्व की इच्छा के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाता है। यह भी वांछनीय है कि संघ-राज्य में सम्मिलित होने वाले विविध राज्यों में आकार तथा जनसख्या में लगभग समानता हो। यदि संघ में एक राज्य आकार तथा जनसंख्या में अधिक विशाल होता है तो वह दूसरे छोटे राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। इस प्रकार संघ का रूप बिगड़ सकता है और वह संघ न रह कर साम्राज्य बन सकता है। एक समय जर्मन राज्य-मण्डल मे प्रशा का राज्य बहुत बड़ा था। उसने अन्य राज्यों पर अपना आधिपत्य लाद कर उसे जर्मन साम्राज्य बना डाला था।

राज्य या प्रान्त—

अब तक जो विचार किया गया है उसमें 'राज्य' (State) शब्द का प्रयोग दोनों संघ (Federation) और उसके अन्तर्गत राज्यों के लिए किया गया है। इसका कारण यह है कि न अंग्रेज़ी भाषा में और न हिन्दी भाषा में ही संघ-राज्य के अन्तर्गत राज्यों के पद को प्रकट करने वाला कोई उपयुक्त शब्द उपलब्ध है। वे वास्तव में राज्य नहीं; वे प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं हैं और न उनका कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्थान ही है। संघ में सम्मिलित हो जाने के कारण वे राज्य का वह लक्षण खो बैठते हैं, जिसके कारण अन्य ऐच्छिक संस्थाओं से उनकी भिन्नता प्रकट होती है। वास्तव में ऐसे अनेक संघ-राज्य हैं जिनमें उसके अन्तर्गत इकाइयों को राज्य नहीं कहा जाता। कनाडा में उन्हें 'प्रान्त' (Province) और स्विट्ज़रलैंड में उन्हें 'केन्टन' कहा जाता है। ये नाम भी उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। संघ की इकाइयों को एकात्मक राज्य के प्रान्तों से कहीं अधिक स्वतन्त्रता होती है। यदि वे 'राज्य' से कुछ कम हैं तो वे 'केन्टन' या प्रान्त से कुछ अधिक अवश्य हैं।

कुछ लेखकों का विचार है कि इसे संघ-राज्य (Federal State) कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें एकता का अभाव होता है जो राज्य का एक लक्षण है। संघ में सम्मिलित होने वाले राज्य संयोग (Union) चाहते हैं; एकता (Unity) नहीं। संघ राज्य का

एसेम्बली, कौंसिल और कार्यालय। ये राज्य की पार्लमैंट, मन्त्रि-मण्डल और सिविल सर्विस से मिलते-जुलते थे। राज्य के समान ही इसका व्यक्तित्व भी था ; इसकी सम्पत्ति थी और इसका बजट भी था, किन्तु यह राज्य नहीं था। क्योंकि इसके कोई नागरिक नहीं थे जिन्हें वह आदेश देता। इसका कोई प्रदेश भी नहीं था और न प्रादेशिक अधिकार-सीमा ही थी। यह तो राज्यों का एक समुदाय था जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की अभिवृद्धि था। शान्ति की अभिवृद्धि के लिए यह चाहता था कि :—

(१) राष्ट्रसंघ के सदस्य अपने विवादों का निर्णय करने लिये कभी युद्ध नहीं करेंगे ; वरन् वे पञ्च-निर्णय तथा विश्व-न्यायालय द्वारा निर्णय आदि शान्तिमय साधनों से उनका नियन्त्रण करेंगे,

(२) उनके पारस्परिक सम्बन्ध खुले हुए, समुचित तथा सम्माननीय होंगे,

(३) वे अपने पारस्परिक व्यवहार मे अन्तर्राष्ट्रीय विधान के नियमों का प्रयोग करेंगे और

(४) वे अपने संधियों के दायित्वों का आदर करेंगे।

उसने कई विभिन्न क्षेत्रों में अपने सदस्य राज्यों के बीच सहयोग की व्यवस्था करके मानव समाज के भौतिक एवं नैतिक कल्याण की वृद्धि के लिये प्रयत्न किया। उसकी स्वास्थ्य-कमिटी ने मेलेरिया, केन्सर, क्षय आदि रोगों के दमन के लिये भी प्रयत्न किया। एक दूसरी कमिटी ने अनैतिक प्रयोजनों के लिये स्त्रियों तथा बच्चों के क्रय-विक्रय को रोकने की कोशिश की। बौद्धिक सहयोग की अभिवृद्धि के लिये भी उसकी एक कमिटी थी। उसने शस्त्र-निर्माण की दौड़ को बन्द करने का भी प्रयत्न किया, यद्यपि उसे इस कार्य मे कोई सफलता नहीं मिली। आर्थिक क्षेत्र में भी उसके प्रयत्नों से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। परन्तु विश्व-शान्ति स्थापित करने तथा युद्ध बन्द करने मे उसकी सबसे बड़ी असफलता उस समय हुई जब कि वह अबीसिनिया पर इटली का और चीन पर जापान का आक्रमण न रोक सका। इससे उसकी निर्बलता प्रकट हो गई और जर्मनी ने उससे पूरा लाभ उठाया, जिसका परिणाम हुआ महा प्रलयंकर द्वितीय विश्वयुद्ध। युद्ध छिड़ गया और राष्ट्र-संघ असहाय देखता रहा। अन्त में युद्ध की समाप्ति के बाद १८ अप्रैल सन् १६४६ ई० को एक प्रस्ताव स्वीकृत कर उसने स्वयं अपनी अन्त्येष्टि कर ली।

संयुक्त राष्ट्र-संघ—

राष्ट्र-संघ का अन्त द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान में ही संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना के कारण हुआ। सेन फ्रान्सिस्को में ५० राष्ट्रों के २८२ प्रतिनिधियों ने दो महीने (२५ अप्रेल से २६ जून सन् १९४५ ई० तक) के घोर परिश्रम के बाद संयुक्त राष्ट्र-संघ का चार्टर स्वीकार किया। राष्ट्र-संघ के विधान के समान चार्टर युद्ध के अन्त में नहीं वरन् उसके दौरान में ही स्वीकृत हुआ। इस कारण वह शान्ति-सन्धियों का अङ्ग नहीं बन सका। इसको लिखा तो राज्यों के प्रतिनिधियों ने था परन्तु इसकी भूमिका के आरम्भ में संयुक्त राष्ट्रों की जनता का उल्लेख है, सरकारों का नहीं। राष्ट्र संघ के कवनेन्ट (Covenant) में जनता का कोई उल्लेख नहीं था। किन्तु इस उल्लेख का कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि भूतपूर्व राष्ट्र-संघ के समान इस नई संस्था के सदस्य भी राज्य हैं और उसमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की नियुक्ति राज्यों की सरकारों द्वारा की जाती है, जनता द्वारा नहीं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के उद्देश्य भूतपूर्व संघ के समान ही हैं। चार्टर की प्रथम धारा इस प्रकार है। संयुक्त राष्ट्र-संघ के उद्देश्य हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की रक्षा करना और इस दृष्टि से शान्ति को जो खतरे हैं उन्हे रोकने और शान्ति-भग तथा आक्रमणात्मक कार्यों का दमन करने के लिए सामूहिक प्रयत्न करना और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का और ऐसी स्थितियों का, जिनसे शान्ति भग का डर हो शान्तिमय उपायों द्वारा निर्णय करना ; (२) समान अधिकार तथा जनता के आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के आदर के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना और उनकी वृद्धि करना ; (३) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवता-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए और मानव-अधिकारों तथा जाति, लिंग, भाषा, धर्म आदि के भेद बिना सब के लिए मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए आदरभाव की वृद्धि के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करना ; (४) राज्यों के इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किये जाने वाले कामों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक केन्द्र क रूप में काम करना।

संयुक्त राष्ट्र-संघ भूत पूर्व संघ से कुछ बातों में भिन्न है। हमारी

दृष्टि से सबसे मुख्य भेद अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इसकी योजना और शान्ति को क़ायम रखने के लिए प्रस्तावित ढंगों में है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के मुख्य अंग ये हैं—(१) साधारण सभा-जिसमें संघ के सभी सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य के अधिक से अधिक पांच प्रतिनिधि होते हैं, परन्तु उन सबका मत एक ही होता है। यह सभा सुरक्षा-परिषद् या संघ के किसी सदस्य द्वारा पेश की हुई अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा-सम्बन्धी किसी भी समस्या पर विचार कर सकती है। महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों पर निर्णय उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मत से किया जाता है। इसके अधिवेशन वार्षिक होते हैं, आवश्यकता पड़ने पर विशेष अधिवेशन भी हो सकते हैं। प्रत्येक अधिवेशन के लिए यह अपना सभापति स्वयं चुनती है। यह सभा भूतपूर्व संघ की सभा के समान है।

(२) सुरक्षा-परिषद्—यह भूतपूर्व संघ की कौंसिल के समान है। इसके ग्यारह सदस्य होते हैं जिनमें से पॉच—ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका का सयुक्त राज्य, रूस, चीन तथा फ़्रान्स तो स्थायी सदस्य हैं और ६ अस्थायी सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन साधारण सभा अपने सदस्यों में से दो वर्ष के लिये करती है। यह परिषद् भूतपूर्व संघ की कौसिल से इस बात में भी भिन्न है कि इसका अधिवेशन कभी भङ्ग हुआ नहीं समझा जाता। जिन राज्यों के प्रतिनिधि इसके सदस्य हैं वे सदा इसके मुख्य स्थान में रहते हैं और जिस समय आवश्यकता हो उसी समय एकत्रित हो सकते हैं। लीग की कौसिल के अधिवेशन इस प्रकार स्थायी नहीं होते थे। पहले लीग के समय में तो यह सम्भव था कि मामला कौंसिल के सामने पहुँचे उसके पहले ही आक्रामक राज्य अपना काम बना ले, परन्तु अब ऐसा सम्भव नहीं है। महत्त्वपूर्ण मामलों में निर्णय सात स्वीकारात्मक मतों द्वारा होता है परन्तु इसमें पॉचों स्थायी सदस्यों के मत शामिल होने चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पाँचों स्थायी सदस्यों को किसी भी निर्णय को अपना मत रोक कर रद्द कर देने का अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग रूस ने अभी तक अनेकों बार किया है। कुछ महीनों तक चीन की साम्यवादी सरकार को सुरक्षा परिषद् में लेने के प्रश्न पर रूस के प्रतिनिधि ने सुरक्षा-परिषद् तथा अन्य संस्थाओं मे जाना ही छोड़ दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा इस परिषद् की मुख्य ज़िम्मेदारी है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति

भंग करने वाली किसी भी स्थिति या किसी भी ऐसे विवाद पर विचार करने और उसकी परीक्षा करने का अधिकार है। लीग की कौंसिल का भी यही कर्तव्य था, परन्तु उसकी तथा एसेम्बली की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उनमे से किसी को भी सदस्य-राज्यों के करने के लिए किसी सामान्य काम का निर्णय करने की सत्ता नहीं थी। प्रत्येक सदस्य को यह निर्णय करने की स्वतन्त्रता थी कि किसी सदस्य राज्य ने लीग के कवनेन्ट का भग किया है या नहीं। लीग की कौंसिल सदस्यों से सामान्य नीति का अवलम्बन करने के लिए प्रार्थना ही कर सकती थी, अन्तिम निर्णय प्रत्येक सदस्य के ही हाथ में रहता था। संयुक्त राष्ट्र-संघ की योजना में यह दोष दूर कर दिया गया है। सुरक्षा परिषद् को अधिकार है कि वह सब सदस्य-राज्यों के लिए निर्णय ले सके। उन निर्णयों को स्वीकार करना और उनको कार्यान्वित करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है। परन्तु स्थायी सदस्यों के रद्द करने के अधिकार से सुरक्षा परिषद् का यह अधिकार निर्बल हो गया है। उन पाँचों में से कोई भी किसी काम को, जिसके वह विरुद्ध हो, अपने अधिकार का प्रयोग करके रोक सकता है। इससे सुरक्षा परिषद् के काम में बड़ी बाधा होती है। अनेक भेदों के होते हुए भी हमें यह कहना पड़ेगा की संयुक्त राष्ट्र-संघ नये वेश में पुराना संघ ही है। संयुक्त राष्ट्र-संघ भी लीग की तरह प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों का संघ है और उसके समान इसमे भी शक्तिशाली राज्यों की स्वार्थमय नीतियों का ज़ोर है, अन्तर्राष्ट्रीय हित की ओर किसी का भी लक्ष्य नहीं है।

(३) संयुक्त राष्ट्र-संघ की अन्य संस्थाओं में आर्थिक और सामाजिक परिषद्, ट्रस्टीशिप-परिषद् और कार्यालय का उल्लेख किया जा सकता है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् का कार्य आर्थिक एवं सामाजिक प्रश्नों पर विचार करना और साधारण सभा, सदस्य राज्यों अथवा विशिष्ट संस्थाओं को सिफ़ारिशें करना है। ट्रस्टीशिप-परिषद् का कार्य उन प्रदेशों की व्यवस्था करना है जो संयुक्त राष्ट्र-संघ के संरक्षण में हैं। पहले ऐसे प्रदेशों की व्यवस्था लीग के आदेश (Mandate) के अनुसार सदस्य-राज्य करते थे।

इस संघ से सम्बद्ध कुछ अन्य संस्थाएँ भी हैं जिनमें से मुख्य ये हैं—(१) इन्टर्नेशल बैंक फॉर रिकन्स्ट्रक्शन, (२) इण्टरनेशनल मॉनिटरी फण्ड, (३) यूनाइटेड नेशन्स फ़ूड एण्ड एग्रिकल्चरल ऑर्गेनाइजेशन,

(४) यूनाइटेड नेशन्श रिलीफ़ एण्ड रीहेबिलिटेशन ऑर्गेनाइज़ेशन, (५) यूनाइटेड नेशन्स एजुकेशनल, सोश्यल एण्ड कल्चरल ऑग्रेनाइज़ेशन।

आरम्भ में इस संघ के ५१ सदस्य थे। कोई भी शान्तिप्रिय राज्य जो चार्टर में उल्लिखित दायित्वों को स्वीकार करने के लिये तैयार हो, उसका सदस्य बन सकता है। अब इसकी संख्या बढ़ते-बढ़ते ५६ हो गई है। संसार के सभी बड़े राज्य जिनमें अमेरिका का सयुक्त राज्य तथा रूस भी शामिल है, इसके सदस्य हैं। ये दोनों राज्य लीग के सदस्य नहीं थे, हाँ रूस बाद में शामिल कर लिया गया था। बड़े राज्यों के परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण सुरक्षा परिषद् में दो दल बन गये हैं और पश्चिमी जनतन्त्रीय राज्य उन राज्यों से संघ के सदस्य होने में बाधा डाल रहे हैं जिनका रूस से मेल है। इसके बदले में रूस उन राज्यों को संघ का सदस्य नहीं होने देता जिनके विषय में उसे सन्देह है कि वे उसके विरोधी आंग्ल-अमेरिकन गुट का साथ देंगे।

अध्याय १२

शासन के भेद

एकतन्त्र तथा कुलीन-तन्त्र—

राज्य-विज्ञान राज्य एवं शासन का अध्ययन है। गत अध्यायों में हमने राज्य के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है। अब हम शासन तथा उसके रूपों और उनके गुण-दोषों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

शासनों का वर्गीकरण—

शासनों का वर्गीकरण राज्यों के वर्गीकरण की अपेक्षा सरल है, क्योंकि उसके लिये हमें कई आधार मिल जाते हैं। प्राचीन लेखकों ने शासनों के एकतन्त्र (राजतन्त्र), कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र तीन भेद माने हैं। इन भेदों का आधार उन व्यक्तियों की संख्या है जिनके हाथों में राज्य की सत्ता होती है। आधुनिक लेखक विभिन्न कसौटियों के आधार पर शासनों के निम्न प्रकार के भेद मानते हैं; एकात्मक शासन तथा संघ शासन ; परिषद्-शासन तथा राष्ट्रपति-शासन; पूर्ण लोकप्रिय शासन तथा नौकरशाही शासन। दुर्भाग्य से आधुनिक शासनों के वर्गीकरण के लिए कोई एक आधार नहीं है, उनका विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, राज्य के नाममात्र के प्रमुख की नियुक्ति के दृष्टिकोण से इङ्गलैण्ड राज्यतन्त्र (एकतन्त्र) (Monarchy) है; एक ही जगह सत्ता के केन्द्रित होने के कारण उसका शासन एकात्मक (Unitary) है ; कार्यपालिका तथा संसद के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण वह शासन परिषद्-शासन (Cabinet Government) भी कहलाता है। जनता को अपने शासक चुनने का अधिकार होने से वह प्रजातन्त्र या जनतन्त्र भी है। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन एकतन्त्र के विपरीत गणतन्त्रीय, एकात्मक के विपरीत संघीय तथा परिषद्-शासन के विपरीत राष्ट्रपति-शासन है। जिन राज्यों में शासन और राज्य में भेद नहीं किया जाता, वहाँ शासन प्राथमिक (Prim-

ary) होते हैं। इस दृष्टि से इङ्गलैण्ड तथा संयुक्त-राज्य अमेरिका के शासन प्राथमिक नहीं, प्रतिनिधि-सत्तात्मक हैं, परन्तु इस भेद का आजकल कोई मूल्य नहीं है। हम इन सभी वर्गीकरणों का बारी-बारी से अध्ययन करेंगे।

शासनों का वर्गीकरण : एकतन्त्र, कुलीन-तन्त्र तथा जनतन्त्र—

शासनों का यह वर्गीकरण हमें प्लेटो तथा अरस्तू से मिला है। इसका आधार उन व्यक्तियों की सख्या है जिनके हाथ मे शासन की बागडोर रहती है। यदि सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे है, तो उसे राजतन्त्र या एकतन्त्र कहेंगे। यदि सत्ता कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में है, तो उसे हम कुलीन-तन्त्र कहेंगे और यदि सत्ता समस्त जनता के हाथ मे है तो हम उसे जनतन्त्र या प्रजातन्त्र कहेंगे।

इस वर्गीकरण के विरुद्ध मे जो आक्षेप किये गये हैं, उनके सम्बन्ध में हम राज्यों के वर्गीकरण वाले प्रसग में विचार कर चुके हैं। इसका मुख्य दोष यह है कि यह आधुनिक शासकों के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता, क्योकि अधिकांश राज्यों मे प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त स्वीकृत हो चुका है। ससार में ऐसा कोई भी सभ्य शासन नही है जिसमे पूर्ण रूप से शासन-सत्ता एक या थोड़े व्यक्तियों में केन्द्रित हो और जिसे अरस्तू के अर्थ में एकतंत्रीय या कुलीनतन्त्रीय कहा जा सके ; वे सभी प्रजातंत्रीय बन चुके हैं। इसके अतिरिक्त किसी शासन को केवल जनतंत्रीय कहने से उसके लक्षणों तथा विशेषताओं का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। प्रजातन्त्रीय शासन एक दूसरे से इतने भिन्न हो सकते हैं कि उन सबों को एक ही श्रेणी मे रखना भ्रान्ति-मूलक होगा। इङ्गलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मामले मे यही बात है। इस कारण इस पुरातन वर्गीकरण—एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतंत्र का—स्थान आज उक्त वर्गीकरणों ने ले लिया है। किन्तु एकतन्त्रीय तथा कुलीन-तन्त्रीय शासनों का ऐतिहासिक महत्व है। अतः हम उनका यहाँ संक्षेप में विवरण देते हैं। जनतन्त्र पर अगले अध्याय में विचार करेंगे।

एकतन्त्र

एकतंत्र की प्रकृति—

यह सबसे पुराने प्रकार का शासन है। प्रारम्भिक काल में, जब कि

जनता में राजनीतिक चेतना अच्छी तरह से विकसित नहीं थी और उसमें शासन करने की क्षमता पैदा नहीं हुई थी, एकतन्त्रीय शासन ही सबसे अधिक उपयुक्त था।

व्यापक रूप में यह शासन का ऐसा रूप है जिसमें सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में होती है। यह शब्द उपयुक्त नहीं है; क्योंकि इसका प्रयोग राजा की तरह अधिनायक तथा राष्ट्रपति के लिए भी सम्भव है। इस दोष के परिहार के लिए कुछ राजनीतिक लेखक एकतन्त्र की परिभाषा यह कह कर करते हैं कि यह शासन का ऐसा रूप है जिसमें अन्त में एक ही व्यक्ति की इच्छा राज्य के समस्त मामलों में चलती है और वह व्यक्ति उत्तराधिकार के द्वारा शासन सत्ता प्राप्त करता है। यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है, क्योंकि इसमें 'निर्वाचित एकतन्त्र' पर विचार नहीं किया गया। पूर्व काल में शासक प्रायः निर्वाचित होते थे और अब भी निर्वाचित तत्व का सर्वथा अभाव नहीं है। अतः एकतन्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार करना उचित होगा—"एकतंत्र शासन का ऐसा रूप है जिसमें सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में होती है, जो उसे देश में प्रचलित क़ानून के अनुसार प्राप्त करता है और अपने जीवन-काल में उसका प्रयोग करता है।" यह परिभाषा वंश-परम्परागत शासक तथा निर्वाचित शासक दोनों के लिए लागू हो सकती है किन्तु यह अधिनायक के लिये लागू नहीं होती, क्योंकि वह राज्य में प्रचलित क़ानून के अनुसार सत्ता प्राप्त नहीं करता और वह उसका उपभोग भी, जब तक उसकी शक्ति रहती है, तभी तक कर सकता है। इस तरह इससे एकतन्त्र और अधिनायकतंत्र में भेद हो जाता है।

एकतन्त्रीय शासनों के भेद—

एकतंत्रीय शासनों के भेद दो प्रकार से किये जाते हैं। जिस साधन अथवा स्रोत से शासक सत्ता प्राप्त करता है, उसके आधार पर उसके दो भेद हैं—पैतृक तथा निर्वाचित। अपनी विशेषता के अनुसार वे स्वेच्छाचारी तथा वैधानिक या सीमित होते हैं। प्राचीन समय में अधिकांश एकतन्त्र शासन पैतृक ही थे और आजकल भी जो एकतन्त्रीय शासन हैं, वे भी प्रायः सब पैतृक हैं। राज्य-सिंहासन के लिए उत्तराधिकार निर्धारित नियमानुसार होता है, जो प्रत्येक राज्य में विभिन्न होते हैं। आरम्भिक काल में एकतंत्र निर्वाचित होते थे।

स्वेच्छाचारी एकतंत्रीय शासन में शासक राज्य का प्रमुख अधिकारी होता है। उसकी सत्ता वास्तविक होती है; वैधानिक शासन की तरह नाम मात्र की नहीं। वह राज करता है और शासन भी करता है। परन्तु वैधानिक एकतत्रीय शासक केवल राज करता है; शासन नहीं करता। शासन-संचालन उसके मन्त्रियों द्वारा किया जाता है, जो जनता के प्रतिनिधियों के विधान-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। स्वेच्छाचारी एकतन्त्र में शासक की इच्छा ही क़ानून होती है। शासक ही क़ानून बनाता है, वही उसकी व्याख्या करता है और वही उसे कार्यान्वित भी करता है। फ़्रान्स के राजा लुई चौदहवें के ये शब्द प्रसिद्ध हैं :—"मैं ही राज्य हूँ"। ये शब्द स्वेच्छाचारी शासक के सम्बन्ध मे ही सत्य हैं। इस प्रकार के शासन में राज्य तथा शासन में कोई भेद नहीं होता क्योंकि राजा प्रभु और शासन दोनों ही होता है।

मध्य-युग के बाद योरोप में अधिकांश राज्यों में इसी प्रकार की स्वेच्छाचारी एकतंत्रीय प्रणाली स्थापित थी। सामन्तशाही के ध्वसांवशेषों पर इङ्गलैंड, फ़्रान्स, स्पेन आदि के जो शासन बने वे स्वेच्छाचारी शासन थे। रोम के बादशाह और पवित्र रोम साम्राज्य के साम्राट् भी स्वेच्छाचारी शासक थे। परन्तु आज सभ्य संसार में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र का अन्त हो गया है। अभी कल तक भारत की देशी रियासतों में भी एकतन्त्र विद्यमान था किन्तु अब उसका अन्त हो चुका है। योरोप में जो एकतन्त्रीय शासन हैं, वे वैधानिक ढग के हैं। उनमें शासकों की सत्ता नाम मात्र की है; राज्य के संविधान के अनुसार उनका प्रयोग किया जाता है। इङ्गलैंड वैधानिक एकतन्त्रीय शासन का सबसे प्रमुख उदाहरण है।

एकतन्त्र के गुणदोष—यहाँ हम स्वेच्छाचारी एकतन्त्रीय शासन के गुण-दोषों पर विचार करेंगे क्योंकि वैधानिक एकतन्त्र तो वास्तव में प्रजातन्त्र ही है। १८ वीं सदी में बोसुएट तथा ह्यूम जैसे व्यक्ति इसे सर्वोत्तम, ईश्वर-नियुक्त शासन मानते थे। ह्यूम इसे क़ानूनों का शासन कहता था, मनुष्यों का नहीं। आधुनिक विद्वान इन मतों से सहमत नहीं हैं। इन लेखकों ने जिस युग में लिखा उसमें योरोप में सर्वत्र स्वेच्छाचारी शासन स्थापित थे और उनके आलोचक बहुत कम थे। ऐसे शासन के गुणदोष की परख के लिए उनकी अपेक्षा हमारे पास अनुभव की सामग्री अधिक है।

स्वेच्छाचारी शासन का संगठन सादा होता है और उसमें आदेश देने वाली सत्ता एक ही होती है। वह शीघ्रता के साथ कार्य कर सकता है, उसके कार्य मे शक्ति तथा दृढ़ता होती है और उसकी नीति में क्रमबद्धता भी होती है। उसके निर्णय तत्काल हो सकते हैं, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें गुप्त भी रखा जा सकता है। ऐसे शासन से क्षमता की आशा हो सकती है क्योंकि शासक स्वतन्त्र रूप से अपने कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकता है, और प्रजातन्त्र की अपेक्षा अपने आदेश का उनसे अधिक अच्छी तरह पालन करा सकता है। शासक को किसी दल विशेष से कोई दिलचस्पी न होने के कारण वह सार्वजनिक हितों की अभिवृद्धि का संपादन अधिक कर सकता है। शासक के हितों तथा जनता के हितों में कोई खास भेद नहीं, वरन् साम्य होता है और इस प्रकार वह जनता के प्रति सहानुभूति रखेगा। स्वेच्छाचारी एकतन्त्र आदिम समाजों के लिए, जिनमे जनता मे स्वशासन की योग्यता नही होती और जो दूसरों के दबाव से ही आज्ञापालन करते हैं, सर्वोत्तम शासन होता है। इस सम्बन्ध में गार्नर ने लिखा है कि एकतन्त्रीय स्वेच्छाचारी शासन से 'बढ़ कर और कोई ऐसी शासन-प्रणाली नहीं है जो असभ्य जनता को अनुशासन का पाठ पढ़ा कर उनका जगलीपन से उद्धार कर सके और उनमें आज्ञा-पालन की भावना का प्रादुर्भाव कर सके।'

दुर्भाग्य से स्वेच्छाचारी शासन के ये लाभ व्यवहार मे कहीं भी नहीं देखे गये। ये लाभ वहीं प्राप्त हो सकते हैं जहाँ शासक प्रजा का हितैषी, बुद्धिमान और श्रेष्ठ हो। यदि ऐसे किसी व्यक्ति के हाथों में शासन की सत्ता सौंप दी जाय, जो सर्वथा निष्काम हो, सत्यान्वेषी हो तथा समाज का कल्याण एवं परोपकार करना जिसका एक मात्र लक्ष्य हो तो ऐसे व्यक्ति के शासन में अवश्य ही उपर्युक्त लाभ प्राप्त हो सकेंगे। किन्तु ऐसे निष्काम सन्त व्यक्ति का मिलना दुर्लभ है। स्वेच्छाचारी शासन मे उत्तराधिकार पैतृक परम्परा के अनुसार होता है। इस प्रकार श्रेष्ठ और निकृष्ट दोनों प्रकार के व्यक्तियों को यह अधिकार मिल सकता है। अतः इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि शासक सदा बुद्धिमान तथा परोपकारी होगा। इस प्रणाली म सब कुछ संयोग पर निर्भर रहता है। इतिहास हमें बतलाता है कि श्रेष्ठ एवं परोपकारी राजाओं की अपेक्षा दुष्ट और अयोग्य राजा अधिक हुए हैं, जिनके शासन काल में जनता पर अनेक संकट आये और उसका दमन किया गया। स्वेच्छाचारी शासनों

में प्राय: दरबारों षड्यन्त्र, प्रपंच, उत्तराधिकार के लिए विवाद एवं युद्ध, लोकहित की उपेक्षा, अपने व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद के लिए राजकोष का अपव्यय आदि बुराइयाँ देखने मे आती हैं।

यदि कोई ऐसा उपाय किया जाय कि जिसमे अयोग्य व्यक्ति उत्तराधिकार द्वारा राजा का पद प्राप्त करने से वञ्चित कर दिये जॉय और श्रेष्ठ, बुद्धिमान् तथा कार्यकुशल व्यक्ति ही इस पद पर आसीन हो सकें, तो भी इसकी क्या गारंटी है कि वे अनियन्त्रित सत्ता द्वारा दुराचारी न हो जांयगे। स्वेच्छाचारी एकतन्त्र का सार शासक की अमर्यादित सत्ता है। इस प्रकार की सत्ता कभी श्रेष्ठ नहीं होती। इस परिणाम बड़े खतरनाक होते हैं। इस शासन-प्रणाली में उन दुष्परिणामों के निराकरण का कोई उपाय नहीं है।

इस शासन का एक दूसरा दोष यह है कि इस प्रणाली में जनता में सक्रिय नागरिकता की भावना को उत्तेजना नहीं मिलती। किसी शासन की श्रेष्ठता का यही मापदण्ड नहीं है कि उसका शासन-प्रबन्ध कार्य-कुशल व्यक्तियों के हाथ में है। एक शासन अत्यन्त कार्य-कुशल होने पर भी, श्रेष्ठ नहीं होता, जैसा कि अंग्रेज़ी शासन में भारत की स्थिति से प्रकट होता है। यदि शासन जनता में सक्रिय नागरिकता की भावना तथा सार्वजनिक कार्यों में रुचि उत्पन्न नहीं कर सकता तो हम उसे अच्छा नहीं कह सकते।। स्वेच्छाचारी शासन का यही सबसे बड़ा दोष है कि उसमें ये बातें पैदा नहीं होती। ऐसे शासन में करों की अदायगी और आदेश-पालन, यही नागरिकता का सार है। स्वेच्छाचारी कभी जनता को कोई सत्ता नही देगा और राज्य के शासन-प्रबन्ध मे लोगों को कोई भी भाग लेने का अधिकार नहीं देगा। स्वेच्छाचारी शासन, चाहे उसमें शासन प्लेटो के दार्शनिक राजा ही क्यों न हों, शासन का आदर्श रूप नहीं हो सकता।

कुलीनतन्त्र

परिभाषा—

यूनानियों ने कुलीनतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा शासन बतलाया है। चूँकि समाज में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति सदा कम होते हैं, अतः इसका यह अर्थ लगाया जाने लगा कि यह ऐसी शासन-प्रणाली है जिसमें

समाज के अल्प व्यक्तियों के हाथ में सत्ता होती है। कुलीनतन्त्र की विशेषता सत्ताधारी व्यक्तियों की संख्या की कमी नहीं, वरन् उनका चरित्र है। प्रो० जेलिनेक ने इस शासन के सामाजिक पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया है। उसका विचार है कि कुलीनतन्त्र में राज्य में किसी सामाजिक वर्ग को प्रधान सत्ता प्राप्त होती है। उसका चरित्र प्रधान सामाजिक वर्ग चरित्र द्वारा निर्मित होता है। यदि समाज में ब्राह्मणों का आधिपत्य हो, तो कुलीनतन्त्र एक प्रकार का होगा, यदि समाज मे राजन्य वर्ग का प्राधान्य हो, तो कुलीनतन्त्र दूसरे ढंग का होगा; और यदि वैश्य वर्ग (पूँजीपतियों, भूमिपतियों अथवा उद्योगपतियों) का समाज में प्राधान्य हो, तो कुलीन-तन्त्र उसी के अनुरूप होगा और यदि समाज मे किसान मज़दूर वर्ग का प्राधान्य हो, उनकी प्रभुता हो, तो कुलीनतन्त्र उसी के अनुरूप होगा। कुलीनतन्त्र चाहे जिस ढंग का हो, उसका आधार वही वर्ग होगा जिसे समाज में उच्चता प्राप्त है और इसी कारण विशेषाधिकार भी प्राप्त हैं। कुलीनतन्त्र की परिभाषा अल्प व्यक्तियों द्वारा शासन करना बड़ी भूल होगी। उसके गुणदोष व्यक्तियों की संख्या के कारण नहीं, उसके सामाजिक पक्ष के कारण है।

शासन-प्रणाली के रूप मे यह प्रणाली एकतन्त्र के समान अधिक प्रचलित कभी नहीं रही, यद्यपि प्राचीन काल में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सीनेट द्वारा रोम के शासन प्रबन्ध में मिलता है। आज के युग में कुलीनतन्त्र का कहीं भी अस्तित्व नहीं है, यद्यपि कुछ राज्यों मे कुलीनतन्त्रीय तत्व अवश्य मिलते हैं, जैसे इंगलैंण्ड में लॉर्ड-सभा। आजकल के प्रजातन्त्रों में भी देश का शासन सूत्र प्रायः अल्पसंख्यक सुयोग्य और विद्वान व्यक्तियों के हाथ में होता है; इस प्रकार यह माना जा सकता है कि आजकल समस्त शासन आंशिक रूप में कुलीनतन्त्रीय होते हैं।

कुलीनतन्त्र के भेद—

रूसो ने कुलीनतंत्रों के तीन भेद बताये थे—प्राकृतिक, निर्वाचित तथा तथा पैतृक। अन्य लेखकों ने सम्पत्ति, जन्म प्रतिभा, बुद्धि, संस्कृति एवं शिक्षा के कुलीनतन्त्र माने हैं। धनिकों के कुलीनतन्त्र को प्रायः धनिकतंत्र (Plutocracy) कहते हैं। यूनानियों का अनुकरण करते हुए कुछ लोग कुलीनतन्त्र के विकृत रूप को अल्पजनतन्त्र (Oligarchy) कहते हैं किन्तु अधिकांश लेखक यह भेद नहीं करते।

कुलीनतन्त्र के गुण—

शासन-प्रणाली के रूप में कुलीनतन्त्र में कई गुण हैं। इसमें सख्या की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व दिया जाता है और इसमें शासन-प्रबन्ध ऐसे व्यक्तियों के हाथों मे होता है, जो शिक्षा तथा ज्ञान-बल मे सर्वश्रेष्ठ हैं। गार्नर ने लिखा है कि "यह अनुभव तथा शिक्षण को राजनीतिक गुण मान कर उचित महत्त्व देता है और विशेष प्रतिभा-शालियों को उचित सम्मान प्रदान करके उन्हें लोक-सेवा के लिए आकर्षित करता है।" दूसरे, यह शासन स्थितिपालक होता है। जिन व्यक्तियों में ज्ञान तथा परिपक्व अनुभव होता है, वे सरलता से ऐसे सुधारों का सूत्रपात नहीं करते जो समाज के लिए नाशकारी साबित हो सके ; वे प्राचीनता-प्रेमी होते हैं और पुरानी अनुभूत परिपाटी से चिपके रहना पसन्द करते हैं। किन्तु स्थितिपालक होने के कारण यह स्थायी होता है। जब इसका एकतन्त्र के साथ संयोग हो जाता है, तब यह उसे स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है और प्रजातन्त्र से संयोग हो जाता है तो वह उग्र नहीं बन पाता। इस प्रकार जिस किसी शासन के साथ कुलीन-तन्त्र का योग हो जाय, वह उसमे संयम तथा मर्यादा का समावेश कर देता है। मॉण्टेस्क्यू का विचार था कि उसकी विशेषता गुण पर आधारित संयम है। अन्त मे, कुलीनतन्त्र बहुत ही कार्य-कुशल और शक्तिशाली होता है, क्योंकि उसमे शासन-सूत्र सुयोग्य एव कुशल व्यक्तियों के हाथों में होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुलीनतन्त्र अपने शासन-प्रबन्ध की कार्य-कुशलता, उत्साह तथा सामर्थ्य के लिए प्रसिद्ध रहे हैं।

कुलीनतन्त्र के दोष—

परन्तु कुलीनतन्त्र मे अनेक दोष भी हैं। सर्व प्रथम, राजनीतिक योग्यता जानने के लिए अभी तक कोई समुचित कसौटी स्थापित नहीं हो सकी है। जन्म वास्तव में कोई कसौटी नहीं है। जिस प्रकार हम पैतृक ढङ्ग से अध्यापकों का चुनाव नहीं कर सकते उसी प्रकार शासन-प्रबन्ध करने वालों तथा ससद् के सदस्यों का भी चुनाव नहीं कर सकते। शासन-प्रबध की योग्यता तथा अन्य राजनीतिक गुण वशानुक्रम (Heie-dity) से प्राप्त नहीं होते। लेकी का यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता कि धनी तथा कुलीन परिवारों में (जिन्होंने अपना अधिक समय राजनीतिक कार्यों में लगाया है) साधारण परिवारों की अपेक्षा शासन-प्रबन्ध कर्ता अधिक पैदा होते हैं। पैतृक सिद्धान्त से जहाँ अच्छे परिणाम

की आशा है वहाँ इससे दुष्परिणाम भी निकल सकते हैं। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि जन्म के आधार पर राजनीतिक योग्यता का निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति भी विशेषकर, जब कि वह उत्तराधिकार मे मिली हो, इसकी सन्तोषप्रद कसौटी नहीं है ; उसका मनुष्य के चरित्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि सम्पत्ति स्वयं अर्जित हो तब यह माना जा सकता है कि व्यक्ति में कुछ गुण हैं ; परन्तु ये गुण उन गुणों से सर्वथा भिन्न प्रकार के होते हैं, जो सफल राजनीतिज्ञ में होने चाहिये। बौद्धिक श्रेष्ठता के साथ भी व्यक्ति में सत्यता, ईमानदारी तथा लोकहितपरता का होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार कुलीनतन्त्र का पहला दोष तो यह है कि ऐसी कोई निश्चित कसौटी नहीं है जिससे राजनीतिक योग्यता वाले व्यक्तियों को अयोग्य व्यक्तियों से पृथक् किया जा सके। दूसरा दोष यह है कि एकतन्त्र की तरह इसमें भी इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि शासन सत्ता का अपने ही हित मे उपयोग नहीं करेंगे। कोई भी शासन-प्रणाली उस समय तक श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती जब तक कि वह ऐसी व्यवस्था न करे जिससे शासनकर्ता उत्तरदायी बनें। वर्ग शासन स्वार्थी, उद्धत और जनता के हितों के प्रति उदासीन बन सकता है। उससे ऐसी आशा भी कम रहती है कि जितने लोकहित का उसके हित से सामंजस्य हो उससे आगे भी वह बढ़ेगा। 'तीसरे, कुलीनतन्त्र भी सक्रिय नागरिकता की भावना के विकास के लिये कुछ नहीं करता। प्रजातन्त्र के समान यह नागरिकता की शिक्षा देने के लिए कोई व्यवस्था नहीं करता। इसका सबसे बड़ा दोष तो यह है कि यह हमारी समानता की सहज प्रवृत्ति के विरुद्ध है। एक लेखक का मत है कि 'विशुद्ध, कुलीनतन्त्रीय स्वभाव कुछ भयङ्कर रूप से अमानुषी तथा उद्धत होता है।' कुलीनतन्त्र व्यक्ति की शक्तियों के विकास के लिए कुछ भी नहीं करते। 'वे महान् और मौलिक व्यक्तियों के विकास की ओर उदासीन रहते हैं।' कुलीनतन्त्रीय स्वभाव के साथ प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त का संघर्ष ही सभ्य दुनिया से शासन के रूप में कुलीनतन्त्र के विनाश के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है।

अध्याय १४

शासनों के भेद

प्रजातन्त्र

प्रजातन्त्र का अर्थ—अंग्रेज़ी शब्द डिमोक्रेसी (प्रजातंत्र, जनतन्त्र या लोकतन्त्र) का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। कुछ विद्वानों के मत में यह शासन का एक रूप है ; दूसरे इसे समाज की एक स्थिति मानते हैं ; कुछ विद्वानों के लिए यह एक आदर्श है, जिसके लिये जीना और मरना चाहिए। एक व्यक्तिवादी अर्थशास्त्री के लिये प्रजातन्त्र का अर्थ शिक्षा तथा आर्थिक जीवन में समान अवसर की प्राप्ति है। समाजवादी की दृष्टि में प्रजातन्त्र से मतलब ऐसे समाज का है जिसमें राज्य को धन-सम्पत्ति की असमानता दूर करनी चाहिये। इस प्रकार 'प्रजातन्त्र' का अर्थ लेखक के दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न प्रकार से किया जाता है। यहाँ हम उस पर एक शासन-प्रणाली के रूप में विचार करेंगे, समाज की स्थिति या नैतिक आदर्श के रूप मे नहीं।

शासन-प्रणाली के रूप में प्रजातन्त्र की परिभाषा करने से पूर्व यह समझ लेना वांछनीय होगा कि एक सामाजिक स्थिति, राज्य के रूप तथा नैतिक आदर्श के रूप में उसका क्या आशय है। किसी समाज को हम प्रजातन्त्रीय उसी समय कहते हैं जब कि उसके सदस्यों में समता तथा बन्धुत्व की भावना होती है और उसमें कोई विशेष अधिकार-युक्त वर्ग नहीं होता। जो लोग किसी देश मे जाकर उपनिवेश बसाते हैं, उनका समाज प्रजातांत्रिक समाज का सर्वोत्तम उदाहरण है। जिस समाज का संठगन 'साम्यवादी' ढंग से होगा वह आवश्यक रूप से 'प्रजातांत्रिक' होगा। कोई राज्य उसी समय प्रजातांत्रिक कहलाता है, जब कि उसमे प्रभुत्व जनता मे निहित होता है और जनता के हाथ में शासन को चुनने तथा पदच्युत करने की शक्ति होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका प्रजा-

तंत्रीय राज्य है, यद्यपि युद्ध-काल में उसके राष्ट्रपति की सत्ताएँ एक अधिनायक (डिक्टेटर) से कम नहीं होतीं। साधारणतया प्रजातन्त्रीय राज्य का शासन प्रजातन्त्रीय होता है, परन्तु आवश्यक रूप से ऐसा नहीं होता ; जनता अल्पकाल के लिये अधिनायकतन्त्र को चुन सकती है। प्रजातांत्रिक समाजों के लिये तो यह और भी कम आवश्यक है कि उनके शासन प्रजातांत्रिक हों। मुसलमानों का समाज प्रजातन्त्रीय है ; परन्तु वे अधिकांश में स्वेच्छाचारी शासनों मे ही रहे हैं। रूस मे साम्य-वादियों ने प्रजातांत्रिक समाज का निर्माण किया है, परन्तु उनका शासन सामान्यतया स्वीकृत अर्थ में प्रजातात्रिक नहीं है। फिर भी साधारणतया प्रवृत्ति यही है कि ये तीनों प्रजातांत्रिक समाज, प्रजातांत्रिक राज्य और प्रजातांत्रिक शासन एक साथ चलते हैं।

एक नैतिक आदर्श के रूप में प्रजातन्त्र का अर्थ है मानव के रूप में मानव के व्यक्तित्व मे आस्था। दार्शनिक काण्ट के इस सुप्रसिद्ध सूत्र से इस आदर्श की बड़ी सुन्दर व्याख्या होती है—"इस प्रकार काम करो कि मानवता के साथ प्रत्येक मामले मे, चाहे तुम्हारे व्यक्तित्व की बात हो या दूसरे के व्यक्तित्व की, इस प्रकार व्यवहार हो कि वह एक साध्य है, ध्येय है , उसे साधन मान कर कभी व्यवहार मत करो।"

प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्ति के रूप मे दूसरे व्यक्ति के समान मूल्य है, चाहे उसका जन्म किसी वश या जाति में हुआ हो, चाहे वह धनी हो या निर्धन हो। बेन्थम का निम्नलिखित सूत्र मानव-व्यक्तित्व के मूल्य के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग है : "प्रत्येक व्यक्ति को एक गिनना चाहिये और किसी को एक से अधिक नहीं गिना जाना चाहिये।" जिस समाज में इस आदर्श को स्थान मिलता है वह सामाजिक प्रजातन्त्र है। उसमें प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता मानी जाती है और उसके पूर्ण विकास के लिए सुविधाएँ दी जाती हैं।

एक शासन-प्रणाली के रूप मे प्रजातन्त्र की अनेकों परिभाषाएँ की गई हैं। प्राचीन यूनानियों के लिये प्रजातत्र का अर्थ था अज्ञान प्रजा (Demos) द्वारा शासन। शासकों की संख्या तथा चरित्र के आधार पर वे इसे अन्य प्रणालियों से भिन्न मानते थे। प्रजातन्त्र बहुत से व्यक्तियों द्वारा शासन था जो प्रायः ग़रीब थे। आजकल भी कभी-कभी प्रजातन्त्र को वर्ग-शासन से भिन्न जन-शासन मानते हैं, अर्थात् समाज के

उन व्यक्तियों का शासन जिनके हाथ में कोई आर्थिक शक्ति नहीं है। परन्तु यह मत सामान्यतया स्वीकृत नहीं है। आजकल तो इस तथ्य पर ही ज़ोर दिया जाता है कि प्रजातन्त्र शासन मे शासन-सत्ता क़ानूनी दृष्टि से समस्त जनता में होती है; किसी वर्ग या समूह में नहीं ; प्रजातंत्र में जनता ही अपना शासन करती है, अर्थात् शासन, अन्तिम रूप में उसकी अनुमति पर ही निर्भर रहता है। लिंकन ने जो परिभाषा इसकी की है, उसका यही भाव है। उसके अनुसार प्रजातत्र जनता का; जनता के लिये, जनता द्वारा शासन है (Government of the people, for the people and by the people)।

वैसे तो प्रत्येक शासन जनता का शासन होता है क्योंकि शासन के आदेश जनता को दिये जाते हैं। प्राय: सब शासन प्रजा की भलाई का दावा भी करते हैं, यद्यपि जैसा दावा किया जाता है, वैसा कार्य नहीं किया जाता। परन्तु प्रजातन्त्र का मुख्य लक्षण यह है कि उसका जनता द्वारा संचालन होता है। लॉर्ड ब्राइस ने प्रजातन्त्र को एक ऐसी शासन-प्रणाली माना है, जिसमें राज्य की शासन-सत्ता समस्त समाज में निहित होती है किसी विशेष समुदाय या वर्ग के हाथ में नही। परन्तु, चूँकि समाज के सब व्यक्ति कभी किसी राजनीतिक प्रश्न पर एकमत नहीं हो सकते, अतः व्यवहार मे इसका अर्थ ऐसी शासन-प्रणाली हो जाता है जिसमें आवश्यक योग्यता वाले नागरिकों के बहुमत अर्थात् कम से कम तीन-चौथाई के बहुमत की इच्छा से शासन होता है ताकि नागरिकों की भौतिक शक्ति मोटी तौर से उनकी मतदान की शक्ति के बराबर हो। यह व्याख्या बड़ी सरल दिखाई देती है परन्तु इसमे कई कठिनाईयाँ हैं। इसे व्यवहार मे लाते समय कई प्रश्न उठते हैं। जब तक कि किसी राज्य के राजनीतिक संगठन में जन-शासन की भावना को पूर्ण स्थान नहीं मिलता तब तक उसके शासन को प्रजातन्त्रीय कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। प्रजातन्त्र में जनता ही शासक होती है, उसमें प्रत्येक वयस्क स्त्री पुरुष को शासन में भाग लेने का अधिकार होता है, वह केवल शासन के आदेशों का पालन करने वाली प्रजा ही नहीं, शासक भी है। अरस्तू ने बतलाया था कि प्रजातन्त्र का सार इसी में है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को बारी-बारी से अन्य व्यक्तियों पर शासन करने का मौक़ा मिलता है। यूनान के प्राचीन नगर-राज्यों में ऐसा ही होता था।

परन्तु वे नगर राज्य थे, उनकी जनसंख्या थोड़ी थी और नागरिकों की संख्या तो बहुत ही कम थी। इसलिये वहाँ यह सम्भव हो सकता था परन्तु आजकल के बड़े-बड़े राज्यों में यह बात सम्भव नहीं है। यदि ऐसा है तो हमें यह देखना है कि प्रजातन्त्र जनता द्वारा शासन के आदर्श को किस प्रकार सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक वस्क नागरिक अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के समान शासक नहीं बन सकता और न सभी नागरिक राज्य की कार्यपालिका. व्यवस्थापिक तथा न्याय-पालिका के सदस्य होने के अर्थ में शासन में भाग ले सकते हैं। इन विभागों के सदस्यों की कुल संख्या किसी भी समय इतनी कम होती है कि एक विशाल राज्य की असख्यक जनता को बारी-बारी से जीवन में एक बार भी इनकी सदस्यता प्राप्त करने का मौक़ा नहीं आ सकता। इसके अतिरिक्त शासन के कार्य के लिये आवश्यक ज्ञान, बुद्धि तथा अनुभव सभी व्यक्तियों में नहीं होते, यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति में विधान-मण्डल का सदस्य होने की योग्यता भी नहीं होती।

इस प्रकार जनता द्वारा शासन का अर्थ हम आजकल के विशाल राज्यों में समस्त जनता द्वारा शासन नहीं समझ सकते। शासन के लिये कार्य-कुशलता अत्यन्त आवश्यक है और शासन का कार्य चुने हुये योग्य व्यक्तियों को ही दिया जा सकता है। इस कारण जनता द्वारा शासन की ऐसी कोई व्याख्या होनी चाहिये जिसमें जनता द्वारा शासन के साथ योग्य व्यक्तियों द्वारा शासन के लिये भी स्थान बना रहे. मेज़िनी ने कहा है कि सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों के नेतृत्व में सबके द्वारा सबकी उन्नति ही प्रजातन्त्र है। इस परिभाषा को हम स्वीकार कर सकते हैं। सारांश में, शासन को प्रजातन्त्रीय बनाने के लिये सभी अथवा बड़ी संख्या में नागरिकों की प्रशासनीय पदों पर नियुक्ति से काम नहीं चलता, यह सम्भव ही नहीं है। इसी कारण जब आजकल जनता द्वारा शासन की बात की जाती है तो हम प्रशासनीय व्यवस्था की नहीं, मतदाताओं की बात सोचते हैं। हम सार्वजनिक नीति तथा सार्वजनिक समस्याओं पर जनता की सर्वोच्च इच्छा की अभिव्यक्ति और उसकी उपलब्धि के लिये व्यवस्था करके, अर्थात् शासन में भाग लेने वाले व्यक्तियों को जनता के प्रति उत्तरदायी बना कर अपने ध्येय को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह विधि प्रतिनिध्यात्मक शासन की है, जिसमें मतदाता स्वयं

शासक नहीं होते किन्तु शासकों को बना सकते हैं और उन्हें पदच्युत कर सकते हैं, जिसमे नागरिक को अपने चुने हुए प्रतिनिधि द्वारा शासन के कार्यों का निरीक्षण और नियन्त्रण का अधिकार रहता है। यदि मतदाता अपने राजनीतिक कर्तव्यों को ठीक-ठीक समझें और उनका यथोचित पालन करें, यदि शासन और व्यवस्थापक विभाग में तथा मतदाताओं और उनके प्रतिनिधियों में उचित सम्बन्ध स्थापित हो सके तो हम जनता द्वारा शासन के आदर्श को आजकल की स्थिति मे जितना भी अधिक से अधिक सम्भव है, प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी दशा में समस्त जनता शासक तो नहीं बन सकेगी, परन्तु शासन को वह बना और बिगाड़ सकेगी तथा उत्तरदायी बना सकेगी अर्थात् शासन का स्रोत अन्ततोगत्वा जनता में ही होगा।

जनता द्वारा शासन का यह आदर्श नया नहीं है। आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष पहले यूनानी इतिहासज्ञ हेरोडोटस ने प्रजातन्त्र को समूह का ऐसा शासन बतलाया था जिसमे अधिकारों की समानता थी और राज्य के राजनीतिक पदाधिकारी अपने कार्यकाल मे किये हुये कामों के लिये उत्तरदायी ठहराये जाते थे। पदाधिकारियो का उत्तरदायित्व इसमे मुख्य बात थी। जो काम यूनानी लोग पदाधिकारियों के कार्यकाल के अन्त में उन्हें उत्तरदायी ठहरा कर करते थे वही आजकल समय-समय पर होने वाले निर्वाचन तथा जनता की ओर से प्रतिनिधियों द्वारा शासन पर नियन्त्रण रख कर किया जाता है। इस प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था के पीछे जो विचारधारा है उसकी उत्पत्ति अठारहवीं शताब्दी मे हुई परन्तु यह व्यवस्था, इस प्रकार की प्रजातन्त्रीय संस्थाएँ, धीरे-धीरे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बन पाईं। चुनाव सम्बन्धी अनेक समस्यायें हैं जिन पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ तो इतना ही बता देना पर्याप्त है कि आदर्श प्रजातंत्र में प्रत्येक वयस्क को मतदान का अधिकार होना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति के मत का मूल्य बराबर होना चाहिये। यदि किसी शासन में ये दोनों बातें न हों तो हम उसे पूर्ण प्रजातन्त्र नहीं कह सकते। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी शासन का प्रजातन्त्रीय होना या ना होना उसकी चुनाव-व्यवस्था पर नहीं, नागरिकों के चरित्र और जनमत की प्रकृति पर निर्भर रहता है। यदि जनता उदासीन है, उसे स्वशासन की कोई इच्छा नहीं है तो चुनाव-व्यवस्था कितनी ही

निर्दोष हो, उसका शासन प्रजातन्त्रीय नहीं हो सकता। आवश्यक योग्यता वाले नागरिक कौन हैं ? उस बहुमत में कौन होंगे जिनकी इच्छा शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र मे सर्वोपरि होगी ? क्या उसमें समस्त प्रौढ़ जन-सख्या सम्मिलित है ? अथवा वे कुल जन-संख्या का एक अल्पांश ही हैं, जिस प्रकार कि प्राचीन एथेन्स मे नगर-राज्य के नागरिक एक अल्प-संख्या में थे या जैसे आजकल दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन में मुट्ठी भर गोरों के हाथों मे शासन प्रबन्ध है ? वास्तव में जिन शासनों की 'संस्थाएं' प्रजातान्त्रिक हैं, परन्तु जो समस्त प्रौढ़ नागरिकों को मताधिकार नहीं देते, उन्हें पूर्ण प्रजातान्त्रिक शासन नहीं कह सकते। वे मानव की समानता के प्रजातान्त्रिक आदर्श से बहुत दूर हैं। ऐसे समाजों या राज्यों में एक व्यक्ति को एक नहीं गिना जाता, कुछ व्यक्तियों की तो गिनती भी नहीं की जाती।

प्रजातन्त्रों के भेद—

प्रजातन्त्रों को प्रायः दो समूहों में विभाजित किया जाता है। (१) प्रत्यक्ष या विशुद्ध प्रजातन्त्र और (२) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र। प्राचीन काल के प्रजातन्त्र प्रत्यक्ष थे। आधुनिक समय में प्रजातन्त्र प्रतिनिध्यात्मक हैं। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) में समस्त नागरिक प्रत्यक्ष रूप से राज्य-कार्यों में भाग लेते हैं। वे सामान्य सभाओं में मिल कर भाग लेते हैं, कानून स्वीकार करते हैं और उन्हे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं और प्रत्येक प्रश्न पर अपना मत देने का प्रयत्न करते हैं। इन कार्यों को वे अपने प्रतिनिधियों पर नहीं छोड़ते। इस प्रकार का प्रजातन्त्र एक छोटे राज्य में या ऐसे देश में सम्भव है, जहाँ की राजनीतिक समस्याऐं कम और सरल हों। आज के महान् राज्यों में जहाँ समस्याऐं बड़ी जटिल हैं ऐसा प्रजातन्त्र सम्भव नहीं। इस समय ऐसा प्रजातन्त्र स्विट्ज़रलैण्ड के चार प्रदेशों में ही है। संयुक्त राज्य अमेरिका के छोटे नगरों के कुछ शासन भी प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय हैं।

प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र (Representative Democracy) मे देश का शासन समस्त नागरिकों के हाथों में नहीं होता वरन् वह जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों मे होता है। राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति तथा नीति के समस्त प्रश्नों पर निर्णय नागरिकों

के सीधे हस्तक्षेप के बिना प्रतिनिधि-परिषद् द्वारा ही किये जाते हैं। चुनाव के समय अपने मतदान के अतिरिक्त जनता शासन-प्रबन्ध में कोई सीधा भाग नहीं लेती, उसके प्रतिनिधियों के कार्य ही उसके कार्य माने जाते हैं। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र इस विचार पर आधारित है कि "जनता के सभी सदस्य राजधानी में स्वयं उपस्थित नहीं हो सकते किन्तु वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा उपस्थित माने जाते हैं।" इन दो प्रकार के प्रजातन्त्रों में भेद इस बात का है कि दोनों प्रजा को प्रभु तो मानते हैं परन्तु प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में जनता दैनिक शासन-प्रबन्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती हैं और अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में अप्रत्यक्ष रूप से अर्थात् प्रतिनिधियों द्वारा।

स्विट्ज़रलैंड जैसे छोटे राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के साथ जनमत संग्रह (Referendum) और जनता के आरम्भक अथवा प्रवर्तक अधिकार (Initiative) और कभी-कभी पदाधिकारियों को वापस बुला लेने (Recall) के अधिकार की व्यवस्था द्वारा प्रजा प्रत्यक्ष रूप से प्रभुत्व-सत्ता का प्रयोग करती है। इस प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड में प्रजातन्त्र के दोनो भेदों का सम्मिश्रण है। जनमत सग्रह, आरम्भक तथा पदाधिकारियों को वापस बुलाने के अधिकार के सम्बन्ध मे आगे विचार किया जायगा।

प्रतिनिध्यात्मक शासन के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसके समस्त अधिकारी निर्वाचकों द्वारा चुने जॉय और उनकी इच्छा को प्रतिबिम्बित करें। इतना ही पर्याप्त है कि विधान-मण्डल के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हों और उनके विश्वासपात्र बने रहें। प्रतिनिध्यात्मक शासन का यह तकाज़ा नहीं है कि सरकारी कर्मचारियों तथा न्यायाधीशों का भी जनता द्वारा चुनाव किया जाय। उसका तकाज़ा यह अवश्य है कि राज्य के समस्त वयस्क नागरिकों को मत देने और उम्मेदवार बन कर खड़ा होने का समान अधिकार रहे, समय-समय पर नियमित रूप से चुनाव हों, प्रशासनीय और न्यायविभाग सम्बन्धी पद योग्यता होते हुए सब के लिए समान रूप से खुले रहे और भाषण तथा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता हो। मताधिकार तथा पद प्राप्त करने के अधिकार की व्यापकता के अनुसार ही शासन कम-बढ़ प्रजातन्त्रात्मक होगा। कम व्यापक मताधिकार के आधार पर स्थापित शासन को भी प्रतिनिध्यात्मक कहा जायगा, उदाहरणार्थ, सन् १९३५ ई० के संविधान

के आधार पर स्थापित भारत में प्रान्तीय स्वराज्य, किन्तु उसे प्रजातंत्रात्मक नहीं कह सकते।

प्रजातन्त्र की मान्यताऐं—

गार्नर ने प्रजातन्त्र की परिभाषा एक ऐसे शासन के रूप में की है जिसका संगठन और जिसकी व्यवस्था इस सिद्धान्त के आधार पर होती है कि प्रत्येक वयस्क नागरिक को (जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित हैं), जो किसी अपराध मे दण्डित नहीं हुआ है या कुछ देशों में जो निरक्षर नहीं है, उन व्यक्तियों के चुनाव का अधिकार होना चाहिए जो उन क़ानूनों का निर्माण करते हैं जिनके द्वारा प्रजा शासित होती है, और उसका मत अन्य प्रत्येक मतदाता के मत के समान हो।"* इस परिभाषा में गार्नर ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट किया है कि प्रजातन्त्र के मूलाधार क्या हैं तथा प्रजातंत्र के सिद्धान्त क्या हैं। प्रजातत्र के गुण तथा दोष इन सिद्धान्तों के कारण ही हैं। इन सिद्धान्तों का औचित्य ही प्रजातत्र का औचित्य है और इनके दोष ही प्रजातन्त्र के दोष हैं। इनका हम इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं। (१) प्रत्येक सच्चे तथा ईमानदार एवं परिश्रमी नागरिक को शासन के कार्य में भाग लेने का अधिकार है और यह अधिकार कम से कम व्यवस्थापिका के सदस्यों के चुनाव मे मतदान के अधिकार से कम तो हो ही नहीं सकता, अधिक भले ही हो। (२) प्रत्येक नागरिक की शासन-कार्य में भाग लेने की वैसी ही योग्यता है, जैसी कि किसी अन्य की। दूसरे शब्दों में, जहाँ मतदान का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य एक व्यक्ति के बराबर हो और किसी का भी मूल्य एक व्यक्ति से अधिक न हो।

प्रथम सिद्धान्त को व्यक्ति का शासन-कार्य में भाग लेने का प्राकृतिक अधिकार भी कहते हैं। १७ वीं सदी के मिल्टन तथा लॉक जैसे लेखकों ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा। मिल्टन का विचार था कि समस्त व्यक्ति प्राकृतिक रूप से स्वतत्र पैदा हुए हैं और उन्हें जो ढंग सर्वोत्तम मालूम हो उसके अनुसार उन्हें शासित होने का अधिकार है। लॉक ने भी कहा है कि 'समस्त व्यक्तियों को प्राकृतिक नियमों के अनुकूल अपनी इच्छानुसार अपने कार्य की व्यवस्था करने तथा अपने शरीर और सम्पत्ति का हस्तान्तरण करने की प्राकृतिक और मौलिक स्वतन्त्रता है। उन्हें इसके लिए

* Garner : Politial Science and Government p. 387.

किसी दूसरे व्यक्ति पर निर्भर रहने या उसकी अनुमति लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।' प्राकृतिक अधिकार के इस सिद्धान्त को हम मानें या न मानें परन्तु इस सिद्धान्त को तो मानना ही पड़ेगा कि शासन शासितों की अनुमति पर आधारित होना चाहिये, जो सत्रहवीं शताब्दी के उक्त सिद्धान्त का आधुनिक रूप ही है। इसको न मानना प्रजातन्त्र को ही न मानना होगा।

दूसरा सिद्धान्त मानव की समता के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। मानव समता में विश्वास प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ है, यह सदा प्रजातंत्र का आधारभूत विश्वास रहा है। अधिकांश प्रजातान्त्रिक संस्थाऐं तथा व्यवहार, जैसे सार्वभौम वयस्क मताधिकार, पद-प्राप्ति की योग्यता, बारी-बारी से निर्वाचन आदि इस सिद्धान्त के प्रयोग हैं। प्रजातन्त्र के समर्थक तथा आलोचक दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि प्रजातत्र का सार समता है।

युग-युगों से प्रजातन्त्र के विरोधी इस सिद्धान्त के औचित्य के सम्बन्ध में सन्देह करते आये हैं। उन्होंने मानव तथा मानव में प्रकट तथा प्राकृतिक असमानताओं—भौतिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति तथा नैतिक शक्ति में असमानताओं—का उल्लेख किया है। मनुष्यों में अनुभव द्वारा सीखने की शक्ति भी काफ़ी विभिन्न रही है। परन्तु मानवीय एकता में विश्वास करने वाला इस प्रकार की असमानताओं से इनकार नहीं करता। वह उनके अस्तित्व को स्वीकार करता है; परन्तु वह यह मानता है कि वे प्रजातत्र के प्रतिकूल नहीं हैं। इन मतभेदों के बावजूद भी पुरुषत्व या व्यक्तित्व की एक सार्वभौम सामान्य विशेषता है, जिसके कारण सब मनुष्य समान हैं और जिसके कारण उन्हें प्राकृतिक क्षमता और बुद्धि में अन्तर होते हुए भी सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के कुछ कामों और विशेषाधिकारों के लिए समान मानना चाहिये। उदाहरणार्थ, (१) समता का तकाज़ा है कि क़ानून के समक्ष सब लोग समान हों। क़ानून के सामने समानता प्रजातन्त्रीय राज्य के अस्तित्व के लिये अनिवार्य है। कम से कम सिद्धान्त रूप मे इस प्रकार की समानता प्रायः प्रत्येक सभ्य राज्य में पाई जाती है। न्यायालयों में ग़रीब-अमीर, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद नहीं किया जाता, सभी के लिये एक क़ानून होता है। यह व्यवस्था 'क़ानून का शासन' (Rule of Law) कहलाती है और इंगलैण्ड तथा संयुक्त-राज्य अमेरिका में इसके द्वारा सभी

को क़ानून के सामने समानता प्राप्त होती है। किसी-किसी देश में इस प्रकार की समानता का अर्थ विशेषाधिकार तथा विशेष सम्मान प्राप्त सामाजिक वर्गों का अभाव माना जाता है। जिस प्रकार इङ्गलैण्ड में रईसों (Lords) का वर्ग है उस प्रकार का कोई वर्ग फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका मे नहीं है। इसी प्रकार के वर्ग की उपस्थिति से समानता के सिद्धान्त को क्षति पहुँचती है, क्योंकि ऐसे समाज मे जो अधिकार उस वर्ग को प्राप्त हैं वे दूसरों को प्राप्त नहीं हैं। हाँ, यदि इसके होते हुये भी समाज में उन्नति करने के अवसरों की सामान्य समानता हो तो यह स्थिति प्रजातन्त्र से असंगत नहीं कही जायगी।

(२) मानव की समानता के सिद्धान्त से निकलने वाली दूसरी मुख्य बात है—अवसर की समानता। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि, अपने स्वभाव तथा अपनी स्वाभाविक क्षमता को विकसित कर उसका अधिक से अधिक लाभ उठाने, तथा अपने व्यक्तित्व की अधिकाधिक उन्नति करने का अधिकार और अवसर मिलना चाहिये। इसका अर्थ है कि मनुष्य मनुष्य का दोहन न करे और जन्म, लिंग, वर्ण, धर्म आदि के भेद किये बिना सब व्यक्तियों को समस्त सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। अवसर की समानता संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस और इङ्गलैण्ड में काफ़ी मात्रा में हैं। ऐसी समानता निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा के लिये पर्याप्त सुअवसर के बिना असम्भव है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति का जैसा वितरण आजकल अधिकांश देशों में हो रहा है उससे कहीं अधिक न्यायोचित हो। समाजवादियों और साम्यवादियों का कहना है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण के बिना वास्तविक समानता सम्भव नहीं हो सकती। कानूनी और सामाजिक समानता के साथ-साथ आर्थिक समानता भी होनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि काम का पुरस्कार देने या जीवन की अच्छी वस्तुओं के वितरण में सब के साथ बिलकुल समान व्यवहार हो। एक वैज्ञानिक का और बर्तन बनाने वाले का पुरस्कार समान नहीं हो सकता। यदि ऐसा होने लगे तो समाज का प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा। लॉस्की के अनुसार इसका अर्थ यह है कि समाज में किसी आदमी की स्थिति ऐसी नहीं होनी चाहिये जिससे उसके पड़ौसी की नागरिकता छिन

जाय ।* इस बात से सब सहमत हैं कि समानता के सिद्धान्त का आर्थिक जीवन में भी प्रवेश होना चाहिये और इसकी व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य है। यह सिद्धान्त आर्थिक क्षेत्र में किस प्रकार और किस सीमा तक लागू किया जाय इस विषय में बड़े-बड़े लेखकों मे काफ़ी मतभेद है। हम इतना ही कह सकते हैं कि समता का सिद्धान्त चाहता है कि व्यक्ति को अवसर की अच्छी समानता दे कर उसके साथियों के साथ उसकी समानता सुनिश्चित करनी चाहिये।

(३) समानता का यह भी अर्थ है कि सभी नागरिकों को समान राजनीतिक एव सामाजिक अधिकार प्राप्त हों। इसका अर्थ है विशेषाधिकार का अभाव। इसका आशय यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति जिस पद के लिये वह योग्य हो और चुना जा सके, उसे प्राप्त कर सके। ये सब बाते मनुष्यों के प्राकृतिक भेद होते हुए भी और असमान काम के लिये असमान पुरस्कार देते हुए भी सम्भव हैं। इसमें कोई असंगति नहीं है। प्रजातन्त्रवादी का कहना यह नहीं है कि सभी यान्त्रिक समानता के एक ही मृत स्तर पर खड़े कर दिये जाँय, या सबकी समान रूप से उन्नति करें। वह चाहता यह है कि सभी नागरिकों को आत्मविकास का समान अधिकार हो और उसके लिये समान अवसर प्राप्त हों। किसी व्यक्ति को इतना हीन बना देना कि वह दूसरों के लिये साधन बन जाय प्रजातन्त्रीय भावना की हत्या करना है। प्रजातन्त्रवादी सभी को आत्माभिव्यक्ति का अधिकार देता है परन्तु दूसरों के शोषण का नहीं। वह मानता है कि अपने प्राकृतिक भेदों के कारण मनुष्य उन्नति के भिन्न-भिन्न स्तरों पर पहुँचते हैं और यह स्वीकार करता है कि सभी व्यक्ति इस बात का पता लगाने के लिये कि सर्वश्रेष्ठ कौन है, बराबर हैं।

प्रजातन्त्र का समर्थन—

प्रजातन्त्र की यह प्रतिज्ञा की समस्त प्रौढ़ नागरिकों को, जो अपराध, पागलपन, दिवालियापन आदि के कारण अयोग्य नहीं हैं, शासन के कार्यों में भाग लेना चाहिए, उतनी स्पष्ट, प्रभावशाली और युक्ति-संगत नहीं है जितनी कि एकतन्त्र की यह प्रतिज्ञा कि अत्यन्त सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति को शासन करना चाहिए अथवा कुलीनतन्त्र की यह मान्यता कि राजनीतिक सत्ता उन व्यक्तियों को प्राप्त होनी चाहिए जो अपने विशेष

*Laski : Grammar of Politics, p, 153.

ज्ञान एवं अनुभव के कारण उसके लिये सबसे अधिक योग्य हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्रवादी के लिये यह आवश्यक है कि अपनी प्रतिज्ञा के समर्थन में कुछ तर्क दे। इसके पक्ष में वह जिन तर्कों को देता है, और अब तक प्रजातान्त्रिक शासन से उत्पन्न जिन लाभों पर प्रकाश डाला गया है, वे ही प्रजातन्त्र के गुण हैं।

विविध लेखकों ने उनका विभिन्न ढंग से निरूपण किया है। कुछ व्यक्ति इस सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देते हैं कि मनुष्य को शासन-कार्यों में भाग लेने का प्राकृतिक अधिकार है। १७ वीं शताब्दी में लेखकों ने अधिकारों के आधार पर राजतन्त्र की स्वेच्छाचारिता का विरोध और गणतन्त्रीय विचारों का समर्थन किया था।

उन्नीसवीं सदी के उपयोगितावादी लेखकों ने प्रजातन्त्र का समर्थन उन लाभों के आधार पर किया जो जनता के शासन में भाग लेने से प्राप्त होते हैं। उनका विचार था कि प्रजातन्त्र एकतन्त्र या कुलीनतन्त्र की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल होता है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रजातंत्र समस्त सामाजिक बुराइयों की एकमात्र औषधि है। इसकी कार्यकुशलता की गारण्टी यह है कि जो शासन करते हैं, वे उन लोगों के नियंत्रण में रहते हैं जिनके हित मे शासन के लिये वे चुने जाते हैं; इसीलिये वे सार्वजनिक हित की उपेक्षा नहीं कर सकते। गार्नर ने कहा है : लोक-निर्वाचन, लोक-नियन्त्रण, और लोक-दायित्व से किसी अन्य शासन प्रणाली की अपेक्षा अधिक कार्यकुशलता सुनिश्चित की जा सकती है।" जनता का स्वाभाविक आत्महित सरकार के किसी अन्याय या दमन के विरुद्ध सबसे उत्तम सुरक्षा का अस्त्र है। मिल के अनुसार अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा प्रजातन्त्र की सर्वश्रेठता मानवीय कार्य-सम्बन्धी दो सामान्य सिद्धान्तों पर निर्भर है। प्रथम सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति के हितों एवं अधिकारों की उस समय सर्वश्रेष्ठ ढंग से रक्षा होती है जब कि वह स्वयं उनका समर्थन करने के योग्य होता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि समाज की साधारण समृद्धि उस समय और भी अधिक होगी जब कि समस्त जनता की समस्त शक्तियाँ और उसके समस्त हित उसके समर्थन के लिये प्रोत्साहित हों और योगदान दें। इसी कारण प्रजातन्त्र अन्य प्रणालियों की अपेक्षा नागरिकों के दुःखों के प्रति अधिक सजग और सहानुभूतिपूर्ण रहता है।

प्रजातन्त्र के आदर्शात्मक समर्थन का तरीक़ा इससे भिन्न है। वह

व्यक्तियों के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक गुणों के विकास पर अधिक तथा जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शासन की स्थापना होती है, उन पर कम ज़ोर देता है। यदि कार्यकुशलता ही सुशासन की कसौटी है, तो यह सम्भव है, नौकरशाही जैसी कि अंग्रेजी राज मे भारत में स्थापित थी अथवा हिटलरी जर्मनी में स्थापित अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। परन्तु कार्यकुशलता ही शासन की एकमात्र अथवा सर्वश्रेष्ठ कसौटी नहीं है। शासन की श्रेष्ठता का माप इस बात से नहीं करना चाहिए कि वह शान्ति एव सुव्यवस्था कहाँ तक क़ायम कर सकता है, और किसी सीमा तक आर्थिक समृद्धि की अभिवृद्धि अथवा न्याय की व्यवस्था कर सकता है; उसका माप उस चरित्र से करना चाहिए जिसका वह जनता में निर्माण करता है। सर्वश्रेष्ठ शासन वह है जो अन्त में जनता में नैतिक बल, सत्यता, उद्योगशीलता, आत्मनिर्भरता और साहस प्रदान करता है। प्रजातन्त्र का सर्वश्रेष्ठ गुण इस तथ्य मे है कि वह प्रजा के चरित्र को उच्च बनाता है, उनकी शक्तियों का विकास करता है और उनकी बौद्धिक शक्तियों को कार्यान्वित करता है। मिल ने कहा है कि "किसी अन्य शासन-प्रणाली की अपेक्षा यह श्रेष्ठतम एवं उच्च कोटि के राष्ट्रीय चरित्र की अभिवृद्धि करता है।" इसी प्रकार ब्राइस का भी विचार है कि राजनीतिक मताधिक.र मनुष्य के गौरव की वृद्धि करता है और उसमे उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न कर के उसे उच्चतर स्तर पर उठा देता है। नागरिकता की शिक्षा के लिए प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ विद्यालय है। व्यक्ति को इतनी प्रेरणा किसी अन्य प्रकार से नहीं मिलती जितनी कि इस विश्वास से मिलती है कि सरकार को वह अपनी आवाज़ सुना सकता है। जिन लोगों ने कांग्रेस द्वारा भारतीय प्रान्तों मे सत्ता-ग्रहण के फलस्वरूप भारतीय जनता में जागृति की एक नूतन भावना को देखा है, वे सरलता से प्रजातन्त्र के इस गुण को समझ सकेंगे कि वह व्यक्ति मे आत्मसम्मान और व्यक्तिगत महत्त्व की भावना उस सीमा तक पैदा करने में सफल रहा है जिस तक उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था। उसकी दृष्टि में उसे एक नवीन गौरव प्राप्त हो गया है।

प्रजातंत्र के और भी अनेक गुण हैं। यह जनता में देशभक्ति पैदा करता है और हिंसात्मक क्रान्तियों के ख़तरों को कम कर देता है। यह

नागरिकों को यह भावना दे कर कि वह शासन के अभिन्न अंग हैं देशभक्ति की अभिवृद्धि करता है। वे यह अनुभव करने लगते हैं कि शासन का कल्याण उनका कल्याण है और उसका दुर्भाग्य उनका ही दुर्भाग्य है। जिस व्यक्ति का देश के शासन में कोई भाग नहीं, वह उसके कार्यों से असन्तुष्ट नहीं तो उदासीन अवश्य रहेगा। इससे क्रान्ति का भय दूर हो जाता है ; क्योंकि इसके द्वारा जनता को अपनी शिकायतो को दूर करने का सुगम एव सरल साधन प्राप्त हो जाता है। यदि कोई शासन उनकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करता, तो प्रजा उसके स्थान पर दूसरा शासन स्थापित कर सकती है, जो उसके प्रति अधिक सवेदनशील होगा। समाज मे विषमता तथा विशेषाधिकार युक्त वर्गों का अस्तित्व क्रान्तियों के महत्वपूर्ण कारण हैं। क्योंकि प्रजातन्त्र समानता के सिद्धान्त पर ज़ोर देता है, गुण तथा योग्यता को स्वीकार करता है और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के प्रदर्शन का अवसर देता है. वह क्रान्तिकारी आन्दोलनों से अन्य शासनों की अपेक्षा कम प्रभावित होगा।

प्रजातत्र का एक दूसरा गुण यह है कि इसके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य-सत्ता मे सामजस्य स्थापित हो जाता है। क़ानूनों के प्रति आज्ञापालन को उसी समय हम स्वतन्त्रता कह सकते हैं जबकि क़ानूनों का निर्माण जनता द्वारा किया जाता है और वे समाज की साधारण इच्छा को प्रतिबिम्बित करते हैं। प्रजातन्त्र से यही आशा है। सब कुछ देखते हुए अन्य शासनों की अपेक्षा प्रजातन्त्र में नागरिक अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करता है और बाहरी हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न होने वाली विफलता की भावना के बिना अपनी इच्छानुसार अपने जीवन की योजना बनाने का अधिक अवसर प्राप्त करता है।

एकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के गुण-दोषों पर विचार करते समय हमने यह बतलाया था कि इन शासन-प्रणालियों में एक दोष यह है कि जो शासन-सत्ता का प्रयोग करते हैं वे उसका अपने स्वार्थ के लिए भी दुरुपयोग कर सकते हैं और इस प्रकार के प्रलोभन के निराकरण के लिए कोई उपाय नहीं है। प्रजातन्त्र में ऐसा कोई दोष नहीं है। लोकमत की शक्ति के रूप में इसके पास एक ऐसा मूल्यवान् यंत्र है जो शासन को समुचित पथ पर रखता है। जो शासन अत्यधिक स्वार्थी हो जाता है और जो ग़लत मार्ग का अनुसरण करने लगता है, उसे शीघ्र ही अपनी

भूल अनुभव होने लगती है और यदि वह उसका संशोधन नहीं करता, तो उसके स्थान पर नया शासन स्थापित हो जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र अपना सुधार स्वय कर लेता है, दूसरे शासन ऐसा स्वय नहीं कर सकते। इस कारण भी प्रजातन्त्र क्रान्ति के प्रभाव से बचे रहते हैं।

प्रजातन्त्र के दोष—

प्रजातन्त्र में भी अन्य शासनों के समान दोष हैं। प्लेटो के समय से ले कर आज तक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से और विभिन्न कारणों से इसकी आलोचना की है। कुछ लोगों ने प्रजातन्त्रीय संस्थाओं और व्यवहारों की आधारभूत समानता की कल्पना के औचित्य मे ही सन्देह प्रकट किया है। कुछ विद्वानों ने उसे अयोग्यता का पथ बतला कर उसकी निन्दा की है। जो लेखक कुलीनतन्त्र का समर्थन करते हैं, वे कहते हैं कि यह प्रगति के विरुद्ध है और पतन की ओर ले जाता है तथा इसमें स्थिरता का अभाव है। कुछ लोगो के विचार मे प्रजातन्त्र व्यवहार मे असम्भव है। हाल में, कुछ लेखको ने प्रजातत्र मे जो अनाप शनाप व्यय किया जाता है, उसकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। अब हम इन आक्षेपो पर कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे।

(१) कई आलोचक मानव समानता के सिद्धान्त से उत्पन्न 'एक व्यक्ति, एकमत' के सिद्धान्त को ही ग़लत बतलाते हैं। इसके अनुसार मतदाता की हैसियत से कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से अच्छा या भिन्न नहीं होता। चुनाव के दिन एक विद्वान् और एक मूर्ख दोनों समान हैं, क्योंकि प्रजातन्त्र में मत गिने जाते हैं, उनका मूल्य नही आँका जाता। इस प्रकार प्रजातन्त्र सख्या पर ध्यान देता है, गुण पर नहीं। उसके लिए महात्मा गांधी के मत का मूल्य एक निरक्षर, भ्रष्ट-चरित्र व्यक्ति के वोट के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं होता। यह आक्षेप सत्य है। एक बुद्धिमान और ईमानदार व्यक्ति के मत का मूल्य एक मूर्ख और बेईमान व्यक्ति के मत के मूल्य से अधिक अवश्य होना चाहिये। किन्तु कठिनाई ऐसी प्रणाली की खोज मे है जिसके द्वारा मत का मूल्य आँका जा सके। यदि कोई ऐसी प्रणाली निकल भी आई तो उससे मतदाताओं के भेदो को उचित से अधिक महत्त्व दे दिये जाने की आशका है। बुद्धिमान् और श्रेष्ठ व्यक्तियों के मतों को अधिक महत्त्व देने मे कोई बात अप्रजातन्त्रीय

नहीं है ; किन्तु यह मान लिया जाता है कि 'एक व्यक्ति, एकमत' के सिद्धान्त का यथाशक्ति पालन ही प्रजातन्त्र मे व्यवहार मे लाने योग्य सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। इसके दोषों का निराकरण शिक्षा के व्यापक प्रसार और जनता के चरित्र को ऊँचा उठा कर किया जा सकता है।

(२) इसके साथ यह भी कहा जाता है कि विधानमण्डल के द्वारा प्रायः सभी मतदाताओं के लिये खोल कर शासन-कला में जिस शिक्षण, ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता होती है उसकी अवहेलना की जाती है। क़ानून बनाने का काम सरल नही है। आजकल की जटिल सामाजिक अवस्था में वह कठिन हो गया है और उसके लिये अधिक विशिष्ट ज्ञान तथा बुद्धि की आवश्यकता होती है। अत: यह विचित्र बात है कि एक चिकित्सक के हाथों मे अपने आपको समर्पित कर देने से पहले तो हम यह निश्चित कर लेना चाहते हैं कि उसने समुचित चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर ली है या नहीं, और किसी व्यक्ति को अपनी मोटरकार चलाने के लिए जगह देने से पहले तो हम यह चाहते हैं कि वह अपनी कार्यकुशलता का प्रमाणपत्र दे दे, परन्तु जब हम अपने विधान-मण्डलों के लिये सदस्यों का चुनाव करते हैं, तब हम उनसे योग्यता के सम्बन्ध मे इस प्रकार का कोई प्रमाणपत्र नहीं मांगते और प्रत्येक व्यक्ति को उस कार्य के लिये योग्य मान लेते हैं। जीवन के अन्य क्षेत्रों के अपने अभ्यास या व्यवहार के अनुरूप हमें उनसे जिन्हे हम समाज के स्वास्थ्य की देखभाल का कार्य सौंपने जा रहे हैं विशिष्ट शिक्षण तथा तैयारी की मांग करनी चाहिए। सारांश में, यह कहा जाता है कि जनता के हाथों मे राजनीतिक सत्ता सौंप देने की प्रजातन्त्रीय प्रणाली से अन्त मे जाकर शासन-कार्य में दक्षता की हानि होगी। यह सिद्धान्त न्याय के भी विरुद्ध है क्योंकि न्याय के अनुसार 'अस्त्र उसी को मिलना चाहिये जो उसका प्रयोग कर सके।' कई लोगों की राय में बहुमत से राजनीतिक प्रश्नों को तै करना विवेकहीनता है क्योंकि इसका मतलब यह होता है कि उचित और अनुचित का निर्णय केवल सख्या द्वारा ही हो सकता है।

पहले आक्षेप की तरह यह आक्षेप भी सिद्धान्त की दृष्टि से सही मालूम होता है, किन्तु विभिन्न देशों में प्रजातन्त्र के व्यावहारिक अनुभवों से इस आक्षेप की व्यावहारिक सत्यता प्रकट नही होती। यह हो सकता है कि विधान-मण्डलों में इक्के-दुक्के व्यक्ति अयोग्य हों परन्तु

साधारणतया जनता योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को ही सदस्य चुनती है। लॉर्ड ब्राइस ने इस दिशा मे काफ़ी छानबीन करके बतलाला है कि जनता को राजनीतिक शक्ति देने के प्रजातन्त्रीय ढंग से कार्य में अनिपुणता नहीं पैदा हो पाई है। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय-विरोधियों का यह आक्षेप अनुभव से ठीक प्रमाणित नहीं होता। यह ध्यान रखना चाहिए कि बहुमत से राजनीतिक समस्याओं का निर्णय करने के पहले उन पर काफ़ी बौद्धिक और अनुभवपूर्ण वादविवाद हुआ करता है, वैसे ही निर्णय नहीं कर लिया जाता। प्रजातन्त्र केवल बहुमत द्वारा शासन नहीं है। उसका सार तो राजनीतिक वाद-विवाद की उस स्वतन्त्रता में है जिसके परिणामस्वरूप ग़लत मत के स्थान पर सही मत प्रतिष्ठित होता है। यदि यह स्वतन्त्रता प्राप्त हो और जनता में राजनैतिक सद्भावना का काफ़ी विस्तार हो तो प्रजातन्त्रीय शासन बड़ा निपुण हो सकता है। प्रजातन्त्र की सफलता या विफलता अन्त में जनता की इच्छा के गुण पर निर्भर रहती है जिसकी अभिव्यक्ति विधान-मण्डल मे होती है, वयस्क मताधिकार के यन्त्र पर नही।

(३) प्रजातन्त्र पर यह भी दोषारोप किया जाता है कि यह अयोग्यता की पूजा (Cult of Incompetence) है। यह आक्षेप उतना ही पुराना है जितने प्लेटो तथा अरस्तू। इन दोनों ने अपने शासनों के वर्गीकरण मे इसे (प्रजातन्त्र को) निम्न स्थान प्रदान किया। अरस्तू के अनुसार यह शासन का दूषित या विकृत रूप है। ऑग्ज़बर्ग के रैथॉस के एक चित्र में प्रजातन्त्र को चिल्लाती चीखती भीड़ से घिरे हुए एक उन्मत्त प्रजानायक (Demagogue) के रूप मे चित्रित किया गया है। आधुनिक आलोचकों का प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में इतना विरोधी विचार नहीं है जितना कि प्लेटो या अरस्तू का था या जैसा कि ऊपर उल्लिखित चित्र मे बतलाया गया है। परन्तु अनेक आलोचक इसे अयोग्यता का दूसरा रूप समझते हैं। इस प्रकार हेनरी मेन ने इसे अज्ञान तथा बुद्धिहीन व्यक्तियों द्वारा शासन बतलाया है और कहा है कि यह शासन बौद्धिक प्रगति तथा वैज्ञानिक सत्य की प्रगति के प्रतिकूल है। लेकी ने प्रजातत्र की परिभाषा करते हुये कहा है कि यह सबसे ग़रीब, सबसे अज्ञान, और सबसे अयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासन है, जो आवश्यक रूप से सख्या मे सबसे अधिक होते हैं।" लेकी का विचार है कि प्रजातत्र से न सुशासन सुनिश्चित होता है और न व्यक्तियों की स्वतंत्रता

की रक्षा, क्योंकि यह अज्ञान लोगों के हाथों में सत्ता दे देता है, जो इन चीज़ों की कुछ परवाह नहीं करते। आजकल प्रो० बार्कर तथा प्रो० गिडिंग्ज़ जैसे अंग्रेज़ तथा अमेरिकन लेखकों के भी ऐसे ही विचार हैं। प्रो० बार्कर का यह मत है : प्रजातन्त्र से कार्यकुशलता की बड़ी क्षति होती है और इसमे इसके सिवाय कुछ भी नहीं है कि कुछ थोड़े से चतुर व्यक्ति जो अपने पक्ष मे मतों का सग्रह बड़ी सफलता के साथ कर लेते हैं, शासन करते हैं।" प्रो० गिडिंग्ज को प्रजातन्त्र में केवल अनियन्त्रित भावुकता का शासन और समूह की स्वेच्छाचारिता दिखाई देती है।

वास्तव में कुछ ऐसे तत्व अवश्य हैं, जो प्रजातन्त्र को अज्ञान तथा अयोग्य व्यक्तियों के शासन के रूप मे परिणत कर देते हैं। अनुभव के तथ्यों में बहुत कुछ ऐसी बाते हैं जिससे औसत व्यक्ति की राजनीतिक योग्यता में हमारी श्रद्धा शिथिल हो जाती है। सुविशाल जन-समुदाय जिसके हाथ में प्रजातन्त्र अन्तिम सत्ता सौंप देता है न तो यथेष्ट बुद्धिमान् होता है और न उसमे अपने समय के जटिल राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्नों को समझने की बुद्धि ही होती है। ये प्रश्न आजकल अधिकाधिक कठिन और जटिल भी बनते जा रहे हैं। औसत व्यक्ति का ज्ञान सीमित है, सावजनिक घटनाओं एव समस्याओं के सम्बन्ध में वह जिन साधनों द्वारा सूचना प्राप्त करता है वे अत्यन्त दूषित हैं और मत-निर्धारण में उस पर तर्क तथा विवेक के स्थान पर भावुकता तथा मनोविकारों का ही अधिक प्रभाव रहता है। वह अपने भोजन तथा वस्त्र की समस्याओं मे इतना उलझा हुआ रहता है कि उसे सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिये अवकाश ही नही मिलता, और जब उसे विचार करने का अवसर मिलता भी है तो उस पर उसके राजनीतिक दल और उसके द्वारा सचालित समाचार-पत्रों का इतना प्रभाव होता है कि उसका कोई स्वतन्त्र मत हो ही नहीं सकता। समाचार-पत्रों में जो सनसनीखेज मोटे अक्षरों मे प्रभावशाली नेताओं के भाषण तथा मत प्राप्त करने के लिये जो नारे छपते हैं, उनसे वह बहक जाता है। आज की सस्ती पत्रकारिता ने इन दुर्गुणों को और भी बढ़ा दिया है। इस प्रकार प्रो० बार्कर का यह दोषारोप कि प्रजातन्त्र में केवल चतुर व्यक्ति यत्न से मतों का अपने पक्ष में संग्रह कर शासन करते हैं, एक बड़ी सीमा तक सत्य है। यदि हम यह भी मान लें कि

औसत व्यक्ति में न्याय, ईमानदारी और क़ानून के लिये आदर भाव है, तो भी इसका कोई निश्चय नहीं कि वह एक समूह में विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करेगा। समाजशास्त्री हमें यह बतलाते हैं कि मनुष्य व्यक्तिगत रूप में जिस प्रकार से व्यवहार करते हैं उससे बिलकुल भिन्न व्यवहार उनका उस समय होता है जब वे समूह में सम्मिलित हो जाते हैं। सामुदायिक कार्य में भावावेग बुद्धि तथा विवेक को दबा देता है और मनुष्य के काम उसकी आदिम प्रवृत्तियों के प्रतिबिम्ब या अनिच्छित प्रकाशन मात्र होते हैं। प्रजातन्त्र-विरोधी का मत है कि चुनावों मे मतदान के समय, विधान-मण्डलों के अधिवेशनों में, और राजनीतिक दलों की बैठकों मे समूह-व्यवहार के दोष स्पष्ट रूप से देख पड़ते हैं। ऐसे अवसरों पर मनुष्य सदा विवेकपूर्वक कार्य नहीं करते। प्रजातन्त्र का मुख्य दोष तो यह है कि जनता को प्रभु बनाते समय यह उसे बुद्धिमान् न बना सका।

राजनीतिक दल-प्रणाली जिस प्रकार वास्तव में कार्य करती है, उससे देश कुछ सर्वश्रेष्ठ नागरिकों की सेवाओं से वंचित हो जाता है। उसके प्रभाव में जनता के स्वाभाविक नेताओं पर अविश्वास किया जाता है तथा चाटुकारों एवं खलजन-नायकों का बोलबाला होता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा शासन कभी कार्यकुशल नहीं हो सकता। कुछ देशों मे शासन-प्रबन्ध की कार्य क्षमता की इन दोषों से रक्षा के लिये उपाय करने पड़े हैं। इस प्रकार यह दोषारोप पूर्ण रूप मे गलत नहीं है कि प्रजातन्त्र से कार्य-कुशलता को हानि पहुँचती है। किन्तु इसमें अतिशयोक्ति अवश्य है और किसी अंश तक प्रजातन्त्रीय शासनों के अनुभव से यह दोष ग़लत भी प्रमाणित होता है। यदि प्रजातन्त्र अयोग्यता की पूजा का ही दूसरा नाम होता तो उसका ससार में इतना प्रचार नहीं होता। आजकल शायद ही ऐसा कोई देश होगा जिसने प्रजातन्त्र को न अपनाया हो। नात्सी तथा साम्यवादी लोग भी जो प्रजातन्त्र की मान्यताओं का उपहास करते हैं, अपने आपको प्रजातन्त्रवादी कहने से नहीं चूकते। इतना ही नहीं, वे अपने प्रजातन्त्र को इगलैण्ड तथा अमेरिका के प्रजातन्त्र से बढ़ कर बतलाते हैं।

(४) मेन, लेकी, तथा ट्रीट्स्के जैसे आलोचक प्रजातन्त्र पर इस आधार पर दोषारोप करते हैं कि यह संस्कृति की उन्नति के लिये अनुकूल नहीं है और इसमें जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की समुचित अभिवृद्धि

नहीं हो सकती। प्रजातन्त्र में साहित्य, कला, विज्ञान तथा अन्य बौद्धिक प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि नहीं होती। यह समाज के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के स्थान पर नीचे गिराता है। वे यह भी मानते हैं कि प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता में कोई सम्बन्ध नही है, इसके विपरीत प्रजातांत्रिक प्रवृत्तियां स्वतन्त्रता के विरुद्ध होती है। लेकी का विचार है कि सफलता की कुञ्जी अल्पसंख्यक सुयोग्य व्यक्तियों को सत्ता सौपने में है, बहुसख्यक अज्ञान व्यक्तियों को सौपने में नहीं। समाज के उच्च तथा मध्य श्रेणी के लोगों ने ही स्वतन्त्रता के लिये अधिक भक्ति दिखलाई है, साधारण जनता तो अपने नेताओं के चरणों में सिर रखना ही जानती है। ट्रीटस्के का दृढ़ मत है कि प्रजातन्त्र चंचल और नैपुण्यहीन है। इसने ग़रीबों के लिये धनिकों का दोहन किया है और यह संस्कृति की अभिवृद्धि का विरोधी है।

इस प्रकार के विचार ऐसे व्यक्तियों के हैं जो समाज के उच्च वर्ग की श्रेष्ठता में अटल तथा अन्धविश्वास रखते हैं और जिनका जनता की योग्यता में अविश्वास है। सत्य तो यह है कि उच्च प्रकार के बौद्धिक जीवन का विकास किसी विशेष शासन-प्रणाली से कार्य-कारण रूप से सम्बद्ध नहीं है। सस्कृति, साहित्य, विज्ञान आदि का विकास सब प्रकार की शासन-प्रणालियों के अ[illegible]सानु हुआ है, प्रजातन्त्र के आधीन भी उतना ही जितना एकतन्त्र तथा कुलीनतत्र के अन्तर्गत। सस्कृति के विकास तथा पतन के कारण साधारणतया शासन-प्रणाली के साथ अवश्य होते हैं परन्तु वे उसके परिणाम नही होते।

(५) ऐसे भी विचारक हैं जो यह मानते हैं कि प्रजातन्त्र एक असम्भव कल्पना है ; जो शासन प्रजातन्तीय होने का दावा करते हैं, उनमें नियन्त्रण तथा मार्गदर्शन की सत्ता जनता के हाथों मे नहीं, वरन् अल्पसंख्यक नागरिकों के हाथों में होती है, जो किसी निर्णय पर पहुँचने में निर्णयात्मक कार्य करते हैं। इङ्गलैण्ड में लोक-सभा नहीं, वरन् मन्त्रि-परिषद् निर्णय करती है, लोक-सभा तो उसके आधीन हो गई है। कोई भी शासन-प्रणाली क्यों न हो, प्रजातन्त्र ही सही; वह 'अल्पजनतत्र की ऐतिहासिक आवश्यकता के क़ानून' की उपेक्षा नहीं कर सकती। प्रत्येक स्थान में सत्ता अत्यंत अल्पसंख्यक व्यक्तियों के हाथों में पहुँच जाती है। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि "समस्त परिषदों एवं समुदायो में तथा मनुष्यों की संगठित संस्थाओं ने, राष्ट्र से ले कर एक क्लब की

कमेटी तक में, संचालन, निर्देशन तथा निर्णय का कार्य मुट्ठी भर आदमियों के हाथों में होता है, जिनकी संख्या अनुपात में उतनी ही कम होती जाती है जितनी उस संस्था के सदस्यों की बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि एक विशाल जनसमुदाय मे तो उनका अनुपात बहुत ही कम हो जाता है। प्रजातन्त्र में जनता को यह विश्वास करने दिया जाता है कि शासन उनकी इच्छा से हो रहा है ; परन्तु उनकी सत्ता नाममात्र की होती है ; वास्तविक सत्ता तो अल्पमत के हाथों में ही रहती है और वही उसका उपयोग भी करता है।

यह अखण्डनीय सत्य है कि समस्त शासन आंशिक रूप से इस अर्थ में अल्पजनतन्त्रीय या कुलीनतन्त्रीय है कि नीति-निर्धारण तथा निर्णय करने की सत्ता को नागरिकों की एक छोटी सी संख्या के हाथों में रखना ही पड़ता है। आज के राष्ट्र-राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अव्यावहारिक है। परन्तु यह प्रजातन्त्र के साथ कैसे असंगत है, यह बात समझ में नहीं आती। प्रजातन्त्र का यह दावा नहीं है कि राजनीतिक निर्णय नागरिकों के बहुमत की अनुमति से किये जाँय। उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त है कि जो अल्पसंख्यक व्यक्ति वास्तव में शासन करते हैं वे अपने पदों पर इसलिए आसीन हैं कि जनता का उनमें विश्वास है और वे इस विश्वास की पुष्टि नये निर्वाचन द्वारा समय-समय पर करते रहते हैं। प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की महानता इसी मे है कि इसमें प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के साथ कुलीनतन्त्र के सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है। यह प्रजा को प्रभुत्व प्रदान करता है, परन्तु उसका प्रयोग करने का अधिकार चुने हुए थोड़े से लोगों को देता है।

(६) प्रजातन्त्र की आलोचना इसलिए भी की जाती है कि वह खर्चीला होता है। उसके शासन का यन्त्र बहुत धीरे-धीरे काम करता है और उसमें अधिक समय तथा धन का नाश होता है। जो कार्य बड़ी सुगमता के साथ व्यक्तिगत शासन में कम खर्च के साथ हो जाता है उसे प्रजातन्त्रीय शासन की समितियों तथा परिषदों के द्वारा करने में महीनों और वर्षों लग जाते हैं। प्रजातन्त्रीय इङ्गलैण्ड को सन् १६३५ ई० का भारत-शासन-क़ानून पास करने में कई वर्ष लग गए। चुनावों में भी बहुत व्यय होता है, जिससे ग़रीब लोग चुनावों में खड़े नहीं हो सकते। इससे प्रजातन्त्र का उद्देश्य ही विफल हो जाता है। यह दोष अमेरिका

में बहुत बढ़ गया है, जहाँ राष्ट्रपति के चुनाव में लाखों रुपये व्यय होते हैं। अमेरिका की सीनेट (उच्च सभा सदन) के चुनाव में एक बार एक सदस्य ने ५ लाख डॉलर अर्थात् २० लाख रुपये व्यय किए थे। यह प्रजातंत्र की भावना के विरुद्ध है।

(७) प्रजातत्र-विरोधी कहता है कि प्रजातंत्र जिन लाभों का दावा करता है, उनमें से अनेक लाभ तो होते ही नहीं। राज्य के अधिकारियों के उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने के लिए यथेष्ठ साधन नहीं हैं। अनुभव से यह प्रकट होता है कि अल्प-कालिक कार्यावधि तथा सार्वजनिक चुनावों के कारण वे जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकते। राज्याधिकारियों पर लोक-नियन्त्रण केवल मरीचिका है। इसी प्रकार अनेकों विद्वानों ने प्रजातंत्र के शिक्षा-सम्बन्धी मूल्य पर भी संदेह प्रकट किया है। चुनाव के समय का प्रचार जनता को शिक्षा देने के स्थान में भ्रान्ति में डाल देता है। चुनाव के समय ईमानदारी एवं सत्यशीलता खटाई में पड़ जाती है; युद्धकाल के समान चुनाव के समय भी प्रत्येक चीज़ को उचित माना जाता है। जनता का मत प्राप्त करने के लिये अनेक प्रश्नों एवं समस्याओं का रूप ही बिगाड़ दिया जाता है तथा रिश्वतखोरी एव भ्रष्टाचार की मात्रा बढ़ जाती है। अधिक से अधिक मत प्राप्त करने के लिए नैतिकता का भी कोई विचार नहीं किया जाता। इस अभियोग में पर्याप्त सत्यांश है, यद्यपि सभी देशों में यह दोष समान रूप में नहीं मिलता।

प्रजातंत्र के दोषों पर लॉर्ड ब्राइस के विचार—

प्रजातत्र के विरुद्ध जो ये आक्षेप किये गए हैं, इनका विवरण उस [illegible] तक अधूरा रहेगा जब तक कि लॉर्ड ब्राइस ने ६ प्रजातंत्रीय राज्यों में नि[illegible] [illegible]र अपने अनुभव से जिन दोषों का वर्णन किया है, उनके सम्बन्ध में कुछ उल्लेख न हो। ब्राइस ने प्रजातंत्रों का अध्ययन करने में अनेक देशों की यात्रा की थी। उन्होंने प्रजातंत्रों में निम्नलिखित मुख्य दोष पाये :—

(क) व्यवस्थापन तथा शासन-प्रबन्ध को दूषित बनाने में धन का प्रभाव, (ख) राजनीति को एक व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति, (ग) शासन-प्रबंध में व्यय की अधिकता, (घ) समानता के सिद्धांत का दुरुपयोग तथा प्रशासन-संबंधी प्रवीणता के महत्त्व की उपेक्षा, (ङ) राजनीतिक दलों

की अनुचित सत्ता, (च) व्यवस्थापिका के सदस्यों तथा राजनीतिक अधिकारियों में भविष्य मे मत प्राप्त करने की दृष्टि से क़ानून बनाने तथा शांति भंग एवं उपद्रवों के प्रति सहिष्णुता प्रकट करने की प्रवृत्ति। ब्राइस ने स्वीकार किया कि इनमें से पहले तीन दोष तो सब प्रकार की शासन-प्रणालियों में देख पड़ते हैं, प्रजातन्त्र मे ही विशेषतया नहीं होते। इसलिये उन्हें प्रजातंत्र के दोष कहना उचित नहीं है। यद्यपि शेष तीन दोष प्रजातत्रों में पाये जाते हैं, तथापि वे ऐसे नहीं हैं जो उनसे पृथक नही किये जा सकें। ब्राइस ने प्रजातंत्र मे दो भयंकर खतरे देखे। उनमे से एक तो यह है कि जिन व्यक्तियों के हाथ में शासन-संचालन पहुँच जाता है वे सत्ता का दुरुपयोग करते हैं और अपने स्वार्थ की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। दूसरा खतरा है जनता को व्यक्तियों और कार्यों के विषय में निर्णय करने के साधन (समाचार पत्र, रेडियो आदि) देने वाले लोगों द्वारा सत्ता का अनुत्तरदायी ढग से प्रयोग—खलजन-नायकों का समाचार-पत्रों द्वारा असत्यता, मिथ्यावाद तथा हिसा के प्रोत्साहन के लिए प्रचार।

प्रजातन्त्र का मूल्यांकन और उसका भविष्य—

इन दोषारोपों के बावजूद भी इससे कोई भी इकार नहीं कर सकता कि प्रजातन्त्र अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। वह समस्त दोषों के लिए रामबाण नहीं हो सकता, उसके व्यवहार में अनेक ऐसे दोष प्रकट हो सकते हैं, जिनका पहले अस्तित्व नहीं था; परन्तु अब उसका त्याग नहीं किया जा सकता। भविष्य मे उसमें परिवर्तन तथा सशोधन हो सकते हैं परन्तु उसके स्थान पर कोई शासन-प्रणाली नहीं आ सकती जो जनता को सर्वोच्च सत्ता से वंचित रखे। उसका विकल्प राजनीतिक संगठन का एक ऐसा रूप है जिसमें नियत्रण आधुनिक अधिनायक (Dictator) जैसे एक व्यक्ति के हाथ में होता है, क्योंकि वर्तमान काल में कुलीन-तंत्रीय आदर्श की स्थापना के लिए सुयोग नहीं है। विद्वान्, कार्यकुशल तथा प्रतिभाशाली अल्प-संख्यक व्यक्तियों द्वारा शासन के पक्ष में वैसा कोई आन्दोलन नहीं है, जैसा अधिनायक तंत्र के सम्बन्ध में देखा जाता है। प्रजातत्र या अधिनायक-तत्र, बीसवीं सदी मे इन्हीं में से एक का चुनाव हमें करना है। यद्यपि प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर प्रजातत्रीय पंथ सफल दिखलाई दिया था और उस

अथवा साम्यवादी ढंग का) में जीवित रहने की कितनी सामर्थ्य है इसके विषय में एक दो शब्द कह देना उपयुक्त होगा।

यह कहा जा सकता है कि जिन्होंने सत्ता के फलों का एक बार स्वाद ले लिया वे प्रजातन्त्र द्वारा प्रदत्त सत्ता का परित्याग नहीं करेंगे। केवल उन देशों में प्रजातन्त्र के स्थान पर अधिनायक-तन्त्र की स्थापना हुई, जहाँ प्रजातन्त्र जड़ नहीं कर सका था और जनता को उसकी कार्य-प्रणाली का अनुभव नहीं था। इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका जैसे देश, जहाँ प्रजातांत्रिक परम्परा एक लम्बी अवधि से कायम रही है, संकट का अच्छी प्रकार सामना कर सके। इसके विपरीत, अधिनायकतन्त्र सभ्य जनता के लिये शासन का सामान्य रूप नहीं हो सकता क्योंकि यह ऐसी बातों का निषेध करता है जो मनुष्य को अत्यन्त प्रिय हैं। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि अधिनायकतन्त्र असाधारण समय के लिए असाधारण उपचार मात्र है। इस विषय पर आगे अधिक विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक बातें—

यह विश्वास करके कि अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा प्रजातन्त्र-शासन अधिक समुचित है (यद्यपि यह सत्य है कि उसमें सुधार की बड़ी आवश्यकता है), यह हमे उचित प्रतीत होता है कि यहाँ हम प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक अवस्थाओं पर विचार करे। विभिन्न लेखकों ने विभिन्न ढग से उनका उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों ने शासन-यंत्र में परिवर्तन करने की सिफ़ारिश की है ; जैसे निर्वाचन सम्बन्धी सुधार, जन-मतसंग्रह (Referendum) तथा आरम्भक अथवा प्रवर्त्तक अधिकार (Initiative) का प्रयोग। वे वर्तमान् प्रजातन्त्र के दोषों के निवारण के लिए अधिकाधिक प्रजातन्त्र चाहते हैं। दूसरे नागरिकों की शिक्षा तथा चरित्र में सुधार पर ज़ोर देते हैं। लॉर्ड ब्राइस ने कहा है कि लोकप्रिय शासन की प्रगति अथवा ह्रास मानवता की नैतिक तथा बौद्धिक प्रगति या ह्रास के साथ होगा। बौद्धिक प्रगति से उनका तात्पर्य केवल पुस्तकीय ज्ञान या बाल की खाल निकालने वाले तर्कों से नहीं है, वरन् उस बुद्धिमत्ता से है, जो 'सम्मान द्वारा उन्नत, सहानुभूति द्वारा पवित्र, और समाज के प्रति कर्तव्य-निष्ठा द्वारा प्रोत्साहित' है। शासन-यन्त्र के सुधार के सम्बन्ध में अनेकों सुझाव दिये जाते हैं जिनका आधार विभिन्न देशों में अनुभूत विशिष्ट

कठिनाइयाँ हैं। हम उन पर यहाँ विचार नहीं करेंगे। नागरिकों के चरित्र के सम्बन्ध में जो अवस्थाऐं प्रजातंत्र की सफलता के लिये आवश्यक हैं, वे निम्न प्रकार हैं :—

१—नागरिकों में सत्यता तथा सम्मान का ऊँचा स्तर होना चाहिये। जहाँ जनता में उच्च कोटि की नैतिकता का अभाव होता है, वहाँ प्रजातंत्र भ्रष्ट तथा पतित हो जाता है। जो व्यक्ति निर्वाचित हो कर सत्ता के पदों पर आसीन होंगे वे निकृष्ट उद्देश्यों के लिए सत्ता का प्रयोग करेंगे। जहाँ नैतिकता तथा सदाचार का ह्रास हो जाता है, वहाँ प्रजातत्र पनप नहीं सकता।

२—नागरिकों मे उच्च नागरिक भावना होनी चाहिए। उन्हें सार्वजनिक मामलों में लगातार दिलचस्पी लेनी चाहिए और उत्तरदायित्व की उच्च भावना प्रदर्शित करनी चाहिए। गण-तन्त्र के लिए उसकी समस्याओं के प्रति जनता की उदासीनता तथा नीरसता से बढ़ कर कोई सङ्कट की बात नहीं है। यदि नागरिक पर्याप्त रूप में सार्वजनिक भावना प्रदर्शित नहीं करें और अपने अल्प व्यक्तिगत लाभ के लिए समाज के हित का बलिदान करने के लिए तैयार हों तो प्रजातन्त्र का शीघ्र ही पतन हो जायगा।

३—नागरिकों में उच्च कोटि का राजनीतिक चातुर्य होना चाहिए। नागरिकों की जैसी शिक्षा होगी और निर्वाचकों का जैसा शिक्षण होगा, वैसा ही प्रजातत्र भी होगा ; उससे बढ़ कर वह नहीं हो सकता। सामान्य बुद्धि एवं चातुर्य के अभाव में, जिसके द्वारा प्रजातन्त्र में नागरिक अपने श्रेष्ठ नेता तथा खलजन-नायक में भेद कर सकते हैं और सामान्य हित के प्रश्नों पर उचित राय क़ायम कर सकते हैं, प्रजातन्त्र बिगड़ कर अयोग्य व्यक्तियों के शासन का रूप धारण कर लेगा। यदि प्रजातन्त्र को सफल होना है तो उसे नागरिकों को मेधावी बनाना पड़ेगा।

४—जनता में एकता तथा संगठन की प्रबल भावना होनी चाहिए। जिस समाज में जातपाँत तथा धर्मों के कारण भेदभाव हों उसमें कभी वह एकता, सामंजस्य तथा एकरसता पैदा नहीं हो सकती जिसके कारण व्यक्ति अपने मतभेदों का परित्याग कर सार्वजनिक हित के लिए कार्य करना पसन्द करते हैं। यह एकता की भावना ही अल्पमत को बहुमत के निर्णय मान लेने के लिए

और बहुमत को अल्पमत का ध्यान रखने के लिये बाध्य करती है।

५—प्रजातन्त्र सभा-सम्मेलन तथा विचार-स्वातन्त्र्य एवं समाचारों की स्वतंत्रता के बिना सम्भव नहीं। विचार-विनिमय या बहस की स्वतंत्रता नागरिक को यह विश्वास कराने के लिये परम आवश्यक है कि वह अपने विचार दूसरों के समक्ष प्रकट कर सकेगा और दूसरों के विचार जान सकेगा तथा उन सरकारी कार्यों एवं नीतियों का प्रतिवाद कर सकेगा जो उसकी समझ में जनता के हितों के विरुद्ध हैं। इस के लिये सभा-सम्मेलन तथा प्रेस की स्वतंत्रता भी परम आवश्यक है। लोकमत के निर्माण मे स्वतत्र समाचारपत्रों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार की स्वतंत्रता प्रजातंत्र के लिये इतनी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि कुछ लेखक प्रजातंत्र की व्याख्या करते हुए उसे ऐसा शासन बतलाते हैं 'जिसमें प्रत्येक वयस्क नागरिक को समस्त नागरिकों के सामने अपनी राय तथा इच्छाओं को अपनी इच्छानुसार व्यक्त करने की तथा उन इच्छाओं के अनुसार निर्णय करने तथा उन पर अमल करने के विषय में नागरिकों के बहुमत को प्रभावित करने की समान स्वतंत्रता हो।'* वर्तमान् काल में प्रजातत्र की एक बड़ी कमी और उसकी अवनति का एक कारण यह है कि समाचार पत्र ईमानदार नहीं है।

६—सम्पत्ति तथा दरिद्रता भी अति सफल प्रजातत्र के लिये बाधक होती है। अनेकों विद्वानों का मत है कि आर्थिक समता के अभाव में हम राजनीतिक समता प्राप्त नहीं कर सकते। आजकल के प्रजातत्र के विरुद्ध असन्तोष का एक महान् कारण यह है कि प्रजातत्र का पूँजीवाद से गठबन्धन है। समाजवाद की विविध प्रणालियाँ इस गठबन्धन के विरुद्ध प्रतिवाद रूप हैं। सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण जिससे धनी व्यक्ति दूसरों का अपने साधन के रूप में उपभोग न कर सकें, सफल प्रजातंत्र की आवश्यक शर्त है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि प्रजातत्र इन में से कुछ अवस्थाओं को स्वयं पैदा करने में सहायक होता है; किसी देश में प्रतिनिध्यात्मक सस्थाओं की प्रतिष्ठा के लिए इन अवस्थाओं की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

---

* Cripps : Democracy up-to-date, p. 19.

अध्याय १४

शासन के भेद

प्रजातन्त्र का निषेध—अधिनायकतन्त्र—फ़ैसिज़्म—

पिछले अध्याय में प्रजातन्त्र का मूल्यांकन करते समय हम लिख आये हैं कि यद्यपि प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त में प्रजातन्त्र की विजय सुनिश्चित मालूम होती थी और मित्र-राष्ट्रों का यह दावा सत्य सिद्ध होता हुआ प्रतीत होता था कि हम प्रजातन्त्र को संसार में सुरक्षित करने के लिये युद्ध कर रहे हैं तो भी युद्ध के अन्त के तीन चार वर्ष के अन्दर कई देशों में प्रजातंत्र का अन्त हो गया और भीषण अधिनायकतंत्र ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। यद्यपि इटली तथा जर्मनी में द्वितीय विश्व-युद्ध के फलस्वरूप अधिनायकतन्त्र का अन्त हो चुका है, परन्तु अभी वह कुछ देशों में विद्यमान् है। रूस तो उसका प्रबल गढ़ है। इस प्रकार के शासन का जिसमे करोड़ों व्यक्ति रहते हैं और जिनका विस्तार संसार के एक काफ़ी बड़े भाग पर है और जो प्रजातन्त्र का घोर विरोधी है, अध्ययन करना आवश्यक है।

अधिनायकतन्त्र कोई चीज़ नहीं है। 'डिक्टेटर' (अधिनायक) शब्द का प्रयोग गणतंत्रीय रोम में होता था जहाँ इसे मान्यता प्राप्त थी। वहाँ संकट काल में 'कॉन्सल' द्वारा साधारण शासन स्थगित कर दिया जाता था और उसके स्थान पर सङ्कट का सामना करने के लिये क़ानून द्वारा डिक्टेटर का शासन स्थापित कर दिया जाता था। उसे स्वेच्छाचारी सत्ताएं प्राप्त थीं और उसका पद कानूनी आधार पर स्थित था। अधिनायक का पद अस्थायी होता था। डिक्टेटर सीमित काल के लिए (साधारणतया ६ मास के लिए) नियुक्त होता था। उसके बाद उसे त्यागपत्र दे देना पड़ता था और अपने कार्य-काल का विवरण सीनेट तथा कॉन्सल के सामने परीक्षा के लिए प्रस्तुत करना

पड़ता था। यह वर्णन आधुनिक डिक्टेटरों के सम्बन्ध में लागू नहीं होता। आधुनिक डिक्टेटर क़ानूनी रूप से सत्ता प्राप्त नहीं करता, वरन् राज्य में सहसा शासन परिवर्तन द्वारा सत्ता प्राप्त करता है और जब तक उसके हाथों में सत्ता रहती है, वह शासन करता रहता है। वह किसी नियत काल के बाद अपने पद का त्याग नहीं करता और न अपने शासनकाल में वह किसी अधिकारी के प्रति उत्तरदायी ही होता है। उसके विषय में आवश्यक बात तो यह है कि वह बलपूर्वक सत्ता हस्तगत करता है, बलपूर्वक उसे क़ायम रखता है और वह अपने को किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं मानता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जनता को अपने साथ रखना नहीं चाहता। इस पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे। उसके समान उदाहरण ग्रीक अत्याचारी शासकों में तथा मध्यकालीन निरंकुश शासकों में ही मिलेगा जिन्होंने तलवार के बल पर बहुत बड़े प्रदेशों पर शासन स्थापित किए और जो उस समय तक शासन करते रहे जब तक कि उनसे अधिक बलशाली किसी व्यक्ति ने उन्हें हटा नहीं दिया। अधिनायक की उनसे केवल एक आवश्यक बात में भिन्नता है; वह एक नवीन राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जैसा पुराने किसी स्वेच्छाचारी शासन ने नहीं किया। मुसोलिनी ने हमारे सामने फ़ैसिज़्म, हिटलर ने नात्सीवाद तथा रूसी डिक्टेटर लेनिन और स्टालिन ने बॉलशेविज़्म तथा साम्यवाद (Communism) के सिद्धान्त रखे हैं। इन तीनों अधिनायकतयों में मौलिक साम्य तथा विरोध भी है। इन तीनों का उदय प्रथम विश्वयुद्धोपरान्त ऐसे देशों में हुआ जिनमे प्रजातन्त्र की जड़ें गहरी नहीं हो पाई थीं। इन तीनों देशों में उनका उदय राष्ट्रीय संकटों के निवारण के लिए हुआ तथा उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों का रूप धारण किया। उनके शासन के ढंगों में भी समता है जिस पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु उनमें सबसे महत्वपूर्ण सामान्य तत्व हैं :—सर्वस्वायत्तवादी अथवा सर्वग्राही (Totalitarian) राज्य की कल्पना। जब अधिनायक-तन्त्र और प्रजातन्त्र में परस्पर विरोध दिखलाया जाता है, तब पहले की सर्वस्वायत्तवादिता तथा दूसरे की स्वतन्त्रता की भावना पर विचार किया जाता है। यदि प्रजातन्त्र से प्रयोजन यह है कि राज्य के शासन-कार्यों में जनता की इच्छा को मान्यता मिले, तो आधुनिक अधिनायकतन्त्र को भी सांसद शासन के समान ही प्रजातान्त्रिक कहलाने का दावा है, क्योंकि मुसोलिनी और हिटलर को अपने-अपने राज्य में एक विशाल

बहुमत का समर्थन प्राप्त था और स्टालिन को प्राप्त है। मुसोलिनी और हिटलर अपने राष्ट्र के नेता थे और स्टालिन भी अपने राष्ट्र का जननायक है। इस प्रकार अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र की अपेक्षा अधिक जनतन्त्रीय राज्य होने का दावा कर सकता है। इस प्रकार विरोध सांसद ढंग के प्रजातंत्र और अधिनायकतन्त्रीय ढंग के प्रजातन्त्र में है, अर्थात् विरोध स्वतन्त्र रूप से प्रतियोगिता और राजनीतिक दलों में बहस, जो सांसद प्रजातन्त्र का सार है, तथा सर्वस्वायत्तवादिता में है, जिसमें प्रजा की इच्छा प्रत्यक्ष रूप से एक नेता द्वारा प्रकट की जाती है जिसे राज्य के उस एकमात्र राजनीतिक दल का समर्थन प्राप्त होता है जो वहाँ रह सकता है। राज्य-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए इस लक्षण वाले सर्वस्वायत्तवादी राज्य (Totalitarian State) को समझ लेना बहुत आवश्यक है। यही लक्षण ऐसा है जिससे पुरातन अधिनायकतन्त्रों से इसका भेद मालूम होता है।

सर्वस्वायत्तवादी राज्य—

सर्वस्वायत्तवाद हमारे सामने राज्य की एक अभिनव कल्पना रखता है और नागरिक जीवन का एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत करता है जो राज्य की प्रजातान्त्रिक कल्पना और नागरिक जीवन के उस सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है, जिसके अनुसार राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों का सुख है, अपनी शक्ति का विस्तार नहीं। दूसरे शब्दों में, प्रजातान्त्रिक उदारवाद (Liberalism) व्यक्ति को साध्य मानता है और राज्य को उसके सुख का साधनमात्र। उसकी सत्ता और उसके अधिकार इस उद्देश्य द्वारा सीमित होते हैं। व्यक्ति का अस्तित्व अपने ही अधिकार से है, वह स्वयं अपना ध्येय है; वह राज्य की सेवा करने वाली एक इकाई मात्र नहीं है। सर्वस्वायत्तवाद व्यक्ति तथा राज्य के बीच के इस सम्बन्ध को उलटा कर देता है। उसके अनुसार राज्य स्वेच्छाचारी है; वह स्वयं ही साध्य है और व्यक्ति राज्य के गौरव और उसकी महानता का साधन मात्र है। व्यक्ति का सुख नहीं, वरन् राज्य का कल्याण ही राज्य के व्यवहार की कसौटी है। व्यक्ति का जीवन अपना नहीं है; वह राज्य द्वारा प्रदत्त धरोहर है जिसका राज्य की सेवा में प्रयोग होना चाहिये। उसके जीवन का सार तथा उसके उद्देश्य की सिद्धि राज्य के प्रति भक्ति में, राज्य की वेदी पर अपना बलिदान करने में है, अपने स्वार्थों की पूर्ति में

नहीं। वह राज्य में चलता फिरता है, राज्य में जीवित रहता है, और राज्य मे ही उसका जीवन है ; राज्य ही सर्वेसर्वा है। इस प्रकार राज्य सर्वशक्तिमान और पूर्ण बन जाता है और व्यक्ति पूर्णतः उसके अधीन हो जाता है। इस प्रकार सर्वस्वायत्तवाद का समर्थक राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्ध के विषय में हेगल के विचार का समर्थन करता है।

राज्य की इस कल्पना में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का राज्य मे समावेश हो जाता है। सर्वस्वायत्तवाद के अनुसार व्यक्ति के जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जो राज्य के हस्तक्षेप, नियन्त्रण तथा नियमन से मुक्त हो। इस प्रजातान्त्रिक विचार को कि व्यक्ति के जीवन मे ऐसे कुछ विषय हैं जो राज्य की अधिकार सीमा से बाहर हैं और जिनमें व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता है अधिनायकवाद अस्वीकार करता है। उसके अनुसार तो राज्य व्यक्तियों के समस्त कार्यों का नियन्त्रण करता है और उन्हे राष्ट्रीय लक्ष्य के आधीन रखता है। अनेक फ़ैसिस्ट तथा नात्सी नेताओं के वचनों से यह भाव स्पष्ट हो जाता है। मुसोलिनी का यह कथन ही लीजिये : "सब राज्य के भीतर हैं; राज्य के बाहर कोई भी नहीं है ; और राज्य के विरुद्ध भी कोई नही है" , अथवा सीबर्ग का यह दावा लीजिए कि "जर्मनी में जर्मनों के अतिरिक्त कोई भी मनुष्य नहीं है।"

सर्वस्वायत्तवाद की तुलना बहुवाद से करने पर हमारे सामने इसका सर्वसग्रही लक्षण और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। बहुवाद मानता है कि मानव की सामाजिक प्रकृति की यह माँग है कि उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध प्रकार की संस्थाऐं हों जो राजकीय हस्तक्षेप से मुक्त भी हों। राज्य का धर्म, उद्योग, शिक्षा आदि पर कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिये ; दूसरी ओर, अधिनायकवाद के अनुसार मानव जीवन का प्रत्येक व्यापार कला, धर्म, सदाचार, सस्कृति, शिक्षा, आर्थिक कार्य आदि सभी राज्य के नियन्त्रण तथा अधिकार सीमा के अन्तर्गत हैं। राज्य के बाहर किसी भी मानवीय तथा आध्यात्मिक मूल्य का अस्तित्व नहीं हो सकता।

सर्वस्वायत्तवादी राज्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उपर्युक्त विचार से प्राप्त होती है। व्यक्ति के भाषण-स्वातन्त्र्य, अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य, समाचार-पत्र-स्वातन्त्र्य, सभा-स्वातन्त्र्य आदि नागरिक स्वातन्त्र्यों का निषेध व्यक्ति की पूर्ण अधीनता का स्वाभाविक परिणाम है। अधिनायक-वाद ने व्यक्ति के स्वातन्त्र्य के विचार को, जो प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त का

सार हैं, नितान्त अनावश्यक मान कर अस्वीकार कर दिया है। जो स्वतन्त्रता प्राप्त करने योग्य है वह है केवल राज्य की स्वतन्त्रता और राज्य के अन्दर उसकी पूर्ण अधीनता में व्यक्ति की स्वतन्त्रता।

सर्वस्वायत्तवादी राज्य उन सब बातों पर नियन्त्रण रखता है जो मानसिक शक्तियों का विकास करती हैं और जो व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में सहायक होती हैं, जैसे पाठशाला, सिनेमा, रेडियो, प्रेस तथा चर्च। इन सब माध्यमों पर राज्य का कठोर नियन्त्रण रहता है और उनका एकमात्र प्रयोजन राज्य के प्रति समस्त नागरिकों में अधीनता की भावना और एक स्वीकृत 'प्रकार' (Type) के नागरिकों की सृष्टि होता है; उसका आदर्श है 'एक नमूना और एक मत'। वह व्यक्ति के अनुपम व्यक्तित्व के विकास में विश्वास नहीं करता। वह 'प्रकार' में विश्वास करता है, व्यक्ति में नहीं। जो व्यक्ति राज्य के मत के विरुद्ध विचार या मत प्रकाशित करते हैं, उन्हे वह सहन नहीं करता; इस प्रकार के राष्ट्र-विरोधी तत्वों को राज्य से निकाल दिया जाता है। बलप्रयोग तथा आतंक द्वारा समस्त विरोध का दमन किया जाता है और जैसा अधिनायक चाहता है उसी के अनुसार कार्य कराया जाता है। विरोध को नष्ट करने के लिए जासूसी का भी आश्रय लिया जाता है। मुसोलिनी के अनुसार ऐसा कोई भी व्यक्ति प्रशासक होने के योग्य नहीं है जो राज्य में विरोध को दबाने के लिये निर्दयता के साथ शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता।

सर्वस्वायत्तवादी राज्य केवल 'एक नमूने तथा एक मत' में ही विश्वास नहीं करता, वरन् वह 'एक राजनीतिक दल' में भी विश्वास करता है। इटली में फ़ैसिस्ट पार्टी के अतिरिक्त सब दल भंग कर दिये गये थे। इसी प्रकार जर्मनी में भी नात्सी पार्टी के अतिरिक्त और कोई राजनीतिक दल नहीं रहने दिया गया था। सोवियत रूस में भी साम्यवादी दल (Communist Party) के अतिरिक्त और कोई दल नहीं है। समस्त राष्ट्रीय जीवन का एकाधिकार एक राजनीतिक दल के हाथ में ही होता है। इस दल की सहायता से अधिनायक शासन करता है और इसी दल के द्वारा वह जनता का समर्थन प्राप्त करता है। ऐसा कहा जा सकता है कि अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति का नहीं, एक दल का होता है। सांसद् शासन-प्रणाली के संचालन के लिए कम से कम दो दलों की आवश्यकता होती है; अतः अधिनायकतन्त्र में इङ्गलैंड के

जैसे सांसद शासन के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार की संसद, जिसमें विरोधी दल का कार्य शासन के कार्यों एवं नीतियों की आलोचना करना होता है, मूर्खतापूर्ण, शिथिलगति और असमर्थ मानी जाती है जिससे कोई भी लाभ नहीं होता। इटली तथा जर्मनी में मुसोलिनी तथा हिटलर से पूर्व जो संसदें थी उन्हें बाद में सर्वथा शक्तिहीन बना दिया गया था। उनका कार्य अधिनायकों के आदेशों तथा उनके बनाये हुए क़ानूनों को केवल स्वीकार करना रह गया था, उनके कार्यों एवं नीतियों की वे आलोचना नहीं कर सकती थीं। संक्षेप में, वे केवल परामर्शदात्री संस्थाऐं रह गई थीं।

प्रजातान्त्रिक राज्य की अपेक्षा सर्वस्वायत्तवादी राज्य में समाज के आर्थिक जीवन का नियन्त्रण अधिक व्यापक होता है। यद्यपि नियन्त्रण की सीमा विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न होती है। जर्मनी में इटली की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण था। रूस में कई आर्थिक योजनाऐं सफल हो चुकी हैं। कुछ सर्वस्वायत्तवादी राज्य, जैसे इटली तथा जर्मनी, उग्र राष्ट्रवादी तथा साम्राज्यवादी थे। उन्होंने युद्ध का गौरव गान किया तथा जनता मे सैनिक भावना को जगाया। किन्तु रूस ने इसके विपरीत कार्य किया है। उसने युद्ध को प्रोत्साहन नहीं दिया। इस प्रकार उग्र राष्ट्रवाद और सैनिकवाद सर्वस्वायत्तवादी राज्य के आवश्यक लक्षण नहीं हैं ; किन्तु वे ऐसे राज्यों में कभी-कभी विद्यमान् होते हैं। ऐसे राज्य का आधार राजनीतिक तथा प्रशासनीय केन्द्रीयकरण, शिक्षा पर एकाधिकार तथा नियन्त्रित आर्थिक जीवन होता है।

अधिनायकतन्त्र के उदय के कारण—

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद योरोप की परिस्थिति अधिनायकों के उदय के बहुत ही अनुकूल थी। चार वर्ष के भीषण संहारकारी युद्ध के कारण योरोप की जनता में एक असाधारण मनोवृत्ति पैदा हो गई थी। लोगों के मन में हिंसा के विचार पैदा हो गये थे और वे अधिनायकीय शासन के, जिसमें उनकी साधारण स्वतन्त्रताएँ स्थगित हो चुकी थीं, अभ्यस्त हो गये थे। युद्ध के कारण जनता में शीघ्र कार्य करने और उससे शीघ्र परिणाम निकालने की अभिलाषा पैदा हो जाती है। धीरे-धीरे कार्य तथा विचार करने की प्रणाली का मूल्य बहुत कम हो जाता है। युद्ध का अन्त हो जाने पर जनता की मनोवृत्ति में अपने आप कोई भारी परिवर्तन

नहीं हो जाता। जिस शान्ति-सन्धि के द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध का अन्त हुआ वह संसार मे शान्ति स्थापित न कर सकी। उस सन्धि ने जर्मनी में पराजय के कारण जो कटुता उत्पन्न हुई थी उसमे और वृद्धि कर दी। युद्ध के कारण देश के उद्योग-धन्धे तथा उसका वाणिज्य-व्यापार अस्त-व्यस्त था ही, युद्ध के बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अनेक बाधाएँ पैदा हो गईं और देश की आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त बिगड़ गई। इस पर उससे युद्ध की क्षति-पूर्ति कराई गई जिससे स्थिति और भी पेचीदा हो गई। ऐसी स्थिति मे वहाँ हिटलर ने वार्साई की संधि को भंग कर, जर्मनी में एकता स्थापित कर उसे एक शक्तिशाली राष्ट्र बना देने की प्रतिज्ञा करके सारी सत्ता अपने हाथ मे ले ली। इटली मे प्रथम विश्वयुद्ध के समय तथा उसके उपरान्त शासन द्वारा प्रयुक्त नीतियों के फलस्वरूप बड़ा भयंकर आर्थिक संकट उत्पन्न हो चुका था। वार्साई की सन्धि में उसे बहुत ही कम पुरस्कार मिला जिससे जनता में बड़ा रोष और कटुता उत्पन्न हुई। इसके साथ ही साम्यवादी हड़तालों के कारण देश का औद्योगिक जीवन अस्तव्यस्त हो गया। इस स्थिति से मुसोलिनी ने पूरा लाभ उठाया। उसने सभी असन्तुष्ट दलों को अपनी ओर मिला लिया और देश में पुनः समृद्धि लाने का वचन दे कर जनता का समर्थन प्राप्त किया और सत्ता अपने हाथ में ले ली। रूस मे अधिनायक-तन्त्र उसकी सैनिक पराजय और शान्ति के लिये अतृप्त इच्छा के कारण स्थापित हुआ। ऐसी दशाओं में जनता ऐसा शक्तिशाली नेता चाहती थी जो देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित कर सके और राष्ट्र की जो गौरव-हानि हुई है उसकी भी पूर्ति कर सके। यही लेनिन तथा स्टालिन ने रूस की जनता के लिये, मुसोलिनी ने इटली के लिये और हिटलर ने जर्मनी के लिए किया।

संक्षेप में, पतनोन्मुख राजनीतिक प्रणाली, तीव्र आन्तरिक आर्थिक तथा सामाजिक संकट, राष्ट्रीय अन्याय, एक शक्तिशाली तथा प्रतिभा-सम्पन्न नेता जो जनता में विश्वास पैदा कर सके और स्थिति से पूरा लाभ उठा सके—ये कुछ ऐसे तत्व हैं जिनमें से फ़ैसिज़्म का उदय हुआ। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस नवीन राजनीतिक सिद्धान्त को उन्हीं देशों में अनुकूल स्थिति प्राप्त हो सकी जहाँ सांसद शासन-प्रणाली की जड़ें मज़बूत नहीं हो सकी थीं, तथा जनता में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

के लिये कोई प्रेम नहीं था और जनता व्यक्तिगत शासन की पद्धति में ही पली थी।

यद्यपि जर्मनी तथा इटली दोनों देशों में फ़ैसिस्ट आन्दोलन का सन्निकट कारण आन्तरिक आर्थिक संकट था, उसे सफलता अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण प्राप्त हुई। जर्मनी के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट देखने में आती है। यदि फ़्रान्स तथा इङ्गलैण्ड के प्रजातांत्रिक शासक ऐसा चाहते तो वे हिटलर को पुन: शस्त्रीकरण करने से और वार्साई की सन्धि को भग करने से रोक सकते थे। परन्तु इङ्गलैण्ड ने वार्साई की सन्धि के भंग करने में ही हिटलर के कामों की तरफ से आँखें नहीं चुराईं वरन् आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया के स्वतन्त्र देशों की स्वाधीनता छीन लेने में भी इस आशा से उसकी उपेक्षा की कि इस प्रकार साम्यवादी खतरे के विरुद्ध शक्तिशाली जर्मनी का निर्माण हो सकेगा। जिस सीमा तक फ़ैसिज़्म की सफलता अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का परिणाम थी, उसका वर्णन क्रॉसमैन ने निम्न प्रकार किया है : "चूँकि पश्चिमी प्रजातन्त्र विश्व को शान्ति के लिये संगठित करने मे बहुत बुरी तरह असफल रहे, फ़ैसिस्ट बिना किसी कठिनाई के युद्ध के लिए उसका संगठन करने में सफल रहे हैं। चूँकि इङ्गलैण्ड और फ़्रान्स हर प्रकार से राष्ट्रीय राज्य के प्रभुत्व को क़ायम रखने में दृढ़ थे, फ़ैसिज़्म ने राष्ट्र-संघ की सत्ताओं के विरुद्ध राष्ट्र को तैयार किया। चूँकि प्रजातान्त्रिक विजेताओं ने प्रजातीय समता को मान्यता देने से इन्कार कर दिया, फ़ैसिज़्म ने प्रजातीय विषमता को अपना सिद्धान्त बना लिया। उन प्रजातान्त्रिक देशों के विरुद्ध जिन्होंने उपनिवेशों की जनता के दोहन का अन्त करने में बड़ी शिथिलता दिखलाई फ़ैसिज़्म ने एक नया युद्ध आरम्भ किया, जो श्रेष्ठ जातियों के राष्ट्रीय अधिकार के रूप में साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठा प्रदान करता है।" * यदि उन राजनीतिज्ञों में जो वार्साई में शान्ति-सन्धि पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए थे, उदार दृष्टिकोण तथा दूरदर्शिता होती; यदि उन्होंने संसार में सच्ची शान्ति स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया होता, तो भावी सन्तति फ़ैसिज़्म के उदय के अनिवार्य खतरों तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के संकटों से सुरक्षित रहती। यह दुर्भाग्य की बात है कि उनमें इस कार्य को करने की क्षमता नहीं थी।

---

* Government and the Governed p. 25.

फ़ैसिज़्म—

अधिनायकतन्त्र की प्रकृति को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम इस पर कुछ विशद रूप में विचार करें। अधिनायकतन्त्र के दो मुख्य भेद हैं, फ़ैसिज़्म तथा कम्युनिज़्म, जिन पर हमें विचार करना है। फ़ैसिज़्म का अध्ययन हम इस अध्याय में करेंगे। यह अध्ययन हमें एक राजनीतिक संगठन के रूप में ही करना अभिप्रेत नहीं है, वरन् सम्भावित नवीन विश्व-व्यवस्था के रूप में अध्ययन करना है जिसका हिटलर और मुसोलिनी स्वप्न देखा करते थे। कम्यूनिज़्म का अध्ययन हम आगे सत्रहवें अध्याय में करेंगे।

फ़ैसिज़्म का संक्षेप मे वर्णन करना कठिन कार्य है। कठिनाई कुछ तो इसलिए पैदा होती है कि यह एक राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली होने के साथ ही साथ जीवन की एक मनोवृत्ति, एक पद्धति है और एल्फ़ ेडो रॉको के शब्दों में "नागरिक जीवन की एक नूतन कल्पना" भी है। यह एक नवीन संस्कृति का आरम्भ है। इस कारण इसका थोड़े से शब्दों में वर्णन करना सम्भव नहीं है। एक जीवन की पद्धति के रूप में यह राष्ट्र की आत्मा को प्रकट करता है। फ़ैसिज़्म वास्तव में एक अत्यन्त तीव्र राष्ट्रीय मत है। चूँकि जर्मन आत्मा, इटालियन आत्मा से भिन्न है, जर्मन फ़ैसिज़्म अर्थात् नात्सीवाद इटालियन फ़ैसिज़्म का जर्मन संस्करण नहीं माना जा सकता; इन दोनों में कई बातों में भिन्नता अनिवार्य है। अतः ऐसा कोई विवेचन करना कठिन है जो फ़ैसिज़्म के सभी रूपों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू हो। दूसरी बाधा यह है कि विविध देशों में जो महान् राजनीतिक विकास हुए हैं, उनका वर्णन करने में इसी एक शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सन् १९३३ ई० में आस्ट्रिया में डॉलफ़स के तथा स्पेन में रिवीयरा के अधिनायकतन्त्र को भी फ़ैसिस्ट कहा जाता था। कुछ अविवेकी आलोचक भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के उच्च नेता वर्ग पर फ़ैसिस्ट होने का अभियोग लगाते हैं। यह उचित होगा कि फ़ैसिज़्म के अर्थ को इतना व्यापक न कर के जो आन्दोलन इटली में इस नाम से चला उसके तथा उससे मिलते-जुलते आन्दोलनों के वर्णन में ही हम इस शब्द का प्रयोग करें।

फ़ैसिज़्म के सिद्धान्त—

अपने आरम्भ में फ़ैसिज़्म एक सिद्धान्त की अपेक्षा एक राजनीतिक कार्य-क्रम अधिक था। उसका संस्थापक मुसोलिनी अपने अनुयायियों से कार्य चाहता था, कोरी बातें नहीं। उसकी यह उक्ति प्रसिद्ध थी। "किसी मत की कोई आवश्यकता नहीं है; अनुशासन ही पर्याप्त है।" एल.फ़ेडो रोको ने भी इसी प्रकार से घोषणा की कि फ़ैसिज़्म भावना तथा वार्त्ता से बढ़ कर है और ऐसा ही उसे भविष्य में भी रहना चाहिये। इससे अनेक आलोचकों का यह विचार है कि फ़ैसिज़्म केवल व्यावहारिक है। यह सत्य है कि फ़ैसिज़्म के संस्थापकों ने उसे कोई सैद्धान्तिक आधार प्रदान नहीं किया जैसा मार्क्स ने समाजवाद तथा लेनिन ने बोल्शेविज़्म को किया था। यद्यपि फ़ैसिस्टों के कोई ऐसे निश्चित् घोषणा-पत्र प्रकाशित नहीं किए गए जिनमें नागरिक तथा राजनीतिक जीवन की इस नवीन कल्पना के उद्देश्यों एवं नीतियों आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया हो, तथापि राज्य की प्रकृति, उसके लक्ष्यों तथा व्यक्ति और समुदाय के सम्बन्ध के विषय में फ़ैसिज्म की अनेक मान्यतायें हैं, जो मार्क्स के समाजवाद, बहुवाद अथवा प्रजातन्त्रवाद से भिन्न हैं। इस प्रकार एक तरह का फ़ैसिस्ट राजनीतिक दर्शन बन गया है। सेबाइन के अनुसार फ़ैसिज़्म अस्पष्ट है क्योंकि "यह ऐसे विचारों का संकलनमात्र है, जो विविध स्रोतों से प्राप्त किए गए हैं और परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुकूल होने के कारण एकत्रित कर लिये गये हैं। उसने यह भी उल्लेख किया है कि यह सिद्धान्त विवाद द्वारा परिष्कृत नहीं है और प्रायः भावुकता पूर्ण भी है। यह नीत्शे के 'सत्ता की इच्छा' के सिद्धान्त (Will-to-Power), हेगल के राष्ट्रवाद और बर्गसन के बुद्धि-निरोधवाद को शामिल करने का प्रयत्न है।* इसका राज्य का सिद्धान्त अधिकांश में आदर्शवादी है। इसके शासन की कल्पना जिसमें साधारण जनता से भिन्न कुछ देशभक्त, सुयोग्य और कर्तव्य भावना से युक्त विद्वान पुरुषों के कुलीनतन्त्र को ही स्थान दिया गया है प्लेटो की याद दिलाती है। इस प्रकार विविध प्रकार के विचारों को ले कर जिन में प्रायः एक दूसरे से असङ्गति है, फ़ैसिज़्म का सिद्धान्त बनाया गया है। फ़ैसिस्ट दर्शन, वह जैसा भी है, उन

*Crossman : Government and the Governed p. 257.

तथ्यों तथा घटनाओं की, जो बीत चुकी हैं, व्याख्या है और उनका समर्थन है। इसके सिद्धांत उन घटनाओं का औचित्य सिद्ध करते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त—

प्रमुख फ़ैसिस्ट अपने समक्ष अपने राजनीतिक दर्शन में राज्य की 'कल्पना' (Myth) रखते हैं और उसके प्रति भक्ति के महत्त्व पर अधिक ज़ोर देते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उनका विचार व्यक्तिवादियों, उदारवादियों और प्रजातन्त्रवादियों के विचारों से सर्वथा भिन्न है। समाज या राज्य की अणुवादी (Atomistic) अथवा यान्त्रिक (Mechanistic) कल्पना की जगह, जिसमें व्यक्ति केवल पारस्परिक लाभ की दृष्टि से ही एकत्रित हुए माने जाते हैं, फ़ैसिज़्म राज्य की केन्द्रिय कल्पना स्वीकार करता है। वह राज्य को एक आध्यात्मिक एकता मानता है, जिसके कारण तथा जिसके लिए उसके सदस्यों का जीवन है, जिसका व्यक्तित्व तथा इच्छा है, जो सदस्यों (नागरिकों) की इच्छा तथा व्यक्तित्व को प्रेरित करते हैं और उनसे ऊपर हैं। वह राज्य की एकता में विश्वास करता है और ऐसा नहीं मानता कि उसका विभाजन हो सकता है। उसका जीवन अधिक सतत्, स्थायी तथा सदस्यों के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है।

राज्य की इस कल्पना का कि वह एक आध्यात्मिक इकाई है, जो उसके नागरिकों के योग से भी अधिक है, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धों की समस्या पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। राज्य की यान्त्रिक कल्पना के अनुसार, जिसका खण्डन कर फ़ैसिज़्म स्वयं अपनी प्रतिष्ठा करना चाहता है, राज्य का ध्येय उन व्यक्तियों के ध्येय से भिन्न नहीं हो सकता जिन से मिल कर वह बना है; राज्य का सर्वोत्तम हित जनता के सुख तथा कल्याण में है; राज्य जनता के सुख के लिए है। व्यक्तिवाद और उदार प्रजातन्त्र व्यक्ति को ध्येय मानता है और राज्य को केवल साधन-मात्र जिसके द्वारा व्यक्ति अपने ध्येय को प्राप्त करता है। फ़ैसिज़्म इस सम्बन्ध को उलटा कर देता है। राज्य एक पूर्ण है और वह सदस्यों के योग से अधिक है; इस प्रकार वह उनके सुख का साधन-मात्र नहीं हो सकता। इच्छा तथा व्यक्तित्व से युक्त एक आध्यात्मिक इकाई होने के कारण उसका अपना लक्ष्य या प्रयोजन भी है, जिसे पूरा करना है। उसके

सदस्यों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उसे उस ध्येय की पूर्ति करने में सहायक हों।

राज्य अपने जीवित नागरिकों के योग से केवल उस भाव में ही अधिक नहीं है जिसमें एक पूर्ण उसके विधायक भागों से अधिक होता है, वह इस अर्थ में भी अधिक है कि उसमें वर्तमान नागरिकों के अतिरिक्त वे नागरिक भी सम्मिलित हैं जो इस समय नहीं हैं तथा जो भविष्य में जन्म लेने वाले हैं। राष्ट्र या समाज केवल उन व्यक्तियों से ही नहीं बनता, जो एक निश्चित प्रदेश में किसी समय रहते हैं ; उसके अन्तर्गत असंख्य सन्ततियों का समावेश होता है। इस प्रकार राज्य केवल जीवित सदस्यों का ही नहीं होता, वह तो उन्हे एक उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का जीवन उसके सदस्यों के जीवन की अपेक्षा किस प्रकार अधिक सतत्, स्थायी और महत्वपूर्ण होता है।

जब इस प्रकार के हितों तथा व्यक्ति या समस्त व्यक्तियों के हितों में परस्पर विरोध होता है, तब राज्य के हितों को मान्यता मिलनी चाहिये। राज्य का सच्चा ध्येय तो राष्ट्र को शक्तिशाली और महान बनाना है, व्यक्तियों के कल्याण के लिए प्रयत्न करना नहीं। राष्ट्र से पृथक् व्यक्ति का कोई भी व्यक्तित्व नहीं है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य के विरोध में नहीं, वरन् उसके प्रति अपने उचित कर्तव्य-पालन द्वारा करता है। राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि के लिये जो उसके ध्येय से कहीं बड़ा है अपने साथियों के सहयोग से प्रयत्न करके वह अपनी प्रकृति का विकास करता है और जो कुछ वह बन सकता है बनता है। राष्ट्र की सेवा से विमुख वह अपनी प्रकृति का विकास नहीं कर सकता। राज्य की सेवा उसे उससे भी उच्च स्तर पर ले जाती है जिस पर वह अपने व्यक्तिगत ध्येय की प्राप्ति में लगा रहने पर पहुँच सकता है। सच्चा व्यक्तित्व इसी मे है कि व्यक्ति अपने को राज्य जैसे अधिक विशाल व्यक्तित्व में मिला दे, केवल अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा में ही लगा रहने में नहीं। मानव का समस्त मूल्य तथा उसकी समस्त आध्यात्मिक वास्तविकता उसे राज्य से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार राज्य स्वयं अपना साध्य हो जाता है। "यही अन्तिम ध्येय है जिसको व्यक्ति के विरुद्ध जिसका सर्वोच्च कर्तव्य राज्य का सदस्य बनना है, सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।" रोको ने लिखा है कि "समाज लक्ष्य है; व्यक्ति साधन है

और राज्य का सम्पूर्ण जीवन व्यक्तियों को अपने ध्येय की सिद्धि के लिये साधन के रूप मे प्रयोग करने में है।" इस प्रकार फ़ैसिज़्म राज्य के नाम पर व्यक्ति का निषेध करता है।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक ध्येयों को प्राथमिकता देने में फ़ैसिज्म स्पष्ट रूप में उदारवाद (Liberalism) के विरुद्ध है, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को शासन का मुख्य लक्ष्य मानता है; यह उपयोगितावाद (Utilitarianism) के भी विरुद्ध है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक कल्याण चाहता है; यह सब प्रकार के समाजवाद के भी विरुद्ध है जो किसी एक वर्ग के आर्थिक हितों पर ध्यान देता है। इनमें से किसी ने सम्पूर्ण राष्ट्र का विचार नहीं किया और न किसी ने वर्तमान के सिवाय भावी पीढ़ियों के प्रति वर्तमान पीढ़ी के कर्तव्य का ही विचार किया।

प्रजातन्त्र की इस मान्यता के निषेध के साथ कि राज्य का लक्ष्य व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहायता देना है, फ़ैसिज़्म व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार का भी निषेध करता है। विचार, भाषण तथा सभा की स्वतन्त्रता तथा अन्य स्वतन्त्रताओं का आधार यह है कि वे मानव के व्यक्तित्व के विकास में अनिवार्य हैं। यदि यह राज्य का लक्ष्य नहीं है, तो इन स्वतन्त्रताओं की मान्यता की आवश्यकता ही नही रह जाती। फ़ैसिस्ट मत मे स्वतन्त्रता प्रकृति की स्वाभाविक देन नहीं है, वह तो राज्य द्वारा प्रदत्त वस्तु है। वह व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता दे देता है जितनी उसकी (राज्य को) सुविधा में बाधा नहीं डालती। राज्य को ही यह निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है कि व्यक्तियों को किस सीमा तक स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। वह उन्हें शान्ति-काल में एक प्रकार की स्वतन्त्रता देगा और युद्ध-काल में दूसरी प्रकार की; समृद्धि के समय वह उन्हें एक प्रकार की स्वतन्त्रता देगा तथा अभाव के समय दूसरी तरह की। कुछ फ़ैसिस्ट तो यहाँ तक कहते हैं कि जनता को स्वतन्त्रता की नहीं, वरन् क़ानून और व्यवस्था की आवश्यकता है। कुछ भी हो, फ़ैसिज्म में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है।

व्यक्ति के निषेध का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि इससे उसकी स्वतन्त्रता का निषेध होता है; इसमें मानवीय समता का भी निषेध है जिसे प्रजातन्त्र अपने सिद्धान्त का आधारभूत अंग मानता है। फ़ैसिज़्म

मानवीय समता के आदर्श को दुर्बल बनाने वाला मानता है और वह उसके स्थान पर मानवीय विषमता (असमता) में विश्वास करता है जिसका कोई इलाज नहीं है और जो लाभप्रद भी है। यह विषमता किसी सार्वलौकिक प्रौढ़ मताधिकार जैसी यांत्रिक विधि से दूर नहीं की जा सकती। जनता सदैव कुछ प्रमुख व्यक्तियों के आधीन रहेगी। वह उन महान् व्यक्तियों के समक्ष झुकने के लिए सदैव प्रस्तुत रहती है जिनमें वह अपने विचारों तथा आदर्शों का साक्षात्कार करती है, जनता को नेतृत्व की आवश्यकता है और नेतृत्व के गुण कतिपय व्यक्तियों में ही मिल सकते हैं। राज्य में सत्ता तथा उत्तरदायित्व के पद ऐसे ही व्यक्तियों को मिलने चाहिए। जनता को जिसमें शासन तथा राष्ट्र के पथ-दर्शन की योग्यता नहीं होती इससे पृथक् ही रखना चाहिए। राज्य मे उसका एकमात्र कार्य है राज्य के अधिकारियों से आदेश प्राप्त करना और जो कार्य उसे सौंपा गया है, उसका सम्पादन करना। इस प्रकार फ़ैसिस्ट राज्य दैवी शासन या प्रभुत्व है; असमान इकाइयों का एक सीढ़ीनुमा सगठन है। स्वतन्त्रता, समता और बंधुत्व के प्रजातन्त्रीय नारे के स्थान पर फ़ैसिज्म का नारा है: उत्तरदायित्व, अनुशासन तथा उच्च अधिकारियों का शासन। फ़ैसिज्म की राज्य तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध की इस कल्पना के साथ लोक-प्रभुत्व की कल्पना का भी निषेध है जो प्रजातन्त्र का आधार-स्तम्भ है। यदि राज्य ध्येय है और व्यक्ति उसकी महानता तथा गौरव प्राप्त करने के साधन मात्र हैं, यदि राज्य का जीवन इन व्यक्तियों का अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक साधन के रूप में प्रयोग करना है, यदि जनता में राष्ट्र के शासन तथा पथ-दर्शन की कोई योग्यता नहीं है, यदि वह शासन की उन जटिल समस्याओं को नहीं समझ सकती जो उसके समक्ष हैं और यदि जनता का केवल यही कार्य है कि उसके नेता जैसा भी उसे आदेश दें, वह मौन हो कर उनका पालन करती जाय तब यह सुस्पष्ट है कि जनता में प्रभुत्व नहीं रह सकता, वह तो राष्ट्र में ही रह सकता है।

सामान्य इच्छा का जो विश्लेषण फ़ैसिज़्म के अनुसार किया जाता है, वह भी लोक-प्रभुत्व का खण्डन करता है। उदार प्रजातन्त्रवादी मानते हैं कि राज्य सामान्य इच्छा का साकार रूप होता है और शासन को उसकी अभिव्यक्ति तथा सिद्धि करनी चाहिए। वह इस बात में भी विश्वास करता है शासन को सामान्य इच्छा के निकटतम लाने का

सर्वोत्तम मार्ग है उसे सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार पर आधारित करना। जब यह प्रकट हो गया कि सार्वलौकिक मताधिकार से आशाजनक परिणाम नहीं निकला, तब जनता की शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। जनता की शिक्षा से भी कोई सुधार नहीं हुआ और उसके परिणाम असन्तोषप्रद बने रहे। फ़ैसिस्ट कहते हैं कि ऐसा इसलिये है कि सामान्य इच्छा प्रयोजन का प्रश्न है ; प्रयोजन से पृथक् केवल व्यक्तियों की गणना का नहीं। चूँकि प्रयोजन जाने नहीं जा सकते, इस कारण मतदान से हम सामान्य इच्छा का पता नहीं चला सकते, विशेषकर तब तक जब तक कि अधिकांश लोग स्वार्थी रहते हैं। इसका केवल एक ही मार्ग है और वह यह है कि उन व्यक्तियों के निर्णय पर आश्रित रहना जिनके अहंकार पर साधारणतया उनकी सामाजिक भावना, देशभक्ति तथा उच्च नैतिक लक्ष्य का प्राधान्य रहता है तथा जिन्हें सामाजिक नियमों का ज्ञान तथा अनुभव है।*

इन आधारभूत विचारों का स्वाभाविक परिणाम यह है कि फ़ैसिज्म प्रजातन्त्रीय जन-शासन के विरुद्ध बुद्धिमान मनुष्यों के कुलीनतन्त्रीय शासन के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और उसी को उसने अपना लक्ष्य बनाया है। इसका यह अर्थ हुआ कि राज्य की जनता को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है ; स्वाभाविक शासकों का वर्ग तथा स्वाभाविक शासितों का वर्ग। पहले वर्ग में ऐसे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो देश-भक्त, कर्तव्य परायण तथा नैतिक होते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों का यह कार्य है कि वे क़ानून बनावें, जिनका शेष समाज को पालन करना पड़ता है और ऐसे व्यक्ति सदैव अल्पसंख्यक होते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, फ़ैसिज़म जनता में राष्ट्र के शासन तथा पथदर्शन की योग्यता नहीं मानता। वह सदैव कुछ थोड़े से प्रधान व्यक्तियों के नेतृत्व में कार्य करती है। इस प्रकार जन-शासन का प्रजातांत्रिक आदर्श, अव्यावहारिक तथा काल्पनिक माना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि लोग-प्रभुत्व के विचार को अस्वीकार कर के फ़ैसिज्म जनता को राज्य के शासन-कार्य में भाग लेने से सर्वथा वंचित नहीं रखता। जिस व्यक्ति में आवश्यक नैतिक तथा सामाजिक भावना तथा अन्य आवश्यक गुणों का विकास हो जाता है उसे प्रभुत्व-सत्ता में भाग लेने

---

* Barnes : Fascism (Home University Library Series), p. 109.

का अधिकार मिल जाता है। फ़ैसिज्म योग्यता के अनुसार उत्तरदायित्व प्रदान करता है; परन्तु इसका निश्चय कौन करेगा कि अमुक व्यक्ति में ये आवश्यक गुण विकसित हो गये हैं या नहीं। इस सम्बन्ध में फ़ैसिज्म मौन है। उसके पास इसका कोई युक्तिसंगत उत्तर नहीं है। व्यवहार में शासक स्वयनियुक्त हैं, वे शासन करते हैं, क्योंकि उन्हें शासन करना चाहिए।

निगमात्मक अथवा संहृत राज्य (Corporative State)—

राज्य के फ़ैसिस्ट सिद्धान्त के एक दूसरे पहलू पर भी विचार करना आवश्यक है। यह है उसका संहृत (Corporative) राज्य का सिद्धान्त जो राज्य की प्रकृति की पुरानी अणुवादी (Atomistic) कल्पना का खण्डन करता है। फ़ैसिज्म यह मानता है कि अन्त में, राज्य असम्बद्ध व्यक्तियों से मिल कर नहीं बना है वरन् ऐसे व्यक्तियों से बना है जो समाज में विविध कार्य करने वाले समुदायों के रूप में संगठित हैं; वह व्यावसायिक समुदायों का सगठन है। इस प्रकार के व्यावसायिक समुदाय स्वाभाविक तथा आवश्यक होते है। प्रत्येक ऐसा समुदाय राज्य के संगठित जीवन में कुछ आवश्यक कार्य का सम्पादन करता है जिसके लिये वह राज्य के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार का प्रत्येक समुदाय निगम (Corporation) कहलाता है। इस निगम के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति राज्य के गतिशील जीवन में अपने कार्यों का संपादन करता है। इसी में और इसी के द्वारा वह दूसरों के साथ शामिल होता है जो समाज की वही सेवा करते हैं;

सामाजिक जीवन में इन व्यावसायिक समुदायों के महत्त्व पर फ़ैसिज्म में जो ज़ोर दिया गया है उसके कारण उसमें तथा गिल्ड समाजवाद और सिन्डीकेलिज्म में सादृश्यता है। परन्तु चूँकि फ़ैसिज्म की यह मान्यता है कि व्यावसायिक समुदाय राष्ट्रीय सहयोग के लिये हैं, वर्गीय प्रतियोगिता के लिये नहीं; इस कारण वह उनसे मौलिक रूप से भिन्न है। प्रत्येक समुदाय का इस प्रकार से संगठन होना चाहिए कि वह राज्य की सेवा में दूसरे समुदायों के साथ आसानी के साथ सहयोग कर सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निगमों का संगठन ट्रेड यूनियनों के संगठनों से भिन्न रीति से किया जाता है। निगम एक स्वतंत्र संस्था नहीं है; उसका ऊपर से राज्य द्वारा नियंत्रण होता है। उसके

अधिकारी राज्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, उसके सदस्यों द्वारा उनका चुनाव नहीं होता। उसका सदस्य भी हरेक नहीं बन सकता, उसे यह अधिकार है कि वह किसी को सदस्य बनने से रोक दे। "इस प्रकार निगम राज्य रूपी 'पूर्ण' के अधीन अङ्ग हैं, विशिष्ट प्रणालियाँ हैं जिनमें हो कर राज्य की सत्ता का विशिष्ट प्रयोजनों के लिये प्रवाह तथा प्रसार होता है।"* स्वयं मुसोलिनी ने राज्य के इस सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार कहा है : फ़ैसिस्ट राज्य ने अपने अन्तर्गत राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओं को भी शामिल कर लिया है और जिन सामाजिक तथा आर्थिक निगम-संस्थाओं को उसने जन्म दिया है उनके द्वारा वह अपना प्रभाव राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक भाग पर डालता है, और राष्ट्र की समस्त आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक शक्तियों को जो अपने सङ्गठनों में सगठित है अपने में सम्मिलित करता है।"* इस अवतरण से यह सर्वथा स्पष्ट है कि फ़ैसिज़्म इन निगमों के द्वारा समाज के समस्त औद्योगिक एवं आर्थिक जीवन पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करना चाहता है और इस प्रकार इन क्षेत्रों में भी स्वराज्य का अधिकार जनता को नहीं देता। मज़दूर तथा मालिक दोनों ही अपनी स्वतन्त्र संस्थाओं से हाथ धो बैठते हैं और निगमों में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। निगमात्मक राज्य का यह सिद्धान्त किसी बड़ी सीमा तक इटली में स्थापित नहीं हो सका है, यद्यपि फ़ैसिस्ट लेखकों ने अपने लेखों में इसे बड़ा प्राधान्य दिया है। सन् १९३४ ई० तक इटली में एक भी निगम की स्थापना नहीं हुई थी। कुछ वर्ष पूर्व तक केवल २२ निगमों की स्थापना हुई थी। मज़दूर तथा मालिकों दोनों को समान रूप में उनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त था। उपभोक्ता समाज के प्रतिनिधित्व के लिए भी कुछ बाहरी व्यक्तियों को उनमें स्थान दिया गया था।

फ़ैसिज़्म का दूसरा मौलिक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सच्चा ध्येय सत्ता है, सम्पत्ति या सुख नहीं। इस सिद्धान्त के कारण भी फ़ैसिज़्म अनेक बातों का समर्थन और अनेक बातों का निषेध करता है। सबसे पहले यह इस बात का निषेध करता है कि व्यक्तियों की भौतिक समृद्धि, कल्याण एवं सुख राज्य के कार्यों का लक्ष्य है। फ़ैसिज़्म राजनीति में हर प्रकार के उपयोगितावाद का

*Joad: Guide to Philosophy of Morals and Politics. p. 653.
*Joad : Guide to Philosophy of Morals and Politics. p 653.

निषेध करता है। राज्य सत्ता है और उसे अपनी सत्ता में वृद्धि करनी चाहिये। दूसरे, इस दृष्टिकोण का परिणाम है इच्छा और युद्ध का गौरव-गान। वह सैनिक गुणों को प्रोत्साहन देता है और शिक्षा को सैनिक शिक्षण के आधीन कर देता है। मुसोलिनी के अनुसार "फ्रैसिज़्म न तो स्थायी शान्ति की सम्भाव्यता में विश्वास करता है और न उसकी उपयोगिता में ही; युद्ध की समस्त मानवीय शक्ति को उच्चतम शिखर तक पहुँचाता है और जो युद्ध का सामना करने का साहस रखते हैं, उन व्यक्तियों पर श्रेष्ठता की मुहर लगा कर देता है।" इसी प्रकार हिटलर ने भी अपना विचार प्रकट किया है: "सनातन युद्ध से ही मानव जाति महान् हो सकी है और सनातन शक्ति में उसका विनाश हो जायगा।" इस प्रकार युद्ध के गौरव-गान का अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह तो स्पष्ट है।

समाज का शासक तथा शासित इन दो वर्गों में विभाजन जिसका पिछले पृष्ठों में विचार किया गया है, अपने महत्त्व के कारण फ़ैसिज़्म का तीसरा मुख्य सिद्धान्त है। 'इच्छा का बल' श्रेष्ठ वर्ग का एक लक्षण है, जिसके कारण वह आम जनता से भिन्न होता है। जनता स्वाभाविक रूप से उन लोगों का अनुसरण करती है।

स्वयं मुसोलिनी ने राज्य के फ्रैसिस्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया है: "फ्रैसिज़्म के लिए राज्य निरंकुश है और व्यक्ति तथा समुदाय सापेक्ष हैं। फ्रैसिस्ट राज्य रात का चौकीदार नहीं है जो जनता की व्यक्तिगत रक्षा के लिये ही लालायित हो, और न राज्य का संगठन इसलिये हुआ है कि वह नागरिकों के भौतिक कल्याण तथा शान्तिमय जीवन की व्यवस्था के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करे। इतना सा कार्य तो निर्देशकों का बोर्ड भी कर सकता है। न राज्य पूर्णतया राजनीतिक ही है, जिसका वास्तविक स्थितियों से कोई सम्बन्ध न हो अथवा जो राष्ट्र तथा नागरिकों के विविध कार्यों से पृथक् हो। फ्रैसिज़्म की कल्पना के अनुसार राज्य राष्ट्र के राजनीतिक, न्यायिक तथा आर्थिक संगठन की प्राप्ति के लिए एक आध्यात्मिक सत्ता है। यह ऐसा संगठन है जो अपनी उत्पत्ति तथा विकास में आत्मा की अभिव्यक्ति है। राज्य देश की आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा की गारंटी देता है; किन्तु यह जनता की आत्मा की भी रक्षा करता है जो युग-युग से उसकी भाषा, उसके लोकाचार और उसके धर्म द्वारा विकसित

होती रही है। राज्य केवल वर्तमान ही नहीं है, वह अतीत है और भविष्य भी है। व्यक्ति के अल्प जीवन का अतिक्रमण करके राज्य राष्ट्र के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करता है। जिन रूपों में उसकी अभिव्यक्ति होती है वे परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु उसके लिये आवश्यकता बनी रहती है। राज्य नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा देता है; वह उन्हें उनका उद्देश्य बतलाता है; उन्हें एकता के लिये प्रेरित करता है; उनका न्याय उनके विविधि हितों में एकता स्थापित करना है; वह भावी सन्तान को कला, विज्ञान, क़ानून तथा मानव संगठन के क्षेत्रों में जो मस्तिष्क ने सफलताएँ प्राप्त की हैं उन्हें विरासत के रूप में देता है; वह उन्हें एक क़बीले के जीवन से मानव शक्ति के उच्चतम रूप, साम्राज्य-शासन को पहुँचाता है। इसमें मानव के नैतिक तथा बौद्धिक जीवन की समस्त अभिव्यक्तियों का योग है। अतः राज्य का कार्य केवल इतना ही नहीं हो सकता कि वह नागरिकों में सुरक्षा तथा शान्ति क़ायम रखे। वह व्यक्ति के उस क्षेत्र का निर्देश करने के लिए जिसम वह अपने कल्पित अधिकारों का प्रयोग कर सके कोई यान्त्रिक विधि नहीं है। फ़ैसिस्ट राज्य व्यवहार तथा अनुशासन का अन्तरात्मा द्वारा स्वीकृत किया हुआ आदर्श है; सम्पूर्ण शरीर का अनुशासन है। इसका इच्छा तथा बुद्धि दोनों में प्रवेश है। फ़ैसिज़्म एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जो सभ्य समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य का, उसके व्यक्तित्व मे गहरा समा कर, केन्द्रीय उद्देश्य बन जाता है। यह कर्मयोगी तथा विचारक के हृदय में तथा कलाकार और वैज्ञानिक की आत्मा मे निवास करता है, वह उसकी आत्मा की भी आत्मा है।" (फ़ैसिज़्म का सिद्धान्त)। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके आलोक में यह कहा जा सकता है: "प्रत्येक चीज़ राज्य के लिये है; राज्य के विरुद्ध कोई भी चीज़ नहीं है; राज्य के बाहर भी कुछ नहीं है।"

फ़ैसिज़्म के आर्थिक सिद्धान्त—

फ़ैसिज़्म के आर्थिक सिद्धान्त उसके राजनीतिक सिद्धान्त के ही अनुरूप हैं। वे आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का उसी प्रकार खण्डन करते हैं जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का उसके राजनीतिक सिद्धान्त खण्डन करते हैं। फ़ैसिज़्म व्यक्तिवाद के उतना ही विरुद्ध है

जितना कि समाजवाद के। वह पूँजीवाद की समाजवादी आलोचना को स्वीकार करता है ; परन्तु समाजवाद उनका जो समाधान बतलाता है, उसे स्वीकार नहीं करता। वह पूँजीवाद द्वारा मज़दूरों के निर्दय शोषण, उनके अल्प वेतन, लम्बे घण्टों तक काम, पूँजीपतियों के अत्यधिक मुनाफ़े आदि पूँजीवादी प्रणाली के परिणामों की निन्दा करता है। वह समाजवाद की इस उक्ति को भी मानता है कि पूँजीवाद के गर्भ में उसके नाश के बीज हैं और यदि इसका नियन्त्रण नहीं किया गया तो इससे मानव जाति तथा सभ्यता का नाश हो जायगा। परन्तु वह समाजवाद के इस समाधान को स्वीकार नहीं करता कि पूँजीवादी वर्ग का नाश कर दिया जाय। वह यह मानता है कि देश मे उत्पादन के चरमोत्कर्ष के लिए इस वर्ग की आवश्यकता है। यह पूँजी के राष्ट्रीयकरण तथा स्थानीयकरण को विशुद्ध सैद्धान्तिक मानता है जिसका व्यवहार में प्रयोग सम्भव नहीं है। उसके विचार में यह मानव-शक्ति के बाहर की बात है। फ़ैसिज़्म वर्गहीन समाज की समाजवादी योजना को नहीं मानता। उसकी दृष्टि में सामाजिक अभिवृद्धि के लिए मजदूर-वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग दोनों की आवश्यकता है। वह दोनो वर्गों की रक्षा करना और समाज के लक्ष्यों की पूर्ति में उनका सामजस्यपूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए उनके कार्यों का नियमन करना चाहता है। इस प्रकार वह मज़दूर तथा उद्योगपति वर्ग दोनों के अधिकारों की रक्षा के लिए उत्सुक हैं। जहाँ एक ओर वह मज़दूरों को भूखों मरते नहीं देख सकता और न पूँजीपतियों द्वारा निर्दयतापूर्वक उनका आर्थिक शोषण ही होने देना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर वह मज़दूरों द्वारा पूँजीपतियों का खात्मा कर देने तथा उद्योगों के मज़दूरों के हित में ही सचालन करने की नीति का विरोधी है। इस प्रकार फ़ैसिज़्म न तो उद्योगपतियों को अपने हित में उद्योगों पर आधिपत्य तथा नियन्त्रण करने देता है और न उद्योगों को मज़दूर-संघों (Trade Unions) के हाथों मे ही जाने देता है। वह मज़दूरों तथा मालिकों दोनों को राज्य के नियन्त्रण एवं नियमन मे रखता है। फ़ैसिज़्म "राज्य का समाज के सामाजिक जीवन तथा आर्थिक जीवन के नियन्त्रण का अंतिम अधिकार मानते हुए आर्थिक मामलों को जहाँ तक सम्भव है व्यक्तिगत उद्योगपतियों के हाथों में ही रहने देना चाहता है।" *

---

*Cole : Reviem of Europe Today, p. 633.

राष्ट्र में उत्पादन शक्ति को उच्चतम स्तर पर बनाये रखने तथा आर्थिक स्वाधीनता की एक आवश्यक शर्त के रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में फ़ैसिज़्म व्यक्तिवाद (Individualism) से सहमत है, परन्तु वह इस अधिकार को बिलकुल निर्विवाद नहीं मानता। फ़ैसिज़्म व्यक्तिवाद से इस बात में भिन्न है कि वह सब प्रकार की सम्पत्ति को एक प्रकार से सार्वजनिक निक्षेप (Trust) मानता है जो सदा राष्ट्रीय हितों की अधीनता में व्यक्ति के पास रहती है। इस प्रकार फ़ैसिज़्म बड़े उद्योग-व्यवसायों पर नियन्त्रण करता है और समाजवाद के समीप आ जाता है। यह फ़ैसिज़्म का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़ैसिज़्म धनोपार्जन को मानवीय उद्योग का सच्चा लक्ष्य नहीं मानता। वह अधिकतम राष्ट्रीय सम्पत्ति की अभिवृद्धि को एक स्वस्थ सामाजिक प्रणाली की अभिवृद्धि की, जिस पर लोक-कल्याण निर्भर है, अधीनता में रखता है।

यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि इटली में उद्योगों का नियन्त्रण निगमों द्वारा होता था। क़ानून द्वारा हड़तालों तथा मिलबन्दी (Lock-outs) का निषेध था।

फ़ैसिज़्म का बुद्धिवाद-विरोध—

यहाँ यह उचित होगा कि फ़ैसिज़्म के बुद्धिवाद-विरोध अथवा अबौद्धिकवाद (Anti-Intellectualism of Irrationalism) के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाल दिया जाय जो फ़ैसिज़्म का एक मुख्य लक्षण है और इसके राज्य के सिद्धान्त की आदर्शवादी प्रवृत्ति से असंगत है। इसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। सबसे प्रथम, इसका यह अर्थ है कि फ़ैसिज़्म का किसी निरपेक्ष सत्य या कुछ निरपेक्ष सत्यों में विश्वास नहीं है जिनकी तर्क द्वारा खोज की जा सके और दूसरों को बतलाई जा सके। फ़ैसिज़्म के निश्चित सिद्धान्तों के अभाव का एक कारण शायद बुद्धि में अविश्वास भी है। उसके विचार में जिसको राज्य सत्य कहे वही सत्य है। दूसरे, इस बुद्धिवाद-विरोध से यह प्रकट होता है कि कम से कम राजनीति में मनुष्य के विचारात्मक तथा विवेकात्मक पक्ष की अपेक्षा उसकी अन्तर्जात प्रवृत्ति तथा उसका अविवेकी पक्ष ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए राजनीतिक सत्ता संस्थागत होने की अपेक्षा व्यक्तिगत होनी चाहिए। समस्त राजनीतिक प्रक्रिया बुद्धि की अपेक्षा

भावना तथा इच्छा के क्षेत्र मे होनो चाहिए। इस प्रकार फ़ैसिज़्म इस प्रजातन्त्रीय विचार का खण्डन करता है कि शासन सम्बन्धी समस्याओं का विवेकपूर्ण समाधान विचार-विमर्श तथा बहस के द्वारा सम्भव है। इस आधार पर वह शासन के सांसद रूप पर आक्षेप करता है। यह पार्लामैंट का कार्य नहीं है कि वह सभा-भवन मे विचार, बहस तथा मतदान द्वारा साधारण इच्छा का निर्धारण तथा उसकी अभिव्यक्ति करे और उस इच्छा को प्रबन्धक विभाग पर लादे। वास्तव में पार्लामैंट का कार्य तो राष्ट्रीय विचार के व्यक्तियों के भावों एवं विचारों को शासन के इस अङ्ग के सामने अभिव्यक्त करता है। राष्ट्र की इच्छा को प्रकट करने के माध्यम के रूप मे पार्लामैंट वृथा है। तीसरे, यदि राजनीतिक प्रक्रिया मनोभाव के क्षेत्र मे ही होती है, तो नेता को चाहिए कि वह बुद्धिपरक तर्कों द्वारा नहीं, वरन् जनता के मनोभावों को स्पर्श करने वाले साधनों से काम ले। जहाँ तक जनता से सम्बन्ध है, राजनीतिक आन्दोलन के पीछे जो शक्ति होती है, वह उसकी बुद्धि से नहीं वरन् कट्टर-वादिता से प्राप्त होती है। इस कारण फ़ैसिस्ट नेता को लोगों के सामने सुझाव रखने, उन पर मोहन-यन्त्र का प्रयोग करने तथा प्रचार करने की कलाओं मे पारगत होना चाहिये। उसे विद्वान् तथा सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक तथा एक अच्छा सङ्गठनकर्ता होना चाहिये।

फैसिस्ट रीतियाँ—

फ़ैसिज़्म अपने बुद्धिवाद-विरोध और राज्य की एक सत्ता के रूप में कल्पना के कारण दमन तथा दबाव को राजकीय कार्य को सर्वोत्तम रीति समझता है। चूँकि उसके विचार मे जनता में बुद्धि बहुत कम होती है इसलिये वह यह सम्भव नहीं समझता कि बुद्धिवाद तथा नैतिक साधनों द्वारा कार्य हो सकेगा। फ़ैसिज़्म बल-प्रयोग के द्वारा शासन करता है। और इसके लिए वह आवश्यकतानुसार जासूसी तथा इसी प्रकार की अन्य रीतियों का प्रयोग करने में कभी नहीं हिचकता। यदि जनता शासन को प्रेम नहीं करती तो उसमें शासन के प्रति भय पैदा करना चाहिए। राजनीतिक नेता का सर्वोच्च कर्तव्य अपने पक्ष में लोक-समर्थन प्राप्त करना नहीं, वरन् अपने प्रति सम्मान का भाव तथा जनता में आज्ञापालन की भावना का प्रादुर्भाव करना है और इसके लिए वह सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सकता है।

यह समझना वास्तव मे एक महान् भूल होगी फ़ैसिस्ट अपने ध्येय की पूर्ति के लिये विशुद्ध आतंकवाद और दमन का प्रयोग करते हैं। शक्ति और दमन उनके अन्तिम अस्त्र नही है। और उनका प्रयोग तभी किया जाता है जब कि उनके दूसरे साधन विफल हो जाते हैं। साधारणतया वे एक बड़ी सीमा तक प्रचार (Propaganda) पर निर्भर रहते हैं, जिसे उन्होंने एक ललित कला का रूप दे दिया है। समस्त फ़ैसिस्ट देशों में एक प्रचार-सचिवालय होता है, जिसका मन्त्री बहुत ही कार्यपटु व्यक्ति होता है। यही नहीं, वे बाल्यकाल से ही बालकों के मन पर फ़ैसिज़्म का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। फ़ैसिस्ट शासन की सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली का नियोजन इस प्रकार से किया गया है कि बाल्यावस्था से ही उनमे फ़ैसिस्ट विचारों के संस्कार पड़ जायॅ और उनमे राष्ट्रीय राज्य के आदर्श एवं सिद्धान्तों के लिये उत्कट भावना उत्पन्न हो जाय। उसका ध्येय बुद्धि का विकास करना ही नही, वरन् सबल शरीर तथा चरित्र का निर्माण करना है। यह बात उनके किसी वस्तुगत तथा नित्य सत्य के निषेध के अनुकूल ही है।

फ़ैसिज़्म के कुछ अन्य लक्षण

(१) फ़ैसिस्ट राष्ट्रीयता—

फ़ैसिज़्म अपनी प्रकृति में तीव्र रूप मे राष्ट्रीय है। वह राष्ट्रीय राज्य को सर्वोच्च राजनीतिक सगठन और प्रभुत्वसम्पन्न मानता है। वह राज्य के प्रति भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की भक्ति को स्वीकार नहीं करता, चाहे वह अपनी अन्तरात्मा के प्रति हो या कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के प्रति। जर्मन या इटालियन, चाहे जिस देश में वह रहे, वह प्रथम और अन्तिम रूप मे जर्मन राइक का या इटालियन साम्राज्य का सदस्य है और उसके प्रतिभक्ति रखता है। इस प्रकार की राष्ट्रीयता संकुचित है और वह अन्तर्राष्ट्रीयता की शत्रु बन जाती है।

(२) फ़ैसिस्ट पार्लामैंट—

फ़ैसिस्ट पार्लामैंट का प्रजातन्त्रीय शासन की भांति राष्ट्रीय पार्लामैंट को शासन पर नियन्त्रण तथा नियमन का कोई अधिकार नहीं होता।

उसके कार्य तो (१) शासन द्वारा जो निर्णय उससे परामर्श किये बिना ही किए गये हैं उन्हें स्वीकार कर लेना तथा (२) समय-समय पर राजनीतिक नेता के वक्तव्यों तथा घोषणाओं के लिए मंच प्रदान करना। पार्लामैंट की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है और वह फ़ैसिस्ट मशीन के एक साधारण से अधीन अङ्ग मात्र से अधिक कुछ नहीं है। वह ऐसी सभा नहीं है जहाँ राष्ट्रीय नीतियों पर विचार किया जाता हो तथा निर्णय किये जाते हों। वह राष्ट्र की आकांक्षा का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है। उसके निर्माण के प्रश्न पर विचार करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है परन्तु इतना तो कहा जा सकता है उसमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता जो फ़ैसिस्ट पार्टी को स्वीकार न हो।

(३) फ़ैसिस्ट पार्टी—

फ़ैसिज़्म ऐसे किसी भी राजनीतिक दल या दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता जिसके सिद्धान्त तथा कार्य-क्रम उसके विरुद्ध हैं। इटली में राज-सत्ता प्राप्त करने के बाद जो पहला कार्य मुसोलिनी ने किया ; वह था समस्त विरोध का अन्त। इस प्रकार वहाँ फ़ैसिस्ट पार्टी ही अकेली राजनीतिक पार्टी रह गई जिसने समस्त राष्ट्रीय जीवन पर ऐसा आधिपत्य स्थापित किया जिसका प्रजातन्त्रीय राज्य में कोई उदाहरण नहीं मिलता। यह फ़ैसिस्ट राज्य की केन्द्रीय संस्था होती है ; एक प्रकार से शासन तथा फ़ैसिस्ट पार्टी एक ही वस्तु होती है। पार्टी के संगठन तथा कार्य-क्रम के सम्बन्ध में हमें विस्तार के साथ विचार करना अभिप्रेत नहीं है।

फ़ैसिज़्म मज़दूरों द्वारा हड़ताल करने के अधिकार को नहीं मानता और न वह उद्योगपतियों द्वारा मिलबन्दी को ही स्वीकार करता है। राष्ट्रीय उत्पादन को अधिकतम करने के लिए वह इन दोनों में सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस ध्येय की प्राप्ति का प्रयत्न निगमों द्वारा किया जाता है। उद्योगपतियों तथा मज़दूरों के बीच जो विवाद होते हैं, वे पंचायती निर्णय के लिए एक न्यायालय को सौंप दिए जाते हैं।

(४) फ़ैसिस्ट अधिनायकतन्त्र—

यद्यपि फ़ैसिज़्म व फ़ैसिस्ट अधिनायकतन्त्र एक ही वस्तु नहीं है तो भी

व्यवहार में फ़ैसिस्ट शासन अधिनायकीय होता है। इटली में मुसोलिनी की इच्छा सर्वोपरि थी और उसकी सत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता था। जर्मनी में राज्य की समस्त सत्ता हिटलर के हाथों में केन्द्रित थी। फ़ैसिस्ट राज्य सर्वस्वायत्तवादी होता है और एक सर्व-स्वायत्तवादी राज्य अधिनायकीय होता है। फ़ैसिज़्म तथा नात्सीवाद को इटली तथा जर्मनी में जो सफलता मिली थी वह अधिनायकीय शासन का ही परिणाम था।

फ़ैसिज़्म की सफलता और उसका भविष्य—

फ़ैसिज़्म ने इटली के लिए तथा नात्सीवाद ने जर्मनी के लिए बहुत कुछ किया। उसने इटली को वह चीज़ दी जिसकी उसे बड़ी आवश्यकता थी—निपुण शासन-प्रबन्ध ; आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा ; उन्नत राष्ट्रीय राजस्व, अधिकतम औद्योगिक उत्पादन तथा देश के प्राकृतिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग ; मज़दूरों एवं मालिकों के बीच सामंजस्य-पूर्ण सम्बन्ध, यातायात के अच्छे साधन, अच्छे राजपथ, पुल तथा नालियाँ, विदेशों में सम्मान एवं गौरव ; "संक्षेप में, इटालियन राष्ट्र के भाग्य में गौरव की अनुभूति"। इसने मरणासन्न राष्ट्र को जीवन-दान दिया है। इसने जनता में एक नवीन उत्साह तथा एक नवीन एकता को जागृत किया है। इन कारणों से फ़ैसिज़्म का एक ऐसे अधिनायक के शासन के रूप मे गौरवगान किया जाता था जिसमें कार्य-सम्पादन कराने की क्षमता थी। फ़ैसिज़्म ने अपनी कार्य करने की शक्ति मे निस्सन्देह सांसद प्रजातन्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर को जो सफलता मिली थी उनके लिए उन्हें अवश्य श्रेय देना चाहिए। उनके जैसे उदाहरण इतिहास में नहीं मिलते।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। फ़ैसिज़्म के आलोचक समाज में बल तथा दमन की प्रतिष्ठा के दोषों की ओर संकेत करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक कार्य में फ़ैसिज़्म बल को सबसे बड़ा साधन मानता है किन्तु केवल बल-प्रयोग से अच्छे स्थायी परिणाम प्राप्त नहीं होते। एक इटालियन विद्वान् की उक्ति है कि 'बल ने जिसका निर्माण किया है, उसका उसने नाश भी किया है।' यह सत्य है। मुसो-लिनी और हिटलर ने बल के आधार पर जो ढाँचा तैयार किया था,

वह उनके बाद नहीं रहा। कुछ विद्वानों की राय है कि फ़ैसिस्ट राज्य एक इञ्जन के समान था जिसका निर्माण तेज़ गति तथा आक्रमण के लिये किया गया था, स्थायित्व के लिये नहीं। बल तथा भय के आधार पर समाज अधिक समय तक संगठित नहीं रह सकता। केवल न्याय और सदाचार ही राज्य के स्थायी आधार हैं। बल राज्य का स्थायी आधार तभी बन सकता है जब कि मनुष्य जाति के विचारों तथा भावनाओं में ऐसा स्थायी परिवर्तन हो जाय कि वे स्वशासन के स्थान पर निरकुश राज्य को पसन्द करने लगें। किन्तु यह मानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि इस प्रकार का परिवर्तन जनता की मनोवृत्ति मे हो गया है या हो रहा है।

बल तथा उससे उत्पन्न भय उस वातावरण को नष्ट कर देते हैं जिसमें कला और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृत की अभिवृद्धि होती है। कोकर ने कहा है कि अधिनायकतन्त्र एक सगठित दण्ड गृह के समान है जिसमें प्रत्येक निवासी को एक कार्य सौप दिया जाता है और उसकी गतिविधि पर बड़ी सतर्कता से दृष्टि रखी जाती है। यह व्यवस्था समाज के अपराधी तथा दोषी व्यक्तियों के लिये तो ठीक है परन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिये, विशेषकर उच्च व्यक्तियों के लिये, यह ठीक नही है। राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रीभूत तथा दमनकारी निर्देशन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य एवं कला के विकास की सम्भावना के लिये घातक है।'*

यह भी दावा किया जासकता है कि जिन लोगों ने स्वतन्त्रता के फल का स्वाद लिया है, वे इस प्रकार की राजनीतिक दासता मे रहना पसन्द नहीं करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिनायकतन्त्र ऐसी जनता में ही पनप सका है जिसमें सांसद शासन-पद्धति ने जड़ नहीं पकड़ी थी। ऐसा विश्वास करना कि अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र के बाद तक जीवित रह सकेगा इस बात से इन्कार करना है कि हम सभ्यता में उन्नति कर रहे हैं जिसका स्पष्ट अर्थ है भौतिक बल के स्थान पर तर्क, बुद्धि एवं अनुनय का प्रयोग। अधिनायकतन्त्र में कुछ ऐसे दोष भी हैं जो उसे अधिक दिन जीवित नहीं रहने देंगे। एक दोष तो इस तथ्य से पैदा होता है कि निरंकुश सत्ता उसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को बिगाड़ देती है और कर्त्तव्य भ्रष्ट कर देती है। अधिनायक इस सिद्धान्त

* Coker : Recent Political Thought. p, 490.

के अपवाद नहीं हैं; समय की गति के साथ उनका भी पतन हो जायगा। एक दूसरी समस्या जिसका इस प्रणाली को सामना करना पड़ता है यह है कि एक अधिनायक की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन होगा। इटली में दूसरा कोई मुसोलिनी नहीं हो सकता और न जर्मनी में दूसरा हिटलर। अधिनायक निर्मूल वृक्ष है। उसकी शक्ति के सम्बन्ध में निर्णय देने से पूर्व हमें उस स्थिति की कल्पना करनी चाहिए जो उसकी मृत्यु के बाद उपस्थित होगी। अन्त मे, यह प्रणाली स्वतन्त्रता का विनाश कर देती है, इस प्रकार की स्थिति सब प्रकार की प्रगति के प्रतिकूल है। जनता उसके अत्याचारी शासन को उसी समय तक सहन करेगी जब तक कि उसका समर्थन करने वाला मनोभाव क़ायम रहेगा। यह कहना कठिन है कि उस मनोभाव के नष्ट हो जाने पर क्या स्थिति होगी। अधिनायक द्वारा अपने देश के नागरिकों को एक नमूने में ढालने का प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता। ऐसा करने का अर्थ होगा व्यक्तियों को पशु बना देना।

अतः हम कह सकते हैं कि कहीं-कहीं कुछ परिस्थितियों में फ़ैसिज़्म उपयोगी सिद्ध हो सकता है, परन्तु इस बात में सन्देह है कि यह अधिक समय तक सभी लोगों के लिये एक सामान्य शासन-प्रणाली हो सकती है। इसका कारण यह है कि यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आत्म-अनुशासन तथा मानवीय एकता के आदर्श का जिसका प्रजातन्त्रीय देश आदर करते हैं, बहुत कम मूल्य समझता है। इस प्रकार फ़ैसिज़्म संकट काल के लिए एक अच्छी अस्थायी व्यवस्था भले ही हो; परन्तु सामान्य लोगों के लिए यह साधारण राजनीतिक व्यवस्था नहीं बन सकता।

फ़ैसिज़्म के विनाश के बाद जो कुछ इटली में हुआ है उससे इस मत की पुष्टि होती है कि अधिनायकीय शासन वैयक्तिक विकास के अनुकूल नहीं होता। मुसोलिनी के शासन के पतन के बाद इटली में जनता की रचनात्मक शक्ति आश्चर्यजनक रीति से फूट निकली है। इटली के शिल्पियों, चित्रकारों, लेखकों आदि ने युद्ध के बाद योरोप को अपनी कलाओं के चमत्कार दिखाये हैं। सिनेमा के एक निर्देशक ने कहा था, "यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि हम सुन्दर चल-चित्र बनाते हैं। फ़ैसिज़्म के अधीन रहना तो शून्य में रहने के समान था। अब हम मुक्त हो गये हैं और हमारे लोग प्रगति कर रहे हैं।"

अध्याय १५

शासनों का आधुनिक वर्गीकरण

प्लेटो के समय राज्यों का एकतंत्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में जो वर्गीकरण किया जाता रहा है, वह आजकल उपयुक्त नहीं रहा। उसके स्थान पर अन्य वर्गीकरण किए गये हैं, जिनमें वर्तमान अवस्थाओं तथा परिवर्तनों का पूरा विचार किया गया है। इस अध्याय में शासनों के आधुनिक वर्गीकरणों तथा उनके गुण-दोषों पर भी विचार करेंगे।

राजकीय सत्ताओं के केन्द्रीयकरण तथा वितरण के आधार पर एकात्मक तथा संघीय शासनों मे भेद माना गया है; कार्य-पालिका तथा विधान-मण्डल या व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर परिषद्-शासन (सांसद शासन) तथा राष्ट्रपति-शासन (Cabinet or Parliamentary and Presidential or Congressional) के भेद माने गये हैं। इसके अतिरिक्त स्विट्ज़रलैंड तथा रूस में न तो परिषद्-शासन है, न राष्ट्रपति-शासन ही। उन्हे एक पृथक् वर्ग में रखनों पड़ेगा। यह दो प्रकार का वर्गीकरण एक दूसरे का अतिक्रमण करता है। एकात्मक शासन परिषद्-शासन अथवा राष्ट्रपति-शासन हो सकता है। इसी प्रकार संघीय शासन भी दोनों में से किसी एक रूप का हो सकता है। ब्रिटिश शासन एकात्मक तथा सांसद है। कनाडा का शासन सांसद तथा सघीय है। संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन संघीय तथा राष्ट्रपति-शासन है। मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के अनेक देशों के शासन एकात्मक तथा राष्ट्रपति-शासन हैं। भारत का शासन संघीय तथा सांसद है।

एकात्मक तथा संघीय शासन

एकात्मक शासन—

जिस शासन में शासन की समस्त सत्ताओं का प्रयोग एक

व्यवहार में फ़ैसिस्ट शासन अधिनायकीय होता है। इटली में मुसोलिनी की इच्छा सर्वोपरि थी और उसकी सत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता था। जर्मनी में राज्य की समस्त सत्ता हिटलर के हाथों में केन्द्रित थी। फ़ैसिस्ट राज्य सर्वस्वायत्तवादी होता है और एक सर्व-स्वायत्तवादी राज्य अधिनायकीय होता है। फ़ैसिज़्म तथा नात्सीवाद को इटली तथा जर्मनी में जो सफलता मिली थी वह अधिनायकीय शासन का ही परिणाम था।

फ़ैसिज़्म की सफलता और उसका भविष्य—

फ़ैसिज़्म ने इटली के लिए तथा नात्सीवाद ने जर्मनी के लिए बहुत कुछ किया। उसने इटली को वह चीज़ दी जिसकी उसे बड़ी आवश्यकता थी—निपुण शासन-प्रबन्ध; आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा; उन्नत राष्ट्रीय राजस्व, अधिकतम औद्योगिक उत्पादन तथा देश के प्राकृतिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग; मज़दूरों एवं मालिकों के बीच सामंजस्य-पूर्ण सम्बन्ध, यातायात के अच्छे साधन, अच्छे राजपथ, पुल तथा नालियाँ, विदेशों में सम्मान एवं गौरव; "संक्षेप में, इटालियन राष्ट्र के भाग्य में गौरव की अनुभूति"। इसने मरणासन्न राष्ट्र को जीवन-दान दिया है। इसने जनता में एक नवीन उत्साह तथा एक नवीन एकता को जाग्रत किया है। इन कारणों से फ़ैसिज़्म का एक ऐसे अधिनायक के शासन के रूप में गौरवगान किया जाता था जिसमें कार्य-सम्पादन कराने की क्षमता थी। फ़ैसिज़्म ने अपनी कार्य करने की शक्ति में निस्सन्देह सांसद प्रजातन्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर को जो सफलता मिली थी उनके लिए उन्हें अवश्य श्रेय देना चाहिए। उनके जैसे उदाहरण इतिहास में नहीं मिलते।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। फ़ैसिज़्म के आलोचक समाज में बल तथा दमन की प्रतिष्ठा के दोषों की ओर संकेत करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक कार्य में फ़ैसिज़्म बल को सबसे बड़ा साधन मानता है किन्तु केवल बल-प्रयोग से अच्छे स्थायी परिणाम प्राप्त नहीं होते। एक इटालियन विद्वान् की उक्ति है कि 'बल ने जिसका निर्माण किया है, उसका उसने नाश भी किया है।' यह सत्य है। मुसो-लिनी और हिटलर ने बल के आधार पर जो ढाँचा तैयार किया था,

वह उनके बाद नहीं रहा। कुछ विद्वानों की राय है कि फ़ैसिस्ट राज्य एक इञ्जन के समान था जिसका निर्माण तेज़ गति तथा आक्रमण के लिये किया गया था, स्थायित्व के लिये नहीं। बल तथा भय के आधार पर समाज अधिक समय तक संगठित नहीं रह सकता। केवल न्याय और सदाचार ही राज्य के स्थायी आधार हैं। बल राज्य का स्थायी आधार तभी बन सकता है जब कि मनुष्य जाति के विचारों तथा भावनाओं में ऐसा स्थायी परिवर्तन हो जाय कि वे स्वशासन के स्थान पर निरकुश राज्य को पसन्द करने लगें। किन्तु यह मानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि इस प्रकार का परिवर्तन जनता की मनोवृत्ति मे हो गया है या हो रहा है।

बल तथा उससे उत्पन्न भय उस वातावरण को नष्ट कर देते हैं जिसमें कला और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृत को अभिवृद्धि होती है। कोकर ने कहा है कि अधिनायकतन्त्र एक सगठित दण्ड-गृह के समान है जिसमें प्रत्येक निवासी को एक कार्य सौंप दिया जाता है और उसकी गतिविधि पर बड़ी सतर्कता से दृष्टि रखी जातो है। यह व्यवस्था समाज के अपराधी तथा दोषी व्यक्तियो के लिये तो ठीक है परन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिये, विशेषकर उच्च व्यक्तियों के लिये, यह ठीक नहीं है। राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रीभूत तथा दमनकारी निर्देशन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य एवं कला के विकास की सम्भावना के लिये घातक है।'*

यह भी दावा किया जासकता है कि जिन लोगों ने स्वतन्त्रता के फल का स्वाद लिया है, वे इस प्रकार की राजनीतिक दासता मे रहना पसन्द नहीं करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिनायकतन्त्र ऐसी जनता में ही पनप सका है जिसमें सांसद शासन-पद्धति ने जड़ नहीं पकड़ी थी। ऐसा विश्वास करना कि अधिनायकतन्त्र प्रजातन्त्र के बाद तक जीवित रह सकेगा इस बात से इन्कार करना है कि हम सभ्यता में उन्नति कर रहे हैं जिसका स्पष्ट अर्थ है भौतिक बल के स्थान पर तर्क, बुद्धि एवं अनुनय का प्रयोग। अधिनायकतन्त्र मे कुछ ऐसे दोष भी हैं जो उसे अधिक दिन जीवित नहीं रहने देंगे। एक दोष तो इस तथ्य से पैदा होता है कि निरंकुश सत्ता उसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति को बिगाड़ देती है और कर्त्तव्य भ्रष्ट कर देती है। अधिनायक इस सिद्धान्त

* Coker : Recent Political Thought. p, 490.

के अपवाद नहीं हैं; समय की गति के साथ उनका भी पतन हो जायगा। एक दूसरी समस्या जिसका इस प्रणाली को सामना करना पड़ता है यह है कि एक अधिनायक की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन होगा। इटली में दूसरा कोई मुसोलिनी नहीं हो सकता और न जर्मनी में दूसरा हिटलर। अधिनायक निर्मूल वृक्ष है। उसकी शक्ति के सम्बन्ध में निर्णय देने से पूर्व हमें उस स्थिति की कल्पना करनी चाहिए जो उसकी मृत्यु के बाद उपस्थित होगी। अन्त में, यह प्रणाली स्वतन्त्रता का विनाश कर देती है, इस प्रकार की स्थिति सब प्रकार की प्रगति के प्रतिकूल है। जनता उसके अत्याचारी शासन को उसी समय तक सहन करेगी जब तक कि उसका समर्थन करने वाला मनोभाव क़ायम रहेगा। यह कहना कठिन है कि उस मनोभाव के नष्ट हो जाने पर क्या स्थिति होगी। अधिनायक द्वारा अपने देश के नागरिकों को एक नमूने में ढालने का प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता। ऐसा करने का अर्थ होगा व्यक्तियों को पशु बना देना।

अतः हम कह सकते हैं कि कहीं-कहीं कुछ परिस्थितियों में फ़ैसिज़्म उपयोगी सिद्ध हो सकता है, परन्तु इस बात में सन्देह है कि यह अधिक समय तक सभी लोगों के लिये एक सामान्य शासन-प्रणाली हो सकती है। इसका कारण यह है कि यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आत्म-अनुशासन तथा मानवीय एकता के आदर्श का जिसका प्रजातन्त्रीय देश आदर करते हैं, बहुत कम मूल्य समझता है। इस प्रकार फ़ैसिज़्म संकट काल के लिए एक अच्छी अस्थायी व्यवस्था भले ही हो; परन्तु सामान्य लोगों के लिए यह साधारण राजनीतिक व्यवस्था नहीं बन सकता।

फ़ैसिज़्म के विनाश के बाद जो कुछ इटली में हुआ है उससे इस मत की पुष्टि होती है कि अधिनायकीय शासन वैयक्तिक विकास के अनुकूल नहीं होता। मुसोलिनी के शासन के पतन के बाद इटली में जनता की रचनात्मक शक्ति आश्चर्यजनक रीति से फूट निकली है। इटली के शिल्पियों, चित्रकारों, लेखकों आदि ने युद्ध के बाद योरोप को अपनी कलाओं के चमत्कार दिखाये हैं। सिनेमा के एक निर्देशक ने कहा था, "यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि हम सुन्दर चल-चित्र बनाते हैं। फ़ैसिज़्म के अधीन रहना तो शून्य में रहने के समान था। अब हम मुक्त हो गये हैं और हमारे लोग प्रगति कर रहे हैं।"

अध्याय १५

शासनों का आधुनिक वर्गीकरण

प्लेटो के समय राज्यों का एकतंत्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र में जो वर्गीकरण किया जाता रहा है, वह आजकल उपयुक्त नहीं रहा। उसके स्थान पर अन्य वर्गीकरण किए गये हैं, जिनमें वर्तमान अवस्थाओं तथा परिवर्तनों का पूरा विचार किया गया है। इस अध्याय में शासनों के आधुनिक वर्गीकरणों तथा उनके गुण-दोषों पर भी विचार करेंगे।

राजकीय सत्ताओं के केन्द्रीयकरण तथा वितरण के आधार पर एकात्मक तथा संघीय शासनों में भेद माना गया है, कार्य-पालिका तथा विधान-मण्डल या व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर परिषद्-शासन (सांसद शासन) तथा राष्ट्रपति-शासन (Cabinet or Parliamentary and Presidential or Congressional) के भेद माने गये हैं। इसके अतिरिक्त स्विट्ज़रलैंड तथा रूस में न तो परिषद्-शासन है, न राष्ट्रपति-शासन ही। उन्हें एक पृथक् वर्ग में रखना पड़ेगा। यह दो प्रकार का वर्गीकरण एक दूसरे का अतिक्रमण करता है। एकात्मक शासन परिषद्-शासन अथवा राष्ट्रपति-शासन हो सकता है। इसी प्रकार संघीय शासन भी दोनों मे से किसी एक रूप का हो सकता है। ब्रिटिश शासन एकात्मक तथा सांसद है। कनाडा का शासन सांसद तथा सघीय है। संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन सघीय तथा राष्ट्रपति-शासन है। मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के अनेक देशों के शासन एकात्मक तथा राष्ट्रपति-शासन हैं। भारत का शासन संघीय तथा सांसद है।

एकात्मक तथा संघीय शासन

एकात्मक शासन—

जिस शासन में शासन की समस्त सत्ताओं का प्रयोग एक

स्थान से किया जाता है अर्थात् जिसमें समस्त देश के लिये केवल एक सर्वोच्च विधान-मण्डल (Parliament), एक सर्वोच्च कार्य-पालिका (Supreme Executive) और सर्वोच्च न्याय-पालिका (Supreme Judiciary) होती है, उसे एकात्मक शासन कहते हैं। इस प्रकार का शासन इंगलैण्ड, फ्रान्स, हॉलैण्ड, बेलिजियम, जापान, तुर्की और कुछ योरोपीय तथा दक्षिण अमरीका के देशों में विद्यमान है। एकात्मक शासन का मुख्य लक्षण राष्ट्रीय शासन की अविभाजित सत्ता है। उसमें कोई अधीन संस्था ऐसी नहीं हो सकती जिसमें प्रभुत्व हो। समस्त सत्ता केवल एक स्रोत से प्राप्त होती है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शासन की सुविधा के लिए देश का कुछ विभागों मे विभाजन न हो जिनमें से प्रत्येक को कुछ व्यवस्थापिका, न्याय तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हों। ब्रिटिश भारत कई प्रान्तो मे विभाजित था, जिनमें अधिकांश में गवर्नर होते थे; उनकी सहायता के लिए उनकी सलाहकार परिषदें तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाऐं होती थी और अलग न्यायालय भी होते थे। इन प्रान्तीय सरकारों को जो सत्ताऐं प्राप्त थीं वे उन्हें भारत सरकार से मिलीं थीं, किसी संविधान द्वारा नहीं दी गईं थी। वे एक प्रकार से केन्द्रीय सरकार की ओर से दानरूप मे थी और उन्हें वह चाहे तब वापस ले सकती थी। प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी थी। वे प्रभुत्व-पूर्ण संस्थाऐं नहीं थीं। वे किसी भी सत्ता का अधिकार के रूप मे अपना दावा नहीं कर सकती थीं। अतः यह कहा जा सकता है कि एकात्मक शासन की यह विशेषता है कि उसमे सदा एक केन्द्रीय संस्था द्वारा सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग किया जाता है और उसमें छोटी प्रभुत्व-सम्पन्न संस्थाऐं नहीं होतीं। उसमें स्थानीय संस्थाऐं हो सकती हैं, परन्तु ये संस्थाऐं केन्द्रीय सरकार के अधीन होती हैं, स्वतन्त्र नहीं। उसमे केन्द्रीय तथा स्थानीय संस्थाओं के बीच शासन सत्ता का संविधान द्वारा विभाजन नहीं हो सकता।

संघीय शासन—

संघीय शासन वह होता है जिसमे केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों के बीच सत्ता का विभाजन संविधान द्वारा होता है और प्रत्येक स्थानीय सरकार अपने क्षेत्र मे प्रभुत्व-सम्पन्न होती है। स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सत्ता द्वारा स्थापित नहीं की जातीं; उन्हें सीधे संविधान द्वारा

सत्ता प्राप्त होती है। केन्द्रीय शासन इस सत्ता मे किसी प्रकार की घटा बढ़ी नहीं कर सकता। वे स्वशासित संस्थाऐं होती हैं और उनमें से प्रत्येक की अपनी व्यवस्थापिका, कार्य-पालिका तथा न्याय-पालिका होती हैं, जो संघीय (केन्द्रीय) शासन की व्यवस्थापिका, कार्य-पालिका तथा न्याय-पालिका से पृथक् एवं स्वतन्त्र होती हैं। इस प्रकार संघ-शासन में शासन-सत्ता का प्रयोग एक ही समय अनेक केन्द्रों से होता है। ऐसे शासन में नागरिक की भक्ति दो सत्ताओं के प्रति होती है। उसे उस राज्य या प्रान्त के शासन के प्रति भक्ति रखनी पड़ती है जिसमें उसका जन्म या आवास होता है, उसे उसके क़ानूनों का पालन करना पड़ता है तथा कर आदि देना पड़ता है। इसके साथ ही उसे केन्द्रीय या सघीय शासन द्वारा निर्मित क़ानूनों का भी पालन करना पड़ता है और उसे कर देने पड़ते हैं। इस प्रकार उसकी दोहरी नागरिकता तथा दोहरी भक्ति होती है। ऐसा इसलिए है कि सघ-शासन प्रणाली के अन्तर्गत अनेक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य एक सामान्य प्रभुत्व-सम्पन्न सघ की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। जो राज्य सघ मे सम्मिलित हो जाते हैं, वे अपने आन्तरिक शासन-प्रबन्ध मे प्रभु बने रहते हैं; किन्तु अन्य राज्यों के सम्बन्ध में अपने पृथक् अस्तित्व को एक नवीन राज्य बनाकर उसमे विलीन कर देते हैं। आस्ट्रेलिया, स्विट्ज़रलैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका आदि इस शासन-प्रणाली के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण हैं। भारत मे भी संघ-शासन है।

सत्ता का वितरण—

सघ-प्रणाली के आवश्यक तत्वों के सम्बन्ध में हम विचार कर चुके हैं और उनकी पुनरावृति करना व्यर्थ होगा। यहाँ हम केवल सत्ता वितरण के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे जिसके द्वारा एकात्मक शासन तथा संघीय शासन में मुख्य भेद स्थापित होता है। शासन-सत्ताओं का सघीय राज्य तथा उसके विधायक अंगों में दो प्रकार से वितरण हो सकता है। जिस संविधान द्वारा सघ की स्थापना की जाती है, वह संघ को दिये गए अधिकारों एवं सत्ताओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर देता है और शेष सब (अवशिष्ट) सत्ताऐं (Residuary Powers) संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यो के पास छोड़ दी जाती हैं। दूसरा प्रकार यह है कि संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की सत्ताओं

हो सकते हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि संघीय शासन आवश्यक रूप से प्रजातांत्रिक होना चाहिए। प्रजातांत्रिक राज्य ही मिल कर संघ बना सकते हैं जिसमें सबों को समान स्थिति अधिकार एवं सत्ता प्राप्त होती है। संघ समान राज्यों का सगठन होता है। ऐसा सघीय सम्विधान, जो असमान राज्यों या ऐसे राज्यों को एक सङ्गठन में रखना चाहता है जिनकी शासन-प्रणाली भिन्न प्रकार की है, अस्वाभाविक होता है।

एकात्मक प्रणाली के गुण तथा दोष—

एकात्मक-शासन के गुण-दोष उसकी मुख्य विशेषता अर्थात् समस्त सत्ता के केन्द्रीय शासन मे निहित होने के कारण हैं। इस कारण राज्य में क़ानूनों तथा प्रशासन में एक-रूपता होती है और देश का शासन बड़ा शक्तिशाली और स्थायी होता है। एकात्मक शासन की शक्ति वैदेशिक नीति तथा रक्षा के क्षेत्रों में स्पष्ट देखी जा सकती है जहाँ राष्ट्रीय नीति का समान प्रयोग अत्यन्त वाञ्छनीय होता है। सङ्घीय शासन के लिये यह बात सदैव आसान नहीं होती कि विदेशी राष्ट्रों के प्रति अपने दायित्वों का समुचित पालन कर सकें, विशेष रूप से उस समय जबकि उनके संबंध मे स्थानीय सरकारों की ओर से कुछ कार्यवाही आवश्यक होती है। भारत सरकार ने दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन में प्रवासी भारतीयों के प्रति होने वाले दुर्व्यवहार के निवारण के लिए जो प्रयत्न किए, वे एक सीमा तक व्यर्थ हो गये, क्योंकि यूनियन के कुछ सदस्यों ने उनका विरोध किया। इसी प्रकार जापान सरकार तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की सङ्घीय सरकार के बीच समझौता होने पर भी अमेरिका के कुछ राज्यों में जापानी प्रवासियों की अवस्था में उतना सुधार नहीं हो सका जितनी आशा थी। सत्ता के केन्द्रीयकरण और नियन्त्रण की एकता से जो सुपरिणाम निकलते हैं, वे अधिनायकतन्त्र या एकतन्त्र में विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। किन्तु एकात्मक शासन-प्रणाली फ़्रान्स तथा इङ्गलैंड जैसे प्रजातन्त्रीय देशों में भी मिलती है।

एकात्मक शासन के अन्तर्गत सङ्घीय शासन की अपेक्षा शासन-प्रबंध अधिक सस्ता और सादा होता है। सङ्घीय शासन में एक ही राज्य में दो प्रकार के अधिकारी रखना आवश्यक होता है; एक प्रकार के शासनाधिकारी केन्द्रीय शासन के मामलों के प्रबन्ध के लिए और दूसरे प्रकार के प्रान्तीय या राज्य के क्षेत्रों के विषयों के नियमन के लिए। एकात्मक

शासन के अन्तर्गत इस प्रकार अधिकारियों की दोहरी व्यवस्था नहीं होती।

एक ही केन्द्र में व्यवस्थापन तथा शासन-प्रबन्ध की सत्ताओं का प्रयोग एकात्मक प्रणाली में कुछ दोष भी पैदा कर देता है। केन्द्रीय व्यवस्थापिका को स्थानीय मामलों का उतना अच्छा ज्ञान नहीं होता जितना कि स्थानिक अधिकारियों को होता है। इसी प्रकार, शासन-प्रबंध के क्षेत्र में भी एकात्मक शासन मे स्थानीय मामलों की व्यवस्था ऐसे अधिकारियों के हाथ में रहती है जिन्हे स्थानीय मामलो का अच्छा ज्ञान नहीं होता और न उनमे रुचि ही होती है। स्थानीय शासन-प्रबन्ध में शासनाधिकारियों को केन्द्रीय सरकार से जिसके पास काम की भरमार रहती है आदेश प्राप्त करने मे बड़ी देर लग जाती है और इस कारण जो कार्य तुरन्त होने चाहिये, वे बड़ी देर में हो पाते हैं। यह वास्तव में अधिक उचित होगा कि स्थानीय विषयों के लिये शासन-प्रबन्ध तथा कानून-निर्माण की स्वतन्त्रता स्थानीय अधिकारियों को दे दी जाय, क्योंकि वे स्थानीय अवस्थाओं से भली-भांति परिचित होते हैं और उनकी व्यवस्था का कार्य सर्वोत्तम ढङ्ग से कर सकते हैं। सङ्घीय पद्धति में यह बात सम्भव है। इसी प्रकार एकात्मक शासन का एक प्रमुख दोष यह है कि इसमे स्थानीय शासन-प्रबन्ध तथा स्थानीय विषयों के लिये क़ानून निर्माण का कार्य ऐसे अधिकारियों के हाथों मे होता है, जिन्हें उनका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता और जिनके लिये उनके पास समय भी नहीं होता। इस दोष का निवारण नगर-पालिका, ज़िला-सभाओं, ग्राम-पञ्चायतों जैसी स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं के निर्माण द्वारा, अर्थात् विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) द्वारा किया जाता है। स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था भी प्रत्येक देश में एक समान नहीं है। फ्रान्स की अपेक्षा इङ्गलैंड में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के अधिकार अधिक हैं। परन्तु स्थानीय स्वशासन संस्थायें इस दोष से सर्वथा दूर नहीं रह सकतीं; उन्हें भी अपने कई कार्यों के लिए केन्द्रीय अधिकारियों पर आश्रित रहना पड़ता है।

इस प्रणाली के विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि यह "स्थानीय लोगों की अपनी ओर से कार्य करने की शक्ति का दमन करती है; सार्वजनिक मामलों में जनता की दिलचस्पी को प्रोत्साहित करने की जगह हतोत्साहित करती है, स्थानीय शासन की शक्ति को क्षीण करती है और

केन्द्रीयभूत नौकरशाही का विकास करती है।"* यह दोष हमारे देश में अंग्रेजी शासन काल में स्पष्ट देख पड़ते थे, जहाँ सरकारी हस्तक्षेप के कारण स्थानीय स्वशासन ने कोई सफलता प्राप्त नहीं की। ये दोष फ्रान्स में भी मिलते हैं, परन्तु इस सीमा तक नहीं। एकात्मक शासन-प्रणाली नागरिक स्वतन्त्रता के विकास के लिए अनुकूल नहीं है। यह बड़े देशों के लिए उपयुक्त नहीं है। यह प्रणाली ऐसे देशों में भी सफल नहीं हो सकती जिसमे विभिन्न प्रजातियों के स्थानिक स्वतन्त्रता के प्रेमी लोग रहते हैं। ऐसे राष्ट्रों के लिए संघीय प्रणाली ही सर्वोत्तम है।

संघीय शासन-प्रणाली के गुण दोष—

संघीय शासन-प्रणाली के गुण-दोष उसके मुख्य लक्षण अर्थात् केन्द्रीय तथा राज्यों (प्रान्तों) की सरकारों के बीच सत्ता के वितरण के फलस्वरूप होते हैं। यह सत्ता-वितरण लिखित संविधान द्वारा किया जाता है, जो सर्वोच्च होता है और जो स्पष्ट रूप से केन्द्रीय राज्यों के शासनों की सत्ताओं का उल्लेख कर देता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में प्रभुत्व-सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार संघ में सम्मिलित राज्यों को निर्धारित विषयों के सम्बन्ध में अपनी आवश्यकतानुसार कानून-निर्माण तथा नये राजनीतिक प्रयोगों को करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है जो एकात्मक शासन में सम्भव नहीं होती। चूंकि केन्द्रीय सरकार के अधीन ऐसे मामले होते हैं जिनके सम्बन्ध में एकरूपता परम आवश्यक है इसलिये संघीय शासन प्रणाली हमें इस योग्य बनाती है कि जहाँ आवश्यक है वहाँ हम केन्द्रीयकरण के लाभों को प्राप्त कर सकें और जहाँ विविधता है वहाँ स्थानीय स्वराज्य के लाभों को भी प्राप्त कर सकें। "इसके द्वारा विभिन्न प्रवृत्तियों वाले राज्य में केन्द्राभिमुखी और केन्द्रोन्मुखी शक्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का साधन प्राप्त होता है।"† दूसरे शब्दों में संघवाद केन्द्रीयकरण तथा स्थानीय स्वराज्य के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बीच एक प्रकार से समझौता है। केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करता है और स्थानीय स्वराज्य का सिद्धान्त संघ के अन्तर्गत राज्यों में। संघीय प्रणाली द्वारा छोटे राज्य को वे सभी लाभ प्राप्त

---

* Garner, op., cit., p. 416

† वही, पृष्ठ ४६८

हो जाते हैं जो राष्ट्रीय एकता से मिलते हैं, साथ ही साथ वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकते हैं और अपने मामलों का स्वयं प्रबन्ध भी कर सकते हैं। इस प्रणाली के पक्ष मे यह सबसे प्रबल तर्क है।

दूसरे, स्थानीय मामलों के प्रबन्ध तथा उनके विषय में क़ानून निर्माण के अधिकार एवं सत्ता केन्द्रीय शासन से लेकर उन लोगों को प्रदान करके जिनका उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, यह प्रणाली जनता में सार्वजनिक विषयों के प्रति दिलचस्पी पैदा करती है और उसकी अपनी ओर से काम करने की शक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। राज्यों को यह स्वतन्त्रता होती है कि वे क़ानून-निर्माण तथा शासन-प्रबन्ध के क्षेत्रों में नये प्रयोग कर सकें।

तीसरे, केन्द्रीय शासन के अधिकारियों पर जो कार्य-भार अधिक होता है उसे यह प्रणाली हल्का कर देती है और इस प्रकार वे राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान मे अपना समय लगा सकते हैं।

चौथे, इस प्रणाली के द्वारा बड़े देशों में जहाँ विविध जातियों के लोग रहते हैं प्रजातन्त्र को सफलता मिल जाती है। कनाडा मे अंग्रेजी-भाषी प्रोस्टेस्टैट तथा फ्रेंच भाषी कैथोलिक लोग संघीय प्रणाली के द्वारा ही अपने मतभेदों को दूर कर एक राष्ट्र का निर्माण करने मे सफल हुए। यह आशा की जाती थी कि यह प्रणाली हमारे देश की साम्प्रदायिक समस्या का भी हल कर सकेगी। एकात्मक शासन-प्रणाली ऐसे बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त नही है जहाँ की जनता विविध प्रणालियों से मिल कर बनी हो।

पाँचवें, इससे जनता में स्वतन्त्रता की भावना का उदय होता है और वह स्वशासन-कला की शिक्षा प्राप्त करती है। जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसका यह आवश्यक परिणाम है क्योंकि संघीय प्रणाली केन्द्रीय शासन को स्वेच्छाचारी बनने और नागरिकों के अधिकारों का अपहरण करने से रोकती है।

संघीय शासन-प्रणाली में अनेक दोष भी हैं। जब आधुनिक युग में इस प्रणाली को ग्रहण किया गया तब उनमें से कुछ दोषों के सम्बन्ध में तो कोई संदेह भी नहीं था। अत्यन्त जटिल समाज में संघ-प्रणाली के कार्यान्वित होने पर ही वे दोष प्रकाश में आये हैं। इस कारण आधुनिक लेखकों के संघवाद की सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में वैसे विचार नहीं हैं जैसे कि जॉन फ़िस्के, हेनरी सिजविक तथा अन्य विचारकों के

थे, न वे उसके भविष्य के प्रति उतने आशावादी ही हैं। यह विश्वास कि संयुक्त राज्य अमेरिका के नमूने को सब देश अपना लेंगे अनुभव द्वारा सही सिद्ध नहीं हुआ। संघीय शासन-प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

१—वैदेशिक मामलों के प्रबन्ध में यह प्रणाली कमज़ोर सिद्ध हुई है। संघीय शासन में राज्य के अन्दर उतनी आसानी के साथ अपने वैदेशिक सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं हो सकती, जितनी कि एकात्मक शासन में हो सकती है। संघ मे सम्मिलित राज्य केन्द्रीय शासन द्वारा स्वीकृत संधि-सम्बन्धी दायित्वों के पालन में अनेक प्रकार से बाधा डालते हैं। इसके उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं।

२—आन्तरिक शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र मे भी यह आशा के अनुसार शक्तिशाली सिद्ध नहीं हुआ है। सघीय शासन-प्रणाली केन्द्रीय शासन तथा स्थानीय शासनों के बीच सत्ता-विभाजन के बिना चल नहीं सकती और विभाजन का अर्थ है दुर्बलता। यदि सत्ताओं का वितरण दोषपूर्ण है, यदि कुछ ऐसे विषय जिनके सम्बन्ध म क़ानून-निर्माण तथा शासन प्रबन्ध की एकरूपता अत्यन्तावश्यक है, राज्यों के शासनों के नियन्त्रण मे रख दिए गये, तो कानून-निर्माण की विविधता के कारण शासन सम्बन्धी अनेक गम्भीर कठिनाइयाँ अवश्य पैदा हो जाँयगी। अमेरिका का अनुभव हमारे सामने है। वहाँ अनेक मामलों में एकरूपता प्राप्त करने के लिए राज्यों में समान क़ानूनों के निर्माण के लिए राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त करना पड़ा। दूसरे देशों मे, जहाँ सत्ता का वितरण संघीय शासन के अधिक अनुकूल होता है, वहाँ केन्द्रीय शासन की सत्ताओं मे विस्तार तथा राज्य-शासनों की सत्ताओं मे कमी करने की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। इस प्रकार संघवाद केन्द्रीयकरण की दिशा मे बढ़ता हुआ मालूम हो रहा है।

३—संघीय प्रणाली की तीसरी दुर्बलता यह है कि उसमे केन्द्रीय शासन का अपने अधीन राज्यों तथा उनके नागरिकों पर नियन्त्रण शिथिल होता है। विविध राज्य गुटबन्दी करके राष्ट्रीय या केन्द्रीय शासन की नीति को विफल कर सकते हैं। एक बार दासत्व के प्रश्न पर

अमेरिका का संघीय राज्य दो भागों में विभाजित हो गया था जिसके फलस्वरूप एक भयङ्कर गृह-युद्ध हुआ।

४—इस प्रणाली के दूसरे दोष संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—इस प्रणाली की जटिलता, केन्द्रीय तथा राज्यों के शासनों के बीच अधिकार-सीमा के विवादों का डर, दोहरी सरकारी सेवाएं और इसके फलस्वरूप प्रशासन में अधिक व्यय तथा राज्यों की ओर से संघ से पृथक् हो जाने और उसके परिणाम-स्वरूप राज्य के निर्बल हो जाने के खतरे।

संघवाद का भविष्य—

संघवाद (Federalism) के भविष्य के सम्बन्ध में लेखकों के परस्पर विरोधी विचार हैं। कुछ लेखकों का यह विचार है कि संघवाद एक अन्तरिम व्यवस्था है और अन्त में इसका स्थान एकात्मक सिद्धान्त ले लेगा। डायसी का मत है कि संघ-प्रणाली दुर्बल शासन के सिवाय और कुछ नहीं है। एक दूसरे लेखक का विचार है कि इसमें जो सत्ता-विभाजन होता है, उसके कारण शासन के अंग दुर्बल हो जाते हैं, उनमें संघर्ष होता है और एक नये देश मे विकास स्थिर होकर सीमित हो जाता है। जो लोग इन विचारों से सहमत हैं वे संघवाद को आन्तरिम व्यवस्था मानने के लिये तैयार होंगे। डायसी ने कहा है कि "सफलता की अवस्था में संघवाद साधारणतया एकात्मक राज्य की दिशा में एक मंज़िल ही रहा है" वुडरो विलसन का भी विचार था कि "आधुनिक संघीय राज्यों के इतिहास से, यद्यपि यह इतिहास अभी बहुत सूक्ष्म ही है, यह स्पष्ट है कि ऐसे संगठनों की शक्तिशाली प्रवृत्ति संघीय राज्य को एकात्मक राज्य के रूप में परिवर्तन करने की ओर रही है। जब संघ दृढ़ता के साथ क़ायम हो जाता है और जनता में भी उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है, तो प्रवृत्ति एकता की ओर ही होती है।" केन्द्रीय शासन की सत्ता में वृद्धि करने तथा राज्यों के शासनों की सत्ता में कमी करने की जो प्रवृत्ति संघीय राज्यों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है उससे इस विचार की पुष्टि होती है।

दूसरी ओर, ऐसे भी प्रसिद्ध लेखक हैं जो संघीय सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। फ़िस्के और सिजविक के नामों का उल्लेख हम ऊपर कर

चुके हैं। फ़िस्के का मत था कि संघ प्रणाली ही एक ऐसी प्रणाली है जो समस्त महाद्वीप पर लागू हो सकती है। सिजविक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "योरोपीय राजनीति का विकास" (Development of European Polity) के अन्त में लिखा है कि "जब हम अपनी दृष्टि को अतीत काल से हटा कर भविष्य पर डालते हैं, तो शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणियाँ की गई हैं; उनमें संघवाद के विस्तार की ही मुझे सबसे अधिक संभावना प्रतीत होती है।" एक बात में यह भविष्य-वाणी पूरी नहीं हो सकी। हाल में जो संविधान स्वीकार किए गए हैं, उनमें संघीय प्रणाली को अधिक स्वीकृति नहीं मिली। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद रूस ही एकमात्र ऐसा देश था, जिसने संघ-प्रणाली को अपनाया परन्तु इस प्रणाली को अमेरिका, कनाडा, स्विट्ज़रलैण्ड, आस्ट्रेलिया और रूस में जो सफलता मिली है, उससे डायसी जैसे आलोचकों के आक्षेप सत्य सिद्ध नहीं होते। इन देशों ने संघीय प्रणाली के अन्तर्गत जो सफलता प्राप्त की है, वह इन्हे एकात्मक राज्य में शायद ही प्राप्त हो सकती थी। आजकल के समय मे लॉस्की तथा अन्य लेखकों ने इस प्रणाली का समर्थन किया है। लॉस्की के अनुसार संघवाद ही राज्य और समाज के संगठन का पर्याप्त आधार है। अपने बहुवादी सिद्धान्त के कारण वह एकात्मक आधार पर संगठित समाज के विपरीत संघीय आधार पर संगठित समाजों की ओर अधिक झुका हुआ था। आधुनिक काल के अनेकों लेखक संघवाद को दुनिया की बुराइयों के लिए एक अमोघ औषधि समझते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के निवारण के लिये योरोपीय राष्ट्रों का संघ बनाने का विचार प्रकट करते हैं। कभी कभी ग्रेट ब्रिटेन तथा उसके डोमोनियनों का एक संघ निर्माण करने की चर्चा भी हुई है। इस प्रकार यदि हम फ़िस्के तथा सिजविक के मत को स्वीकार न करें तो भी हम संघवाद को एक अन्तरिम व्यवस्था नहीं मान सकते और न उसे पीछे ही हटा सकते हैं। उसमें दोषों की अपेक्षा गुण अधिक हैं।

सांसद तथा राष्ट्रपति-शासन—

आधुनिक शासनों का वर्गीकरण एक दूसरे प्रकार से भी किया जाता है। कार्य-पालिका (Executive) तथा व्यवस्थापिका (Legislature) के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर शासन दो प्रकार के होते

हैं—सांसद अथवा परिषद् (Parliamentary or Cabinet) तथा राष्ट्रपति-शासन (Presidential Government) है। स्विस तथा रूसी शासन इनसे भिन्न हैं। स्विस शासन मे इन दोनों के लक्षण मिलते हैं।

सांसद शासन-प्रणाली—

जिस शासन में कार्य-पालिका का कार्य-काल व्यवस्थापिका की इच्छानुसार होता है, उसे सांसद शासन कहते हैं। वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि-परिषद्, पार्लामैंट (साधारणतया बहुसंख्यक लोक-सभा) के प्रति उत्तरदायी होती है। इसमें नाम-मात्र का प्रमुख, राजा या राष्ट्रपति, किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसके हाथ मे कोई वास्तविक सत्ता तो नहीं होती परन्तु सांसद प्रणाली मे उसका अत्यन्त आवश्यक स्थान है। राष्ट्रपति-शासन मे केवल एक प्रमुख, राष्ट्रपति होता है, जिसके हाथ मे वास्तविक सत्ता होती है और जिसका निर्वाचन एक नियत अवधि के लिए होता है। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। पार्लामैंट पर निर्भर होने के कारण परिषद्-शासन में कार्य-पालिका को सांसद कार्य-पालिका (Parliamentary Executive) भी कहते हैं। राष्ट्रपति-शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है। यह उसका सार है और इसी से इन दोनो प्रणालियों मे मुख्य भेद प्रकट होता है। इस प्रकार का शासन सत्ता-विभाजन के सिद्धान्त का, जो राष्ट्रपति-शासन का आधार है, पूर्ण निषेध है। सांसद शासन इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता।

परिषद्-शासन मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य साधारणतया संसद के भी सदस्य होते हैं। वास्तव में ससद (लोक सभा) में बहुमतदल के नेता होने के कारण ही उन्हे मन्त्रि-परिषद् में स्थान मिलता है। मन्त्रि परिषद् के सदस्य संसद में इसलिये बैठते हैं कि वे शासन की नीति की आलोचना का उत्तर दे सकें तथा सरकारी विधेयक आदि को पेश कर सकें। मन्त्रि-परिषद् शासन की राजस्व सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है और उसे संसद (लोक सभा) के समक्ष स्वीकृति के लिए पेश करती है। जब तक संसद बजट स्वीकार न कर ले सरकार कर की एक पाई भी संग्रह नहीं कर सकती है, न उसकी अनुमति के बिना धन ही व्यय कर सकती है।

जब तक मन्त्रि-परिषद् पर संसद के बहुमत का विश्वास बना रहता है, तब तक वह पदारूढ़ रहती है। ससद (लोक सभा) मन्त्रि-परिषद् में अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर या किसी महत्त्वपूर्ण विधेयक को अस्वीकार कर मन्त्रि-मण्डल को पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार मन्त्रि-परिषद् का कार्य-काल ससद (लोक सभा) की इच्छा पर निर्भर रहती है। व्यवस्थापिका भी कार्य-पालिका (Executive) पर निर्भर रहता है, जो उसके अधिवेशन आमन्त्रित करती है, और स्थगित करती है तथा उसे समय के पहले भी भंग कर सकती है। मन्त्रि-परिषद् संसद के निर्णय के विरुद्ध निर्वाचकों से अपील भी कर सकती है। वह क़ानून बनाने के काम में उसका मार्ग-दर्शन भी करती है। इस प्रकार शासन के ये दोनों अंग—व्यवस्थापिका तथा कार्य-पालिका—परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं और मिलकर सहयोगपूर्वक कार्य करते हैं। सांसद कार्यपालिका के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें इङ्गलैंड तथा फ्रान्स मे मिलते हैं, यद्यपि कार्य-प्रणाली मे दोनों में मौलिक अन्तर है। यह प्रणाली ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों मे प्रचलित है और भारतीय-संघ ने भी इसी प्रणाली को अपना लिया है।

यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि परिषद्-प्रणाली मे मन्त्रि-परिषद् केवल प्रमुख कार्यपालिका ही नहीं होती, वरन् वह व्यवस्थापन कार्य में भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। उसका व्यवस्थापन कार्य-क़ानूनों के विधेयक तैयार करना, उन्हें ससद में प्रस्तुत करना और उसकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिये भाषणों आदि द्वारा उनका समर्थन करना है। व्यवस्थापन कार्य में मन्त्रि-परिषद् द्वारा मार्ग दर्शन के बिना संसद को अपने कार्य-सम्पादन में बड़ी कठिनाई होगी। यह कहना ठीक ही है कि इङ्गलैंड में मन्त्रि-परिषद् ही संसद की स्वीकृति से क़ानून बनाती है। मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से देश के नियमों एव क़ानूनों के अनुसार समुचित प्रशासन के लिए उत्तरदायी होती है। मंत्रि-परिषद् का प्रत्येक मन्त्री एक या दो प्रशासनीय विभागों का प्रमुख होता है और वह उसके या उनके प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी होता है। जो विभाग उसके आधीन हैं, उनका वह किस प्रकार प्रबन्ध करता है, इसके लिए वह संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। बेजहॉट ने यह सत्य ही कहा है कि "मन्त्रिमण्डल एक बंधन है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को अन्थित कर देता है।"

सांसद प्रणाली के गुण—

सांसद प्रणाली मे अनेक गुण हैं जो अधिकांश में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध के फलस्वरूप ही हैं। सर्वप्रथम तो इस प्रणाली के द्वारा शासन के दोनों अङ्गों के बीच मे सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जो व्यक्ति शासन प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होते हैं वे सुशासन के लिये आवश्यक क़ानूनों के विधेयक तैयार कर उन्हें व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकार करा लेते हैं और उन्हें इसका कोई ख़तरा नहीं होता कि विरोधी संसद उनके द्वारा प्रस्तुत बजट को अस्वीकार करके या उनके प्रस्तावों को ठुकरा कर उनके कार्य में बाधा डालेगी। इसमें जो क़ानूनों को कार्यान्वित करते हैं तथा जो क़ानूनों का निर्माण करते हैं, जो व्यय करते हैं और जो व्यय की स्वीकृति देते हैं उनके बीच उद्देश्यों में कोई विरोध नहीं हो सकता। "प्रत्यक्षतः उद्देश्य की यह एकता, शासन के दो महान् राजनीतिक विभागो के बीच घनिष्ट तथा सीधा सम्बन्ध, जिनका सामंजस्यपूर्ण सहयोग इतना आवश्यक है, परिषद्-प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता है। किसी भी अन्य शासन प्रणाली में इतनी शीघ्रता के साथ कार्य सम्पादन करने की शक्ति तथा कार्य-कुशलता नहीं है।"* जब शासन को लोक-प्रिय सभागृह में निश्चित बहुमत प्राप्त होता है तब वह जनता के सर्वोत्तम हित में आवश्यक विषयों पर बड़े उत्साह के साथ तथा बड़ी शीघ्रता तथा तत्परता से क़ानून निर्माण कर सकता है और उन पर अमल कर सकता है।

दूसरे, इस प्रणाली द्वारा कार्य-पालिका प्रजा के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी बन जाती है। यदि कहीं कुछ भी ग़लती हो जाती है तो उसके लिये उत्तरदायित्व का निर्धारण करके उचित कार्यवाही की जा सकती है। व्यवस्थापिका कार्य-पालिका (मन्त्रि-परिषद्) से सवाल-जवाब कर सकती है और जनता मन्त्रि-परिषद् तथा व्यवस्थापिका दोनों को ग़लतियों के लिये दोष दे सकती है तथा अपराधी को दण्ड दिया जा सकता है। राष्ट्रपति-शासन मे ऐसा सम्भव नहीं होता जहाँ कार्यपालिका अपनी त्रुटियों के लिये व्यवस्थापिका पर दोषारोप कर सकती है और व्यवस्थापिका उसके लिये अपने दायित्व से इन्कार कर सकती है। इस

---

* Garner, op. cit., p. 424.

प्रकार परिषद्-प्रणाली को 'उत्तरदायी' तथा राष्ट्रपति शासन को 'अनुत्तरदायी' कहने के पर्याप्त कारण हैं।

तीसरे, यह प्रणाली बड़ी लचीली है। संसद उस व्यक्ति को जिसे वह पद के अयोग्य मानती है, हटा सकती है और उसके स्थान पर किसी ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को चुन सकती है जो राष्ट्र को संकट के पार ले जा सके। संकटकाल में परिषद्-प्रणाली की यह सबसे मूल्यवान विशेषता है। इङ्गलैण्ड में जब स्वर्गीय चेम्बरलैन को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-संचालन में ब्रिटिश पार्लामैंट ने अयोग्य पाया, तब उसे प्रधान मन्त्री के पद से त्यागपत्र देना पड़ा और उसके स्थान पर चर्चिल प्रधान मन्त्री चुना गया। ऐसा राष्ट्रपति-शासन के अन्तर्गत सम्भव नहीं है, क्योंकि संविधान के अनुसार राष्ट्रपति अपनी पूरी अवधि तक पदारूढ़ रहता है, चाहे वह कितना ही कुख्यात या अयोग्य क्यों न हो। "वहाँ कोई भी व्यवस्था लचीली नहीं है, सभी कठोर, निश्चित और लिखित होती हैं।"

चौथे, परिषद् प्रणाली सुयोग्य व्यक्तियों को राष्ट्रीय जीवन में आगे आने तथा राष्ट्र के कर्णधार बन कर उसका पथ प्रदर्शन कर सकने में सहायता देती है। जो शासन-सूत्र का संचालन करते हैं वे राष्ट्र के तपे-तपाये नेता होते हैं, जिनका राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इंगलैण्ड मे लोकसभा ही वह स्थान है, जहाँ राष्ट्रीय नेताओं का चुनाव और परीक्षा होती है। दूसरी ओर, राष्ट्रपति-शासन में राष्ट्रपति द्वारा जो उसके सलाहकार या मन्त्री नियुक्त किए जाते हैं उन्हें किसी भी अर्थ में नेता नहीं माना जा सकता। अमेरिका की प्रतिनिधि सभा (House of Representatives) ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ राष्ट्रीय नेता नेतृत्व के लिये लड़ सकें। ब्रिटिश कॉमन्स सभा ने देश को अधिकांश अनुभवी उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ भेंट किए हैं।

अन्त में परिषद्-प्रणाली का शिक्षात्मक मूल्य राष्ट्रपति-प्रणाली की अपेक्षा अधिक है। इङ्गलैंड की कॉमन्स सभा की कार्यवाही तथा उसके विवरण पर जनता अमेरिकन कांग्रेस की कार्यवाही की अपेक्षा अधिक ध्यान देती है। राष्ट्र की विविध समस्याओं पर ब्रिटिश पार्लामैंट में विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है और इस प्रकार वह सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में राष्ट्र का पथ-दर्शन करती है।

सांसद प्रणाली के दोष—

१—सांसद प्रणाली के उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ कुछ दोष भी हैं। इसका सबसे प्रधान दोष तो यह है कि इसमें दल-भावना बड़ी उग्र होती है और यह उसे कभी शान्त नहीं होने देती। बहुमत दल शासन निर्माण करता है और अल्पमत दल उसका विरोध करता है। बहुमत दल की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह शासन पर अधिकार जमाये रहे और अल्पमत दल यह चाहता है कि उसे शासन से हटा कर स्वय पद ग्रहण कर ले। शासन द्वारा जो विविध कार्य किए जाते हैं उनका उद्देश्य निर्वाचकों में अपने दल की शक्ति बढ़ाना होता है और विरोधियों के जितने काम होते हैं उनका उद्देश्य शासन को बदनाम करना होता है। इसका परिणाम यह होता है कि "यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से विरोधी दल का कर्त्तव्य शासन के निकृष्ट कार्यों तथा क़ानूनों आदि का विरोध करना और शासन-प्रबन्ध की बुराइयों की आलोचना करना है, परन्तु व्यवहार में, वह शासन के अधिकांश कार्यों तथा शासन प्रबन्ध की आलोचना करता है।" भारत के प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों द्वारा बुनियादी शिक्षा योजना तथा मद्यनिषेध की योजना के विरुद्ध मुसलिम लीग के निरर्थक विरोध का यह एक कारण रहा होगा। इस प्रकार केवल विरोध के लिए ही विरोध होने के कारण बड़ा समय और बड़ी शक्ति नष्ट होती है; क्योंकि विरोधी दल शासन के कार्यों में देरी करने का प्रयत्न करता है। चूँकि बहुमत दल व्यवस्थापिका मे अपना स्थान क़ायम रखना चाहता है, इस कारण वह ऐसे कानून पास करता है, जिससे जनता पर प्रभाव पड़े और वह लोकप्रिय बन जाय। इस प्रकार वह इसका विचार बहुमत कम करता है कि समाज का वास्तव में कल्याण किससे होगा। शासकीय दल तथा विरोधी दल दोनों ही समाज के हितों से अधिक दलगत-हितों पर ध्यान देते हैं और इस प्रकार क़ानूनों तथा शासन-प्रबन्व दोनों पर इस पार्टीबन्दी का प्रभाव पड़ता है। डायसी के अनुसार परिषद्-शासन का मुख्य दोष यह है कि यह अत्यन्त दलगत शासन होता है। यह ऐसे मनुष्यों द्वारा शासन होता है जो दलबन्दी के आधार पर पद प्राप्त करते हैं और उसी की शक्ति से पद पर बने रहते हैं।

उनकी समस्त नीतियाँ दलीय भावना द्वारा निर्धारित होती हैं। यह सत्य है, क्योंकि प्रत्येक राजनीतिक दल अपने सिद्धान्तों के अनुसार शासन संचालन करता है ; परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह दोष केवल परिषद्-प्रणाली में ही क्यों हैं। राष्ट्रपति-शासन में भी यह दोष हो सकता है। परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि परिषद्-प्रणाली के कारण दलीय भावना बड़ी तीव्र हो जाती है राष्ट्रपति-शासन में उसमें ऐसी तीव्रता नहीं आ पाती।

२—मन्त्रि-परिषद्-प्रणाली में मन्त्री पर बड़ा कार्य भार और उत्तरदायित्व होता है। वह प्रशासनीय विभाग के कार्य की देखभाल करता है और साथ ही व्यवस्थापिका का भी वह एक बड़ा सदस्य होता है। उसे अपनी शक्ति, ध्यान और समय इन दोनों के बीच बांटना पड़ता है जिसका यह परिणाम होता है कि किसी न किसी विभाग की उपेक्षा होती है। व्यवस्थापिका के अधिवेशनों के समय मन्त्री अपने विभागीय कर्तव्यों का ठीक प्रकार पालन नहीं कर सकता। कुछ देशों में तो ससद-सम्बन्धी कार्य का भार इतना अधिक होता है (जैसे फ्रान्स में) कि मन्त्री विभागीय कार्य को अपने सचिव पर छोड़ देता है। राष्ट्रपति-शासन में विभागीय मन्त्री शासन प्रबन्ध के कार्यों में अपना पूरा समय लगाते हैं और उन्हें सफलता भी अधिक मिलती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मन्त्री राजनीतिज्ञ होते हैं ; वे शासन-प्रबन्ध के विशेषज्ञ नहीं होते। उनका कार्य शासन-प्रबन्ध करना नहीं, वरन् यह देखना होता है कि शासन-प्रबन्ध मन्त्रि-परिषद् द्वारा निर्धारित तथा व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत नीति के अनुसार और समुचित रूप से किया जाना है।

३—कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित नहीं होता ; वह उस समय तथा पदारूढ़ रहती है, जब तक उसमें संसद के लोकप्रिय सभागृह का विश्वास बना रहता है। ऐसी अवस्था में सहसा शासन का अन्त हो जाने की सम्भावना सदा बनी रहती है। इसका अर्थ यह है कि मन्त्रि-परिषद् किसी दीर्घकालीन योजना का कार्य अपने हाथों में नहीं ले सकती। कोई भी मन्त्री व्यवस्थापिका के जीवन-काल तक अपनी नीति के अनुसार कार्य करते रहने की आशा नहीं कर सकता। जब कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने अक्टूबर सन् १९३९ ई० में त्यागपत्र दिये, तब बुनियादी शिक्षा तथा मद्यनिषेध की योजनाएँ

बीच में ही समाप्त हो गईं । इङ्गलैंड में किसी मन्त्रि-परिषद् ने कोई पंचवर्षीय योजना नहीं बनाई। ऐसी योजनाएँ वहीं बन रही हैं जहाँ कि कार्यपालिका का जीवन व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर नहीं है, जैसे रूस मे। कार्यपालिका का व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर रहना उस समय बड़ा भयङ्कर हो जाता है, जब कि राजनीतिक दलों की संख्या अधिक होती है और दलगत राजनीति के दाँव-पेंच के कारण शासन में सहसा और बार-बार परिवर्तन होते रहते हैं, जैसा सन् १६४० ई० में फ्रान्स में उसके पतन के पहले हुआ था। ऐसी स्थिति में मन्त्रि-परिषद् की अस्थिरता और भी बढ़ जाती है और उसकी कार्यकुशलता में भी बड़ी कमी हो जाती है। परन्तु सब देशों में मन्त्रि-परिषद् समान रूप से अस्थिर नहीं होते। ग्रेट ब्रिटेन में मन्त्रि-परिषद् बड़े स्थिर रहते हैं। ब्रिटिश मन्त्री के सम्बन्ध में यह कहना उतना सत्य नहीं है जितना कि फ्रेंच मन्त्री के सम्बन्ध में, कि "दलगत राजनीति की अन्तिम लहर ने उसे यहाँ ला बिठाया है ; और दूसरी लहर उसे हटा ले जा सकती है।" फ्रेन्च मन्त्रि-परिषद् अल्पजीवी रहे हैं ; उनका उत्थान एवं पतन बड़ी तीव्र गति से होता रहा है। अनेक राजनीतिक दलों वाले देशों में मन्त्रि-परिषदीय अस्थिरता परिषद-शासन की एक स्वाभाविक दुर्बलता है।

४—परिषद्-प्रणाली के विरुद्ध यह आक्षेप भी किया जाता है कि इसके द्वारा "सत्ता के पृथक्करण" के सिद्धान्त का जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए आवश्यक है, भंग होता है। एक ही व्यक्तिसमूह में व्यवस्थापन एवं कार्यपालिका के अधिकारों के संयोग से अत्याचार की सम्भावना रहती है। इसके प्रमाणस्वरूप आलोचक इंगलैंड के मन्त्रि-परिषद् की बढ़ती हुई अधिनायकशाही की ओर संकेत करते हैं। सत्ताओं के पृथक्करण का सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता की गारण्टी है या नहीं, इस पर यहाँ विचार नहीं करना है। यहाँ जिस बात पर विचार करना है, वह यह है कि इस आधार पर परिषद्-शासन के विरुद्ध जो आक्षेप किया जाता है, वह उचित नहीं है। इसका सैद्धान्तिक मूल्य के अतिरिक्त कुछ भी मूल्य नहीं है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वास्तविक गारण्टी नागरिकों के चरित्र तथा उनकी भावना में है, शासन के रूप में नहीं। ग्रेट ब्रिटेन में

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता उतनी ही सुरक्षित है जितनी कि संयुक्त राज्य अमेरिका में; यद्यपि दोनों के शासन भिन्न प्रकार के हैं। परिषद्-प्रणाली के प्रयोगों के इतिहास से कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के घनिष्ठ सम्बन्ध की बुद्धिमानी सिद्ध हो चुकी है, जैसे अमेरिका में राष्ट्रपति-प्रणाली के प्रयोगों के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि शासन के इन दोनों विभागों की पृथक्ता बुद्धिहीनता है। अतः यह आक्षेप उचित नहीं है।

५—यह भी आक्षेप किया जाता है कि परिषद्-प्रणाली में व्यवस्थापिका कार्यपालिका की अधीनता मे हो जाती है। "यह सम्भव है कि एक व्यक्ति या एक छोटा सा समूह एक अत्यन्त अनुवर्त्ती बहुमत दल की सहायता से इस प्रणाली को अधिनायकतन्त्र में परिणत कर दे।" ग्रेट ब्रिटेन में ऐसा ही हुआ बताया जाता है। यदि इस बात को सत्य मान भी लिया जाय कि इङ्गलैंड मे कॉमन्स सभा मन्त्रि-परिषद् की स्वामिनी होने के स्थान पर उसके आधीन हो गई है, तो भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का विकास परिषद-प्रणाली में अनिवार्य नहीं है। यह तो देश में विद्यमान परिस्थितियों का ही परिणाम है। फ्रान्स मे ऐसी कोई बात नहीं मिलती। एक देश में यदि कोई विशेष लक्षण हो तो उसे एक प्रणाली का सार्वभौम लक्षण नहीं माना जा सकता।

राष्ट्रपति-शासन—

जिस शासन में कार्यपालिका वैधानिक रूप से व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होती है और उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होती, वह राष्ट्रपति-शासन कहलाता है। इसे कांग्रेशनल शासन भी कहते हैं, जैसे परिषद्-शासन को पार्लमैंटरी (सांसद) शासन कहा जाता है। परन्तु इन सभी शब्दों का प्रयोग सन्तोषजनक नहीं है। कांग्रेशनल शब्द का प्रयोग साधारणतया नहीं किया जाता। 'राष्ट्रपति शासन' शब्द भी भ्रमजनक है, क्योंकि इस शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका के प्रमुख को राष्ट्रपति कहना आवश्यक नहीं है, और एक राज्य में जिसका प्रमुख राष्ट्रपति कहलाता है यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रपति-शासन (Presidential Government) हो। उदाहरणार्थ, फ्रान्स में परिषद शासन है, परन्तु वहाँ राज्य का प्रमुख राष्ट्रपति कहलाता है। भारत में भी परिषद-शासन

प्रणाली है ; परन्तु भारतीय गणराज्य का प्रमुख राष्ट्रपति कहलाता है। चूँकि कार्यपालिका के प्रमुख की नियुक्ति एक नियत काल के लिए होती है और उसे व्यवस्थापिका या अन्य कोई सत्ता कार्य-काल से पूर्व केवल अभियोग (Impeachment) को छोड़ कर अन्य किसी रीति से पदच्युत नहीं कर सकती। यह समुचित होगा कि हम इसे 'स्थिर' (Fixed) कहें।

इस प्रणाली की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

१—इसमें कार्यपालिका का एक ही प्रमुख होता है जो सविधान द्वारा प्रदत्त सब सत्ताओं का प्रयोग करता है। इस प्रणाली में वास्तविक या नाममात्र की कार्यपालिका का कोई भेद नहीं होता।

२—यह कार्यपालिका का प्रमुख एक नियत अवधि के लिये नियुक्त किया जाता है। उसका कार्य काल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर नहीं होता है। वह व्यवस्थापिका के किसी क़ानून या निर्णय द्वारा (केवल अभियोग के प्रमाणित हो जाने की अवस्था को छोड़ कर) अपने पद से नहीं हटाया जा सकता। विभिन्न देशों में यह कार्य काल विभिन्न होता है। संयुक्त-राज्य अमेरिका में यह कार्य-काल ४ वर्ष का है।

३—सर्वोच्च कार्यपालिका जिसमें राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्री* या सचिव शामिल होते हैं, एक दूसरे अर्थ मे भी व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है। वे व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते। परिषद्-प्रणाली में जैसे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का गठबन्धन होता है, वैसा इस प्रणाली में नहीं है। किसी भी व्यक्ति को एक ही साथ कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकार नहीं हो सकते। व्यवस्थापिका का कोई भी सदस्य कार्यपालिका के किसी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता और न कार्यपालिका का ही कोई सदस्य व्यवस्थापिका का सदस्य हो सकता है। व्यवस्थापिका की सत्ता का प्रयोग और साथ ही साथ मन्त्रिपद-ग्रहण दोनों असंगत हैं।"† राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली का सार इसी में है। यह लक्षण सत्ता के सिद्धान्त पर आधारित है।

---

* संयुक्त राज्य अमेरिका में मन्त्री को सचिव (Secretary) कहा जाता है। राष्ट्रपति द्वारा उसकी नियुक्ति की जाती है और वह उन्हे पदच्युत भी कर सकता है। वे उसके सहयोगी नहीं वरन् अधीनस्थ होते हैं।

† Garner, Political Science and Government. p. 340.

४—कार्यपालिका अपने कार्यों तथा नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। व्यवस्थापिका कार्यपलिका के कार्यों को चाहे जितनी निन्दा करे, वह उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। अविश्वास का स्पष्ट प्रस्ताव भी उसे पदच्युत नहीं कर सकता।

५—व्यवस्थापिका से मतभेद होने पर कार्यपालिका उसे भङ्ग कर के जनता से अपील नहीं कर सकती। यदि राष्ट्रपति भी यह चाहे कि व्यवस्थापिका का जीवनकाल समाप्त हो जाय, तो भी ऐसा नहीं हो सकता।

यह भी कहा जा सकता है कि इस शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका में दो सभागृह होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्थापिका का नाम कांग्रेस है, इसीलिये इस शासन प्रणाली को कांग्रेशनल भी कहते हैं।

इस प्रणाली के गुण—

राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली के जो गुण हैं, वे परिषद्-प्रणाली के दोषों से मिलते हैं। इस प्रणाली में मन्त्री अथवा सचिव व्यवस्थापिका के कार्यों में भाग नहीं लेते, वे अपनी पूरी शक्ति प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में लगा सकते हैं। प्रशासन के क्षेत्र मे यह एक बड़ा लाभ है। अपना कार्यकाल निश्चित होने तथा अवधि समाप्त होने के पहले ही हटाये जा सकने का भय न होने के कारण वे निश्चित रूप से अपनी नीतियों तथा योजनाओं का निर्माण कर सकते हैं और उन पर काम कर सकते हैं। इस प्रकार एक ही नीति पर अधिक दिनों तक काम हो सकता है। ब्रिटिश प्रधान मन्त्रियों में ऐसे बहुत कम होंगे, जिन्होंने ८ वर्षों तक लगातार पद-ग्रहण किया हो, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका मे कुछ ऐसे राष्ट्रपति हुए हैं जो १०-१२ वर्षों तक लगातार अपने पद पर आरूढ़ रहे हैं। वहाँ समस्त शासन-प्रबन्ध का नियन्त्रण राष्ट्रपति के हाथ में रहता है। शासन-प्रबन्ध की इस एकता के लाभ सङ्कटकाल में स्पष्ट प्रकट होते हैं। ऐसे समय में राष्ट्रपति सर्वथा अधिनायक हो जाता है। निर्णय करने और उन्हें लागू करने में उसके लिये यह आवश्यक नहीं होता कि अपने प्रभावशाली सहयोगियों तथा व्यवस्थापिका का सहयोग या समर्थन प्राप्त करे। ऐसे समय के लिए परिषद्-शासन निश्चय ही उपयुक्त नहीं होता। यद्यपि

राष्ट्रपति-शासन में भी राजनीतिक दल उतने ही आवश्यक होते हैं, जितने कि परिषद्-शासन में, तथापि राष्ट्रपति-शासन में दलगत भावना का उतना प्राधान्य नहीं होता। दल अपनी-अपनी शक्ति का नाप चुनावों के समय ही करते हैं, जो समय-समय पर होते हैं। व्यवस्थापिका के सभागृहों के लिए कोई संघर्ष नहीं होता।

इस प्रणाली के दोष—

ये लाभ बड़ी कीमत पर प्राप्त होते हैं। इस प्रणाली के दोष गुणों की अपेक्षा अधिक हैं।

१—व्यवस्थापिका को कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त रखना और कार्यपालिका को स्वतंत्र रूप से अपनी नीतियों के निर्माण का सुयोग्य देना अच्छा है, परन्तु यह और भी अधिक वांछनीय है कि शासन के इन दोनों विभागों में परस्पर सामंजस्यपूर्ण सहयोग हो। राष्ट्रपति-शासन में ऐसा प्रायः नहीं होता। जब राष्ट्रपति एक दल का होता है और व्यवस्थापिका में बहुमत दूसरे दल का होता है तब दोनों विभागों में संघर्ष होना अनिवार्य हो जाता है और इससे उनकी कार्यक्षमता में कमी आती है। इस अवरोध को दूर करने का कोई तरीक़ा नहीं है। इस प्रणाणी का सबसे बड़ा दोष तो यही है कि यह इन दोनों विभागों को, जो स्वाभाविक रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं, बलपूर्वक पृथक कर देता है।

२—यह प्रणाली लचीली नहीं है। इसके अन्तर्गत हम किसी भी-समय पर आवश्यकतानुसार अपने शासक का चुनाव नहीं कर सकते। राष्ट्रपति की नियुक्ति एक नियत अवधि के लिये होती है और व्यवस्थापिका का चुनाव भी एक नियत अवधि के लिये होता है। यदि जनता इनमें से किसी को पसन्द न करे या इनमें से कोई भी समय के अनुकूल न हो, तो हम उसे हटा नहीं सकते। 'आप पहले से ही अपने शासन को स्थिर कर लेते हैं और चाहे वह अनुकूल हो या न हो, चाहे वह ठीक प्रकार से काम करे या न करे, चाहे आप उसे चाहें या न चाहें, क़ानून के अनुसार आपको उसे क़ायम रखना होगा।"* इसके विपरीत परिषद्-प्रणाली, कोमल और लचीली है।

*Bagehot, quoted by Garner : op. cit., p. 426.

३—इस प्रणाली में सत्ता का विभाजन व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच इस प्रकार से किया जाता है और प्रत्येक की एक दूसरे पर इस प्रकार रुकावट लगी रहती है कि किसी ग़लती के लिए किसी को उत्तरदायी ठहराना कठिन हो जाता है। यह कठिनाई उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है, जबकि राष्ट्रपति और कॉंग्रेस में परस्पर संघर्ष होता है और प्रत्येक एक दूसरे पर उत्तरदायित्व लादने का प्रयत्न करता है। परिषद्-प्रणाली में कम से कम मंत्रि-परिषद् में उत्तरदायित्व केन्द्रित होता है।

४—जिन व्यक्तियों का जीवन सांसद प्रणाली के अन्तर्गत बीता है, वे राष्ट्रपति शासन को स्वेच्छाचारी तथा अनुत्तरदायी मानते हैं। यह उन्हें स्वेच्छाचारी इस कारण प्रतीत होता है कि अपने शासन-काल मे राष्ट्रपति पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का नियंत्रण नहीं होता। यह अनुत्तरदायी इस कारण है कि वह किसी कार्य के लिए जिसे वह करता है या करने में असमर्थ रहता है उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु अमेरिकावासी उसे इस दृष्टि से नहीं देखते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस प्रणाली के दोष वे हैं, जो परिषद् प्रणाली के गुण कहे जाते हैं। इन दोनों मे से परिषद्-प्रणाली अच्छी मालूम होती है। अमेरिका के बाहर राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली को किसी भी देश ने नहीं अपनाया है।

स्विस शासन-प्रणाली—

स्विस शासन प्रणाली अनुपम है; यह न तो राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली है और न परिषद्-शासन-प्रणाली ही, इसमे दोनों की कुछ विशेषताएँ शामिल हैं। यह राष्ट्रपति शासन नहीं है, क्योंकि इसमें कार्यपालिका के सदस्यों को व्यवस्थापिका के अधिवेशनो में बैठने का अधिकार है, वे व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा किए गए प्रश्नों के उत्तर देते हैं, समस्त महत्त्वपूर्ण विधेयकों को तैयार करते हैं और उन्हें स्वीकार कराने का प्रयत्न करते हैं। कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेता बन कर पथ-प्रदर्शन करती है। इन बातों में यह राष्ट्रपति-शासन प्रणाली से भिन्न तथा परिषद्-प्रणाली से मिलती-जुलती है। परन्तु यह परिषद्-प्रणाली से भिन्न है; क्योंकि इसमें कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका

के सदस्य नहीं होते। जब वे कार्यपालिका के सदस्य चुन लिये जाते हैं, तब उन्हें व्यवस्थापिका में अपनी सदस्यता से त्यागपत्र देना पड़ता है। किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर यदि उन्हें व्यवस्थापिका का विश्वाससूचक मत न भी मिले तो वे त्यागपत्र नहीं देते। दूसरे शब्दों मे, स्विस कार्यपालिका (मन्त्रि-परिषद्) स्थायी होती है, अपने कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व उसे पदच्युत नहीं किया जाता।

परिषद्-प्रणाली के समान इसमे कार्यपालिका को लोकप्रिय सभा-गृह को भंग कर देने का भी अधिकार नहीं होता। स्विस शासन की दूसरी विशिष्टता जिससे उसकी परिषद्-प्रणाली से भिन्नता स्पष्ट प्रकट होती है यह है कि उसमें कार्यपालिका निर्दलीय (Non-Party) होती है। उसके सदस्यों का चुनाव पार्टी के आधार पर नहीं किया जाता। यद्यपि वे विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं तथापि वे उनसे पृथक् रहते हैं। इस प्रकार स्विस शासन दलगत शासन नहीं है। इस प्रकार यह परिषद्-शासन तथा राष्ट्रपति-शासन दोनों से भिन्न एक अलग ही प्रणाली है। आयरलैण्ड में इसका अनुकरण करने का प्रयत्न सफल नहीं हुआ। यह प्रणाली किसी दूसरे देश मे पनप सकेगी इसमें सन्देह है।

नौकरशाही शासन

उसकी प्रकृति—

ब्रिटिश शासन में भारत में जिस प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित थी, उसको उपर्युक्त प्रणालियों मे से किसी में भी स्थान नहीं मिल सकता। वह शासन प्रजातान्त्रिक भी नहीं था। उसमें सिविल सर्विस [illegible] सदस्यों का ही शासन था। इसलिये उसको नौकर[illegible] भी[illegible]हा-(Bureaucratic Government) कहा [illegible] जाता है। जिस शास[illegible] नीति-निर्माण तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का[illegible] कर ले निर्णय उच्च पदाधिकारी करते हैं जिनको अपने पदों के लिए उपयु[illegible] प्रकार [illegible]क्त शिक्षण मिलता है, जो सरकारी नौकरी को अपनी जीविका का सा[illegible] क़ानून [illegible] मानते हैं और जिन्होंने छोटे से पद से उन्नति करके उच्च पद [illegible] विपरी[illegible]प्राप्त किया है, वह नौकरशाही शासन होता है। ब्रिटिश शासन में [illegible] आई० सी० एस० (Indian Civil Service) की प्रतियोगिता में [illegible] सफल होने पर उम्मीदवार को पहले

संयुक्त मजिस्ट्रेट का पद दिया जाता था। वह धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ कलेक्टर का पद प्राप्त कर लेता था। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते वह वायसराय का कार्यपालिका कौंसिल (Executive Council) का सदस्य या किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त हो जाता था। सन् १६३६-१६४५ ई० के युद्धकाल में जब कि सात प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिए थे तब गवर्नर आई०सी०एस० सलाहकारों की मंत्रणा से शासन करते थे। उस समय का शासन नौकरशाही शासन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण था क्योंकि उस समय सारा शासन थोड़े से आई० सी० एस० के उच्च अधिकारियों के हाथ में था, यहाँ तक कि कई प्रान्तों में तो गवर्नर भी आई० सी० एस० के ही थे। नौकरशाही में 'सिविल सर्विस' के सदस्यों की एक जाति सी बन जाती है जो अपने आपको अन्य जनता से पृथक् तथा भिन्न समझती है।

मूल्यांकन—

नौकरशाही शासन के कुछ गुण हैं। इस शासन में पदाधिकारी अत्यन्त कार्यकुशल, योग्य तथा उपयुक्त शिक्षण-प्राप्त होते हैं, इस कारण उसमें उच्चकोटि की निपुणता होती है। उसमें शासन-प्रबन्ध का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में होता है जो अपने सेवा की लम्बी अवधि में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। उसमें एक ऐसी परम्परा बन जाती है जिससे बाद में नियुक्त होने वाले पदाधिकारियों का अच्छा पथ-प्रदर्शन होता है। इस प्रकार अनुभव कभी नष्ट नहीं होता, वह एकत्रित होता रहता है और अनुभवी शासन-प्रबन्ध-कर्त्ता लगातार प्राप्त होते रहते हैं। यह प्रणाली उन अनुन्नत लोगों के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, जिनमें स्वशासन की क्षमता नहीं होती। यह शासन-प्रणाली कितनी ही कार्यकुशल क्यों न हो, फिर भी यह स्वशासन का स्थान नहीं ले सकती। केवल कार्यकुशलता ही सुशासन का कसौटी नहीं है। निष्प्राण कार्यक्षमता के ही कारण रोम का पतन हुआ था। इसका सबसे बड़ा दोष तो यह है कि इसमें जनता की इच्छा का कोई विचार नहीं रखा जाता। जनता क्या चाहती है यह इसमें नहीं देखा जाता; शासक किन बातों को जनता के लिये आवश्यक समझते हैं यही बात देखी जाती है। नौकरशाही नागरिकों की आकांक्षा के प्रति सहानुभूति रखती हुई कभी नहीं देखी गई; उसे लोकमत की बिलकुल परवाह नहीं होती। "दीक्षित पदाधिकारी अदी-

क्षित तथा अशिष्ट जनता से घृणा करते हैं।" यह क़ानून के शासन के स्थान पर मनुष्यों का शासन होता है। इसका दूसरा दोष है 'लाल फ़ीते' का प्रचलन अर्थात् अत्यधिक नियमनिष्ठता। प्रत्येक कार्य के करने मे अधिकारी बड़ा समय लगाते हैं। छोटे-छोटे मामलों तक के निर्णय में महीनों नहीं, वर्षों लग जाते हैं और जनता का धैर्य टूट जाता है। इस प्रकार नौकरशाही की मशीन धीरे-धीरे चलती है। नौकरशाही बहुत ही रूढ़िवादी तथा स्थितिपालक होती है। वह पुराने उदाहरणों और पुरानी परम्पराओं के आधार पर अपने निर्णय करती है, नये विचारों, नवीन आदर्शों तथा नये प्रयोगों से वह दूर भागती है। जब जनता में राष्ट्रीय चेतना पैदा हो जाती है और वह स्वराज्य के लिये प्रयत्नशील हो जाती है, तो नौकरशाही का टिकना असम्भव हो जाता है।

सत्ता का पृथक्करण—

सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त (Theory or Separation of Powers) की पिछले पृष्ठों में कुछ चर्चा हो चुकी है। एक समय था जब कि राज्य-विज्ञान के लेखक इसकी बहुत चर्चा किया करते थे। मॉण्टेस्क्यू तथा ब्लेकस्टोन जैसे लेखकों ने १८ वीं शताब्दी में इसका बड़ा प्रचार किया। मॉण्टेस्क्यू की पुस्तक (Spirit of Laws) मे इस सिद्धान्त की व्याख्या की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान तैयार करने वाले व्यक्तियों पर इस पुस्तक का बड़ा प्रभाव था। यह सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है :—

एक सभ्य शासन जिन कार्यों का सपादन करता है, उन्हें हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : (१) व्यवस्था सम्बन्धी (२) शासन सम्बन्धी तथा (३) न्याय सम्बन्धी। उनकी समुचित व्यवस्था के लिए उन्हें पृथक् विभागों को सौंप देना चाहिए। यह विभाग भिन्न-भिन्न प्रकार से संगठित होने चाहिए। क्योंकि क़ानूनों के निर्माण तथा उनको कार्यान्वित करने और उनकी व्याख्या करने के लिये भिन्न-भिन्न गुणों तथा योग्यता की आवश्यकता होती है, अतः आधुनिक सभ्य राज्यों मे शासन के तीन विभाग होते हैं। एक व्यवस्थापक विभाग (Legislature) जो क़ानून बनाता है; दूसरा प्रबन्धक विभाग (Executive) जो उन क़ानूनों को कार्यान्वित करता है; और तीसरा न्याय-विभाग

(Judiciary) जो उन क़ानूनों की व्याख्या करता है और उन्हें लागू करता है। शासन के इन तीन विभागों की कल्पना मॉन्टेस्क्यू की मौलिक देन नहीं है। इसका उल्लेख अरस्तू, सिसरो तथा पॉलिवियस की रचनाओं में मिलता है। मॉन्टेस्क्यू ने तो इस बात पर विशेष ज़ोर दिया कि इनमें से प्रत्येक विभाग को अपने कार्य क्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिये और एक विभाग को दूसरे विभाग पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखना चाहिए और न उस पर प्रभाव ही डालना चाहिए। व्यवस्थापिका का क़ानूनों को कार्यान्वित करने या उनकी व्याख्या से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार शासन का प्रबन्ध करने वाले विभाग को क़ानून बनाने तथा उन्हे लागू करने से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए और न न्याय विभाग को कानून बनाने या उन्हे कार्यान्वित करने से कोई प्रयोजन होना चाहिए।

मॉन्टेस्क्यू ने इसका कारण इस प्रकार बतलाया है: "जब व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका की सत्ताऐं एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में केन्द्रित हो जाती हैं, तो नागरिक स्वतन्त्रता असम्भव हो जाती है; क्योंकि ऐसा भय या संदेह उत्पन्न हो सकता है कि शासन या व्यवस्थापिका अत्याचारी क़ानून बना सकती है और उनका अन्यायपूर्ण ढंग से प्रयोग भी कर सकती है। यदि न्याय-सत्ता को व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका से पृथक् नहीं किया जाय तो भी स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। जहाँ उसका व्यवस्थापिका से संयोग हुआ तो नागरिकों के जीवन एवं स्वतन्त्रता के लिये खतरा पैदा हो जायगा, क्योंकि न्यायाधीश ही व्यवस्थापक भी होगा। यदि न्याय-सत्ता का कार्यपालिका सत्ता से संयोग हो जाय, तो न्यायाधीश हिंसात्मक व्यवहार करने लगेगा। यदि एक ही व्यक्ति या व्यक्तिसमूह, चाहे वह कुलीनों का हो या साधारण जनता का, इन तीनों सत्ताओं का प्रयोग करने लगे तो सारी व्यवस्था नष्ट हो जायगी।" फ्रेन्च लेखक बोदॉ का भी मत था कि एक ही व्यक्ति को क़ानून बनाने तथा न्याय करने के अधिकार देने का अर्थ न्याय और दया करने के अधिकार को तथा क़ानून पर अमल करने और स्वेच्छा से उसको तोड़ने के अधिकार को सम्मिलित कर देना है। सन् १७८८ ई० में फ़ेडरलिस्ट मे भी यही मत इस प्रकार प्रकट किया गया था: "व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्बन्धी समस्त सत्ताओं को एक ही जगह केन्द्रित कर देना

अत्याचार है, चाहे वह एक, अल्प या बहुसख्यक व्यक्तियों के हाथ में हो, चाहे वे निर्वाचित हों या स्वय नियुक्त या पैतृक अधिकार से उन्हे प्राप्त करें।"

अँग्रेज़ विधान-विशेषज्ञ ब्लेकस्टोन ने भी कहा है कि "जब क़ानूनों के निर्माण तथा उन्हें लागू करने का कार्य एक ही व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को सौंप दिया जाता है, तो सार्वजनिक स्वतंत्रता असम्भव हो जाती है।" इस सिद्धान्त के मूल में मुख्य विचार यह है कि एक ही व्यक्ति में इन सत्ताओं का केन्द्रीयकरण सार्वजनिक स्वतंत्रता के लिए घातक होता है।

मोटी तौर से यह सिद्धांत सत्य है और अखण्डनीय भी है। समस्त सभ्य शासन इसे मानते हैं। प्रत्येक शासन मे तीन विभाग होते हैं। यह निर्विवाद है कि इनमें के किन्हीं भी दो सत्ताओं का एक व्यक्ति में संयोग हो जाने से जनता की स्वतंत्रता का दमन होता है। भारत में ब्रिटिश सरकार की निरंकुश सत्ता का रहस्य इस बात में था कि कार्यपालिका सत्ता को अपनी इच्छानुसार कानून बनाने के समस्त अधिकार थे। वह चाहे जैसा क़ानून बना सकती थी। उसने अपनी व्यवस्थापन सत्ता का प्रयोग भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने के लिए किया। उसमें केवल अपनी कार्यपालिका सत्ता के बल पर ही सहस्रों नर-नारियों को जेलों में बंद कर दिया और सैकड़ों को अनिश्चित काल के लिये नज़रबंद रखा। एक ही मजिस्ट्रेट के हाथों में कानूनों को कार्यान्वित करने तथा न्याय के अधिकार होने से राजनीतिक मामलों मे न्याय का सर्वथा लोप हो गया था। मॉण्टेस्क्यू के शब्द बिलकुल सच हैं।

परंतु अमेरिका के संविधान-निर्माताओं ने इस सिद्धांत का प्रयोग जिस संकुचित रूप मे किया वह उचित नहीं है। शासन एक जीता-जागता केन्द्रिय संगठन है; उसके अंगों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति कांग्रेस पर अपना प्रभाव डाल सकें इसके लिए ऐसे साधनों का प्रयोग करना पड़ता है, जिनकी संविधान में कोई व्यवस्था नहीं है। कार्यपालिका को आवश्यक क़ानून बनाने में प्रारम्भ करने तथा मार्गदर्शन का अधिकार होना चाहिए। प्रायः प्रत्येक देश में न्याय-विभाग ऐसे क़ानून बनाता है जिन्हें न्यायाधीश द्वारा निर्मित क़ानून (Case-Law) कहते हैं। कार्यपालिका को क्षमादान का अधिकार होता है; ये तीनों कार्य परस्पर सम्बन्धित

एवं समाज दोनों के कल्याण के लिये विस्तार का समर्थन करता है। यदि राज्य सामाजिक कल्याण का सर्वोच्च साधन है, तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर सरकारी कार्य का विरोध करना मौलिक भूल होगी। राज्य के कार्य-क्षेत्र का तो अधिकाधिक विस्तार करना ही उचित होगा। उसे तो जनता के सामान्य बौद्धिक, आर्थिक और नैतिक हितों की अभिवृद्धि करनी चाहिये और केवल जनता के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के कार्य तक ही सीमित न रहना चाहिए। उसे 'पुलिस राज्य' के स्थान पर लोक-संग्रही राज्य (Welfare State) बन जाना चाहिए। उसे दण्ड देने तथा अपराधों को रोकने के साथ-साथ जनता के कल्याण की भी अभिवृद्धि करनी चाहिए।

समष्टिवादी वह व्यक्ति है जो अधिक पूर्ण आर्थिक वितरण तथा मानवता के उत्थान के लिए राज्य के रूप में संगठित समाज की ओर ताकता है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के ११ वें संस्करण में समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है :—"यह वह नीति या सिद्धान्त है जो केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम वितरण तथा उसके आधीन श्रेष्ठतम उत्पादन की व्यवस्था करना चाहता है।" यही समष्टिवादियों का ध्येय है। परन्तु इन दोनों परिभाषाओ में से कोई भी व्यापक अर्थ में समाजवाद की परिभाषा नहीं करती, क्योंकि उनमें राज्य के प्रति जो मनोवृत्ति प्रकट की गई है वह समिष्टवादियों को छोड़ कर अन्य समाजवादियों में नहीं है। समष्टिवादी यह मानते हैं कि राज्य ही ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा ही मज़दूर पूँजीपति के शोषण से मुक्ति पा कर अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित सुयोग पा सकेंगे। अन्य समाजवादी न्यूनाधिक राज्य-विरोधी हैं।

समष्टिवादी उत्पादन के समस्त भौतिक साधनों का नियन्त्रण तथा अधिकार केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक राज्य या शासन को सौंप देना चाहते हैं, समाज के मज़दूर वर्ग जैसे किसी एक वर्ग को नहीं। आजकल की भाँति उद्योगों का संचालन एवं प्रबन्ध व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा नहीं होगा, और न मज़दूरों द्वारा ही जैसा कि सिन्डीकेलिस्ट और गिल्डसोश्यलिस्ट चाहते हैं, वरन् समस्त जनता की प्रतिनिधि के रूप में और उसकी ओर से सरकार द्वार होगा। इसी कारण समष्टिवाद को राज्य-समाजवाद (State-Socialism) भी कहते हैं। अत: उसका पहला सूत्र इस

प्रकार है—"राज्य को व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथों में से उद्योगों का स्वामित्व तथा प्रबन्ध अपने हाथ मे ले लेना चाहिए।"

परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है : "पूँजीपतियों के हाथों में से उद्योगों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण किस प्रकार लेकर शासन को सौंपा जाय?" जो उत्तर समष्टिवादी देते हैं, उससे भी उनमें तथा अन्य समाजवादियों में भिन्नता प्रकट हो जाती है और उसी में उनका दूसरा सूत्र मिल जाता है। समष्टिवादी या राज्य-समाजवादी यह मानता है कि यह परिवर्तन वर्तमान् राज्य के द्वारा और केवल शैक्षणिक तथा वैधानिक या राजनीतिक साधनों के द्वारा ही किया जाना चाहिये। समष्टिवादी देश में ऐसे राजनीतिक दल का संगठन करेंगे जो समष्टिवादी कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए वचनबद्ध होगा ; वह मतदाताओं तथा नागरिकों में उसका प्रचार कर उनमे मत प्राप्त कर संसद में बहुमत प्राप्त करेगा और अपने मन्त्रि-मण्डल का निर्माण करेगा। इस प्रकार शासन पर अधिकार हो जाने से बहुमत की अनुमति से वह ऐसे क़ानून बनाने में सफल होंगे, जिनसे इच्छित परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था की स्थापना पार्लमैंट (संसद) के क़ानून द्वारा की जायगी। पुरानी तथा नई आर्थिक व्यवस्था के बीच संघर्ष पार्लमैंट की समितियों में होगा, कारखानों तथा सार्वजनिक स्थानों मे नहीं किया जायगा। यह परिवर्तन शान्त, क्रमानुसार एवं धीरे-धीरे होगा, सहसा क्रान्तिकारी ढग से नहीं। समष्टिवादियों का मूलमन्त्र है शनैः शनै। नवीन प्रवृत्तियों के निर्माण के लिए वर्तमान् संस्थाओं का ही प्रयोग किया जायगा। यह इस सामाजिक सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है कि समाज एक सामाजिक शरीर है। अतीत के साथ कोई सम्बन्ध विच्छेद नहीं होगा। प्रत्येक अवस्था में या प्रत्येक कदम पर परिवर्तन उस सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति के अनुसार होगा जो उससे पूर्व थी। इस प्रकार समष्टिवादी विकासवादी हैं। यह उन सब समुदायों को जिनका आर्थिक नीति से सम्बन्ध है, जैसे ट्रेड यूनियन, राजनीतिक दल, सरकारी कर्मचारी, कारखानों के विशेषज्ञ मैनेजर, उनके समझदार स्वामी आदि को अपने विचारों में धीरे-धीरे दीक्षित कर देना चाहता है।"* यह ढंग साम्यवादी ढंग के विपरीत है। राजनीतिक होने के कारण यह ढंग क्रान्तिकारी या सीधा नहीं हो

* Wasserman : Modern Political Philosophies, p. 46.

सकता। सब कार्य बहुत धीरे-धीरे तथा शान्तिपूर्वक होना चाहिए। अपने प्रभाव तथा सफलता के लिये यह लोकमत में परिवर्तन पर निर्भर रहता है जो ज़ोरदार प्रचार तथा चुनाव द्वारा ही किया जा सकता है। सिन्डीकेलिज्म आर्थिक क्षेत्र में सीधी कार्यवाही (Direct action) में विश्वास करता है; और साम्यवाद रक्तपातपूर्ण क्रान्ति को अनिवार्य मानता है। अतः ये दोनों समष्टिवादी साधनों को जो वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण हैं, पसन्द नहीं करते।

यहाँ एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है जिसे दूर करना आवश्यक है। जब समष्टिवादी यह कहता है कि राज्य उद्योगों का स्वामी होगा और उनका प्रबन्ध करेगा तो उसका आशय पूर्णतः केन्द्रीय सरकार से नहीं होता। वह स्थानीय तथा नागरिक शासनों को भी उसमें सम्मिलित करता है। आरम्भ से ही फ़ेबियन लोग (Fabians) जिन्हें इङ्गलैंड में समष्टिवाद के आदर्शों का प्रचार करने का श्रेय प्राप्त है, स्थानीय शासन के कार्यों को विस्तार करने की आवश्यकता पर ज़ोर देते रहे हैं। वेब-युगल ने बड़े जोरदार शब्दों में स्थानीय शासनों को सत्ता प्रदान करने (Devolution) की आवश्यकता पर जोर दिया है। वे अतिशय केन्द्रीयकरण के ख़तरों को ख़ूब जानते हैं। केन्द्रीय सरकार को राष्ट्र-वादी महत्त्व के उद्योगों का ही सचालन करना है: जैसे रेलवे, जलयान, व्यापार, खान-उद्योग, डाक एवं तार। गैस और जल की व्यवस्था, सफ़ाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, मकानात, चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता, स्थानीय यातायात तथा आमोद-प्रमोद जैसे स्थानीय उद्योगों का संचालन स्थानीय संस्थाओं के हाथों मे होना चाहिये जिनका सङ्गठन पूर्णतया प्रजातांत्रिक होना चाहिये। यहाँ यह उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि सरकार को समाज के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के नियन्त्रण तथा नियमन का कार्य सौप देने से पूर्व शासन को पूर्णरूपेण प्रजातान्त्रिक और कार्यकुशल बना देना आवश्यक है। समष्टिवादी समस्त प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को निर्वाचन के लिए मताधिकार देने के पक्ष में हैं और बहुमत कुलीनवर्गीय द्वितीय सभागृह आदि प्रजातन्त्र-विरोधी पद्धतियों के विरुद्ध हैं। समष्टिवादियों के लक्ष्य तथा कार्य-क्रम का पूरा विवरण ब्रिटिश लेबर पार्टी द्वारा सन् १६१६ ई० में प्रकाशित (Labour and the New Social Order) नामक पुस्तिका में मिलता है।

समष्टिवाद के समर्थन में तर्क—

समष्टिवादी उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व तथा उद्योगों के नियन्त्रण के समर्थन में प्रायः निम्न तर्क देते हैं :—

१—वर्तमान् प्रणाली के अन्तर्गत औद्योगिक जगत में जो अर्ध-अराजकता व्याप्त है, उसका खात्मा करने का उद्योगों का समाजीकरण ही एक-मात्र उपाय है। जो उद्योग प्रतियोगिता के आधार पर चलते हैं उसके कारण जो अपव्यय होता है उसका समष्टिवादी व्यवस्था द्वारा अन्त हो जायगा। इस सम्बन्ध में डाक-विभाग द्वारा, पत्रों, पार्सल, मनीआर्डर आदि के व्यवस्थित ढङ्ग से पहुँचाने तथा वितरण की सुव्यवस्था तथा दुर्व-व्यवस्था में अति-व्यय तथा दोहरी व्यवस्था की तुलना बड़ी शिक्षाप्रद सिद्ध होगी। भाड़े, लगान तथा मुनाफ़े एवं अन्य समाज द्वारा निर्मित मूल्यों से जो आय होगी और जो पूँजीवादी व्यवस्था में सब की सब पूँजीपतियों के पास ही रहती है वह समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य की निधि में पहुँचेगी। उन उद्योगों में जिनमें एकाधिकार स्वभावगत है और स्थायी प्रतियोगिता असम्भव है राज्य-नियन्त्रण उपभोक्ता-जनता के हितों की रक्षा के लिये परम आवश्यक है।

२—प्रकृति की देन, जैसे भूमि और उसके भीतर की खनिज सम्पत्ति, समाज की है। उन पर थोड़े से लोगों का केवल इसलिए अधिकार नहीं होना चाहिए कि उनके पास पूँजी है और वे उसको ख़रीद सकते हैं। इसके अतिरिक्त देश के प्राकृतिक साधनों का व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा उपयोग होने में राष्ट्र के हितों का ध्यान नहीं रहता। वह उनकी रक्षा नहीं करता, और यदि उसे रोका नहीं जाय, तो उनका वृथा विनाश होता है।

३—राज्य द्वारा उद्योगों के प्रबन्ध से समाज को ऐसी वस्तुएं तथा सेवाएं प्राप्त हो सकती हैं, जिनकी आवश्यकता तो होती है, परन्तु जिनके लिए पर्याप्त मांग नहीं होती। व्यक्तिगत उद्योग स्कूल, पुस्तकालय एवं अनुसंधान-शालाएं तभी खोलेगा जब उनसे आर्थिक लाभ हो, परन्तु ऐसी संस्थाओं से लाभ प्रायः नहीं होता। यदि ऐसी संस्थाएं वह खोले भी तो उनसे लाभ उस साधारण जनता को बहुत कम होगा जिसे उसकी आवश्यकता है। राज्य-नियन्त्रण उत्पादक शक्तियों को ठीक दिशा में लगायगा और ग़लत दिशा में जाने से रोकेगा।

४—परन्तु राज्य के हाथों में उद्योगों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध पहुँचने से जो सबसे बड़ा लाभ होगा वह यह है कि इससे क्रमशः समाज में नैतिक और आध्यात्मिक सुधार होगा। अपने स्वार्थों की पूर्ति करने तथा अपने पड़ौसियों की अपेक्षा अपनी दशा अच्छी करने में लगे रहने के कारण लोग समाज के महान् सामान्य लक्ष्यों को भूल जाते हैं और उनका नैतिक तथा आध्यात्मिक पतन हो जाता है। यदि प्रतियोगिता को दूर कर व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समाज सेवा के आदर्श की स्थापना कर दी जाय तो स्थिति में परिवर्तन हो जायगा। समष्टिवादी समाज में अनुचित साधनों के प्रयोग के लिए कोई प्रलोभन नहीं रहेगा। उसमें मानव की सर्वोत्कृष्ट प्रवृतियों को प्रेरणा मिलेगी और उसके सर्वोत्कृष्ट गुण प्रकट होगे।

समष्टिवाद के विरुद्ध तर्क—

समष्टिवाद पर दो विभिन्न दृष्टिकोणों से आक्षेप किए जाते हैं। आलोचकों का एक वर्ग तो समाजवाद का विरोधी है। वह जिस प्रकार समाजवाद का विरोधी है, उसी प्रकार समष्टिवाद का भी विरोधी है। समष्टिवाद का दूसरा आलोचक वर्ग समाजवाद का तो समर्थक है, परन्तु वह उसके समष्टिवादी रूप में विश्वास नहीं करता। वह राज्य-विरोधी है। उसका यह विचार है कि उत्पादन के साधनों का स्वाम्य राज्य को नहीं वरन् उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों को प्राप्त होना चाहिए। उसका यह भी विश्वास है कि नवीन आर्थिक व्यवस्था की स्थापना वैधानिक साधनों द्वारा नही की जा सकती। वे प्रत्यक्ष तथा क्रान्तिकारी साधनों के प्रयोग का समर्थन करते हैं। पहले हम प्रथम वर्ग के आक्षेपों पर विचार करेंगे।

१—समष्टिवाद ही नहीं, वरन् समाजवाद के सभी रूपों के विरुद्ध जो साधारण आक्षेप किया जाता है वह यह है कि व्यक्तिवादी उद्योग के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना से उद्योग के लिये मूल प्रेरक शक्ति का नाश हो जायगा। मानव उद्योग की सबसे महान् प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत लाभ की आशा से ही प्राप्त होती है। वर्तमान समय में उद्योगों में जो महान् सफलता देख पड़ती है, वह व्यक्तिगत लाभ के कारण ही हुई है। भारी लाभ की आशा और उसका मन-माना उपयोग करने की स्वतन्त्रता प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उद्योग

की ओर आकर्षित करती है। सामूहिक स्वाम्य-व्यवस्था के अन्तर्गत मानव उद्योग का यह मूल स्रोत सूख जायगा और फलतः उत्पादन में इससे कमी पड़ेगी। उत्पादन के तरीक़ों में सुधार के प्रयत्न भी शिथिल हो जॉयगे। इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योग के लिये कोई क्षेत्र ही नहीं रह जायगा। अतीत में जो औद्योगिक प्रगति हुई है, वह इसी कारण सम्भव हुई कि बड़े साहसी और योग्य पूँजीपति इसमें अग्रसर हुए। पूँजीवाद के अन्तर्गत उद्योग के नेताओं के चुनाव तथा उन्हें समुचित पद पर आसीन करने की समस्या उत्पन्न नहीं होती। स्वतन्त्र प्रतियोगिता में व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के कारण योग्य व्यक्ति समुचित पदों पर स्वयं आ जाते हैं। समाजवाद में प्राकृतिक चुनाव के लिए कोई गुंजायश नहीं है और उद्योगों के नेताओं की खोज करना एक समस्या बन जाती है जिसका हल कठिन है। कुछ व्यक्ति एक पग आगे बढ़ जाते हैं और यह मानते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में मजदूर समुचित रीति से काम नहीं करेंगे। उद्योगों में सुधार की तथा पूँजी लगाने की भी समस्याएं हैं। संक्षेप में, इन आलोचकों के अनुसार समाजवाद उद्योगों के सम्बन्ध में जितनी समस्याओं का समाधान नहीं करता उतनी पैदा कर देता है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोणों से समाजवाद का सिद्धान्त निर्बल तथा अव्यवहार्य है। समाजवाद के विरोधी यह मानते हैं कि समाज के आर्थिक संगठन के लिये व्यक्तिगत पूँजी और व्यक्तिगत लाभ ही सर्वोत्तम हैं।

यह आक्षेप आधारभूत है; यह समाजवाद की जड़ पर ही कुठाराघात करता है। यदि लोग किसी कार्य को करने के लिये उससे मिलने वाले वित्तीय लाभ की आशा से प्रोत्साहित हो सकते हैं, यदि सामाजिक कल्याण तथा सामाजिक आवश्यकता के विचारों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो समाजवाद के सभी रूप अव्यावहारिक हो जाँयगे। तब यह मानना सत्य होगा कि समाजवाद मनुष्य से सामान्य कल्याण के लिये जितना मानव-प्रकृति के लिए सम्भव है उससे भी अधिक आदर चाहता है और इस प्रकार समाजवाद के प्रति केवल सनकी व्यक्ति ही आकर्षित हो सकते हैं। इस मनोवैज्ञानिक प्रश्न पर विचार करने के लिए यहाँ यथेष्ठ स्थान नहीं है। हम समाजवादी उत्तर की रूपरेखा का ही यहाँ विवेचन कर सकते हैं।

सबसे प्रथम, यह ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्य इतना स्वार्थी नहीं है, जितना कि इस आक्षेप में समझा गया है। उसकी प्रकृति में परोपकारिता भी होती है। वह दूसरे मनुष्यों के प्रति परोपकार भी कर सकता है और करता भी है। प्रो० जोड का कथन है कि "समस्त छोटे समुदायों में समुदाय की सेवा, उसके लिये कार्य करने की इच्छा, और समाज का समर्थन प्राप्त करने की इच्छा सदैव काम करती है और यह मनुष्यों के जीवन में सबसे शक्तिशाली तथ्य होता है।* जिस चीज़ की आवश्यकता है, वह है इस इच्छा को समुचित रूप से प्रोत्साहन देना और उसे जाग्रत रखना। यह इच्छा एक ऐसे वातावरण मे भी काम करती है जो उसके विकास के लिए अधिक अनुकूल नहीं है, यह मनुष्य की सात्विक प्रकृति का अकाट्य प्रमाण है। मनुष्य की यह सात्विक प्रकृति समाजवादी विचार की एक मूल मान्यता है। यह निश्चय ही वांछनीय है कि समाज का सङ्गठन ऐसे ढग से किया जाय जिससे इस प्रवृति को उत्तेजना मिले। हम वर्तमान् सामाजिक सङ्गठन को जो उस इच्छा को कुण्ठित कर देता है और उसकी विरोधी स्वार्थपरता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है नैतिक रूप से उचित नहीं मान सकते।

दूसरे, इस तर्क की यह धारणा कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से काम करना पसन्द नहीं करते और वे स्वार्थ-भावना से ही काम करते हैं, मिथ्या है। मनुष्य काम को उस समय तक नापसन्द नहीं करते जब तक कि वह सुखद तथा साधारण होता है, वे उसे उसी समय नापसन्द करते हैं जब कि वह बहुत ज्यादा या नीरस होता है। काम तो शारीरिक आवश्यकता है; इसमें हमारी शक्तियों को विकास का मार्ग मिलता है। काम के बिना जीवन भार हो जायगा। लोग अनिवार्य विश्राम से बचने के लिए धन तक व्यय करते हैं। शॉ ने नर्क की जो 'सनातन अवकाश' कह कर परिभाषा की है इससे मनुष्य के लिये काम करने की कितनी आवश्यकता है इसका काफ़ी संकेत मिलता है।

यदि कार्य मात्रा में हलका हो और गुण में विविधितामय, तो यह आशा की जा सकती है कि लोग उसे समाज के लिए बिना

---

* Joad : Modern Political Theory.

किसी व्यक्तिगत लाभ के करेंगे। यह उस समय और भी आसान होगा जब व्यक्ति यह अनुभव करेंगे कि वे दूसरों के लिये नहीं, वरन् उस समाज के कल्याण के लिए काम कर रहे हैं जिसमें उनका कल्याण भी सम्मिलित है।

इन विचारों से यह स्पष्ट है कि यह दोषारोप कि समाजवाद मनुष्य से सामाजिक कल्याण के लिए जितना उसकी प्रकृति में सम्भव है उससे भी अधिक आदर की मांग करता है निराधार है। समाजवाद मानव-प्रकृति के विरुद्ध नहीं है। परन्तु यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि यदि समाजवाद को सफलता प्राप्त करना है तो मनुष्यों को अपनी भावनाओ मे नवीन रस का संचार करना पड़ेगा और उन्हें आज की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं पवित्र बनना होगा।

२—समाजवाद-विरोधी समाजवादियों पर यह आक्षेप भी करते हैं कि वे सरकार द्वारा उद्योगों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में अतिशय आशावादी हैं; राज्य द्वारा उद्योगों के संचालन के सम्बन्ध में उनके विचार अतिशयोक्ति पूर्ण हैं। परन्तु सरकार प्रत्येक प्रकार के उद्योग के संचालन के योग्य नहीं हैं। ऐसे भी उद्योग हैं जैसे कृषि, मत्स्य-पालन, मौज़े-बनियान बनाने का उद्योग, कताई तथा बुनाई जिनका संचालन व्यक्तिगत प्रबन्ध में अधिक सुचारु रूप से होता है। इन उद्योगों का प्रबन्ध राज्य को सौंपने से उस पर भार अधिक हो जायगा और उसकी कार्य-कुशलता मे कमी हो जायगी। जहाँ प्रतियोगिता के लिए क्षेत्र नहीं है वहाँ उद्योंगों मे राज्य-प्रबन्ध के अनुभव से कोई साभान्य निष्कर्ष निकालना खतरे से खाली नहीं हैं। जिन क्षेत्रों में प्रतियोगिता की गुञ्जायश है वहाँ भी राज्य-प्रबन्ध के अनुभव उत्साहप्रद नहीं हुए हैं। व्यक्तिवादियों का यह कथन भी सत्य है कि राज्य अपनी प्रकृति के कारण अधिकांश मामलों में व्यवसायों एवं उद्योगों के संचालन की अपेक्षा एकाधिकार के दोषों को रोकने तथा समाज के हित में उनका नियमन करने के अधिक योग्य हैं।

३—समाजवाद के मिल तथा स्पैंसर जैसे विरोधियों का मत है कि समाजवाद से व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कमी होती है और वे राज्य के निर्देश से परिचालित यन्त्र मात्र बन जाते हैं। जब समस्त उद्योगों के सञ्चालन के लिए एक विशाल नौकरशाही की आवश्यकता पड़ेगी

तब यह उसका स्वाभाविक परिणाम होगा। वर्तमान शताब्दी में भी कुछ लेखकों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। उदाहरणार्थ मैलॉक का विचार है कि स्वार्थ के अभाव में मनुष्यों को काम करने के लिए मजबूर करना पड़ेगा जिसका अर्थ होगा व्यक्तिगत चरित्र का ह्रास। सर एर्स्किन मे का भी मत है कि समाजवादी सिद्धान्त का स्वाभाविक प्रभाव यह पड़ा है कि इससे "मानव जाति की शक्तियों का दमन हो गया।" समाजवाद का ध्येय था "व्यक्तियों की समस्त शक्तियों तथा श्रेष्ठ ध्येयों का बहिष्कार।"

समष्टिवादी के विरुद्ध ये सब आक्षेप नहीं किये जा सकते। हम ऊपर बतला चुके हैं कि उसका उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। महत्वपूर्ण सेवाओं के स्थानीय शासन के नियन्त्रण मे आ जाने से शासन के 'लालफ़ीते' आदि से जो बुराइयाँ होती हैं, वे बहुत कुछ कम हो जायँगी। यदि केन्द्रीय शासन ही सब समाजीकृत उद्योगों का नियन्त्रण करे तो इस आक्षेप में बहुत कुछ बल हो सकता है। किन्तु समष्टिवादी इस बात पर ज़ोर देता है कि महत्त्वपूर्ण सेवाओं पर स्थानीय स्वशासन का अधिकार होना चाहिए।

सिण्डीकेलिस्ट, गिल्ड समाजवादी और साम्यवादी इनसे भिन्न आधारों पर समष्टिवाद पर आक्षेप करते हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश या प्रतियोगिता के निवारण के प्रयत्न का विरोध करते हैं। वे समष्टिवादी के साथ इस बात में सहमत हैं कि एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाय। परन्तु समष्टिवादी जिस माध्यम द्वारा इसकी स्थापना करना चाहता है, उसे वे उपयुक्त नहीं मानते। वे राज्य के उतने ही विरोधी हैं जितने कि समष्टिवादी राज्य के पक्ष मे हैं। उनका मुख्य विचार यह है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका निर्माण पूंजीपतियों ने मज़दूरों का शोषण करने के लिये किया है और इस कारण उसका (राज्य का) प्रयोग पूंजीवाद का नाश करने के लिए नहीं किया जा सकता। जब तक राज्य के स्थान पर कोई दूसरा सामाजिक संगठन स्थापित न किया जाय, तब तक पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों के आर्थिक शोषण का अन्त नहीं हो सकता। इससे यह परिणाम निकलता है कि राजनीतिक उपाय द्वारा नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नहीं

की जा सकती । वे किसी न किसी रूप में सीधी कार्यवाही के लिए सिफ़ारिश करते हैं। इसके विषय में हम विस्तारपूर्वक आगे लिखेंगे।

इन आक्षेपों के अतिरिक्त उद्योगों के पूर्ण समाजीकरण के समष्टिवादी आदर्श की प्राप्ति में अन्य अनेकों कठिनाइयाँ हैं। चूंकि समस्त उद्योग इस योग्य नहीं हैं कि उनका समाजीकरण किया जा सके, अतः यह समस्या खड़ी हो जाती है कि कौन से उद्योगों का पहले समाजीकरण किया जाय और ऐसे उद्योग का क्या हो जिनका समाजीकरण सम्भव नहीं है, जैसे कृषि तथा फुटकर व्यापार। जिस ढङ्ग से राज्य उद्योगों पर स्वाम्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करेगा उसके कारण भी एक दूसरी कठिन समस्या पैदा हो जाती है। क्या राज्य उन्हें खरीद लेगा या उन्हें ज़ब्त कर लेगा? इन दोनों विकल्पों में कठिनाइयाँ हैं। राज्य के प्रबन्ध में उद्योगों के उत्पादन की वस्तुओं की क़ीमतों का प्रश्न भी कुछ कम कठिन नहीं है।

आधुनिक राज्यों में समष्टिवादी प्रवृत्तियाँ—

यद्यपि आज के युग मे रूस तथा इङ्गलैंड के अतिरिक्त अन्य किसी भी राज्य ने समाजवाद या समष्टिवाद को अपना राजकीय आदर्श स्वीकार नहीं किया है * तथापि उसके सिद्धान्तों का अनेक देशों पर प्रभाव पड़ा है और प्रत्येक राज्य के व्यवस्थापन एवं नीतियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने उत्पादन के साधनों के सामान्य या सामाजिक स्वाम्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है अथवा उन्होंने समस्त मजदूरों को सरकारी कर्मचारी बना दिया है। उत्पादन के साधन व्यक्तिगत स्वाम्य के अधिकार मे हैं और प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपने प्रयत्न से जिस प्रकार चाहे अपनी जीविका प्राप्त करे। अनेक सभ्य देशों में इस सीमा तक व्यक्तिवाद सरकारी कार्यों का अब भी आधार बना हुआ है। परन्तु परिस्थितियों के दबाव के कारण प्रत्येक राज्य कुछ ऐसे कार्यों का सम्पादन कर रहा

---

* रूस का समाजवाद समष्टिवाद नहीं है, वह साम्यवाद (Communism) कहलाता है जो ऊपर दिए हुए सिद्धान्तों से कई बातों में भिन्न है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, यूगोस्लाविया, फिनलैंड, आदि पूर्वी योरोप के देशों तथा अभी हाल ही में चीन की नवीन सरकार ने भी समाजवाद को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है।

है, जो अपनी प्रकृति में समाजवादी हैं। आर्थिक व्यक्तिवाद का सिद्धान्त पूर्ण रूप से खंडित हो चुका है।

उद्योगों में राज्य का हस्तक्षेप अब सर्वत्र बढ़ता जा रहा है। अधिकांश राज्यों ने उन उद्योगों पर जिनका राष्ट्र के लिये राजनीतिक, आर्थिक या सैनिक महत्व है नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। तार तथा डाक, रेलवे, जंगल, बैंक, शस्त्रों का निर्माण, खानों आदि पर अनेक देशों में राज्य का निरीक्षण एवं प्रबन्ध है और सरकारें प्रबन्ध कर रही हैं। कुछ राज्य तो इससे भी एक पग बढ़ गए हैं, वे साहित्य और कला को प्रोत्साहन देते हैं, वे बीमारी तथा आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिये बीमे की व्यवस्था करते हैं और वृद्धावस्था के लिये पेन्शन देते हैं। कई राज्यों ने रक्षणात्मक निर्यात-आयात करों (Protective Tariffs) तथा स्वदेशी धन्धों की उनकी विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिये आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था करते हैं। वे समय-समय पर देश से निर्यात तथा आयात की कुछ वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं। व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार की ओर से जो नियन्त्रण लग रहे हैं, उनके अधिक उदाहरण देना व्यर्थ है ; बात सर्वथा स्पष्ट है।

इस उदारवादी विचारकों की इस राज्य-कल्पना से कि समाज प्रतियोगियों का एक मण्डल है और राज्य एक निर्णायक के रूप में हैं, दूर होते जा रहे हैं और समष्टिवादियों द्वारा अनुमोदित समाज-सेवी राज्य (Social Serv ce State) की दिशा में अग्रसर होते जा रहे हैं इसका एक दूसरा प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि प्राय: प्रत्येक राज्य में शिक्षा, ग़रीबो की सहायता, बेकारी का बीमा और दूसरे कार्यों पर जिनसे ग़रीबों का उद्धार होता है पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। सामाजिक सेवाओं पर इङ्गलैण्ड मे सन् १६०० में १६ शिलिंग २ पाई प्रति व्यक्ति व्यय होता था परन्तु सन् १६३४ में यह व्यय ८ पौंड १६ शिलिंग प्रति व्यक्ति था।

प्रत्येक देश मे राज्य ऐसे रचनात्मक कार्यों का संचालन कर रहा है, जो केवल वर्त्तमान् सन्तति के लिये ही लाभदायक नहीं है वरन् भावी सन्तति को भी लाभ पहुँचायेंगे। कृषि, वृक्ष तथा पशुओं की नस्ल सुधारने, पौधों तथा पशुओं की रक्षा के लिये हानिकारक कीटाणुओं के सम्बन्ध में खोज एवं रोगों से निवारण के सम्बन्ध में सफलतापूर्वक परीक्षण तथा प्रयोग किए जा रहे हैं। अनेक राज्यों में आर्थिक सफलता प्राप्त करने तथा

स्वाश्रयी बनने के लिये राष्ट्रीय नियोजन का विचार अपनाया जा रहा है। उन समस्त राज्यों ने, जो सयुक्त राष्ट्रसघ से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (International Labour Organization of the United Nations) के सदस्य हैं मज़दूरों की अवस्था मे अनेक प्रकार के सुधार के लिए कई कानून बनाये गये हैं। अनेक देशों में अनेक प्रकार के सामाजिक क़ानून भी बनाये गये हैं जैसे कारखाना-कानून, स्वास्थ्य सम्बन्धी क़ानून, मज़दूरों की चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता तथा उनके आवास की व्यवस्था सम्बन्धी क़ानून, मज़दूरों की क्षतिपूर्ति के कानून, मज़दूरों की हानि के लिए मालिक की जिम्मेदारी तथा बेकारों की सहायता संम्बन्धी क़ानून। सब इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि उद्योगों के समाजीकरण तथा आय-सम्बन्धी समता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना ही राज्य अपने को समाजवादी सांचे में ढालता जा रहा है।

व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच फ़ैसिस्ट मध्यस्थता—

हमने ऊपर जो विचार प्रकट किया है उससे यह स्पष्ट है कि राज्य तथा समाज के आर्थिक तथा औद्योगिक जीवन के सम्बन्धों के विषय में न तो व्यक्तिवाद और न समाजवाद ही सर्वमान्य सिद्धान्त है। शासन के लिए यह असम्भव है कि वह सर्वथा पृथक् रहे और आर्थिक शक्तियों को उत्पादन तथा वितरण, और मालिकों तथा मजदूरों के सम्बन्धों का निर्धारण करने दे। हस्तक्षेप न करने की नीति के भयकर परिणामों ने राज्य को बाध्य कर दिया है कि वह समाज की आर्थिक प्रक्रियाओं का अधिकाधिक नियन्त्रण एव नियमन करे। कुछ व्यक्तियों की राय में यह भी असम्भव प्रतीत होता है कि राज्य समस्त उद्योगों का स्वामी बनकर उनका प्रबंध करे। रूस को छोड़कर अन्य किसी भी देश में समस्त उद्योगों का समाजीकरण नहीं हुआ है। उस देश में भी किसी-किसी बात में मौलिक सिद्धान्तों का त्याग कर दिया गया है। अमेरिकन समाजवादी लेखक जेम्स बर्नहम ने रूस को प्रबन्धक (Managerial) राज्य बतलाया है। वहाँ उत्पादन के साधनों में कोई निजी पूँजी नहीं है, सभी आर्थिक एवं औद्योगिक व्यवसायों पर राज्य का स्वाम्य है, परन्तु स्वय राज्य का नियन्त्रण जनता के हाथ में न हो कर सरकारी कर्मचारियों अथवा प्रबन्धकों के एक छोटे से गुट्ट के हाथों में है जो अधिनायक बना हुआ है। रूस में जो संभव हुआ है, वह अन्य देशों मे संभव नहीं हो सकता।

पूँजीवाद का अन्त आसानी के साथ नहीं होता। इस कारण समाजवाद तथा पूँजीवाद के बीच का कोई मार्ग ढूँढ़ना आवश्यक है। अनेक लोगों का विचार यह है कि यदि उद्योगों की वर्तमान प्रगति को बनाये रखना है तो पूँजीवाद को क़ायम रखना पड़ेगा; चाहे जो कुछ भी हो, पूँजीवाद का अन्त करना उन्हें व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। दूसरे लोगों को अनियंत्रित प्रतियोगिता की बुराइयों से बचाने के लिए राज्य द्वारा उद्योगों का नियमन और भी अधिक अनिवार्य प्रतीत होता है। इस कारण कुछ राज्यों ने उद्योगों के व्यक्तिगत स्वाम्य एवं प्रबंध के सिद्धांत का राज्य द्वारा समाज के हित मे उद्योगों के नियमन के अधिकार के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यह राष्ट्रीय समाजवाद, फ़ैसिज़्म तथा नात्सीवाद का सिद्धान्त है। फ़ैसिज़्म व्यक्ति तथा समाज के आर्थिक विकास के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करता है। इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि यह व्यक्तिगत अधिकार राष्ट्रीय हितों की अधीनता में होना चाहिये। इस प्रकार राज्य एक सर्वाङ्गपूर्ण योजना के द्वारा उन समस्त महत्त्वपूर्ण मामलों का नियन्त्रण करता है जो पहले व्यक्तियों या उनके समुदायों की प्रतियोगिता द्वारा तय होते हैं। राज्य यह निश्चय करता है कि किस प्रकार की वस्तुओं का निर्माण हो और किस मात्रा में। वह वस्तुओं के मूल्य तथा मज़दूरों की मज़दूरी आदि भी तय करता है। यह राज्य के नियमन के अन्तर्गत पूँजीवाद है। ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे प्रजातन्त्रीय राज्यों ने भी परिस्थितियों से बाध्य होकर आर्थिक नियोजन (Economic Planning) का उपाय स्वीकार किया है जिसका अभिप्राय है उद्योगों का स्वाम्य व्यक्तिगत पूँजीपतियों के ही हाथों में छोड़ते हुए भी राज्य द्वारा उद्योगों का नियमन। यह सम्भव है कि भविष्य में इन दोनों सिद्धान्तों के बीच कुछ ऐसा ही सामंजस्य व्यापक रूप में स्वीकृत हो जाय। स्थिति रूसी प्रयोग के विस्तार के पक्ष में नहीं है, चाहे हम उसे वांछनीय क्यों न माने।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में आदर्शात्मक सिद्धान्त—

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह वांछनीय होगा कि राज्य के कार्यों के संबंध मे आदर्शवाद के सिद्धान्त पर भी विचार कर लिया जाय। इस सिद्धान्त के विषय में विचार करते समय हम अपना प्रतिपादन ग्रीन जैसे मर्यादित आदर्शवादियों के विचारों तक ही सीमित

पालन करने में है। नैतिकता हमारी इच्छा में होती है, बाहरी परिणामों मे नहीं। राज्य यह आदेश कर सकता है कि कुछ कार्यों का संपादन किया जाय और वह अपने क़ानून तथा हिंसात्मक शक्ति के आधार पर उनका सम्पादन करा सकता है। परन्तु राज्य इस प्रकार का निश्चय नहीं करा सकता कि वे कार्य आन्तरिक कर्तव्य-भावना से ही किए जायँगे; क्योंकि राज्य इच्छा के आन्तरिक स्रोत का स्पर्श नहीं कर सकता। "राज्य किसी कार्य को कर्तव्य-भावना से कराने का ज़िम्मा नहीं ले सकता; वह केवल इसी का जिम्मा ले सकता है कि कतव्यपूर्ण कार्यों का सम्पादन अवश्य होगा। अतः राज्य के नैतिक कार्य के क्षेत्र को जैसा का तैसा बनाये रखने और यदि हो सके तो उसका विस्तार करने के लिए जो कुछ करना चाहिये वह यह नहीं है कि वह स्वतन्त्र इच्छा के भीतर प्रवेश करने का यत्न करे, वरन् उस इच्छा की धारा के प्रवाह को निर्बाध कर दे जिससे वह कार्य के रूप में परिणत हो सके।" राज्य की ओर से व्यक्ति से अपने कतव्य का पालन कराने का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होगा। कर्तव्य या नैतिक श्रेष्ठता को किसी पर बाहर से नहीं लादा जा सकता।

दूसरे, राज्य अन्त में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये बल-प्रयोग तथा दबाब का आश्रय लेता है। इन साधनों का प्रयोग नैतिक श्रेष्ठता की प्रकृति के विपरीत है। जो व्यक्ति दण्ड भय से उचित कार्य करता है, वह वास्तव में नैतिक नहीं है। जो कार्य दबाव या भय के कारण किया जाता है, उसका कुछ भी नैतिक मूल्य नहीं होता। नैतिक श्रेष्ठता की प्रकृति और राज्य के प्रयोग मे आने वाले साधनों की प्रकृति के कारण राज्य अपने सदस्यों के नैतिक सुधार के लिए सीधे प्रयत्न करने से वंचित है। जो कुछ वह कर सकता है, वह यह है कि व्यक्तियों द्वारा जो श्रेष्ठ कार्य किए जाँय उनमें आने वाली बाधाओं का वह निवारण कर दे।

परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि राज्य के कार्य 'पुलिस कार्यों', व्यक्तियों के जीवन एव सम्पत्ति की रक्षा तथा उनके विवादों के निर्णय तक ही सीमित है। व्यक्तिवाद की अपेक्षा आदर्शवादियों का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में अधिक व्यापक है। राज्य को भीतरी व्यवस्था तथा बाहर के आक्रमण से रक्षा के अतिरिक्त और भी कई कार्य करने

* Barker : Political Thought in England, p. 47.

होते हैं। उसे ऐसी अवस्थाओं एवं संस्थाओं को क़ायम रखना पड़ता है जो व्यक्तियों तथा समाज के नैतिक सुधार के लिए अनुकूल होती हैं। उसे उन सब परिस्थितियों का निवारण करना चाहिए जिनका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। चूँकि अज्ञान तथा अशिक्षा नैतिक विकास में बाधक हैं, अत; इनका निवारण करना आवश्यक है। चूँकि सुरापान से नैतिक दृष्टि से बुरे परिणाम निकलते हैं, इसलिये मधुशालाओं का खात्मा कर देना चाहिए। चूँकि शिक्षा सुखी जीवन के लिए परम आवश्यक है अतः राज्य को पाठशालाओं तथा कॉलेजों की स्थापना तथा संचालन करना चाहिए। इस प्रकार राज्य को सामाजिक जीवन में निषेधात्मक (Negative) तथा विध्यात्मक (Positive) दोनों रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। स्वय ग्रीन ने अपने समय में मज़दूरो, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुधार सम्बन्धी व्यवस्थापन का उत्साह के साथ समर्थन किया। उसने अनिवार्य शिक्षा, भूमि-स्वाम्य के नियन्त्रण तथा मद्य-पान के नियमन का बड़े ज़ोरों से समर्थन किया। इस प्रकार "श्रेष्ठ जीवन के लिये बाधाओं का निवारण" यह सूत्र देखने में निषेधात्मक होते हुए भी अपने प्रयोजन मे विध्यात्मक है। यह राज्य के लिए परम आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ जीवन की रक्षा करे, उसको प्रोत्साहन दे तथा उसका सगठन करे ; परन्तु वह उसे प्रत्यक्ष रीति से प्रोत्साहन नहीं दे सकता। यह व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद के बीच का मार्ग है। इसके मुख्य दोष है इसकी अस्पष्टता और अनिश्चययता। इसका बड़ा व्यापक अर्थ लगाया जा सकता है और अत्यन्त संकुचित भी।

राज्य के कार्य क्षेत्र के विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करने के उपरान्त गार्नर ने लिखा है कि राज्य के हस्तक्षेप के औचित्य तथा अनौचित्य के बीच की सीमा निर्धारित करना सम्भव नही है क्योंकि समाज की परिस्थिति और उसकी आवश्यकताओं मे परिवर्तन होने के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन होना आवश्यक है। आजकल के जटिल समाज में इस विषय मे कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। राज्य किस कार्य में हस्तक्षेप करे और किस में न करे इस प्रश्न पर प्रत्येक मामले में पृथक् रूप से विचार करना चाहिए। स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करने वाले लोगों के इस प्रकार के नियम निर्धारित करने के प्रयत्न उसी प्रकार व्यर्थ हैं जैसे अन्धकार की प्रकृति

पर बहस करके प्रकाश की प्रकृति का पता चलाने के प्रयत्न। यदि कोई साधारण नियम बनाना है तो उसका निर्माण निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर के आधार पर बनाना चाहिए। (१) क्या किसी मामले में राज्य का हस्तक्षेप सामान्य हित के लिये है? (२) क्या प्रस्तावित कार्य सफल हो सकेगा? और (३) क्या वह कार्य लाभ की अपेक्षा अधिक हानि किये बिना किया जा सकता है? यदि राज्य का कोई कार्य इन तीनों शर्तों को पूरा करता हो तो उसके विरुद्ध कोई उचित आपत्ति इस आधार पर नहीं की जा सकती कि उसके द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता या प्राकृतिक अधिकार के किसी सिद्धान्त का उल्लंघन होता है *

राज्य के कार्य—

गार्नर के मत को हम सार्वजनिक हित का सिद्धान्त कह सकते हैं और आजकल प्रायः सभी राज्य इसी दृष्टि से कार्य करते हैं और अनेक प्रकार के कार्य करते हैं। यद्यपि सभी राज्य अपनी प्रभुत्व शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग कर सकते हैं तो भी वे अपने कार्यों को सीमित रखना और जनता के लिए स्वतन्त्र कार्य के लिये क्षेत्र छोड़ना अच्छा समझते हैं और इसी कारण राज्य की सत्ता के अपरिमित प्रयोग पर क़ानूनी प्रतिबन्ध लगे रहते हैं; हाँ, युद्ध अथवा संकटकाल में जनता के कल्याण और उसकी सुरक्षा के लिये अवश्य राज्य के कामों का विस्तार बढ़ जाता है परन्तु वह भी कानूनी प्रणाली के अनुसार ही किया जाता है।

सदा से ही राज्य कुछ न कुछ कार्य करते ही आये हैं। वे साधारणतया दो वर्गों में विभक्त किये जाते हैं—(१) आवश्यक अथवा अनिवार्य कार्य जो राज्य के अस्तित्व के लिये आवश्यक है और (२) वैकल्पिक, जिन्हें करना राज्य के लिये अनिवार्य नहीं है। प्रथम प्रकार के कार्य तो राज्य की प्रकृति के ही परिणाम हैं; दूसरे प्रकार के कार्य-वांछनीय समझ कर किये जा सकते हैं या नहीं भी किये जा सकते हैं।

आवश्यक कार्य—राज्य के आवश्यक कार्यों का विवेचन करते हुए गेटेल ने बतलाया है कि इन कार्यों का निर्धारण विविध सम्बन्धों से होता है—(१) राज्य का दूसरे राज्यों से सम्बन्ध, (२) राज्य का व्यक्ति से सम्बन्ध और (३) व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध। राज्य को शान्ति तथा

* Garner : Political Science and Government, pp. 490-91.

युद्ध काल मे अन्य राज्यों से अपने सम्बन्ध निर्धारित करना चाहिये, उसे अपने नागरिकों के साथ भी अपने सम्बन्ध निर्धारित करने चाहिये जिससे उनको मालूम हो सके कि राजनीतिक सत्ता में उनका क्या भाग है, राज्य के हस्तक्षेप से वे कहाँ तक मुक्त हैं और उनके कौन से काम राज्य के लिये ख़तरनाक हो सकते हैं और न्याय तथा सुव्यवस्था कायम रखने के लिये नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी उसे नियमन करना चाहिए। इन कार्यों का उद्देश्य राज्य में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था, नागरिकों के जीवन, शरीर तथा सम्पत्ति की रक्षा तथा राज्य की आन्तरिक एव बाह्य सुरक्षा है। इन कामों को करने के लिये राज्य को जल, थल तथा नभ सेना और पुलिस की व्यवस्था करनी पड़ती है, सरकारी कर्मचारियों का एक विशाल दल रखना पड़ता है, क़ानून बनाने पड़ते हैं, न्यायालयों की व्यवस्था करनी पड़ती है और इन सब कार्यों के लिये जनता से कर वसूल करना पड़ता है।

वैकल्पिक कार्य—ये कार्य राज्य के अस्तित्व अथवा व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा के लिये आवश्यक समझ कर नही, वरन् इसलिये किये जाते हैं कि उनके द्वारा नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि होती है। इन कामों के भी गेटेल ने दो प्रकार के माने हैं। एक प्रकार के तो वे कार्य हैं जिन्हें राज्य को करना चाहिये, इसलिये नहीं कि वे आवश्यक हैं वरन् इसलिये कि यदि राज्य उन्हे न करे तो कोई नहीं करेगा या निजी प्रयत्न द्वारा वे उतनी अच्छी तरह नही हो सकेंगे, जैसे ग़रीबों और अशक्तों की सम्हाल, प्राथमिक शिक्षा, सफ़ाई, डाक का प्रबन्ध, सड़कों, नहरों, पुलों आदि का निर्माण। इन कार्यों के द्वारा राज्य व्यक्तियों के कामों में किसी प्रकार से कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं करता। दूसरे प्रकार के कार्य वे हैं जिनको लोग अपनी ओर से कर सकते हैं परन्तु जिन्हें राज्य आंशिक या पूर्ण रूप से अपने हाथ मे इस कारण ले लेता है कि यदि वह ऐसा न करे तो व्यक्तियों के निजी प्रबन्ध से बुराइयाँ उत्पन्न होंगी और यह विश्वास किया जाता है कि ऐसे कामों का सरकार की सत्ता द्वारा प्रबन्ध अधिक अच्छी तरह हो सकता है। इस प्रकार के काम हैं—रेलवे, टेलिफ़ोन, टेलिग्राफ़ आदि की व्यवस्था, बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का नियमन, मज़दूरों की रक्षा आदि।

राज्यों के कार्यों का इस प्रकार का वर्गीकरण कुछ वर्ष पहले तक मान्य था परन्तु अब उसका कोई मूल्य नहीं रह गया है। आजकल तो, जैसा हम ऊपर बतला आये हैं प्रत्येक राज्य को अनेकों काम करने पड़ते हैं जो वैकल्पिक कार्यों की कोटि में आते हैं। कई मामलों में यह बतलाना कठिन है कि अमुक कार्य आवश्यक समझा जाना चाहिये या वैकल्पिक। इसके अतिरिक्त अब तो राज्य समाजसेवी राज्य बन गया है और प्रत्येक राज्य अधिक से अधिक ऐसे कार्य करने का प्रयत्न करता है जिससे जनता का जीवन सुखी हो सके और उसके नैतिक विकास के लिये सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।

अध्याय १७

सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त

साम्यवाद

पिछले अध्याय में हमने समाजवाद की रूपरेखा का वर्णन किया है। हमने बतलाया था कि समाजवादी कई प्रकार के हैं और पूँजीवादी की आलोचना तथा पूँजीवादी व्यवस्था को हटा कर उसके स्थान पर एक नवीन सहकारी व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य में, जिसमें न व्यक्तिगत पूँजी और न स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लिये ही कोई स्थान होगा, सभी समाजवादी सहमत हैं, किन्तु नवीन व्यवस्था को स्थापित करने के ढग तथा नवीन व्यवस्था के रूप के विषय में उनमें तीव्र मतभेद है। आप देख चुके हैं कि समष्टिवादी समाजवादी संसद प्रणाली के पक्षपाती हैं परन्तु अन्य समाजवादी इसके विरोधी हैं। इस अध्याय में हम साम्यवाद का वर्णन करेंगे। समाजवाद के एक रूप की दृष्टि से तो इसका अध्ययन आवश्यक है,ही, इसने जो विशिष्ट सर्वस्वायत्तवादी रूप रूस में धारण किया है। उसके कारण इसका अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है। इससे रूसी सर्वस्वायत्तवाद तथा इटली के सर्वस्वायत्तवाद का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो सकेगा। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। रूसी सर्वस्वायत्तवाद को साम्यवाद कहने की अपेक्षा 'सोवियतवाद' (Sovietism) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

साम्यवाद फ़ैसिज़्म के समान प्राथमिक रूप में सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन का रूप नहीं है। यह एक प्रकार का सामाजिक दर्शन है, जो सोवियतवाद का आधार है और जिससे उसे एक कार्यक्रम प्राप्त होता है। कॉर्लमार्क्स ने अपने समाजवादी दर्शन तथा सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम के लिये साम्यवाद नाम रखा था। रूस में नये राज्य का संगठन करते समय लेनिन ने इस नाम को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार

साम्यवाद सोवियत के पीछे काम करने वाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचारधारा है। साधारण वार्तालाप में हम जिस प्रकार फ़ैसिस्ट इटली या प्रजातन्त्रीय इङ्गलैण्ड की बात करते हैं, उसी प्रकार साम्यवादी रूस की भी बात करते हैं। यदि सोवियतवाद तथा साम्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का ध्यान रखा जाय तो ऐसा कहने मे कोई हानि नहीं होगी।

रूसी साम्यवाद का सैद्धान्तिक आधार लेनिन के ग्रन्थों तथा साम्यवादी पार्टी के अन्य नेताओं की पुस्तकों में है जो कॉर्ल मार्क्स को अपना आचार्य मानते हैं और 'साम्यवादी घोषणा' (Communist) Manifesto) तथा 'पूँजी' (Capital) नामक ग्रन्थों को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं। वे यह मानते हैं कि जिस रूसी राज्य-क्रान्ति ने रूस में ज़ारशाही का अन्त और उसके स्थान पर साम्यवादियों द्वारा शासन की प्रतिष्ठा की वह उक्त घोषणापत्र में उल्लिखित आदर्श की सिद्धि करने का प्रयत्न है। अतः यह आवश्यक है कि मार्क्स के सामाजिक दर्शन का सूक्ष्म विवेचन यहाँ किया जाय।

कॉर्ल मार्क्स का सामाजिक दर्शन

इतिहास की आर्थिक व्याख्या—

मार्क्स जर्मनी के महान् दार्शनिक हेगल का शिष्य था और उसने हेगल के इस सिद्धान्त का खूब प्रचार किया कि "इतिहास राजनीतिक निश्चल-वस्तु-विज्ञान (Statics) का एक अंश नहीं है; वरन् राजनीतिक गति-विज्ञान का अंश है, जिसमें संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा साम्यावस्था की स्थापना होती है।" मार्क्स हेगल के इस विचार से सहमत था कि इतिहास एक तार्किक एवं क्रमबद्ध विकास है; परन्तु उससे उसका इस बात में मतभेद था कि इतिहास की यह द्वन्द्वात्मक गति किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त के कारण नहीं वरन् जीवन की भौतिक अवस्थाओं का परिणाम है। इस प्रकार मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध "इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तियाँ-जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन तथा वितरण के तरीक़ों में परिवर्तन होने के कारण होती हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों

या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जा सकते हैं, उसके दर्शन में नहीं। राजनीतिक संस्थाऐं, क़ानून, धर्म, दर्शन मनुष्यों का समाज के विविध वर्गों में स्थान, इन सबका निर्णय मुख्यकर किसी समय समाज में प्रचलित उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली द्वारा होता है। जब इस प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है तो उसके साथ ही सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। सामन्ती समाज की समस्त सस्थाएं उसकी विशिष्ट लौकिक एवं आर्थिक अवस्थाओं के अनुकूल बनाई गई थीं। जब सामन्तवाद का पतन हो गया और उसके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई जिससे वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला तो नवीन आर्थिक सिद्धान्त, सदाचार के नये आदर्शों तथा नये क़ानूनों का निर्णय हुआ। राष्ट्रीय राज्य की नवीन भावना मे भी आगे चल कर परिवतन हो गया क्योंकि अब उद्योग की अपेक्षा राजस्व पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। क्रॉसमैन ने इस सिद्धान्त का सक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है 'चर्खा, हल, मुद्रा, कारख़ाना-पद्धति आदि में से प्रत्येक ने अपने आविष्कार द्वारा दीर्घकाल से प्रतिष्ठित लोकाचारों, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक पद्धतियों को अस्त-व्यस्त कर दिया। युद्ध-विज्ञान-, यातायात तथा सन्देशवाहन, कृषि, उद्योग और राजस्व के विकास ने भी हमारी जीवन-प्रणाली तथा विचार-प्रणाली मे परिवर्तन कर दिया है। उत्पादन तथा वितरण की रीतियो में जो परिवर्तन हुए हैं वे इतिहास के द्वन्द्व मे प्रधान कारण हैं। व्यवस्थापिका-सभाओ के सदस्यों के सिद्धान्त तथा नरेशों की तरगे भी इन परिवर्तनों को गति दे सकती थीं या उन्हें शिथिल कर सकती थीं परन्तु वे उग्र आर्थिक शक्तियों के सामसे गौण थीं जिनका इस प्रक्रिया पर नियन्त्रण था।*

सामाजिक संस्थाओं के प्रति हमारे विचारों तथा हमारी मनोवृत्तियों में परिवर्तन हमारे भौतिक वातावरण की वास्तविक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होता है ; अमूर्त विचारों द्वारा नहीं। यह बात कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकती है। यह कहा जात्ता है कि इङ्गलैण्ड में जिस कारण महिलाओं को राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा मताधिकार प्राप्त हुआ, वह उनकी मांग में औचित्य या उनकी मांग की न्यूनता के कारण नहीं, (क्योंकि मिल जैसे प्रभावशाली लेखकों ने इसकी न्याय्यता पर जो बहुत

---

* Government and Governed p. 212.

पहले बड़ा जोर दिया था) वरन् उनका एक बड़ी संख्या में औद्योगिक जीवन मे प्रवेश हो जाने के कारण मिला था। इसी प्रकार इंगलैण्ड में धार्मिक सहिष्णुता को जो मान्यता दी गई वह उसकी नैतिक तथा बौद्धिक उपयुक्तता के तर्क के कारण नहीं थी। वास्तविक कारण तो यह था कि उस समय यह बात समझ मे आ गई थी कि धार्मिक अत्याचारों के रहते वाणिज्य व्यापार में उन्नति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह कहा जाता है संयुक्त राज्य अमेरिका में दासत्व का अन्त मानववादी भावना की विजय के कारण नहीं, आर्थिक कारणों से हुआ था। अपने ही युग तथा देश के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता कि समय-समय पर ब्रिटिश सरकार ने जो शासन-सुधार किए वे भारतीयों को वास्तव मे स्वराज्य-पथ पर अग्रसर करने के लिये नही, वरन् इसलिये किए गये थे कि सन्तुष्ट भारत ब्रिटेन का तैयार माल अधिक खरीदेगा।

यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ निकाला जाय कि आर्थिक तथ्य सामाजिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण कारण हैं, तो यह अखण्डनीय है। यह वास्तव में सत्य है कि देश मे प्रचलित आर्थिक व्यवस्था एक बड़ी सीमा तक उसकी सामाजिक क़ानूनी एवं राजनीतिक संस्थाओं पर प्रभाव डालती है। जलवायु का प्रभाव, मिट्टी, देश की भौगोलिक अवस्था आदि का प्रभाव किसी भी देश की राजनीतिक अवस्था पर पड़ता है। इस बात पर अरस्तू के समय से आज पर्यन्त राजनीतिक लेखक लिखते आ रहे हैं। परन्तु यह मानना बड़ी ज़्यादती होगी कि परिवर्तन केवल इन बातों के कारण ही होते हैं और कानून, सदाचार, धर्म आदि जो समाज के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी संस्थाओं का निर्माण करते हैं वे समाज के आधारभूत आर्थिक ढांचे के ही प्रतिफल हैं। मानवीय कार्य इतने सरल नहीं है कि उनकी व्याख्या किसी एक प्रयोजन द्वारा ही की जा सके। उन पर मानवों के अच्छे बुरे विचारों, मनोविकारों तथा सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि रसल ने कहा है, 'हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी घटनाएं भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात-प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती हैं।' राज-प्रसादों में होने वाले षडयन्त्र-प्रपञ्च, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा धार्मिक विरोध ने अतीतकाल में इतिहास के क्रम में बड़े-बड़े परिवर्तन किए हैं। इतिहास के निर्माण में अन्-आर्थिक कारणों को भी उचित स्थान देना चाहिए। इस स्वीकृति का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

सर्वथा ग़लत है। साधारणतया वह सही है, परन्तु उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। मार्क्स के सामाजिक दर्शन की यह प्रथम आवश्यक प्रतिज्ञा है।

(२) वर्ग-युद्ध—अपने इस सिद्धान्त के साथ कि सामाजिक विकास आर्थिक परिस्थितियों के कारण होता है, मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया। सामाजिक दर्शन में इसका महत्त्व कितना है यह इसी से जाना जा सकता है कि उसकी राय में वर्ग-संघर्ष का इतिहास ही मानव जाति का इतिहास है। मार्क्स की दृष्टि में सामाजिक परिवर्तन की समस्त प्रक्रिया इसी संघर्ष में होती है। समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर प्रगति उत्पादन-प्रणाली के आधार पर संगठित समाज के दो मुख्य वर्गों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष द्वारा हुई है। इनमें से एक वर्ग थोड़े से विशेषाधिकार-युक्त व्यक्तियों का वर्ग रहा है जिसके हाथों में उत्पादन के साधनों का स्वाम्य रहा है। दूसरा वर्ग उन बहुसंख्यक श्रमजीवियों का रहा है जो अपने श्रम से कच्चे माल को (जो प्रथम वर्ग की सम्पत्ति होती है) तैयार माल में परिणत करते हैं। इस दोनों वर्गों के हित सदैव एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। पहला वर्ग, पूंजीपति वर्ग अपने लाभ के लिये दूसरे वर्ग, मज़दूरों का शोषण करता है। मज़दूर उस सम्पत्ति के बड़े अंश से वंचित कर दिये जाते हैं जिसका उत्पादन करने मे वे सहायता करते हैं और उन्हें बाध्य हो कर आजीविका की सीमा पर ही रहना पड़ता है। उत्पादन के साधनों के स्वामी समाज के केवल आर्थिक जीवन का ही नियंत्रण नहीं करते, वरन् सामाजिक, क़ानूनी और धार्मिक संस्थाओं को भी अपने स्वार्थों की पूर्ति के उपयुक्त बना लेते हैं। वे जिस व्यवस्था को जीवित रखते हैं, उससे वे ही सर्वाधिक लाभ उठाते हैं। श्रमजीवियों के वर्ग पर उस सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है और वह उसे बदलने का प्रयत्न करता है। इन दोनों वर्गों के बीच में सत्ता के लिये जो संघर्ष होता है उसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है। भूमि के स्वामी सामन्ती सरदारों तथा मध्यमवर्ग में, जिसका सामन्ती समाज में ही पोषण हुआ था, संघर्ष हुआ; जिसने सामन्तवाद का अन्त कर दिया। पूंजीपति-वर्ग और क्रान्ति-भावना से अनुप्रेरित सामान्य जनता के वर्ग (Proletariat) के बीच होने वाला संघर्ष जिसका अस्तित्व वर्तमान

औद्योगिक व्यवस्था द्वारा हुआ है अन्त में पूंजीवाद के ढांचे को निर्बल करके अन्त में नष्ट कर देगा। "साम्यवादी घोषणा पत्र" में मार्क्स और ऐंगेल्स ने इस वर्गयुद्ध के सिद्धान्त को वर्तमान समाज के समस्त नियमों को समझने की कुञ्जी के रूप में प्रयोग किया है। इस घोषणा-पत्र में पूँजीपति वर्ग (Bourgeoisie) तथा श्रमिक वर्ग (Proletariat) के बीच १६ वीं सदी के संघर्ष का ही सर्वोत्तम वर्णन है। उसमें केवल इस संघर्ष का ही वर्णन नहीं है, वरन् क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग के लिये एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और उन्हें पूँजीवादी वर्ग पर अन्तिम विजय का भी आश्वासन दिया गया है। इस संघर्ष के मुख्य लक्षण का जिसका इस घोषणा-पत्र में वर्णन है, यहाँ उल्लेख किया जायगा।

इस घोषणा-पत्र में यह घोषणा की गयी है कि वर्तमान युग में वर्ग-विरोध बहुत ही सरल हो गया है। हमारा समाज दो विशाल विरोधी वर्गों में विभक्त होता जा रहा है—पूँजीवादी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। दोनों वर्ग विकास की विविध अवस्थाओं में से गुज़रते हैं। पूँजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का विकास तथा बाज़ारों का विस्तार किए बिना जीवित नहीं रह सकता। पूँजीपतियों के उत्पादन के ढङ्ग का एक दूसरा लक्षण उसकी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति है। ज्यों-ज्यों व्यवसाय अधिकाधिक बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम होती जाती है जो कारोबार में काफ़ी पूँजी लगा सकें। इस प्रकार बड़े पूँजीपति छोटे पूँजीपतियों को बाहर निकाल फेंकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूँजी थोड़े से बड़े पूँजीपतियों के हाथों में एकत्रित हो जाती है और कारोबार एकाधिपत्य का रूप धारण कर लेते हैं। बाज़ार ससारव्यापी हो जाते हैं और प्रत्येक देश में उत्पादन तथा उपभोग अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है।

पूँजीवादी उत्पादन स्वयं ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता है जिनमें उसके विनाश के बीज होते हैं। पूँजीवाद के गर्भ में उसके विनाश के बीज रहते हैं। उत्पादन के ढग में जो परिवर्तन होते हैं उनके कारण आगे चलकर उत्पादन में लगे हुए विविध वर्गों के सम्बन्धों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उससे कभी-कभी अत्यधिक उत्पादन भी होता है, जो आधुनिक समाज का एक विशिष्ट लक्षण है। अत्यधिक उत्पादन की बुराइयाँ जनता की उपभोग शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने से जो पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण का अनिवार्य परिणाम होता है,

बढ़ती जाती है। पूँजीवादी वर्ग के लिये सब से गम्भीर संकट श्रमिक वर्ग की ओर से पैदा होता है, जिसका जन्म पूँजीवाद के विकास से होता है और जिसका विकास भी उसके साथ-साथ होता चलता है। श्रमिक वर्ग समाज में अपनी निम्न और अधीन स्थिति से सन्तुष्ट नहीं रह सकता और वह लड़कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। सर्व प्रथम संघर्ष व्यक्तिगत पूँजीपतियों तथा व्यक्तिगत मज़दूरों के बीच होता है। परन्तु शीघ्र ही यह संघर्ष दोनों वर्गों के संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। मज़दूर अपना सगठन समुदायों के रूप में करने लगते हैं. जिन्हें मज़दूर संघ (Trade Unions) कहते हैं। जिनका उद्देश्य मज़दूरों के हितों की रक्षा तथा मज़दूरों की अवस्थाओं में सुधार करने के लिये उद्योग-पतियों को मजबूर करना होता है। यातायात तथा संचार के साधनों में उन्नति होने के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में काम करने वाले मज़-दूरों का सम्पर्क सरल होता जा है और उनका राष्ट्रीय संगठन बन जाता है। इस प्रकार श्रमजीवी-वर्ग का विकास होता है, जिससे उनकी शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार श्रमिक वर्ग की शक्ति में वृद्धि होने के कारण पूँजी-वादी वर्ग से विरुद्ध सघर्ष कटुतर होता जाता है और अत में वह क्रांति का रूप धारण कर लेता है जो पहले राष्ट्रीय होती है और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है। 'घोषणापत्र' मे इस क्रांति के परिणामों के सम्बन्ध मे भविष्य वाणी भी की गई है। उसमें कहा गया है कि अन्त में पूंजीपतियों का विनाश हो जायगा और श्रमिक वर्ग अपनी अस्थायी अधिनायक शाही स्थापित कर लेगा। श्रमिकों की अधिनायकशाही का मुख्य कार्य पूंजी-पतियों को उत्पादन के साधनों से वचित कर देना और इस प्रकार बल-पूर्वक उन्हें सम्पत्ति विहीन कर देना होगा। उत्पादन के समस्त साधन राज्य के नियन्त्रण मे आ जॉयगे, जो केवल एक वर्ग अर्थात् मज़दूर वर्ग का होगा। यह कहना अधिक सच होगा कि श्रमिक-क्रान्ति के बाद जिस समाज की स्थापना होगी वह वर्ग रहित समाज होगा। उस समय समस्त वर्गीय संघर्ष का अन्त हो जायगा और उसके साथ ही इस दमनकारी राज्य का भी अन्त हो जायगा जिसका हमें अनुभव है।

'साम्यवादी घोषणापत्र' में समाज के भावी रूप के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन नहीं है, वरन् इतना ही कहा गया है कि समाज में कोई भेद भाव नहीं होंगे और न कोई केन्द्रीय दमनकारी सत्ता ही रहेगी। उसमें वस्तुओं का उत्पादन उपभोग के लिये किया जायगा ; मुनाफ़े के साथ बिक्री के

लिए नहीं । दूसरे शब्दों में सार्वाधिक सामाजिक उपयोगिता की वस्तुओं के उत्पादन पर ज़ोर दिया गया है । घोषणा-पत्र में भावी राज्य के विषय में इस प्रकार उल्लेख किया गया है : "जब विकास क्रम में वर्गीय भेद भाव मिट जाँयगे और समस्त उत्पादन समस्त राष्ट्र की विशाल संस्था के हाथों में केन्द्रित हो जायगा, तो लोक-सत्ता राजनीतिक नहीं रहेगी । राज सत्ता (Political War) एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अत्याचार करने की संगठित सत्ता का नाम ही है । यदि श्रमिक वर्ग पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष के समय परिस्थितियों वश अपने वर्ग का संगठन करने के लिए मजबूर होता है और यदि क्रान्ति के साधन द्वारा वह शासक वर्ग बन जाता है और पुरातन उत्पादन-व्यवस्था का बलपूर्वक अन्त कर देता है, तो इस प्रकार वह इन अवस्थाओं के साथ ही वर्ग-विरोध के अस्तित्व के लिये आवश्यक अवस्थाओं का और सामान्यतया वर्गों का ही विनाश कर देगा और स्वयं अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा । पुराने पूँजीवादी समाज के स्थान पर (जिसमे वर्गभेद तथा वर्ग-विद्वेष मौजूद होते हैं) हम एक ऐसी सस्था स्थापित करेंगे जिसमें सबके स्वतन्त्र विकास का आधार प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास होगा ।"

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का मूल्यांकन—

साधारणतया यह सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धान्त की भाँति सत्य है । इतिहास में शायद ही ऐसे कोई उदाहरण मिलते हों कि समाज के शोषित वर्ग की ओर से संघर्ष किए बिना ही शासक-वर्ग ने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया हो । जो कुछ भी अधिकार शोषित वर्ग ने प्राप्त किए हैं वे कठिन संघर्ष के ही फलस्वरूप किये हैं । इस कारण हम इसकी आलोचना इसकी साधारण रूपरेखा की जगह सघर्ष की विभिन्न मजिलों के, जिनका इसमें वर्णन है और जो भविष्यवाणियाँ इसमें की गई हैं उनके आधार पर करेंगे ।

मार्क्स तथा ऐंगेल्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवादी उत्पादन की विधि से धीरे-धीरे व्यवसायों का रूप विशाल हो जायगा और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट तथा कार्टेल (Cartel) बन जाँयगे तथा इस प्रकार पूँजी उत्तरोत्तर थोड़े से व्यक्तियों के पास संचित होती जायगी । इस सिद्धान्त के विरोधी लोगों का कहना है कि यद्यपि इस भविष्यवाणी का प्रथम भाग तो सिद्ध हो चुका है, क्योंकि आजकल बड़े विशाल

औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठन बन गए हैं, परन्तु पूँजी थोड़े व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं हो रही है। बड़े पूँजीपतियों के साथ-साथ छोटे पूँजीपति भी बने हुए हैं। मध्यम वर्ग का अन्त नहीं हो रहा है और श्रमिक वर्ग में इस मध्यम वर्ग के लोगों के शामिल होने से वृद्धि नहीं हो रही है जैसा कि घोषणा-पत्र मे उल्लेख है। आधुनिक काल के मध्यम वर्ग का श्रमिक वर्ग की अपेक्षा पूंजीवादी वर्ग के प्रति अधिक मैत्री भाव है इस प्रकार घोषणा पत्र में वर्गयुद्ध के विकास की एक बात के सत्य के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है।

दूसरे, अनेक आलोचक कहते हैं कि पूँजीवाद के विकास के साथ मज़दूरों की अवस्था अधिक दुःखदायी नहीं होती जा रही है। पूंजीपतियों की बढ़ती हुई समृद्धि में मज़दूरों को भी कुछ भाग मिल रहा है। मज़दूर वर्ग के भौतिक कल्याण में जो सुधार घोषणा-पत्र के प्रकाशित होने के बाद देख पड़ता था वह आज पर्यन्त जारी है। इससे मज़दूरों के अधिक समृद्धि वर्ग में जैसे क्लर्कों, सरकारी कर्मचारियों और अध्यापकों आदि में, क्रान्तिकारी वर्गीय चेतना के विकास में बाधा पड़ी है। इस वर्ग का वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के साथ जिससे उसका भाग्य जुड़ा हुआ है मैत्रीभाव है। इस प्रकार एक दूसरी महत्त्वपूर्ण दिशा में घोषणा-पत्र की भविष्यवाणियों की सत्यता नहीं हुई है।

तीसरे, इस मान्यता के विरुद्ध भी गम्भीर आक्षेप किया जाता है कि अन्त में मज़दूर-वर्ग की पूंजीवादी वर्ग पर विजय होगी और श्रमिक-वर्ग की अधिनायकशाही क़ायम हो जायगी। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि मज़दूरों तथा पूंजीपतियों के बीच वर्ग-युद्ध बढ़ेगा और पूंजीवादी वर्ग का पतन हो जायगा, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि सत्ता औद्योगिक मज़दूरों के हाथ में ही पहुँचे। फ़ैसिस्ट अधिनायकशाही जैसे अन्य विकल्प भी तो हैं। इसके मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है कि समस्त देशों में वर्ग-युद्ध के एकसा परिणाम ही होंगे। जो कुछ रूस में सम्भव हुआ वह इंगलैण्ड या फ्रांस में सम्भव नहीं हो सकता। फ़ैसिज़्म तथा नात्सीवाद का जन्म मार्क्स तथा ऐंगेल्स की शिक्षा के विरुद्ध हुआ है। साम्यवाद की विजय उतनी निश्चित नहीं है जितनी मार्क्स तथा उसके साथी सोचते थे।।

इस प्रकार यद्यपि मार्क्स तथा ऐंगेल्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के सामान्य सत्य को तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु उन्होंने श्रमिक

वर्ग के अधिनायकतन्त्र के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की है, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक विकास से इस कथन की सत्यता सिद्ध नहीं होती।

रूसी साम्यवाद का सर्वस्वायत्ती रूप—

मार्क्स तथा ऐंगेल्स के उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर संगठित पहला राज्य सोवियत रूस ही है। उसके शासक मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को सामाजिक विकास के आधारभूत तथ्य मानते हैं। उन्होंने पुरानी ज़ारशाही के स्थान पर श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व भी स्थापित कर लिया है। इस नवीन शासन को आन्तरिक तथा बाहरी अनेक बाधाओं में से होकर निकलना पड़ा। अपने शासन को क़ायम रखने में सोवियत रूस ने संसार के प्रथम सर्वस्वायत्ती राज्य (Totalitarian State) की स्थापना की। रूसी साम्यवादियों ने संसार के सामने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नवीन राज्य की निपुणता प्रकट कर दी है। रूस ने अन्य आधुनिक राज्यों की अपेक्षा अपने राज्य को अधिक केन्द्रीयभूत तथा शक्तिशाली राज्य बना लिया है। इटालियन फ़ैसिस्टों तथा जर्मन नात्सियों ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अर्थात् पश्चिमी सभ्यता के लिए साम्यवादी खतरे के नाश के लिए साम्यवादी कार्यपद्धति को ही अपनाया था।

रूस के साम्यवादी शासक श्रमिक राजनीतिक-समाजवाद का एक नवीन परीक्षण कर रहे हैं। वे नवीन आर्थिक आधार पर एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, जिसमें कोई भी मानव दूसरे मानव के श्रम को खरीद नहीं सकेगा और न पूंजी पर जीवित रह सकेगा। दूसरे शब्दों में, नये समाज में पूंजी का स्वाम्य समाज के हाथ में होगा, व्यक्तियों के हाथों में नहीं। इस प्रकार पूंजीवादी शोषकों तथा वेतनभोगी शोषितों का भेदभाव मिट जायगा। इस ध्येय की प्राप्ति के प्रयत्न में उन्हें पूंजीवादी वर्ग के विरोध का सामना अपने देश के अन्दर तथा बाहर दोनों ओर से करना पड़ा है। रूस में गृह-युद्ध हुआ और श्वेत सेनाओं का सैनिक आक्रमण भी हुआ जिसमें इङ्गलैंड तथा फ्रांस जैसे पूंजीवादी देशों ने सहायता दी। इस कारण उन्होंने अपने दाव-पेंच तथा कार्य-प्रणाली में परिवर्तन अवश्य किये परन्तु उनके ध्येय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह ध्येय है—"जनता के लिए

अधिक सुखदायी जीवन की अवस्थाऐं तथा व्यापक सांस्कृतिक सुयोग प्राप्त करना और इन सबसे ऊपर, आर्थिक तथा राजनीतिक नियन्त्रण उस अल्पमत के हाथों मे रखना जो अन्तिम समाजवादी विजय की ओर बढ़ने में अधिक संलग्न और दृढ़ाग्रही है।"*

समस्त सत्ता को क्रान्तिकारियों के एक छोटे से दृढ़प्रतिज्ञ सुसगठित दल के हाथों में कायम रखने की प्रवृत्ति के कारण रूस में ऐसी सस्थाओं एवं आचरणों का विकास हुआ जो अधिनायकतन्त्र के मुख्य लक्षण हैं। इन संस्थाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण है-ऑल यूनियन कम्युनिस्ट पार्टी। रूस में शासन-यंत्र का नियन्त्रण इस पार्टी द्वारा ही होता है। इस पार्टी की सदस्य संख्या जानबूझ-कर कम रखी जाती है; इसके नियम कठोर हैं जिसके कारण सदस्यता में वृद्धि नहीं हो सकती। परीक्षाऐं कड़ी होती हैं और परीक्षण-काल भी बड़ा लम्बा होता है। जो सदस्य शिथिल अथवा अकुशल होते हैं या जिनकी श्रद्धा मे सन्देह होता है उन्हे निकाल दिया जाता है। उसमें उन विद्वानों को स्थान नहीं है जो साम्यवाद के आलोचक हैं या धर्म के पुजारी हैं। ट्रॉट्स्की जैसा प्रसिद्ध साम्यवादी नेता भी पहले अतरङ्ग मण्डल से, फिर साम्यवादी पार्टी से और अन्त में देश से निर्वासित कर दिया गया; क्योंकि उसने शासन द्वारा पूंजीपतियों तथा ज़मीदारों को जो रियायतें दी गई थीं, उनकी आलोचना करके साम्यवादी दल की उपेक्षा की और उसका अनुशासन भंग किया। ऑल यूनियन साम्यवादी दल ही देश की एकमात्र राजनीतिक पार्टी है। अन्य किसी भी राजनीतिक दल को जिसका दूसरा-कोई सिद्धान्त हो वहाँ कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है। इस पार्टी के कार्यों का नियमन एक केन्द्रीय समिति द्वारा होता है जिसका चुनाव पार्टी के वार्षिक अधिवेशन मे होता है। यह केन्द्रीय समिति पार्टी के कार्य-संचालन के लिए तीन छोटी उपसमितियों का चुनाव करती है जिनमें से एक राजनीतिक समिति (Political Bureau) कहलाती है। इसमें पार्टी के कुछ प्रमुख नेता होते हैं जो पार्टी की नीति आदि निर्धारित करते हैं। देश की प्रमुख शासन संस्थाओं, जैसे स्थानीय सोवियत, प्रान्तीय कांग्रेसों, राष्ट्रीय विधान सभाओं एव प्रशासनीय संस्थाओं आदि के निर्वाचन पर परोक्ष रूप से इस राजनीतिक समिति का नियंत्रण होता है। सन् १९३६ ई० के विधान से देश में राजनीतिक प्रजातन्त्र की मशी-

* Coker : Recent Political Theory p. 159.

नरी स्थापित की गई है। समस्त व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्याय-पालिका की सत्ताएँ सुप्रीम कौंसिल के हाथों में है ; जिसमें दो सभा-गृह हैं जिनमें से प्रायः प्रत्येक में ६०० सदस्य हैं जिनका चुनाव गुप्त मतदान द्वारा सार्वभौम प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर होता है। इतना होते हुए भी सत्य तो यह है कि शासन का वास्तविक नियन्त्रण साम्यवादी दल (Communist Party) के हाथों में है। साम्यवादी दल के अतिरिक्त दो और साम्यवादी संगठन हैं, जो साम्यवादी व्यवस्था क़ायम रखने में सहायक हैं। एक का नाम है साम्यवादी युवक संघ जिसमें १४ से २२ वर्ष के युवक-युवतियाँ सदस्य हैं। दूसरा साम्यवादी बालसंघ है जिसमे १० से १४ वर्ष के बालक-बालिकाएँ सदस्य हैं। इनमें से ही लोग साम्यवादी पार्टी के नये सदस्य बनते हैं।

यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि साम्यवादी दल के सदस्यों को अपनी कार्य-प्रणाली की आलोचना करने मे काफी स्वतन्त्रता रहती है। वे अपने सुझाव भी पेश कर सकते हैं। परन्तु विचार तथा बहस के बाद जब दल द्वारा कोई नीति स्वीकार कर ली जाती है, तब उसे सब सदस्यों को स्वीकार करना पड़ता है। उसके बाद किसी को उसकी आलोचना करने का अवसर नहीं दिया जाता अथवा उसके विरुद्ध विचार प्रकट करने का अधिकार नही रहता। उसका अनुशासन बड़ा कठोर है ; वह सर्वथा सैनिक ढग का है। दल ने अपने सदस्यों की सेवा तथा चरित्र एवं सत्यता का आदर्श बहुत ऊँचा रखा है।

सोवियत रूस में साम्यवादी शासन श्रमिक वर्ग की अधिनायकशाही के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम आंशिक रूप से सही है और ग़लत भी। यह सही इसलिए है कि राज्य उन लोगों को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं देता जो मज़दूर नहीं हैं और शासन-सत्ता का आधार दमन-शक्ति है। सोवियत राज्य अधिनायकतंत्रीय अथवा सर्वस्वायत्तवादी है; क्योंकि उसने सफलतापूर्वक समस्त अन्दरूनी विरोधी तत्वों का ख़ात्मा कर दिया है और वह एकदलीय राज्य बन गया है, जैसा कि नात्सी तथा फ़ैसिस्ट इटली में था। परन्तु यह नाम अनुपयुक्त इसलिये है कि रूसी शासन श्रमिकों के बहुमत का नहीं है। देश का शासन औद्योगिक मज़दूरों के हाथों में नहीं वरन कुछ थोड़े से उच्च कोटि की वर्गीय चेतना-युक्त सुयोग्य तथा अनुशासन के कठोर नियन्त्रण में रहने वाले क्रान्तिकारियों

के हाथों में है। इस प्रकार रूसी सरकार को श्रमिक वर्ग के हित में अधिनायकतंत्र कहा जा सकता है।

अधिनायकतन्त्र का अर्थ है राजनीतिक कार्य के सर्वोच्च साधन या अस्त्र के रूप में बल या दमन का प्रयोग। साम्यवादियों की यह दृढ़ धारणा है कि पूँजीपतियों में तर्क या बहस द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः उनके विरोध का नाश बल-प्रयोग से करना चाहिये। वे जिन लाभों का भोग करते हैं, उन्हें स्वतः शान्तिपूर्वक त्यागने के लिये वे तैयार नहीं होंगे। श्रमिक पूँजीपतियों को सम्पत्तिविहीन बनाने के लिये और क्रान्ति के विरोधियों के अपने खोये हुये लाभों को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्नों के दमन के लिये श्रमिक-राज्य की ओर से सशस्त्र हिंसा की आवश्यकता है। यदि सत्ता हस्तगत करने के लिए आक्रमण के रूप में बल की आवश्यकता है, तो विरोधियों के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिये बलप्रयोग की निन्दा करना मूर्खता होगी। जैसा कि ट्रीटस्की ने उचित ही कहा है—"एक क्रान्तिकारी वर्ग को जिसने शस्त्रों द्वारा सत्ता प्राप्त की है, उन सभी प्रयत्नों को जिनके द्वारा इस सत्ता से उसे वंचित करने का प्रयत्न किया जायगा बल-प्रयोग से व्यर्थ करना पड़ेगा और वह ऐसा अवश्य करेगा।" इस प्रकार साम्यवादी राजनीति को स्थायी युद्ध समझते हैं और राज्य को विशुद्ध दमन का अस्त्र। इस प्रकार वे लौह-हस्त द्वारा शासन-यन्त्र का प्रयोग करते हैं और जो देशद्रोह या राजद्रोह के अपराधी हैं या उनके कामों मे बाधा डालते हैं उन्हें कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता है। अपने विरोधियों के दमन के लिए बल-प्रयोग को एक मुख्य अस्त्र के रूप में मानने के कारण उनका नात्सियों तथा फ़ैसिस्टों से बड़ा सादृश्य है, इस प्रकार सर्वस्वायत्तवादी राज्य को अधि-नायकतन्त्र होना पड़ता है और उसे हिंसा तथा बल-प्रयोग पर रहना ही पड़ता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि साम्यवादी जनता को अपने पक्ष में करने के संबध में उदासीन रहते हैं। वे स्कूल, रेडियो, सिनेमा आदि प्रचार के समस्त साधनों द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। वे शैशव-काल से ही जनता को अपने सिद्धान्तों का पाठ पढ़ाते हैं। उनके युवक-संघ जनता को साम्यवाद के इतिहास तथा सिद्धान्तों के संबंध में शिक्षा देने के लिए ही हैं। वे उन्हें क्रान्ति के दाव-पेंच के सम्बन्ध में भी शिक्षा देते हैं।

रूसी साम्यवादी पूँजीवादी देशों के प्रजातन्त्र तथा प्रजातन्त्रीय

संस्थाओं का उपहास करते हैं। राजनीतिक कार्य के साधन के रूप में बल-प्रयोग की सर्वोच्चता में विश्वास करने तथा शासन की समस्याओं के बौद्धिक समाधान की संभावना में अविश्वास के कारण वे प्रजातन्त्र को अव्यवहार्य समझते हैं। राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उनके जैसे विचार हैं वे भी उन्हें इसी परिणाम की ओर ले जाते हैं। बोल्शेविकों ने विधान-परिषद् के कार्य में बाधा डालकर उसे असंभव कर दिया गया था।

किन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि साम्यवाद तथा प्रजातन्त्र में कोई सैद्धान्तिक असंगति नहीं है। साम्यवादी लेखक जिस प्रजातंत्र की आलोचना करते हैं और जिसे अवास्तविक कहते हैं, वह है पूँजीवादी देशों में प्रचलित प्रजातंत्र। उनकी यह मान्यता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत जिसमें औद्योगिक मज़दूरों को कोई आर्थिक सुरक्षा नहीं होती और जिसमें उन लोगों के हाथों में अनुचित राज्यसत्ता होती है जो समाज में आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करते हैं, राजनीतिक लोकतंत्र नाममात्र का है, उसमें कोई तत्व नहीं होता। जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति नहीं है उनके लिए न स्वतंत्रता है और न समानता ही; उन्हें केवल उन व्यक्तियों को अपना श्रम बेचने की स्वतन्त्रता है, जो उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं। इस प्रकार के व्यक्ति शासन पर कोई नियन्त्रण नहीं रख सकते। एक उम्मीदवार के लिए चुनाव में एक बार मतदान करने का अधिकार कोरा अधिकार है। इसी प्रकार शासन के कार्यों की आलोचना का अधिकार एक प्रकार का विलास है जिससे अधभूखे तथा अधिक काम से थके मांदे मज़दूरों में लाभ उठाने की क्षमता नहीं। मज़दूर तो यह चाहता है कि उसे भरपेट भोजन मिले और जीवन की सह्य अवस्थाएं प्राप्त हों, और उसे अपना जीवन अपनी इच्छानुसार सुख से बिताने के लिए पूर्ण सुयोग मिले, केवल शासन की आलोचना तथा उम्मीदवार को राय देने का निरर्थक अधिकार ही नहीं। साम्यवादी का यह दृढ़ विश्वास है कि शासन का ढांचा कितना ही प्रजातांत्रिक क्यों न हो, वास्तविक सत्ता उन्हीं लोगों को प्राप्त होगी, जिनके पास आर्थिक सत्ता है। इस प्रकार पूँजीवादी समाजों में वास्तविक प्रजातन्त्र कार्य नहीं कर सकता। यह श्रमिकों के अधिनायकतंत्र काल में भी अव्यवहार्य होता है। किन्तु फ़ैसिज़्म के उदय के कारण तथा फ़ैसिस्ट शासन में साम्यवादियों को भाषण तथा सभा-सम्मेलन के स्वातंत्र्य का निषेध होने के कारण साम्यवादियों के स्वतंत्रता तथा प्रजातंत्र के प्रति दृष्टि-कोण में

थोड़ा परिवर्तन अवश्य हुआ है। सन् १९३६ ई० के सोवियत-विधान का रूप, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, सर्वथा प्रजातांत्रिक है।

रूसी साम्यवादियों ने सबसे पहले संसार को यह बतला दिया कि आर्थिक नियोजन सर्वस्वायत्तवादी राज्य का एक अनिवार्य लक्षण है। यह उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य के स्वाम्य तथा समाज के औद्योगिक जीवन पर राज्य के नियन्त्रण का आवश्यक परिणाम है। यदि उत्पादन की प्रकृति तथा परिणाम का निश्चय व्यक्तिगत उद्योग-पतियों पर ही नहीं छोड़ देना है, वरन् राज्य द्वारा उसका निश्चय होना है तो नियोजन राज्य की आर्थिक पद्धति का एक आवश्यक अंग होगा। गृहयुद्ध के समय में भी रूस में नियोजन की व्यवस्था करनी पड़ी जिससे लाल सेना को रसद मिलती रहे। वह असन्तोषप्रद रही तथा लेनिन के सामने आर्थिक विनाश का भय आ खड़ा हुआ। उसने नवीन आर्थिक नीति की घोषणा की, जिसने पूँजीपतियों को अनेक रियायतें दीं। देश की आर्थिक व्यवस्था पर उसके अच्छे परिणाम निकले। जब स्टालिन ने सत्ता ग्रहण की, तो उसने उस नीति का अन्त कर दिया और राज्य ने व्यापार तथा उद्योग पर फिर से राज्य का नियन्त्रण स्थापित कर लिया। प्रथम पंच-वर्षीय योजना की समाप्ति पर द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के अनुसार कार्य किया गया और इनके फलस्वरूप रूस के उद्योगों में काफ़ी प्रगति हुई। जर्मनी तथा इटली ने भी इसका अनुसरण किया। ससार-व्यापी मन्दी तथा बाद में जर्मनी के विरुद्ध छिड़ जाने वाले युद्ध ने इङ्गलैंड को आर्थिक नियोजन करने के लिए बाध्य किया। हमारे देश में भी कॉंग्रेस ने आर्थिक नियोजन कमीशन की स्थापना की, जो कॉंग्रेसी मंत्रि-मण्डलों के त्यागपत्रों के कारण अपना कार्य नहीं कर सका। संसार आर्थिक नियोजन के विचार के लिए सोवियत रूस का ऋणी है।

साम्यवाद ने रूस की जनता के केवल राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर ही प्रभावकारी नियन्त्रण नहीं किया है, वरन् जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी प्रभाव डाला है। धर्म, क़ानून तथा शिक्षा आदि सभी वस्तुओं का साम्यवाद के लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयोग किया जाता है। साम्यवादी धर्म के विरोधी हैं, और धर्म को "जनता के लिए अफ़ीम" मानते हैं, क्योंकि धर्म हमारे कष्टों को ईश्वरीय विधान बताकर उन्हें सहन करने और शासकों की अधीनता का पाठ पढ़ाता है। साम्यवादी दल के सदस्य अनीश्वरवादी हैं। रूस में पादरी आदि मताधिकार से

वंचित हैं। रूस के साम्यवादी शासकों ने शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, संगीत और कला की कार्यवृद्धि के लिये प्रयत्न किया है, किन्तु इन क्षेत्रों में उनके काम राज्य की आर्थिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही हैं। वे ऐसे विज्ञान या दर्शन की शिक्षा की आज्ञा नहीं देते, जो साम्यवादी विचारधारा के विरुद्ध हैं। रूस की पाठशालाओं तथा विद्यालयों के लिए पाठ्य ग्रन्थ इस उद्देश्य से निर्धारित किये जाते हैं कि तरुणों तथा बालकों के मन पर साम्यवाद के गौरव की छाप पड़ जाय। रूस के क़ानून से भी यही कार्य लिया जाता है।

साम्यवादी सिद्धान्त

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है साम्यवाद का आधार मार्क्स तथा उसके मित्र ऐंगेल्स के वे सिद्धान्त हैं, जिनका वर्णन उन्होंने अपने 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' में किया है। यह घोषणापत्र एक पद्धति का सिद्धान्त है, एक कार्यक्रम है, जिसके द्वारा पूंजीवादी समाज से भावी समाजवादी समाज की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इसमें उस भावी समाज का पूर्ण चित्र अंकित नहीं किया गया है। यह कार्यक्रम राज्य के उस सिद्धान्त के आधार पर है जिसका विवेचन मार्क्स ने किया है और जिसे साम्यवादियों ने स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त राज्य के उस परम्परागत सिद्धान्त के विपरीत है जिसका समर्थन प्रजातन्त्रवादी तथा आदर्शवादी करते हैं। परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक निगम समुदाय (Corporate group) है, जिसमें विविध वर्ग सामान्य हित के लिये कार्य करते हैं। उसका अस्तित्व प्रत्येक नागरिक को ऐसे सुयोग प्रदान करने के लिए है जिससे उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास हो सके। वह एक ऐसा स्तर प्रदान करता है जिस पर मनुष्य बिना किसी भेदभाव के नागरिकों के रूप मे मिल सकें और सर्वोच्च कल्याण की प्राप्ति करने में एक दूसरे की सहायता कर सकें।

राज्य : एक वर्गीय संगठन—

साम्यवाद इस सिद्धान्त को बिलकुल अस्वीकार कर देता है। उसके अनुसार राज्य कभी निगम-समाज नहीं रहा, जिसका लक्ष्य सामान्य हित की कार्यवृद्धि हो। राज्य तो सदैव से ऐसी संस्था रहा है और रहेगा जिसमें

एक आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों पर आधिपत्य करता है और उनका शोषण करता है। शासकों का मुख्य और जानबूझकर स्थिर किया हुआ लक्ष्य समाज का कल्याण कभी नहीं रहा। उन्होंने राज-सत्ता का प्रयोग अपने तथा अपने समर्थकों के हितों की अभिवृद्धि के लिये ही किया है। राज्य की समस्त संस्थाऐं इसी उद्देश्य से स्थापित हैं कि उनके द्वारा शासक अपनी सत्ताओं को क़ायम रखें और उनका उपभोग करते रहें और शोषित तथा अत्याचार-पीड़ित जनता के लिये उन्हें सत्ता-विहीन करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाय। वर्तमान् पूंजीवादी राज्य इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। उनकी समस्त सस्थाएँ एक उद्देश्य से सञ्चालित हैं। उन विचारों तथा सिद्धान्तों का रक्षण जिनके आधार पर वर्तमान पूंजीवादी समाज खड़ा हुआ है अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। पूंजीपति का अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अधिकार क़ायम रहना चाहिये और उसका स्वतन्त्रता के साथ भोग कर सकने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। क़ानून, पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा देश का सशस्त्र बल भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये है। "साधारणतया दण्ड-विधान सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधों के सम्बन्ध में व्यक्ति सम्बन्धी अपराधों की अपेक्षा अधिक कठोर रहा है; क्योंकि पूंजीवाद मानवों के हितों की अपेक्षा सम्पत्ति के हितों की रक्षा के लिए अधिक व्यग्र है।"* जिस ढग से विदेशी शासन अपने विजित देशों मे आधिपत्य क़ायम रखते हैं उससे भी यह सत्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है। इस प्रकार साम्यवादी यह मानते हैं कि राज्य एक वर्गीय संगठन है; यह एक विशुद्ध बल की सस्था है; यह समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नही करती और न सामान्य जन-कल्याण की सिद्धि की ही चेष्टा करती है।

साम्यवाद वर्तमान् उत्पादन एवं वितरण की पद्धति में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। वह उत्पादन के समस्त साधनों को मज़दूरों के नियन्त्रण में लाना चाहता है, जो अपने श्रम द्वारा कच्चे माल को उपभोग्य वस्तुओं में परिणत कर देते हैं और इस प्रकार सम्पत्ति के एकमात्र स्रोत हैं। मज़दूरों के कल्याण का एक ही मार्ग है और वह यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश कर भूमि, पूँजी तथा उद्योगों का समाजीकरण कर दिया जाय। जब तक ऐसा नहीं होगा मज़दूरों की दशा में सुधार नहीं हो सकेगा और वे जीवन-संग्राम का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे।

* Laski ; Communism, p. 127.

श्रमिक लोग पूंजीवादी राज्य के शासन-यन्त्र पर अधिकार जमा कर पार्लामैंएट में बहुमत द्वारा समाजवाद के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते। यह यन्त्र तो पूंजीवाद के पोषण के लिये ही ठीक है उससे विपरीत उद्देश्य के लिये उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। समाजवादी समाज की स्थापना के लिये वह व्यर्थ है। क्रांतिकारी उद्देश्यों के लिये उसका प्रयोग नहीं हो सकता।

श्रमिक वर्ग को पूंजीवादी राज्य का खात्मा करके उसके स्थान पर नये ढंग का सामाजिक संगठन स्थापित करना चाहिए जो समाजवाद की आवश्यकताओं के अनुकुल हो। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक वर्गीय चेतना युक्त क्रान्तिकारी श्रमिक वर्ग को दमनकारी राज्य के यन्त्र का प्रयोग करना होगा जिससे वह पूंजीपतियों को उनके उच्च स्थान से गिरा सके और उन्हें सम्पत्तिहीन कर सकें। संक्रमण काल में राज्य एक वर्गीय संगठन तथा सशस्त्र हिंसा की सस्था बनी रहेगी जैसा वह अब तक रहा है। पूंजीवादी राज्य तथा संक्रमणकालीन इस राज्य में जो श्रमिकों का अधिनायकतन्त्र होगा केवल इतना ही अन्तर होगा कि वह केवल श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करेगा, पूंजीपतियो का नहीं। राज्य का प्रयोग श्रमिकों के हितों की अभिवृद्धि के लिए किया जायगा, उसके विरोधियों के हितों के लिए नहीं। यह समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करता और न सामान्य जन-कल्याण की अभिवृद्धि के लिये ही प्रयत्न करता है। साम्यवादियों के लिये मज़दूरों तथा पूंजीपतियों के सामान्य हितों जैसी कोई चीज़ नहीं है।

श्रमिक राज्य का उद्देश्य पूंजीवादी राज्य के उद्देश्य से भिन्न है, अतः उसकी संस्थाऐं भी भिन्न होनी चाहिए। प्रत्यक्षतः उसमें ऐसी संस्थाओं के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता जो व्यक्तिगत सम्पति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचारों पर आधारित है। उसकी शासन-समितियाँ मज़दूरों का मज़दूरों के रूप मे उनके हितों के अनुसार संगठित समुदायों के रूप में प्रतिनिधित्व करती हैं। सामान्य निवास के आधार पर संगठित व्यक्तिगत नागरिकों के रूप में नहीं। दूसरे शब्दों में, जहाँ उदार प्रजातन्त्र अपनी संस्थाओं का निर्माण व्यक्तियों के अधिकारों के आधार पर करता है, वहाँ साम्यवाद उनका आधार मज़दूर वर्ग के सामूहिक अधिकारों पर रखता है। इस सिद्धान्त के आधार पर रूस में अनेकों 'सोवियतों' का निर्माण किया गया। रूसी राज्य में 'सोवियत' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

साम्यवादी अधिनायकतन्त्र का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग रूस की साम्यवादी पार्टी है। "यह एक सुसंगठित राजनीतिक संस्था है जिसमें ऐसे कर्मठ सदस्य हैं जिनको उनकी योग्यता तथा भक्ति के कारण श्रमिकों द्वारा निर्वाचित सरकारी संस्थाओं के सामने प्रस्तुत करने के लिये प्रस्ताव योजनाऐं तथा नीतियाँ बनाने का भार निश्चिन्तता पूर्वक सौंपा जा सकता है।"

राज्य—एक हिंसात्मक संस्था—

चूँकि श्रमिक इस नये राज्य का पूँजीवादी वर्ग के दमन तथा उसे सम्पतिहीन बनाने के लिए प्रयोग करेंगे, अतः यह सुस्पष्ट है कि वह दमनकारी तथा स्वेच्छाचारी होगा। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उसे अपनी सत्ता का प्रयोग पूँजीपतियों के दमन के लिए करना होगा जिससे वे उस मज़दूर वर्ग के द्वारा किए गए निर्णयों को स्वीकार करें जिसका वे शताब्दियों से शोषण करते रहे हैं। यह शासन न इस भाव में प्रजातान्त्रिक हो सकता है कि वह समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है और न इस भाव में स्वतन्त्र ही हो सकता है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए क़ायम है। ऐंगेल्स के निम्नलिखित कथन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जायगा : "चूँकि राज्य केवल अस्थायी सस्था है जिसका प्रयोग क्रान्ति मे विरोधियों के बलपूर्वक दमन के लिये किया जाता है, इसलिये स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय राज्य की बातें करना सर्वथा हास्यप्रद होगी। जब तक श्रमिक वग को राज्य की आवश्यकता है, उसे उसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता के हितों के लिए नहीं वरन् विरोधियों का दमन करने के लिये हैं; और जब स्वतन्त्रता की बात करना सम्भव हो जाता है, तब राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।"

राज्य एक अस्थायी संस्था है—

उक्त अवतरण में ऐंगेल्स ने राज्य को 'अस्थायी' संस्था कहा है। उसने उस समय की ओर भी संकेत किया है जब कि राज्य का अन्त हो जायगा। इस भाषा का प्रयोग राज्य के सम्बन्ध मे साम्यवादी सिद्धान्त की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह राज्य को एक स्थायी सामाजिक सङ्गठन का रूप नहीं मानता और न उसे सर्वोच्च तथा सर्व प्रकार से पूर्ण सामाजिक सङ्गठन

मानता है जैसा कि आदर्शवादी मानते हैं। साम्यवादी एक ऐसे समय की कल्पना करते हैं जब समाज राज्यविहीन (Stateless) हो जायगा और वे हर प्रकार से ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न करते हैं। उनके दृष्टिकोण को समझना सरल है। उनके अनुसार राज्य सारतः एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा एक वर्ग दूसरे वर्ग का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करता है। पूँजीपतियों पर श्रमिक वर्ग की विजय हो जाने के उपरान्त उसके (राज्य को) अस्तित्व के लिये कोई आधार ही नहीं रह जाता : उस समय राज्य का क्षय हो जायगा। साम्यवादियों का आदर्श एक वर्गहीन समाज है उसमें वर्गों का स्थान स्वेच्छापूर्वक निर्मित समुदाय ले लेंगे। ऐसे समाज मे राज्य की दमनकारी सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं होगा, उसमें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। राज्यविहीन तथा वर्गहीन समाज के सम्बन्ध मे "अराजकतावाद" पर विचार करते समय विशद रूप में विचार किया जायगा। जैसा हम आगे देखेंगे, यह आदर्श फ़ैसिज़्म के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। राज्य का साम्यवादी सिद्धान्त उससे सर्वथा भिन्न है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि साम्यवादी रूस में राज्य के क्षय होने के कोई लक्षण नहीं देख पड़ते। शायद क्षय होने की प्रक्रिया बड़ी लम्बी होती है, उसके लिए कोई अवधि नियत नहीं की जा सकती। राज्य का विनाश एक पल भर में नहीं हो सकता।

साम्यवाद : एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन

एक सर्वोपरि सामाजिक संगठन के रूप में राष्ट्रीय राज्य के साम्यवाद द्वारा निषेध का उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति से सम्बन्ध है। यह स्मरण रखना चाहिए कि साम्यवाद वास्तव में एक सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। उसकी कोई राष्ट्रीय सीमाएँ नहीं है। प्रत्येक देश की साम्यवादी पार्टी अपने आप को दूसरे देश की साम्यवादी पार्टी मे घनिष्ट रूप से सम्बद्ध समझती है। सभी राष्ट्रीय साम्यवादी दल अन्तर्राष्ट्री साम्यवादी सङ्घ (Communist International) के अधीन हैं और उसके आदेश को मानने के लिये वचनबद्ध हैं। साम्यवादी घोषणापत्र के अन्तिम शब्द निम्न प्रकार हैं : "श्रमिक वर्ग को अपने बन्धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खोना है, वरन् उसे विश्व को विजय करना है। सब संसार के मज़दूरों, परस्पर मिल जाओ।" इन शब्दों ने इस आन्दोलन को अवश्य ही

अन्तर्राष्ट्रीय रूप दे दिया है। एक सच्चे साम्यवादी की अपने राज्य की अपेक्षा अपने दल के प्रति अधिक भक्ति होती है; उसका सर्वप्रथम कर्तव्य कॉमिन्टर्न (Commintern) के प्रति है, उस देश के प्रति नहीं जहाँ उसका आवास है। इस दृष्टि से भी साम्यवादी दृष्टिकोण फ़ैसिस्ट दृष्टिकोण से, जो उग्र रूप में राष्ट्रीय है, सर्वथा भिन्न है। यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि सोवियत रूस अब राष्ट्रीय आदर्श की ओर झुकता जाता है। ऐसा भी सुना गया था कि कई देशों की साम्यवादी पार्टी ने कॉमिन्टर्न की अधीनता को अस्वीकार कर दिया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में कॉमिन्टर्न का भङ्ग कर दिया गया था, परन्तु 'कॉमिनफ़ॉर्म' (Comminform) के नाम से हाल ही में उसका पुनर्जन्म हो चुका है।

साम्यवाद के अन्तर्गत मज़दूरों की अवस्था

यदि सोवियत रूस के आधार पर इस सम्बन्ध में कुछ परिणाम निकाले जाँय, तो यह कहा जा सकता है कि साम्यवादी समाज में कार्य तथा श्रम दायित्व तथा सम्मान की बात दोनों ही हैं। ऐसे समाज का एक प्राथमिक नियम यह है—"जो काम नहीं करता, उसे खाना भी नहीं मिलता।" परन्तु मज़दूर को अपने काम का चुनाव करने की स्वतन्त्रता नहीं है, उसे वही काम करना पड़ता है जो उसके लिये राज्य निश्चय करता है। उसके हितों का संरक्षण उन विविध श्रम-सङ्घों द्वारा होता है, जिसका वह सदस्य होता है। इन सङ्घों को कार्य करने की कोई वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उन पर साम्यवादी पार्टी का आधिपत्य है और वे केवल उसकी सहायक संस्था जैसी हैं। वेतन व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में आदर्श यह है—"प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार कार्य करे और प्रत्येक को अपने परिश्रम के अनुसार मिले।" इस उद्देश्य से सब औद्योगिक श्रमिकों को योग्यता के अनुसार कई समुदायों में विभाजित कर दिया गया है।

साम्यवाद का मूल्यांकन

साम्यवादी रूस की सफलताओं तथा असफलताओं पर यहाँ विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम तो अपना ध्यान उसके सैद्धान्तिक मूल्यांकन तक ही सीमित रखेंगे। सबसे प्रथम हम इस साम्य-

वादी विचार को स्वीकार नहीं करते कि राज्य एक वर्ग का संगठन है और वह हिंसात्मक संस्था है। वर्तमान राज्यों के सम्बन्ध में यह बात कितनी ही सत्य क्यों न हो और इसने उनके दोषों तथा त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करने में चाहे कितनी ही बड़ी सेवा क्यों न की हो, वास्तव में राज्य का वही सिद्धान्त समुचित है जो प्राचीन सिद्धान्त (Classical Theory) के नाम से विख्यात है और जिसके अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है जिसका लक्ष्य नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास है। यह इच्छा पर कायम है, बल पर नहीं ; साम्यवादी विचार दूषित राज्यों के संबंध में ही सत्य है।

दूसरे, यह स्वीकार करते हुए कि आजकल का राज्य पूंजीवादी वर्ग के पक्ष में अधिक है और मज़दूर वर्ग के प्रति अत्याचारी तथा दमनकारी है तथा इसमें सुधार की आवश्यकता है, हमें उन दोषों को दूर करने तथा उसमें परिवर्तन करने के जो उपाय साम्यवादी बतलाते हैं उनके औचित्य पर सन्देह है। इसमें सन्देह है कि हिंसात्मक आन्दोलन तथा तीव्र वर्गीय संघर्ष जिसकी क्रान्तिकारी साम्यवादी कल्पना करते हैं आदर्श समाज की स्थापना कर सकेंगे। हिंसा की बार-बार चर्चा, उसका प्रोत्साहन तथा उसका प्रयोग जंगलीपन के बन्धनों को शिथिल कर देगा जिससे एक न्याय, सुव्यवस्थित तथा शान्तिमय समाज की स्थापना असभव हो जायगी। गत दोनों महायुद्धों के बाद मित्र राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अभिवृद्धि के प्रयत्नों की असफलता से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। क्रान्तियों के द्वारा उनके प्रारम्भिक उद्देश्यों की प्राप्ति मे कभी-कभी ही सफलता मिलती है। वे समाज को एक अस्त-व्यस्त स्थिति में छोड़ देती हैं और कोई यह नहीं कह सकता कि उस स्थिति में से कैसे समाज का जन्म होगा। प्रायः क्रान्तियों में से जिस समाज का जन्म होता है, उसका रूप उससे भिन्न होता है जिसकी हम आशा करते हैं। क्रान्ति की सफलता के बाद जिन व्यक्तियों के हाथों में सत्ता होती है, वे आवश्यक रूप से क्रान्ति के संचालक नहीं होते ; वे उनकी अपेक्षा कम आदर्शवादी तथा अधिक स्वार्थी और महत्वाकांक्षी होते हैं। मोर्ले ने लिखा है कि "क्रान्तिकारी नेता अग्नि-पथ पर चलता है।" वह यह नहीं जानता कि उसका मार्ग उसे किधर ले जायगा। अतः इसकी संभावना नहीं है कि साम्यवादियो के ढग उन्हें अपने चरम ध्येय तक पहुँचा देंगे।

इस संबंध में यह भी स्मरण रखना चाहिए आजकल के समय में क्रान्तिकारी विप्लव उतना आसान नहीं है जितना कि पैरिस कम्यून (Paris Commune) के समय था। किसी भी नागरिक प्रजा को उस शासन के विरुद्ध सफलता के सुयोग प्राप्त नहीं हो सकते जिसे सुशिक्षित तथा यांत्रिक सैन्य बल का समर्थन प्राप्त है।

इसके बाद एक दूसरी कठिनाई और भी पैदा होती है। साम्यवादियों की यह कल्पना है कि पूंजीवादी वर्ग के हाथों में से सत्ता प्राप्त करने के बाद साम्यवादी दल सत्ता का परित्याग कर देगा और राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो जायगी। मानव अनुभव में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे इस त्याग की संभावना सत्य प्रमाणित हो सके। जिन लोगों के हाथों में सत्ता आ जाती है, वे उस समय तक उसे अपने हाथ में रखते हैं जब तक उनमें उसकी सामर्थ्य होती है। ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है कि साम्यवादी दल ऐसा नहीं करेगा। यह भी समझ में नहीं आता कि जो शासन बल-प्रयोग एवं हिंसा के आधार पर टिका हुआ है वह कैसे ऐसे नये समाज की स्थापना कर सकेगा जिसमें बल-प्रयोग तथा हिंसा का सर्वथा अभाव हो। जितना ही हम इस पर विचार करते हैं, उतनी ही हमारी यह धारणा पुष्ट होती जाती है कि सशस्त्र क्रान्ति वैसे नये प्रकार के समाज को जन्म नहीं दे सकती जिसकी समाजवादी कल्पना करते हैं। हिंसा की प्रणाली 'न्याय की धात्री' नहीं हो सकती।

अन्त में, यह भी सन्देहास्पद है कि वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना वांछनीय है या इसकी मानव प्रकृति से कुछ संगति भी है। वर्गीय भेदभाव मानव-प्रकृति में जड़ पकड़ गये हैं; ऐसा कोई मानव-समाज नहीं है जिसमे उनका विकास न हुआ हो। राज्य मानव-प्रगति की एक अनिवार्य शर्त है ; सभ्यता, संस्कृति, कला, दर्शन, धर्म, संक्षेप में, वे सभी तत्व जो मानव जीवन को श्रेष्ठतम एवं सुन्दर बनाते हैं राज्य की छत्रछाया में ही उपलब्ध हो सके हैं। साम्यवादी आदर्श मानवजाति के बहुमत को आकर्षक प्रतीत नहीं होता।

फ़ैसिज़्म के साथ तुलना

साम्यवाद और फ़ैसिज़्म की रीतियों (पद्धतियों) में अनेक समानताएं

हैं तथापि वे दोनों अपने आदर्शों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अनेक मामलों में उनके शासन की रीतियाँ समान हैं, यद्यपि उनके उद्देश्य विभिन्न हैं। साम्यवादियों तथा फ़ैसिस्टों दोनों ने हिंसा द्वारा सत्ता हस्तगत की और दोनों ने एक ही प्रकार का शासन अर्थात् सर्वस्वायत्त-शासन स्थापित किया। इटली तथा रूस दोनों ही देशों में एक दल जनता के नाम पर अधिनायकीय सत्ता का प्रयोग करता है और प्रचार, हिंसा तथा आतङ्कवाद द्वारा, जनता पर अपनी एकरूप विचारधारा थोपता है। दोनों समाचार-पत्र, स्कूल आदि प्रकार के साधनों पर अपना एकाधिकार रखते हैं और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करते हैं। दोनों ही स्वतन्त्र विचार-विनिमय से भयभीत हैं और आलोचना को सहन नहीं कर सकते। कोई भी अपने विरोधी दल को कायम नहीं रहने देता। दोनों ही सांसद प्रजातन्त्र तथा सांसद संस्थाओं का उपहास करते हैं। उनके नेता बहुत ही वीर, पराक्रमी, साहसी, चतुर और लोक-भावना पूर्ण रहे हैं जिनका उद्देश्य अपने-अपने राष्ट्र की क्षयग्रस्त एवं मरणासन्न शासनों के अत्याचारों से रक्षा करना था। युद्धोपरान्त इनके देशों में जो अव्यवस्था फैली, उससे उन्होने पूरा पूरा लाभ उठाया। अल्पमत शासनों के रूप मे उन्होंने सत्ता प्राप्त की और अपने विरोधी दलों के विनाश के लिए कठोर उपायों का प्रयोग किया। इन दोनों ने अपने-अपने राष्ट्रों के नवयुवकों में अपने-अपने सिद्धान्तों के संस्कार डालने के लिए बड़ी जबरदस्त युवक-संस्थाएँ स्थापित की हैं। यद्यपि फ़ैसिज़्म के आर्थिक सिद्धान्त पूर्ण रूप से साम्यवाद के आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, तो भी फ़ैसिस्ट दृष्टिकोण मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो परिवर्तन हुआ है (यह बात नात्सीवाद के सम्बन्ध में भी सत्य है) उससे वह साम्यवादी व्यवहार के निकट पहुँच गया है।

इन समानताओं के होने पर दोनों पद्धतियाँ सर्वथा भिन्न हैं। साम्यवादी एक वर्ग के रूप में पूँजीपतियों का अन्त कर देना चाहता है और एक ऐसे नवीन सामाजिक व्यवस्था का स्वप्न देखता है, जिसमें मज़दूर तथा मालिक का भेद भाव नहीं रहेगा, किन्तु एक फ़ैसिस्ट मज़दूर वर्ग तथा मालिक वर्ग दोनों के अस्तित्व को आवश्यक मानता है और उनकी रक्षा करना चाहता है। उसे पूँजीपतियों तथा मज़दूरों के हितों में कोई सनातन विरोध नहीं दिखाई देता और वह इन दोनों के सम्बन्धों को सामंजस्यपूर्ण बना कर राष्ट्रीय ध्येय की सिद्धि चाहता है।

इससे दोनों सिद्धान्तों के अनुयायियों में जो कटुता है, उसका और पश्चिम के प्रजातन्त्रीय राष्ट्रों की साम्यवाद की अपेक्षा फ़ैसिज़्म के साथ समझौता करने के लिए जो तत्परता है उसका कारण मालूम हो जाता है।* वे यह मानते हैं कि साम्यवाद फ़ैसिज़्म की अपेक्षा वर्तमान् सभ्यता के लिये बड़ा खतरा है। साम्यवाद वर्तमान् सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था के लिये महान् खतरा है; फ़ैसिज़्म सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था में कोई भयंकर हस्तक्षेप नहीं करता, वह तो एक नवीन राजनीतिक संगठन की स्थापना करता है और आर्थिक क्षेत्र में काफ़ी परिवर्तन करता है, परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं।

दूसरे, साम्यवाद सिद्धान्त की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय है। वह एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन विश्व-समाज की स्थापना करना चाहता है; वह राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानता। दूसरी ओर फ़ैसिज्म अत्यन्त उग्र रूप में राष्ट्रीय है; वह राष्ट्रीय राज्य को एक सर्वोपरि सामाजिक संगठन मानता है और व्यक्ति को उसकी पूर्ण अधीनता में रखता है। इस प्रकार साम्यवाद की विचारधारा सर्वथा नवीन है। फ़ैसिज़्म की कोई नई विचारधारा नहीं है, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का ही नया रूप है। लेनिन ने फ़ैसिज़्म को पूँजीवादी साम्राज्यवाद की अन्तिम अवस्था कहा है। इस प्रकार राष्ट्रीय राज्य के प्रति फ़ैसिस्ट तथा साम्यवादी दोनों का दृष्टिकोण विभिन्न है। साम्यवाद अपने को विश्वव्यापी क्रान्ति का अग्रदूत मानता है जो वर्तमान् राष्ट्रीय सीमाओं का विध्वंस कर देगी। फ़ैसिज़्म राष्ट्रीय राज्य का अनन्य भक्त है और वह उसके गौरव तथा उसकी महानता को बढ़ाना चाहता है।

---

* द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ में इङ्गलैंड बहुत समय तक जर्मनी से बात-चीत करता रहा और उसने साम्यवादी रूस के साथ मित्रता करने की कोई इच्छा प्रकट नहीं की। बाद में इंगलैंड तथा रूस में जो मित्रता हुई वह केवल सांग्रामिक आवश्यकताओं के कारण थी। शत्रु का शत्रु मित्र होता है। युद्ध की समाप्ति के बाद से जो कुछ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हो रहा है उससे भी हमारा विचार सत्य प्रकट हो रहा है। योरोप में रूस के विरुद्ध मोर्चाबन्दी को मज़बूत करने के लिये अब स्पेन को भी जिसे फ़ैसिस्ट कह कर अभी तक बहिष्कार हो रहा था, पश्चिमी प्रजातन्त्र संयुक्त राष्ट्र में शामिल करने जा रहे हैं।

तीसरे साम्यवाद अनीश्वरवादी है उसका ईश्वर एवं धर्म में विश्वास नहीं है। उसका अपना कोई राजधर्म नहीं है। फ़ैसिज़्म जीवन में से धर्म का बहिष्कार नहीं करना चाहता और न वह धर्म को विष समान ही मानता है। अभी हाल ही में साम्यवादी रूस तथा नात्सी जर्मनी और फ़ैसिस्ट इटली तथा उनके साथियों के बीच जो संहारकारी युद्ध हो चुका है उससे इन दोनों सिद्धान्तों का विरोध सिद्ध हो जाता है।

अध्याय १८

सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त

सिन्डीकेलिज्म, गिल्ड-समाजवाद, और अराजकतावाद

पूर्व अध्याय में हम बतला चुके हैं कि समष्टिवाद की नीतियाँ एव कार्यक्रम समस्त समाजवादियों को मान्य नही हैं। उनमें बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं जो समष्टिवादियों की राज्य-भक्ति के बड़े विरोधी हैं, ये उनके वैधानिक साधनों को पसन्द नहीं करते और न राज्य द्वारा उद्योगों के नियन्त्रण की नीति को ही पसन्द करते हैं। वे यह मानते हैं कि राज्य एक ऐसा माध्यम नहीं है जिसके द्वारा वे अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन को कर सकें। ऐसे परिवर्तनों को तो आवश्यकतानुसार उपयुक्त साधनों द्वारा मज़दूर-संघों में सगठित मज़दूर ही सीधी कार्यवाही द्वारा कर सकते हैं। वे यह भी कहते हैं कि मज़दूरों की दशा राज्य द्वारा नियन्त्रित उद्योगों के अन्तर्गत भी बुरी बनी रहेगी। उसमें सुधार उसी समय संभव होगा जबकि स्वयं मज़दूरों का उन अवस्थाओं पर नियन्त्रण हो जिनमें उन्हें काम करना पड़ता है। राजनीतिक या विकासवादी समाजवाद के विरुद्ध यह विद्रोह दो समाजवादी सम्प्रदायों, सिन्डीकेलिज़्म तथा गिल्ड समाजवाद, मे प्रकट हुआ। इन दोनों में सिन्डीकेलिज़्म पहले का है और वह अधिक उग्र भी है। सिन्डीकेलिज़्म का जन्म फ़्रांस में हुआ। गिल्ड-समाजवाद का जन्म ब्रिटेन में हुआ। यह सिन्डीकेलिज़्म का ही संशोधित रूप है जिसमें सिन्डीकेलिज़्म की अच्छी बातों का समावेश कर लिया गया है।

सिन्डीकेलिज़्म

सिद्धान्त का वर्णन—

सिन्डीकेलिज़्म भी समाजवाद के अन्य रूपों की भाँति सामाजिक

संगठन का एक सिद्धान्त और साथ ही एक कार्यक्रम भी है। किन्तु उसने भावी समाज का चित्र स्पष्ट अंकित नहीं किया है। उसके सिद्धान्त-वादियों ने इस समस्या पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इसके कई कारण हैं। सिन्डीकेलिज़्म का अवसरवादी तथा व्यावहारिक रूप ही इसके लिए उत्तरदायी है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि सिन्डीकेलिज़्म का जन्म एक सिद्धान्त के रूप में नहीं; बल्कि फ़्रांस मे एक मज़दूर आंदोलन के रूप में हुआ और इस सिद्धान्त का विकास उस आंदोलन में से ही होगया। इस मामले मे यह समाजवाद, साम्यवाद और अराजकतावाद के विरुद्ध है, जिनके संस्थापक कार्ल मार्क्स, ऐंगेल्स, लेनिन तथा प्रिंस क्रोपॉटकिन जैसे उच्चकोटि के विद्वान थे। सिन्डीकेलिज़्म के इतिहास में ऐसे कोई बड़े नाम नहीं आते। उसके सिद्धान्तवादी ऐसे व्यक्तियों में से हैं जिन्हें शारीरिक श्रम का अनुभव था। यह एक सच्चे अर्थ में मज़दूर वर्ग का आन्दोलन है; समाजवाद के अन्य रूपों का प्रादुर्भाव मध्य-वर्ग के सिद्धान्तवादियों के मस्तिष्कों मे हुआ, जिनमें से किसी को शारीरिक श्रम का व्यक्तिगत अनुभव नहीं था। इस व्यापक भावना के कारण कि जब मज़दूर समाज के आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेंगे, तब स्वयं ही नवीन सामाजिक संगठन का विकास हो जायगा, इस आन्दोलन के सिद्धान्तवादियों ने उस भावी रूप के प्रश्न पर विचार नहीं किया जिसे भावी सिन्डीकेलिस्ट समाज धारण करेगा। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस समाज में उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वाम्य होगा, परन्तु उनका वास्तविक प्रयोग मज़दूरों के हाथों में होगा जो मज़-दूर-संघों के रूप में सगठित होंगे। फ़्रेंच भाषा में मज़दूर-संघ को 'सिन्डी-केट' कहते हैं। ये सिन्डीकेट ही अपने अपने क्षेत्र में माल के उत्पादन तथा सेवाओं की व्यवस्था करेंगे। समस्त उद्योगों के स्थानीय सिन्डीकेट 'बूर्स डुट्रेवेल' में संगठित किए जायँगे जिसके द्वारा उनका परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध होगा और जो राज्य के विभिन्न भागों के बीच पण्यों के विनि-मय की व्यवस्था करेंगे। प्रत्येक व्यापार या उद्योग के लिये एक 'राष्ट्रीय फ़ेडरेशन' होगा, परन्तु उद्योग पर नियन्त्रण स्थानीय 'बूर्स' का होगा। इस संगठन का फ़्रांस के वर्तमान मज़दूर-आन्दोलन से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये सिन्डीकेलिज़्म को भलीभाँति समझने के लिए उसको समझ लेना परम आवश्यक है।

भावी समाज में, जिसकी सिन्डीकेट कल्पना करते हैं, राजनीतिक

राज्य जैसी कोई वस्तु नहीं होगी । सिन्डीकेलिस्ट केन्द्रीय शासन का सर्वथा विनाश चाहता है। केन्द्रीय शासन की सत्ता का विनाश करने और औद्योगिक आत्म-साहाय्य तथा व्यक्तिवाद पर ज़ोर देने में सिन्डीकेलिज़्म अराजकता का अनुसरण करता है जिसका एक प्रमुख व्याख्याकार प्रोधों (Proudhon) है जिससे सिन्डीकेलिस्टों ने प्रेरणा प्राप्त की। सिन्डीकेलिज़्म के अनुसार भावी समाज किसान-मज़दूरों के छोटे छोटे समुदायों का, जो सहकारी पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन पर नियन्त्रण करेंगे (उसमें कोई केन्द्रीय शासन नहीं होगा) एक शिथिल सघ होगा। इस कल्पना के लिए भी सिन्डीकेलिज़्म अराजकतावाद का ऋणी है। एक अंग्रेज़ लेखक ने तो उसे 'संगठित अराजकता" कहा है।

सिन्डीकेलिज़्म की प्रमुख विशेषताएँ हैं केन्द्रीय दमनकारी सत्ता का विरोध तथा सिन्डीकेलिस्ट समाज की स्थापना में वैधानिक उपायों के प्रयोग से घृणा । इसके उपयुक्त कारण मालूम करना वाञ्छनीय है। इसका आंशिक कारण तो यह है कि फ्रेंच मज़दूरों के प्रति राज्य का व्यवहार बहुत ही शत्रुतापूर्ण और उद्योगपतियों के साथ अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहा है। फ्रेंच राज्य ने बड़ी अनिच्छापूर्वक मज़दूरों के अपने वैध अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिये संगठन तथा कार्य करने के अधिकार को स्वीकार किया है। १६ वीं शताब्दी की अन्तिम शताब्दी तथा २० वीं शताब्दी के आरम्भ मे बहुत से फ्रेन्च राजनीतिज्ञों ने जिन्होंने समाजवादी के रूप मे राजनीति में प्रवेश किया मज़दूर हड़तालियों के दमन में सैन्य दलों का प्रयोग किया । समाजवादी मिलरैंड का उदाहरण प्रसिद्ध है जिसने सन् १८६६ ई० में वाल्डेक-रूसो के मन्त्रिमण्डल में पद ग्रहण किया था। इस प्रकार के अनुभवों से सिन्डीकेलिस्टों में यह विश्वास पैदा हो गया कि राज्य आवश्यक रूप से पूँजीवादी या मध्यवर्गीय संस्था है जिसका मुख्य कार्य शान्तिकाल में राष्ट्र के भीतर मजदूरों के विरुद्ध और युद्ध-काल में बाहरी शत्रु से पूँजीवादी समुदायों की रक्षा करना है। इस प्रकार वे मार्क्स की इस उक्ति को मानते हैं कि राज्य पूँजीवादी शोषण का एक यन्त्र है जो अपनी प्रकृति के कारण ही मजदूरों के हितों के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकता। उस सामाजिक संगठन का रूप चाहे जो कुछ हो जिसमें राज्य विद्यमान है, उसकी यह प्रकृति क़ायम रहेगी । इस प्रकार अनुभव तथा सिद्धान्त दोनों ही से राज्य के विरुद्ध अविश्वास उत्पन्न हुआ।

सिन्डीकेलिस्टों के राज्य के विरोध का एक दूसरा कारण यह है कि सिन्डीकेलिस्ट उपभोक्ता के दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्पादक के दृष्टि-कोण का प्रतिनिधित्व करता है जबकि राज्य उपभोक्ता का प्रतिनिधित्व करता है—उत्पादक का नहीं ; जो अधिकार एवं सत्ता राज्य में निहित होगी वह उपभोक्ताओं की ही सत्ता होगी। सिन्डीकेलिज़्म के अनुसार मज़दूरों को न केवल आर्थिक व्यवस्था पर, वरन् राजनीतिक व्यवस्था पर भी नियन्त्रण रखना चाहिए क्योंकि वे ही सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं।* समाज के जीवन में उनके महत्त्व के कारण सिन्डीकेलिस्ट मज़दूरों के राष्ट्रीय जीवन में एक नया उच्च गौरवपूर्ण और स्वतन्त्र स्थान देना चाहते हैं, जिसके वे अपने कार्य के कारण उपयुक्त हैं। समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर मजदूरों के नियन्त्रण पर वे ज़ोर देते हैं उससे उनकी समष्टिवाद से भिन्नता प्रकट होती है। इसी से उसे शक्ति और उसका विशिष्ट रूप मिलता है। सिन्डीकेलिस्टों का ध्येय मज़दूरों की दशा में केवल सुधार करना ही नहीं है, वे केवल मज़दूरी बढ़ाने, काम के घंटे कम कर देने या उद्योग में सुधार से ही संतुष्ट नहीं होते। साधारण समाजवादियों ने मज़दूरों को मुनाफ़े में हिस्सा देने, उद्योगों का मालिकों तथा मजदूरों की समितियों द्वारा प्रबन्ध और इन दोनों के बीच विवादों के पंचायती निर्णय आदि का योजनाओं को प्रस्तुत किया है, उनमें सिन्डीकेलिस्टों को कोई आकर्षण नज़र नहीं आता। सिन्डीकेलिस्ट मज़दूरों को ऐसी स्थिति में रख देना चाहता है, जिसमें वे स्वयं अपने काम तथा जीवन की अवस्थाओं का निर्णय कर सकेंगे जिनमें उनकी रचनात्मक शक्ति का प्रदर्शन तथा व्यक्तित्व का विकास हो सकेगा। दूसरे शब्दों में, सिन्डीकेलिज़्म मज़दूरों को समाज में सत्ता के पद पर देखना चाहता है। यह सब उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि उत्पादन के भौतिक साधनों पर पूँजीपति का अधिकार एवं नियन्त्रण है। जब तक कि पूँजी पर से व्यक्तिगत स्वामित्व न उठा दिया जायगा तब तक मज़दूरों का सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा शोषण होता रहेगा।

* सिन्डीकेलिज़्म के अनुसार समाज सारतः सम्पत्ति के उत्पादकों का एक समुदाय है। 'उत्पादक की हैसियत में मनुष्य का जो प्राथमिक काम है, उसी से उसकी सामाजिक मनोवृत्ति का निर्माण होता है।' (Wasserman : op. cit., p. 124.)

इस प्रकार सिन्डीकेलिज़्म पूँजीपतियों तथा मज़दूरों के बीच वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को जा पहुँचता है जो काल मार्क्स का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह इस धारणा पर चलता है कि मजदूरों तथा पूँजीपतियों में कोई भी समझौता सम्भव नहीं; उनमें सनातन सघर्ष रहेगा। अपने सुधार के लिए मजदूरों को उत्पादन के साधनों पर अधिकार प्राप्त करना होगा। इसके लिए पूँजीपतियों का निष्कासन तथा उसके समर्थक राज्य का विनाश आवश्यक है।* इस प्रकार सिन्डीकेलिज़्म के सिद्धान्त का एक भाग अर्थात् समाज के आर्थिक आधार सम्बन्धी धारणा तथा वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, कार्लमार्क्स की देन है। इसे हम मार्क्सवाद, अराजकतावाद और क्रान्तिकारी मजदूर-संघवाद का मिश्रण कह सकते हैं। इन तीनों के कुछ अंशों से एक नये सिद्धान्त का निर्माण हुआ है।

सिन्डीकेलिज्म की प्रणाली—

सिन्डीकेलिस्टों ने अपने ध्येय की प्रकृति पर इतना ज़ोर नहीं दिया जितना कि उसकी प्राप्ति के साधनों पर। राज्य के प्रति मज़दूरों तथा पूँजीपतियों में समझौते की सम्भावना में अविश्वास के कारण ही उन्होंने वैधानिक मार्ग को अस्वीकार करके सीधी कार्यवाही की प्रणाली को ग्रहण किया है। सामाजिक संगठन में शान्तिमय क्रांति पैदा करने के लिए संसद् में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से वे चुनावों का समर्थन नहीं करते। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, फ्रान्स में समाजवादी मंत्रियों के सम्बन्ध में उनका अनुभव बड़ा कडुआ था। उनके लिए अपने उद्देश्य में सफलता-प्राप्ति के लिये वर्गीय चेतना तथा क्रांतिकारी भावना को तीव्र रूप देना अनिवार्य है। यदि ससद्-प्रणाली को स्वीकार किया जाय तो ये दोनों ही कुंठित हो जायगें। ससद् का मज़दूर-सदस्य अपनी क्रान्तिकारी भावना खो बैठेगा और उसमें वैधानिक सुधार की भावना जागृत हो जायगी। वह संसद् में अपने निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने जाता है, मज़दूरों के हितों की लड़ाई लड़ने नहीं। ऐसे प्रतिनिधियों से मज़दूरों को अधिक आशा नहीं रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि सब मज़दूर एक साथ मिल कर मत दें, राज-

* पश्चिमी प्रजातन्त्रीय राज्य, जैसे इंगलैंण्ड, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका प्रायः पूँजीवादी प्रजातन्त्र कहे जाते हैं। राजसत्ता पूँजीपतियों के हाथ में है, अतः राज्य भी पूँजीपतियों के पक्ष में रहता है।

नीतिक प्रश्नों पर उनके विचार भिन्न हो सकते हैं। सांसद कार्यों में सफलता प्राप्त करना आसान बात नहीं है। इन कारणों से सिण्डीकेलिस्टों ने संसद्-प्रणाली को त्याग दिया है। जिसका समष्टिवादी बड़े प्रबल रूप से अनुमोदन करते हैं और वे आर्थिक क्षेत्र में सीधी कार्यवाही (Direct Action) के पक्ष में हैं।

हड़ताल तथा सेबोटास (Sabotage) सीधी कार्य-प्रणाली के दो रूप हैं। लेबल (Label) और बहिष्कार (Boycott) भी दो छोटे अस्त्र हैं। 'लेबल' का प्रयोग केवल सिण्डीकेलिस्ट ही नहीं करते, इसका प्रयोग समस्त संसार के देशों मे संगठित मज़दूरों द्वारा किया जाता है। 'लेबल' से यह मालूम होता हैं कि अमुक पण्य ऐसे कारखाने में तैयार किया गया है, जिसमें मज़दूर-सङ्घ के मज़दूर काम करते हैं। उपभोक्ता ऐसे माल को ख़रीदने से इन्कार करके जिस पर एक निश्चित मज़दूर-सघ का लेबल न हो मिल-मालकों पर भारी प्रभाव डाल सकते हैं। बहिष्कार के भी अनेक रूप हो सकते हैं। माल की निन्दा, ग़लत समाचारों का प्रचार तथा कारोबार के गुप्त भेदो को प्रकट कर देना भी ऐसे तरीक़े हैं जिनका सीधी कार्यवाही में प्रयोग किया जाता है। 'सेबोटाज' का अर्थ है उद्योग की सुव्यवस्थित प्रक्रिया में गुप्त रूप से बाधा डालना। मालिक के कारखाने में काम करते हुए, मज़दूर अनेक उपायों से मालिक के मुनाफ़े में कमी कर सकता है और उसे घाटा दे सकता है। 'जैसी तेरी कोमरी, वैसे मेरे गीत' के सिद्धान्त पर वह ठीक काम नहीं करता। वह तैयार माल को नष्ट कर देता है तथा मशीनों को अस्तव्यस्त कर देता है। वह समस्त नियमों का इस प्रकार से अक्षरशः पालन करता है कि उत्पादन के परिणाम मे कमी हो जाय। सेबोटाज के कुछ रूप तो नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है किन्तु उनके समर्थक उनका यह कह कर अनुमोदन करते हैं कि वे युद्ध के अङ्ग हैं।

सीधी कार्यवाही का सबसे प्रभावकारी ढंग है हड़ताल। सिण्डीकेलिस्ट हड़ताल को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। हड़ताल एक ही कारखाने तक या एक उद्योग तक सीमित हो सकती है। वह स्थानिक, प्रादेशिक या राष्ट्रीय भी हो सकती है। सबसे उत्तम हड़ताल सामान्य हड़ताल (General Strike) है। इससे आशय है किसी महान् आधारभूत उद्योग या उद्योगों में बड़ी विशाल संख्या मज़दूरों द्वारा हड़ताल जिससे वह उद्योग अस्तव्यस्त हो जाय और इस प्रकार समाज

है और जिस वस्तु का वह निषेध करता है उसे स्वीकार करके उसकी एक पक्षीयता को दूर कर देता है।

हड़तालों की सफलता या कार्य-साधकता के सम्बन्ध में भी सन्देह किया जाता है। असफल हड़तालों से मज़दूरों का नैतिक पतन हो जाता है; उनसे मज़दूरों में वर्ग-संघर्ष की चेतना तीव्रतम होने के स्थान पर शिथिल हो जाती है। उनसे निर्दोष तीसरे पक्ष की हानि होती है जिसकी सहानुभूति मज़दूर इस प्रकार खो देते हैं। अधिकांश समाजवादियों का यह भी विश्वास है कि समस्त मज़दूरों को चुनाव में मत देने के लिये एकत्रित करना सामान्य हड़ताल के लिये उनका समर्थन प्राप्त करने से अधिक आसान है।

सिन्डीकेलिस्टों ने इन आलोचनाओं के औचित्य को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया है। अब यह सिद्धान्त धीरे धीरे नरम होता जा रहा है जिससे सिन्डीकेलिज्म तथा समाजवाद के बीच का भेद अस्पष्ट होता जा रहा है। प्रथम विश्वयुद्ध का इस पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। जैसे ही प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ, फ्रान्स के राष्ट्रीय मज़दूर संघ (French General Federation of Labour) ने राज्य-विरोध और सैन्य-विरोध का परित्याग कर दिया, समाजवादियों से मिलकर सरकार के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया और युद्ध-प्रयत्न में सहायता दी। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त अधिकांश सिन्डीकेलिस्टों ने मज़दूरों को यह सलाह दी कि वे सिन्डीकेलिज़्म की वर्ग-युद्ध की पुरानी भावना का परित्याग करके उद्योगों के विशेषज्ञों, प्रबन्धकों तथा वैज्ञानिकों के साथ सहयोग करके आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करें। इन बातों से सिन्डीकेलिस्ट विचार धारा में नवीन प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है।

गिल्ड समाजवाद—

सिन्डीकेलिज़्म का सिद्धान्त अपने जन्म स्थान फ्रान्स से इंगलैण्ड पहुँचा जहाँ उसने कुछ परिवर्तन के बाद गिल्ड-समाजवाद (Guild Socialism) का रूप ग्रहण किया। अपने प्रारम्भिक रूप में सिन्डी-केलिज्म इतना क्रान्तिकारी एवं अराजक था कि वह इङ्गलैण्ड के वाता-वरण के अनुकूल नहीं था। परन्तु उसमें ऐसे विचार हैं जिनकी कोई भी व्यक्ति, जो समाज की नवीन व्यवस्था करना चाहता है, उपेक्षा

नहीं कर सकता। समष्टिवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर करने में असफल रहता है ; कुछ विचारकों के अनुसार तो वह पूँजीवादी नौकरशाही के स्थान पर राज्य की नौकरशाही को बिठा देता है। वह मज़दूरों को उनकी अभीष्ट वस्तु अर्थात् वह सत्ता नहीं दे सकता जिससे वे अपने जीवन तथा कार्य की अवस्थाओं का निर्धारण कर सकें। सिन्डीकेलिज्म यही बात चाहता है। परन्तु वह उपभोक्ताओं के हितों की उपेक्षा करता है और राजनीतिक प्रणाली या वैधानिक पद्धति का परित्याग करके बड़ी भूल करता है। उसकी स्थिति उस मल्ल के समान है जो अपने प्रतिद्वन्द्व के साथ मल्लयुद्ध में अपने हाथ को पहले ही से पीठ पीछे बांध लेता है। समाजवाद सिन्डीकेलिज्म तथा समष्टिवाद में जो श्रेष्ठ तत्व हैं, उन्हें ग्रहण कर लेता है। वह एक के श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण कर दूसरे के दोषों का परिहार कर देता है। इस प्रकार गिल्ड-समाजवाद इन दोनों के मध्य का मार्ग है। यद्यपि यह सिन्डीकेलिज़्म तथा समष्टिवाद के विरोधी दृष्टिकोणों में एक सामजस्य स्थापित करता है, परन्तु उसकी मूल प्रेरक शक्ति उसे सिन्डीकेलिज़्म से ही प्राप्त होती है।

गिल्ड-समाजवाद के मूल तत्व—

गिल्ड-समाजवाद का ध्येय उद्योग में उन लोगों के स्वराज्य की स्थापना करना, जो उसमें सलग्न हैं, तथा वर्तमान् वेतन-प्रथा का अन्त करना है। सिन्डीकेलिज़्न की भाँति वह यह मानता है कि मज़दूरों को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह अधिक भौतिक कल्याण ही नहीं, वरन् ऐसी अवस्था का निर्माण है, जिससे उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण हो सके। समाज के एक सर्वथा नवीन आधार पर नव-निर्माण की आवश्यकता है, जिसके द्वारा वर्तमान् अत्याचारों एवं दोषों के सभी स्त्रोतों का नाश हो सके। इसके लिए व्यक्तिगत पूँजी का नाश ही आवश्यक नहीं है, वरन् समाज के राजनीतिक संगठन में आमूल परिवर्तनों की भी आवश्यकता है। गिल्ड-समाजवादी समष्टिवादी की इस बात को तो स्वीकार कर लेता है कि राज्य या समाज का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होना चाहिए परन्तु उससे इस बात में सहमत नहीं है कि उद्योगों का वास्तविक संचालन सरकार के हाथों में हो। वह इसे प्रत्येक उद्योग में, गिल्डों (Guilds) के रूप में संगठित मज़दूरों के हाथों में रखना चाहता है। इस प्रसङ्ग में, उसमें और सिन्डीकेलिस्टों में

मतैक्य है। एक गिल्ड में एक उद्योग में काम करने वाले सभी व्यक्ति सम्मिलित होंगे—एक चपरासी से लेकर एक विशेषज्ञ तथा प्रबन्धक तक। प्रत्येक कारखाना अपने प्रबन्ध का चुनाव करने में स्वतन्त्र होगा और प्रत्येक कारखाना राष्ट्रीय गिल्ड द्वारा किसी उद्योग के लिये निर्धारित नीति के अनुसार उत्पादन की रीतियों पर नियन्त्रण करने में भी स्वतंत्र होगा, प्रत्येक स्थानिक गिल्ड के प्रतिनिधि प्रादेशिक गिल्ड में भेजे जायंगे और प्रत्येक प्रादेशिक गिल्ड अपने प्रतिनिधि राष्ट्रीय गिल्ड के लिए चुन कर भेजेगा। स्थानिक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सभी गिल्डों का संगठन प्रजातान्त्रिक आधार पर होगा। राष्ट्रीय गिल्ड उद्योगों के साधारण हितों तथा वस्तुओं के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में व्यवस्था करेगा। इस प्रकार गिल्ड-समाजवादी उद्योग मे स्वराज्य की स्थापना करेंगे। परतु यह सब सिन्डीकेलिस्ट योजना का ही विशद रूप है। उसके प्रस्तावों में जो कुछ भी नवीन वस्तु है वह है समस्त उपभोक्ताओं एवं उत्पादन करने वालों के बराबर प्रतिनिधियों की एक सर्वोच्च सयुक्त समिति (Supreme Joint Committee) स्थापित करना। इस संयुक्त समिति का काम प्रत्येक गिल्ड के लिए कर निर्धारित करना, जो उसे राज्य को अदा करना पड़ेगा, वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना और यह निर्णय करना होगा कि किसी गिल्ड ने अपने हितों को अधिक महत्त्व देकर समाज के हितों की उपेक्षा करके अपने निक्षेप (Trust) का उल्लघन तो नहीं किया है। इस सयुक्त समिति के द्वारा उपभोक्ता उन विषयों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर सकेंगे जिनसे उनका सम्बन्ध है। इस प्रकार सिन्डीकेलिस्ट योजना में जो भारी कमी है वह गिल्ड-समाजवादी योजना में नहीं है। इसमें उत्पादन करने वालों के हाथों मे उद्योगों का नियन्त्रण सौंपने के सिद्धांत को छोड़े बिना उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिये व्यवस्था की गई है। गिल्ड-समाजवादी व्यवस्था में राज्य-समाजवादियों के दृष्टिकोण का जो मनुष्यों को केवल उपभोक्ता से रूप में ही देखते हैं सिन्डीकेलिस्टों के दृष्टिकोण के साथ जो मनुष्यों को केवल उत्पादन करने वालों के रूप में ही देखते हैं सामजस्य स्थापित किया गया है। इस प्रकार गिल्ड-समाजवाद सिन्डीकेलिज़्म तथा राज्य समाजवाद के बीच में सन्तुलन स्थापित करता है।

ऊपर जिस योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है उसका सार समाज की उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं को राजसत्ता से स्वतत्र कर देना और

मज़दूरों को पूँजीपतियों के शोषण से भी मुक्त कर देना है। अब प्रश्न यह उठता है कि गिल्ड-समाजवादी की कल्पना में राज्य की क्या स्थिति होगी और उसके क्या कार्य होंगे। इस सम्बन्ध में गिल्ड-समाजवादी लेखकों के विचारों मे मतैक्य नहीं है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि वे सिन्डीकेलिस्टों अथवा अराजकतावादियों के समान राज्यविरोधी नही हैं। वे यह मानते हैं कि देश-रक्षा, अपराधों आदि से रक्षा, शिक्षा, क़ानून, कर-निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बध और अन्य राजनीतिक कार्यों का नियमन तो वर्तमान् पार्लीमैंट के समान संगठित सस्था द्वारा ही सम्भव है, जिसमे नागरिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार की सस्था राजनीतिक मामलों मे स्वतत्र होगी और राष्ट्रीय गिल्ड-कांग्रेस समस्त औद्योगिक मामलों में सर्वोपरि होगी। इन दोनों सस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में भी लेखको में मतभेद हैं। इस समस्या पर जो दो विभिन्न विचार धाराएँ हैं उनके प्रतिनिधि हॉब्सन और कोल हैं।

हॉब्सन के अनुसार राज्य समाज के विभिन्न अंशों के प्रतिनिधि समुदायों से भिन्न समाज का प्रतिनिधि है। अतः सैद्धान्तिक रूप से उसे उन सब के ऊपर होना चाहिए। वह सत्ता का आदि स्रोत बना रहेगा और विभिन्न समुदायों के बीच जो विवाद होंगे उनके सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय देगा। राज्य को सर्वोच्च स्थान अथवा प्रभुत्व देने में हॉब्सन के विचार राज्य-समाजवादियों के समान हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि राज्य-समाजवादियों की अपेक्षा हॉब्सन ने राज्य को बहुत कम कार्य सौंपे हैं। उसके अनुसार औद्योगिक गिल्ड समस्त आर्थिक कार्यों को अपने हाथ मे ले कर राज्य के लिये केवल राजनीतिक कार्य ही छोड़ देगा। वह उद्योग के नियन्त्रण एव नियमन का कार्य नहीं करेगा, परन्तु जब कोई सार्वजनिक नीति से सम्बद्ध ऐसा प्रश्न उपस्थित होगा जिसका नागरिकों पर प्रभाव पड़ता हो जैसे, सस्ते विदेशी मज़दूरों की भर्ती या वेतन प्रणाली की प्रतिष्ठा, तो राज्य अपनी सत्ता का प्रयोग करेगा। इस प्रकार हॉब्सन राज्य को केवल राजनीतिक कार्य ही प्रदान करता है। वह केवल उसके कार्यों को सीमित करता है।

कोल बहुवादी हैं। वह राज्य को सब समुदायों के ऊपर नहीं मानता। उसके विचार में यह एक आवश्यक संस्था है, जो उपभोक्ताओं की प्रतिनिधि है परन्तु किसी प्रकार भी उसका उन संस्थाओं पर प्रभुत्व नहीं है जो उत्पादन करने वालों, समान धर्म वालों अथवा अन्य प्रकार के समान

लोगों की प्रतिनिधि हैं। उसे अन्य संस्थाओं के समकक्ष ही स्थान मिलना चाहिए। उसे अपने विशेष कार्यों के सम्पादन के लिए आवश्यक सत्ता ही मिल सकती है। परन्तु वह सर्वोच्च या प्रभुता-सम्पन्न नहीं हो सकता जिस स्थिति में हॉब्सन ने उसे रखा है।

यदि हम, हॉब्सन तथा कोल के बीच जो मतभेद है उस पर ध्यान न दें और केवल उन कार्यों पर विचार करें जिन्हें गिल्ड-समाजवाद राज्य को सौंपता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि गिल्ड-समाजवाद का मार्ग समष्टिवाद और सिन्डीकेलिज़्म के बीच का मार्ग है। समष्टिवाद के सिद्धान्त के द्वारा राज्य पर ज़ोर दिया गया है, उसका यह परित्याग कर देता है और सिन्डीकेलिज़्म के द्वारा राज्य का निषेध जो किया गया है, उसे स्वीकार नहीं करता। यह राज्य को कायम रखता है परन्तु उसके कार्य बहुत कम कर देता है।

जब हम गिल्ड-समाजवाद द्वारा उद्योगों पर मज़दूरों के नियंत्रण को स्थापित करने और उसकी भावना के अनुसार मज़दूरों की एक सहयोगी संस्था (Commonwealth) स्थापित करने के सम्बन्ध में गिल्ड-समाजवाद की रीतियों पर विचार करते हैं तब भी हम इसमें सिन्डीके-लिज़्म और समष्टिवाद के बीच के मार्ग को स्वीकार करने की प्रवृत्ति देखते हैं। गिल्ड-समाजवादी भी सांसद् प्रणाली की व्यर्थता का अनुभव करते हैं और राजनीतिक कार्य का विरोध करते हैं, परन्तु वे उसका पूर्ण रूप से त्याग नहीं करते। वे उसे मज़दूर-वर्ग को शिक्षा देने और पूँजीवादी वर्ग के कार्यों के अवरोध के लिये एक साधन के रूप मे कायम रखते हैं। जब तक वर्तमान् राज्य का संगठन और उसकी कार्य-पद्धति जैसी इस समय विद्यमान है, वैसी ही बनी रहेगी, तब तक केवल व्यवस्थापन विधि द्वारा वर्तमान् पूँजीवादी व्यवस्था से गिल्ड-समाजवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर होना सम्भव नहीं है। इस कारण वे आर्थिक साधनों एवं रीतियों पर निर्भर रहते हैं। परन्तु ये आर्थिक साधन हड़ताल या सेबोटाज नहीं है, जिनका सिन्डीकेलिस्ट समर्थन करते हैं। अधिकांश गिल्ड-समाजवादी वर्तमान् पूँजीवादी समाज को हिंसात्मक ढग से उलट देने के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका यह विश्वास है कि वर्तमान व्यवस्था से नवीन व्यवस्था की ओर परिवर्तन क्रमशः एक विकासवादी ढग से होगा, यद्यपि वह नियोजित और नियमित रूप में होगा। इस प्रक्रिया में सबसे प्रथम पग के रूप में वे वर्तमान् मज़दूर-सभाओं का संगठन इस प्रकार करना

चाहते हैं जिससे वे आकार में बड़ी तथा संख्या में कम हो जाँय। उनके संगठन मे किसी भी एक उद्योग में लगे सभी व्यक्ति एक गिल्ड में सम्मिलित किए जॉयगे। उनका सगठन समाज की ओर से उद्योगों के संचालन के निमित्त किया जायगा, पूँजीपतियों से लड़ाई लड़ने के लिए नहीं। ये सुसगठित मज़दूर सभाएँ उत्तरोत्तर बढ़ते हुए नियन्त्रण की नीति (Encroaching Contiol) स्वीकार करेंगी ; जिसका उद्देश्य 'थोड़ा-थोड़ा करके नियत्रण के उन समस्त कार्यों को मज़दूरों के हाथों में सौंप देना है जो इस समय पूँजीपतियों के हाथों में हैं।' इससे उन्हें अपने पर्यवेक्षक (Foreman) का चुनाव करने, मज़दूरों को निुयुक्त करनें तथा अलग कर देने और अनुशासन के नियमन का अधिकार प्राप्त हो जायगा। इन मज़दूर-सभाओं का दूसरा कार्य सामूहिक ठेके (Collective Contract) के सिद्धान्त को लागू करना है। इसका अर्थ यह है कि उद्योगपति प्रत्येक मज़दूर को उसके काम के लिये मजदूरी देने की जगह पूरे काम के लिए एक मुश्त रकम दे देगा और मज़दूर अपने नियमों के अनुसार उसे परस्पर बाँट लेंगे। उद्योगपति जब इन दोनों विधियों को स्वीकार कर लेगे तो इन से मज़दूरों को नियन्त्रण एव प्रबन्ध का बहुमूल्य अनुभव प्राप्त होगा। उद्योगों पर पूँजीवादी नियन्त्रण को धीरे-धीरे हटा कर मजदूरों का नियन्त्रण क़ायम करने में यह एक अग्रगामी पग होगा।

यद्यपि गिल्ड-समाजवादी एक शान्तिमय तथा विकासवादी परिवर्तन चाहते हैं, तथापि वे पूँजीपतियों की ओर से विरोध होने पर या अन्य किसी स्थिति में आवश्यकतानुसार हिंसा के प्रयोग का निषेध नहीं करते। गिल्ड-समाजवाद की रीतियों की प्रकृति कोल के निम्नलिखित शब्दों द्वारा भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। "जिस ध्येय की पूर्ति करना है, वह प्रारम्भ में ही क्रान्ति नहीं है, वरन् विकासवादी ढग से समस्त शक्तियों का संगठन इस प्रकार कर लेना है जिससे क्रान्ति, जो एक अर्थ मे अवश्य रहेगी, गृह-युद्ध का कम से कम रूप धारण कर सके और जो सिद्ध तथ्यों की स्वीकृति तथा पहले से ही क्रियाशील प्रवृत्तियों की अन्तिम परिणति के रूप में ही यथासम्भव अधिक से अधिक प्रकट हो।"*

व्यावसायिक सिद्धान्त—

भावी गिल्ड-समाजवादी समाज के सम्बन्ध में अपने विचारों का

* Quoted by Coker : Recent Political Thought, p. 271.

विकास करने के सम्बन्ध में कोल और हॉब्सन दोनों ने व्यावसायिक सिद्धान्त (Functional Principle) का विस्तृत रूप से प्रयोग किया है। उन्होने वर्तमान प्रजातांत्रिक सस्थाओं की आलोचना करने में भी इसका प्रयोग किया है। गिल्ड-समाजवाद के दर्शन मे इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान है। आजकल की प्रणाली के अनुसार राष्ट्रीय पार्लमैंट में एक या दो प्रतिनिधियों को एक नियत प्रादेशिक क्षेत्र से चुन कर भेज देने से सच्चा प्रजातंत्र कार्यान्वित नहीं हो सकता। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर तथाकथित प्रतिनिधि-सस्थाऐं वास्तव मे सच्चे रूप मे प्रतिनिधि संस्थाएँ नहीं होती। इसका कारण यह है कि ऐसा समझा जाता है कि वह प्रतिनिधि एक प्रादेशिक क्षेत्र में निवास करने वाले समस्त व्यक्तियों के विविध हितों का प्रतिनिधित्व करता है। यह सर्वथा परिहासजनक तथा असम्भव बात है। कोई व्यक्ति दूसरे किसी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, कई व्यक्तियों का तो और भी नहीं। वह केवल उसी हित का प्रतिनिधित्व कर सकता है, जो दूसरों का भी समान हित हो। क, जो एक अध्यापक है, ख, ग तथा घ का यदि वे अध्यापक हैं, और जहाँ तक वे अध्यापक हैं वहीं तक, प्रतिनिधि बन सकता है; परन्तु यदि वे आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, जमींदार या सर्वोदय-समाजी हैं तो, यदि वह स्वय उक्त मत का नहीं है, उनका उन रूपों में प्रतिनिधि नहीं हो सकता। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति के हित अनेक प्रकार के होते हैं, अतः अपने हितों के प्रतिनिधित्व के लिये उसे उतने ही प्रतिनिधियों की आवश्यकता होगी जितने कि उसके हित हैं। इस प्रकार सच्चा प्रति-निधित्व भौगोलिक या प्रादेशिक आधार पर नहीं वरन् व्यावसायिक आधार पर होना चाहिए। "समाज उसी समय सच्चे रूप मे प्रजातांत्रिक होगा जब कि यह ऐसी व्यावसायिक प्रतिनिधि-सस्थाओं का एक जाल-सा बन जायगा, जिनमें से प्रत्येक उसके सदस्यों के विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करता है।"* वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत जनता कई विभिन्न प्रयोजनों के लिये कुछ प्रतिनिधियों को चुनती है। ऐसे प्रतिनिधि जनता के कुछ सीमित उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, सबका नहीं। इस प्रणाली का अन्त कर देना ही उचित है।

व्यावसायिक सिद्धान्त के आधार पर सगठित समाज के लिये प्रति-निधित्व के प्रादेशिक आधार का पूर्ण रूप से परित्याग करने की आव-

* Joad : Modern Political Theories, p. 77.

श्यकता नहीं है। यह उन हितों के प्रतिनिधित्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, जो एक ही समाज के सदस्य होने के कारण लोगों में सामान्य होते हैं; जैसे, क़ानून, कर, रक्षा, शिक्षा आदि। इसलिए हमें व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के नवीन सिद्धान्त के साथ-साथ पुराने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी उचित स्थान देना चाहिए। इन दोनों में से कोई भी एक सिद्धान्त पूर्ण नहीं है; प्रत्येक के लिये दूसरे की एक पूरक के रूप में आवश्यकता है।

उक्त दोनों सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित गिल्ड-समाज में निम्न प्रकार की तीन संस्थाएँ होंगी : (१) एक राष्ट्रीय पार्लामैंट जिसका संगठन प्रादेशिक आधार पर होगा और जो उन मामलों का प्रबन्ध करेगी जिनका समूचे राष्ट्र से सम्बन्ध है और जिनमें समस्त नागरिकों के सामान्य हित हैं, जैसे देशरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, कर-निर्धारण, यातायात, न्याय-प्रबन्ध। यह संस्था वर्तमान् पार्लामैंट से भिन्न नहीं होगी। (२) कुछ स्थानिक प्रादेशिक संस्थाऐं जिनका सगठन भारत में म्युनिसिपल बोर्ड या नगरपालिका या ज़िला बोर्डों या इंगलैण्ड की काउण्टी और बरों कौंसिलों के समान होगा। ये संस्थाएं जल, प्रकाश, स्वास्थ्य, सफ़ाई, नगर-रक्षा आदि का कार्य करेंगी। इनका निर्माण भी भौगोलिक आधार (Geographical basis) पर होगा। (३) तीसरी प्रकार की सस्थाऐं कई व्यावसायिक सभाऐं या सघ (Professional Guilds) होंगे जो तीन प्रकार के होंगे–स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय। गिल्ड उत्पादन सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करेंगे, जैसे कारखानों में काम की अवस्थाएँ, काम के घण्टे, वेतनों की दर, बनाये जाने वाले माल की मात्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों का निश्चय। इन गिल्डों की स्थापना व्यावसायिक आधार पर की जायगी। उत्पादन की मात्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों के प्रश्नों पर जिनका सम्बन्ध उपभोक्ताओं से भी है निर्णय करते समय गिल्ड उपभोक्ता समितियों से भी मन्त्रणा करेंगे।

इस प्रकार के समाज की स्थापना का स्वाभाविक परिणाम होगा समाज में विविध संस्थाओं के बीच सत्ता तथा कार्यों का विभाजन। स्थानीय तथा प्रादेशिक संस्थाओं और व्यावसायिक गिल्डों को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अधिकार होगा। केन्द्रीय पार्लामैंट केवल अपने क्षेत्र के अन्तर्गत राजनीतिक प्रश्नों पर ही विचार करेगी

और इनके कामों में हस्तक्षेप बिलकुल नहीं करेगी। सत्ताओं और कार्यों का इस प्रकार का वितरण क़ाग़ज पर सुन्दर भले ही प्रतीत हो, किन्तु यह सन्देहास्पद है कि यह सुचारु रूप से कार्य रूप में परिणत हो सकेगा। आधुनिक जटिल समाज की विविध क्रियाओं की अन्योन्याश्रयता के कारण इस प्रकार का विभाजन असम्भव है। आर्थिक समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार उत्पादन पर नियन्त्रण गिल्डों को सौपना और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नियमन राज्य के अधीन रखना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के वितरण से इस सिद्धान्त का स्वय नाश हो जायगा।

गिल्ड समाजवादी समाज के वर्तमान् संगठन और रचना की आलोचना केवल आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर ही नहीं, वरन् नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर भी करते हैं। राजनीतिक प्रजातन्त्र की उन्होंने जो आलोचना की है, उस पर विचार किया जा चुका है। उनकी आर्थिक आलोचना पूँजीवाद के विरुद्ध समाजवादी तर्क की पुनरावृति ही है। उनका नैतिक तर्क इस दोष के उद्घाटन का एक प्रयत्न है कि सम्पत्ति के स्वामी को बिना किसी समाज-सेवा के ही मुनाफ़ा मिलता है। यह नैतिक दृष्टि से सर्वथा ग़लत है कि समाज को एक ऐसे सिद्धान्त पर आधारित किया जाय जिसमे कर्तव्य की अपेक्षा धन-प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता हो। सम्पत्ति पर स्वामित्व का किसी सामाजिक प्रयोजन से सम्बंध नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादन की वर्तमान् प्रणाली इसलिये ग़लत है, कि यह मज़दूरों को मानवत्व से हीन बना देती हैं ; उसे मशीन का एक पुर्ज़ा मात्र बना देती है और अपने कार्य करने मे उसे गौरव अनुभव करने से वंचित कर देती है। यह उसमें कारीगरी को प्रोत्साहन देने के स्थान मे उसका दमन करती है। उनकी मुख्य समस्या एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिससे मज़दूर में कार्यकुशलता ही नहीं बढ़ेगी, वरन् वह अपने कार्य में गौरव का भी अनुभव करने लगेगा और कला एव कौशल का पुर्नजीवन होगा। वे आर्थिक क्षेत्र में मज़दूर-मालिक से सम्बन्धों का अन्त कर देना चाहते हैं या कम से कम उनमे परिवर्तन कर देना चाहते हैं। गिल्ड की रचना इसी प्रयोजन से की गई है। इसका उद्देश्य उद्योगपतियों द्वारा अतिक्रमण के विरुद्ध मज़दूरों के हितों की रक्षा करना नहीं है। इसका संगठन ट्रेड यूनियन (मज़दूर संघ) अथवा सिन्डीकेट की भाँति संघर्ष तथा

आत्मरक्षा के लिए नहीं है। इसका ध्येय अधिक निश्चित एवं श्रेष्ठ है। इसकी व्यवस्था का लक्ष्य समाज की ओर से उद्योग का नियन्त्रण तथा मज़दूर की रचनात्मक प्रवृत्ति को विकसित करना है, जिससे वह अपने सामाजिक कार्यों का सर्वोत्तम रूप से सम्पादन कर सके। व्यक्तियों मे समाज-सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करके, जिसका आजकल अभाव है, वह उत्पादन की वृद्धि और उसके आदर्श को ऊँचा करना चाहते हैं।

गिल्ड-समाजवाद आवश्यक रूप से एक ऐसा सिद्धान्त है जिसकी बुद्धिमान व्यक्तियों ने स्थापना की है; यह मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के रूप मे विद्यमान नहीं ह। इस बात में, यह सेन्डोकेलिज़्म से भिन्न है, जो प्राथमिक रूप में एक आन्दोलन है और जिसका लक्ष्य मज़दूरों मे एक क्रान्तिकारी भावना का प्रादुर्भाव करके क्रान्तिकारी ढग से वर्तमान प्रणाली का अन्त कर देना है। इसका इङ्गलैंड मे संगठन हुआ, परतु आर्थिक मन्दी तथा बेकारी के कारण वह पनप नहीं सका। गिल्ड समाजवाद की असफलता का दूसरा कारण यह था कि उसके नेताओं के विचारों में विभिन्नता होने के कारण कोई स्थायी संगठन कायम करना कठिन हो गया। एक सगठन के रूप मे गिल्ड-समाजवाद का अन्त हो चुका है, परन्तु इसके कई बड़े प्रभाव हुए हैं। इसने स्थायी रूप से मज़दूर-सघों, समाजवाद तथा युद्धोत्तर-कालीन सिन्डीकेलिज़्म में परिवर्तन कर दिये हैं।

इस सिद्धान्त के इतिहास के विषय मे कुछ उल्लेख कर देना उचित होगा। इसके आधारभूत विचार सर्वप्रथम पेटी ने सन् १९०६ ई० में अपने लेखो मे प्रकट किये। उसने मध्य-कालीन दस्तकारी के पुनर्जीवन के लिए सलाह दी, जिसमे कारीगर उन यत्रों का स्वामी होता था जिनसे उत्पादन किया जाता था तथा वही उत्पादन की मात्रा का भी निश्चय करता था। परन्तु इसका सगठन सन् १९१४ ई० में हॉब्सन तथा ओरेज ने किया जिन्होंने National Guild नामक अपनी पुस्तक में गिल्ड-समाजवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के प्रसिद्ध व्याख्याकार कोल, टॉनी और बंट्रेण्ड रसल हैं। सन् १९२० ई० में गिल्ड की कल्पना के सम्बन्ध मे क्रियात्मक परीक्षण भी किये गये जब कि मज़दूरों के लिए एक बड़ी संख्या में मकान बनाने के लिए आवश्यकता अनुभव हुई जो व्यक्तियों के निजी प्रयत्नों द्वारा पूरी नही हो सकती थी। यह परीक्षण पर्याप्त रूप में सफल रहा। परन्तु सरकारी सहायता बन्द हो जाने, मज़दूरों के वेतन

में कमी हो जाने तथा बेकारी बढ़ जाने के कारण मकान निर्माण करने वाले गिल्डों का खात्मा हो गया।

अराजकतावाद

सामाजिक पुनर्निर्माण के आधुनिक सिद्धान्तों का विवेचन अराजकतावाद के प्रतिपादन के बिना अधूरा रहेगा। अराजकतावाद (Anarchism) का केन्द्रीय विचार बहुत ही सरल है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक सत्ता या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर किसी भी रूप में शासन अनावश्यक एव अवांछनीय है। राज्य एक अनावश्यक अभिशाप है; आदर्श समाज में इसका कोई भी स्थान नहीं हो सकता। इस अर्थ में अराजकतावाद कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। इसका वर्णन प्राचीन चीनियों और यूनानियों के लेखों में मिलता है। ईसा के जन्म से ३०० वर्ष पूर्व चीनी लेखक चुआंग त्जू ने लिखा था कि "एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन मानव प्रकृति के उसी प्रकार विरुद्ध है जैसे कि कम्पास और स्कायर का प्रयोग मिट्टी या लकड़ी के सम्बन्ध मे।" इसी प्रकार कुछ यूनानी स्टॉइक् दार्शनिक भी मानते थे कि सुखी एवं श्रेष्ठ जीवन के लिये राज्य की सदस्यता आवश्यक नहीं है। किन्तु इन प्राचीन लेखकों ने आधुनिक लेखकों के समान इस विचार का प्रयोग एक नवीन शासन-सत्ता-विहीन सामाजिक संगठन के निर्माण के आधार के रूप में नहीं किया। इङ्गलैण्ड मे हॉजस्किन और गॉडविन ने, फ़्रान्स में मॉण्टेस्क्यू और प्रोधों ने, सयुक्त राज्य अमेरिका में थोरो, वारेन तथा टकर ने तथा रूस में बाकूनिन और प्रिन्स क्रोपॉटकिन ने अपने-अपने ढंग से यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि बिना राजकीय सत्ता के प्रजा किस प्रकार शान्ति और सुख का जीवन बिता सकती है। अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में उनकी योजनाओं में भेद है। उन पर यहाँ विस्तार के साथ विचार नहीं किया जायगा।

पुराने विचार तथा नवीन विचार में भेद एक दूसरी बात में भी है। आधुनिक अराजकतावाद का इस विश्वास से घनिष्ट सम्बन्ध है कि भूमि और पूँजी पर समाज का स्वामित्व हो और इस प्रकार अराजकतावाद का साम्यवाद (Communism) से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अराजकतावाद का एक महत्त्वपूर्ण रूप 'साम्यवादी अराजकतावाद'

हलाता है। हम इसी रूप के सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे। परन्तु प्रसंग पर विचार करने से पूर्व साम्यवाद तथा अराजकतावाद के स्परिक सम्बन्धों पर, जिसके कारण उसका नाम साम्यवादी जकतावाद पड़ा है, विचार कर लेना उचित होगा।

ाजकतावाद और साम्यवाद—

इन दोनों सिद्धान्तों का एक ही लक्ष्य है। वे दोनों राज्यहीन तथा ीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु उसकी प्राप्ति के ानों के सम्बन्ध में अराजकतावाद के पूर्व आचार्यों का साम्यवादियों तभेद था। बाकूनिन ने जिसने अराजकतावाद को एक निश्चित रूप ा और इस सम्प्रदाय का संगठन भी किया, राज्य को समाजवादी त के साधन के रूप में अस्वीकार करने पर ज़ोर दिया, जब कि कार्ल र्स और उसके जर्मन तथा अंग्रेज़ अनुयायी उसे किसी रूप में क़ायम के पक्ष मे थे। इन दोनों में मतभेद यहाँ तक बढ़ गया कि बाकूनिन उसके अराजकतावादी अनुयायियों को सन् १८७२ में अन्तर्राष्ट्रीय (International) से निकाल दिया गया। इन दोनों मे जो मतभेद सका सार यह है। साम्यवादियों का विचार है कि वर्तमान् व्यवस्था भावी राज्य-विहीन समाज के मध्य में श्रमिक वर्ग का अधिनायकतत्र ी लम्बी अवधि तक अवश्य रहेगा; अराजकतावादी कहते हैं कि तथा दबाव के आधार पर क़ायम अधिनायकतत्र स्वतन्त्रता तथा क सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित समाज की स्थापना नहीं कर ा। अराजकतावाद की दृष्टि में राज्य का न तो संक्रमण काल में न नये समाज की स्थापना के बाद ही कोई उपयोग है।

प्रो० जोड ने अपनी Modern Political Theory नामक पुस्तक खा है कि पूर्व-कालीन मतभेदों के बावजूद भी आधुनिक काल में जो याँ देख पड़ती हैं उनके कारण दोनों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध ात होगया है। रूसी साम्यवादियों के प्रभाव में साम्यवाद उस पद्धति द्धान्त मात्र ही रह गया है, जिसके द्वारा वर्तमान् पूँजीवादी व्यव- से नवीन व्यवस्था की ओर अग्रसर हो सकते हैं। केवल इस बात को र कि नवीन समाज राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन होना चाहिए, द भावी समाज की रूपरेखा के विषय में स्पष्ट रूप में कुछ नहीं अराजकतावाद इस त्रुटि की पूर्ति कर देता है। यह उन सिद्धांतों

का वर्णन करता है जिसके अनुसार नवीन समाज की रचना होगी और मनुष्यों को अपना जीवन व्यतीत करना होगा। दूसरे शब्दों में, अराजकतावाद ध्येय या आदर्श का सिद्धान्त है, साम्यवाद उन साधनों का वर्णन है जिसके द्वारा उस आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। "यदि इसी बात को दूसरे ढंग से कहा जाय तो, अधिकांश साम्यवादी अराजकतावादी समाज के आदर्श को पसन्द करेंगे और बहुत से अराजकतावादी भी शायद स्वीकार करेंगे कि साम्यवादियों द्वारा अनुमोदित साधन इस ध्येय की प्राप्ति के लिये अधिक उपयुक्त हैं।"* इसके कथन के अन्तिम भाग के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कुछ समकालीन अराजकतावादी सोवियत रूस में जो घटनायें हुई हैं उनके कारण बड़े निराश हैं। उनका विचार है कि आतकवादी साम्यवादी शासन अराजकतावादी समाज की स्थापना मे सहायक नहीं हो सकता, जिन साधनों का प्रयोग किया जाय उनकी उद्देश्य या लक्ष्य से कुछ संगति होनी चाहिए। श्रमिक वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्वेच्छापूर्वक किए गए समझौते के आधार पर स्थापित स्वतन्त्र समाज से, जो अराजकतावादियों का लक्ष्य है, कोसों दूर है।

अराजकतावादी आदर्श—

अराजकतावादी का आदर्श वर्गहीन समाज तथा राज्यहीन समाज होगा। भूमि तथा उत्पादन के अन्य भौतिक साधनों पर समाज का स्वामित्व हो जाने और पूँजीवादी वर्ग का अन्त हो जाने पर सम्पत्तिशाली वर्ग तथा वेतन-भोगी वर्ग के बीच के भेदभाव का विनाश हो जायगा। किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के श्रम को खरीदने का अधिकार नहीं होगा। क्रोपॉट्किन के अनुसार ऐसे समाज में वेतन की प्रथा नहीं होगी, प्रत्येक व्यक्ति को, जो कुछ उसे आवश्यक है, मिलेगा। अराजकतावादी का ध्येय है "प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करे और प्रत्येक अपनी आवश्यकता के अनुसार ले।" यह स्मरण रखने योग्य बात है कि अराजकतावाद उत्पादन की वस्तुओं और उपभोग की वस्तुओं में कोई भेद नहीं मानता। यह दोनों बातों में व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर देता है।

---

* Joad : Modern Political Theory, p. 87

अराजकतावादी समाज का संगठन पारस्परिक सहायता एवं सहकारिता के सिद्धान्त पर होगा, संघर्ष या आदिम प्रतियोगिता के आधार पर नहीं। हॉब्स ने मानव प्रकृति का जो विश्लेषण किया है, जिसके अनुसार मनुष्य स्वार्थी एवं प्रतियोगितावादी है, मौलिक रूप से ग़लत माना जाता है। यही ग़लती डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त में है जिसमें 'योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। पशुजगत के विशद् अध्ययन से सुप्रसिद्ध अराजकतावादी नेता प्रिंस क्रोपाट्किन ने यह प्रमाणित किया है कि केवल वे ही पशु-जातियाँ जीवित रही हैं, जिनके सदस्यों ने वातावरण के विरुद्ध अपने संग्राम में सहयोग से काम किया और जो पशु-जातियाँ परस्पर सहयोगपूर्वक काम नहीं कर सकीं वे नष्ट हो गईं। जो क़ानून मानव-जगत का नियमन करता है, वह पशु-जगत के नियमों से भिन्न नहीं है। किसी भी समुदाय में सहकारिता के गुणों पर प्रतियोगिता के गुणों का प्राधान्य इस बात का प्रमाण है कि वह विनाश की ओर अग्रसर है। अपनी प्रकृति से मानव श्रेष्ठ एव सामाजिक है, उसमें सहयोग की प्रवृत्ति है। परन्तु मनुष्य में परोपकारिता एवं सामाजिकता की जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, वे राज्य के नियन्त्रण तथा दबाव के कारण कुंठित हो जाती हैं। प्रतियोगिता के वातावरण का भी उन पर विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। इसलिये यदि हम प्रतियोगिता का और उसके साथ ही राज्य की सत्ता का भी परित्याग कर दें तो मनुष्यों की स्वाभाविक मैत्री भावना बढ़ेगी और गहरी होती जायगी और प्रत्येक बाहरी समुदायों को शत्रु समझने या उससे भयभीत होने के स्थान पर वे उसे ऐसा मैत्री-पूर्ण समुदाय समझने लगेंगे जिसे उनकी सहायता एवं सहयोग की आवश्यकता है।

अराजकतावाद राज्य-विरोधी है। वह राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानता है और इसलिए उसका विनाश चाहता है। अराजकतावादी समाज में कोई दबाव या क़ानून नहीं होगा और न शासन-सत्ता ही होगी। अराजकतावाद आदि से अन्त तक बल-प्रयोग के विरुद्ध है। परन्तु बल-प्रयोग के अभाव का अर्थ व्यवस्था का अभाव नहीं है। शासन की हिंसात्मक सत्ता के अभाव में अथवा उसके अभाव के ही कारण समाज में व्यवस्था एवं मेलमिलाप का प्रसार होगा। स्वतन्त्र मिलाप तथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के वे स्वाभाविक परिणाम होंगे। विविध उद्योगों एवं व्यवसायों का प्रबन्ध उनके लिये निर्मित ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा किया

जायगा, यदि लोगों को मकानों की आवश्यकता होगी, तो मकान बनाने वाले अपनी संस्थायें बना लेंगे और जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिए मकान बनायेंगे। इसी प्रकार जिन लोगों की अध्यापन मे अभिरुचि होगी, वे अपना एक अध्यापकमण्डल बना लेंगे और जो उनसे शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे, उन्हें वे शिक्षा देंगे। इस प्रकार प्रत्येक व्यवसाय का संचालन उनमें रुचि रखने वाले व्यक्तियों की संस्था द्वारा किया जायगा। ये सब संस्थायें अपने अधिकारियों का चुनाव करेंगी अपनी नीतियों का निर्धारण करेगी। और स्वतन्त्र व्यवस्था द्वारा वे एक दूसरे के काम में सहयोग देंगी। उनसे यह आशा की जाती है कि वे मिलकर काम करेंगी क्योंकि वे सभी स्वाभाविक और स्वेच्छा से निर्मित होंगी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द की किसी संस्था का सदस्य होगा और उसे किसी भी समय उससे त्यागपत्र देकर दूसरी सस्था का सदस्य बन जाने की स्वतन्त्रता होगी। यदि उनके बीच कभी विवाद खड़े हुए, तो स्वेच्छा से स्थापित पंचायती न्यायालयों द्वारा उनके फ़ैसले होंगे।

ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति न तो आलसी रहेगा और न उसे अधिक काम करना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पसन्द का काम ४ से ५ घण्टे तक करेगा और सब को पर्याप्त विश्राम मिलेगा जिससे वे शान्ति और सुख के साथ जीवन बिता सकें। दबाव कहीं नहीं होगा; सर्वत्र सुव्यवस्था होगी। जो व्यक्ति इसमें सन्देह करते हैं कि स्वतंत्र मिलन तथा स्वतन्त्र व्यवस्था के सिद्धान्त के फलस्वरूप इस प्रकार के सुव्यवस्थित समाज की स्थापना हो सकेगी उनको फ़ोरियर का उत्तर यह है; "कुछ पत्थरों के टुकड़ों को लेकर एक बक्स में डाल दीजिये और उन्हें हिला दीजिये वे सब ऐसे सुव्यवस्थित रूप से जम जॉयगे जैसा उन्हें जानबूझकर जमाने से कभी नहीं हो सकता।"*

अराजकतावादी समाज में स्वतन्त्र ऐच्छिक रूप से निर्मित अनेक संस्थाएँ होंगी जिनका संगठन बड़े-बड़े समुदायों मे किया जायगा। कोकर ने इस कल्पित ऐच्छिक समझौते का इस प्रकार वर्णन किया है—"हम अपने भवनों, राजपथों, भण्डारों, यातायात के साधनों, विद्यालयों आदि का उपभोग कर सकने की आपको गारण्टी देते हैं परन्तु इस शर्त पर कि आप २० वर्ष की आयु से लेकर ४५ या ५० वर्ष की आयु तक ४ या ५ घन्टे प्रतिदिन ऐसा कोई कार्य करें जो जीवनोपयोगी माना

---

*Jood, Ibid, p. 111.

जाय। जब आप चाहें तब किसी भी संस्था के सदस्य बन सकते हैं अथवा कोई नवीन संस्था बना सकते हैं, परन्तु शर्त यह है कि वह किसी आवश्यक कार्य या सेवा का ज़िम्मा ले। शेष समय में आप जिसके साथ चाहें उसके साथ रहें और अपनी अभिरुचि के अनुसार आमोद-प्रमोद, कला, विज्ञान आदि कामों में भाग लें। बस हम आपसे यही चाहते हैं कि आप अन्न, वस्त्र, भवन-निर्माण, यातायात आदि से सम्बद्ध किसी समुदाय में वर्ष में १२०० से १५०० घंटे तक कार्य करें। इसके बदले में हम आपको समस्त संस्थाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं की गारटी देते हैं।"* इस अवतरण में अराजकतावादी समाज के जीवन का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। ऐसे समाज में असन्तोष पैदा करने के लिए धनी तथा निर्धनों के भेद नहीं होंगे, न उसमें आन्तरिक विवादों को पैदा करने या बढ़ाने वाली कोई सरकार ही होगी। हितों को परस्पर संघर्ष शायद ही कभी होगा, विरोध के अवसर कम होंगे और सब व्यक्ति मेल-मिलाप से रहेंगे।

अराजकतावादियों द्वारा राज्य की निंदा—

अराजकतावादी राज्य को विशुद्ध बुराई और सर्वथा आवश्यक तथा अवांछनीय वस्तु मानते हैं। वे कहते हैं कि यह व्यर्थ है क्योंकि इससे बौद्धिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। राज्य को जो अभी तक विविध कार्य सौंपे गए हैं, उन्हें ऐच्छिक संस्थाएं अधिक अच्छे ढंग से कर सकती हैं। राज्य का पूर्व इतिहास उत्साहप्रद नहीं है। उसने नागरिकों के नैसर्गिक अधिकारों का संरक्षण नहीं किया है। वह किसानों एवं मज़दूरों को ज़मीदारी एवं पूँजीपतियों के शोषण से सुरक्षित नहीं रख सका है। मनुष्यों को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाने की जगह इसने विशेषधिकारों तथा विषमताओं को उत्पन्न करके और दूषित आर्थिक व्यवस्था की रक्षा करके अपराधों की ओर प्रवृति बढ़ाई है। इसके कारागृह अपराधों को कम करने के स्थान में और भी बढ़ाते हैं और इसके न्यायालय मुकद्दमेबाजी को बढ़ाते हैं। यह पहले तो निर्दोष व्यक्तियों को अपराधी बना देता है और फिर उन्हें दण्ड देकर पक्का अपराधी बना देता है। राज्य व्यक्तियों के मन में विदेशियों के प्रति घृणा के भाव पैदा करता है और मानव-समाज को विभिन्न विरोधी

---

*Coker : Recent Political Thought, p. 213.

तथा लड़ाकू राष्ट्रों या गुट्टों में विभक्त कर देता है। अपने सर्वश्रेष्ठ नागरिकों का एकमात्र उपयोग वह करता है, वह है उन्हें कारागृह मे बन्द रखना। राज्य की सफलताएँ बहुत ही नगण्य रही हैं ; परन्तु मानव-जाति को जो उससे क्षति पहुँची है वह महान् है। विभिन्न राज्यों के बीच जो युद्ध होते हैं वे इस बात के यथेष्ठ प्रमाण हैं।

राज्य को जो वस्तु बुरा बना देती है वह है शासकों द्वारा बल-प्रयोग। बल प्रयोग दोहरी बुराई है। इससे उस व्यक्ति का नैतिक पतन होता है, जो उसका प्रयोग करता है, चाहे वह कितना ही सदाशय क्यों न हो। वह उसे अभिमानी, उद्धत, स्वार्थी तथा निर्दयी बना देता है। एक बार उसका स्वाद ले लेने पर वह उसे सदा अपने अधिकार में रखना और उसका विस्तार करना चाहता है और समस्त चालों का प्रयोग कर अपने अधीन मनुष्यों को विभक्त और विक्षित रखना चाहता है। क्रोपॉटकिन ने कहा कि "यह या वह निन्दनीय मंत्री श्रेष्ठ व्यक्ति हुआ होता, यदि उसे सत्ता न दी गई होती।" जिस व्यक्ति पर बल-प्रयोग किया जाता है, उससे उसकी मानवता नष्ट हो जाती है। मनुष्यों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि वे श्रेष्ठ काम करें क्योंकि वह श्रेष्ठ है और क्योंकि उसे श्रेष्ठ कार्य करना पसंद करना चाहिये, इसलिए नहीं कि सरकार ने उसका आदेश दिया है। इस प्रकार कि प्रवृत्ति उसी समय पैदा हो सकती है, जब कि राज्य का अस्तित्व न रहे।

अराजकतावादी के अनुसार व्यक्तियों को राज्य की व्यर्थता का अनुभव कराने में बाधा इसलिए उपस्थित होती है कि मनुष्य में प्रति-योगिता, स्वार्थ, असामाजिकता आदि दुर्गुणों का प्राधान्य मान लिया जाता है जिनको रोकने के लिए किसी प्रकार की शासन-सत्ता की आवश्यकता भी माननी पड़ती है। हम यह देख चुके हैं कि अराज-कतावाद इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह यह मानता है कि मनुष्य में स्वाभाविक अच्छी प्रवृत्तियाँ हैं और संगठित शासन उसके विकास में बाधा डालता है। शासन के प्रादुर्भाव का वास्तविक कारण यह है कि समाज में पुरोहितों, लोकाचार के ठेकेदारों तथा दलपतियों ने जिनका मानव समाज में सदैव अस्तित्व रहा है, सामाजिक विकास के आरम्भ काल में ही अपना गुट्ट स्थापित कर लिया, मनुष्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तथा अनेकों प्रकार से उन पर अपना प्रभुत्व क़ायम रखने की चेष्टा की।

अराजकतावाद हमें हर प्रकार की सत्ता की अधीनता से मुक्त रखना चाहता है, चाहें वह राज्य की प्रजा पर सत्ता हो, या पूँजीपति की मज़दूरों पर या धर्माचार्यों की धार्मिक व्यक्तियों पर सत्ता हो। पूँजीपतियों तथा धार्मिक आचार्यों एवं पुरोहितों को अराजकतावादी योजना में वैसे ही कोई स्थान प्राप्त नहीं है, जैसे कि शासनसत्ता को।

अराजकतावाद की ओर प्रगति—

स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक स्थापित समूहों के स्वतन्त्र समुदायों की संस्था के आदर्श की प्राप्ति के साधनों से सम्बन्ध में अराजकतावाद कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। प्रिंस क्रोपॉटकिन ने जो अराजकतावाद का सर्वप्रथम प्रामाणिक लेखक था, इस आदर्श को अव्यावहारिक नहीं माना। इसके विपरीत उसका विचार था कि समाज शनैः शनैः इस आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है। उसने लोगों के शासन-सत्ता हस्तक्षेप के बिना सहकारी कार्य करने के अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे, विभिन्न देशों की रेलवे कम्पनियाँ आपस मे स्वेच्छा से समझौता करके यात्रियों को एशिया के पूर्व से योरोप के पश्चिम तक बिना किसी कठिनाई के यात्रा करने की सुविधाएँ देती हैं, परन्तु उन्होंने यह भी कहा है कि इस ओर विकास बड़े धीरे धीरे हो रहा है क्योंकि जिनके हाथों में सत्ता है, उनकी ओर से इसमे बाधा डाली जा सकती है। शासन की ओर से जो बाधाएँ डाली जाती हैं, वे क्रान्ति के बिना अन्य किसी उपाय से दूर नही की जा सकतीं। निष्कर्ष यह है कि अराजकतावादी समाज की स्थापना की प्रक्रिया में अंतिम क़दम क्रांति होगा जिसमें पूँजीवादी शासन के समस्त अवशेष नष्ट हो जॉयगे।

अराजकतावाद के मार्ग में बाधाएँ—

सामाजिक व्यवस्था का अराजकतावादी आदर्श, जिसमें मनुष्य बिना किसी सरकार तथा बिना किसी दबाव के शान्ति एवं प्रेम के साथ रहेंगे और स्वेच्छा से किसी भी उपयोगी कार्य में लग सकेंगे, बहुत ही आकर्षक है। कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह एक आदर्श है, जिसकी प्राप्ति करना उचित है। परन्तु बहुत से लोग इसे एक अव्यावहारिक आदर्श मान कर अस्वीकार कर देते हैं। वे कहते हैं कि यह मानव प्रकृति से अत्यधिक आशा करता है। यह ऐसे देवताओं के लिए उचित व्यवस्था मानी जा सकती

है जो पाशविक प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त हो, परन्तु मनुष्यों के लिए, जिनमें लोभ, मोह, इच्छा, वासना आदि का प्राबल्य है, इस व्यवस्था की उपयुक्तता संदिग्ध है। क्या नेपोलियन, एलेक्ज़ेंडर अथवा हिटलर के समान कोई व्यक्ति अपना सारा जीवन ऐसे समाज में बिताना चाहेगा जिसमें उनकी आकांक्षा एवं प्रतिभा के लिए कोई क्षेत्र न हो ?

यह आक्षेप कि अराजकतावादी समाज में काम करने के लिए समुचित प्रेरणा के अभाव में व्यक्ति बेकार घूमेंगे, निराधार है। समाजवाद के प्रसंग में इस पर विचार किया जा चुका है। काम शारीरिक आवश्यकता है ; लोग काम करना पसन्द करते हैं, यदि वह अत्यधिक एवं अरुचिकर न हो। अराजकतावाद द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था के अन्तर्गत काम हलका और सुखदायक होगा। काम के प्रति वर्तमान अनिच्छा विशेष रूप से उन अवस्थाओं के कारण हैं, जो नई व्यवस्था में नहीं रहेगी। उस समय कुछ कठिनाई अवश्य उपस्थित होगी, जब कि व्यक्ति ऐसा काम करना चाहेंगे जिसे समाज सामाजिक दृष्टि से उपयोगी नहीं मानता। क्या ऐसे व्यक्तियों को ऐसा काम करने के लिये बाध्य किया जायेगा, जिसे वे पसन्द नहीं करते।

अराजकतावादियों के राज्य की सत्ता का अन्त कर देने के प्रस्ताव के विरुद्ध भी आक्षेप किया जा सकता है। अनुभव इस बात का समर्थन नही करता कि मर्यादाओं या प्रतिबन्धों के हट जाने के बाद लोग शान्तिपूर्वक रहेंगे। जब तक बुद्धि, शारीरिक शक्ति तथा योग्यता आदि में व्यक्तिगत भेद-भाव रहेंगे तब तक दुर्बल व्यक्तियों की सबल व्यक्तियों से रक्षा करने के लिये एक केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता बनी रहेगी। सब मनुष्यों के लिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति केवल राजनीतिक समाज मे ही सम्भव है। पारस्परिक सहयोग का सिद्धान्त अव्यवस्था के विरुद्ध कोई पर्याप्त गारण्टी नहीं है। क्रोपॉटकिन ने इस बात पर यथेष्ठ ध्यान नहीं दिया कि समुदायों के बीच संघर्ष भी प्रकृति का वैसा ही नियम है जैसे कि एक समुदाय के व्यक्तियों के बीच सहयोग। समुदायों के बीच होने वाले संघर्ष में अपने आप ही ऐसे व्यक्ति आगे आ जाते हैं जो अपने समुदाय के रक्षात्मक तथा आक्रमणात्मक प्रयत्नों में सफलता का मार्ग दिखलाते हैं। ऐसे व्यक्ति ही नेता बन जाते हैं और अपने अनुयायियों पर सत्ता का आरोप करने लगते हैं। एक नेता के आदेश का पालन

मनुष्य में उतना ही नैसर्गिक है जितनी सामाजिकता की भावना। ऐसा कोई भी पशु-समूह या मानव समुदाय नहीं जिसका कोई नेता न हो।

यहाँ भी यह उल्लेखनीय है कि राज्य ऐसी विशुद्ध बुराई नहीं है, जैसा कि अराजकतावादी मानते हैं। यह तो सत्य है कि शासनों की अपूर्णता के कारण मानव समाज को बड़े कष्ट उठाने पड़े हैं। दोनों विश्वयुद्धों के कारण जो भयकर मानव-संहार हुआ वह इसका ज्वलन्त प्रमाण है, परन्तु राज्य के कार्यों से समाज का जो बड़ा कल्याण हुआ है उससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते। राज्य सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति का सबसे महान् माध्यम रहा है। कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि सबों की अभिवृद्धि राज्य के अधीन हुई है। इसके अतिरिक्त राज्य के बिना मानव जाति तथा व्यक्तियों का नैतिक उत्थान सम्भव नहीं था।

अराजकतावाद और हिंसा—

प्रायः लोगों का ऐसा विचार है कि अराजकता का हिंसा से घनिष्ट सम्बन्ध है। अनेक अराजकतावादियों का विचार है कि बिना क्रान्ति के राजसत्ता का अन्त नहीं होगा; कुछ लोग साम्यवाद की रीतियों का समर्थन करते हैं। परन्तु हिंसा में विश्वास अराजकतावाद का अनिवार्य अंग नहीं है। बाकूनिन से पहले के लेखकों ने राज्य का अन्त करने के लिये क्रान्तिकारी कार्य के सम्बन्ध में शायद ही कभी चर्चा की हो। उन्होंने शिक्षा, अनुनय तथा आदर्श की पद्धतियों पर ही ज़ोर दिया था। इस प्रकार के अराजकतावाद को शान्तिमय कह सकते हैं। इसका सबसे प्रसिद्ध आधुनिक व्याख्याकार टॉलस्टॉय था।

अध्याय १९

संविधान

अब उन समस्याओं पर विचार करना रह गया है जो शासन के संगठन के सम्बन्ध में उत्पन्न होती हैं ; अर्थात् संविधानों की प्रकृति, आवश्यकता तथा शासनों के विविध अंगों की रचना, निर्वाचक-मण्डल, राजनैतिक दल तथा स्थानीय स्वराज्य संस्थाये। इस अध्याय में संविधानों के भेदों तथा उनके गुण-दोषों पर विचार किया जायगा।

संविधान की परिभाषा एवं आवश्यकता—

विविध लेखकों ने 'संविधान' (Constitution) शब्द की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। डायसी के अनुसार संविधान उन समस्त नियमों का संग्रह है जिनका राज्य की प्रमुख-सत्ता के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। ऑस्टिन के अनुसार संविधान वह है जो सर्वोच्च शासन की रचना को निर्धारित करता है। जेलिनेक ने जो सविधान की परिभाषा दी है, वह अधिक स्पष्ट है। उसने सविधान को ऐसे क़ानूनी नियमों का सग्रह माना है जो राज्य के सर्वोपरि अंगों का निर्धारण करते हैं और उनकी रचना की रीति, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनके कार्यक्षेत्र तथा अन्त में राज्य में उनमे से प्रत्येक के मौलिक स्थान का निर्देश करते हैं। स्ट्रॉङ्ग ने सविधान को ऐसे सिद्धान्तों का संग्रह माना है जिसके अनुसार शासन की सत्ता, शासितों के अधिकारों तथा इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का समन्वय किया जाता है।

उक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य का संविधान उसके शासन के संगठन का निर्धारण करता है। वह शासन के विभिन्न अंगों, उनकी सत्ताओं तथा पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख करता है; वह उन साधारण सिद्धान्तों का उल्लेख करता है जिनके आधार पर इन सत्ताओं का प्रयोग किया जायगा। सविधान का मन्तव्य निरकुश सत्ता को सीमित करना और इस प्रकार नागरिकों के अधिकारो की रक्षा

करना है। संक्षेप में, संविधान में उन आधारभूत सिद्धान्तों का समावेश होता है जो राज्य के रूप तथा सगठन का निर्धारण करते हैं। ये सिद्धान्त किसी एक लेखपत्र (Document) में या अनेक लेखपत्रों में लिखे हो सकते हैं। संविधान कुछ लिखित और कुछ अलिखित रूप में हो सकता है। वह काग़ज़ पर विचारपूर्वक तैयार किया हुआ हो सकता है अथवा अधिकांश मे परम्परागत लोकाचारों तथा नियमों आदि का संकलन भी हो सकता है। साधारणतया यह नियमानुकूल निर्मित क़ानूनों और लोकाचार का (जो दीर्घकालीन होने के कारण बधनकारी बन जाते हैं) सम्मिश्रण होता है। प्रत्येक राज्य में इन दोनों का अनुपात समान नहीं होता। एक ही देश मे विभिन्न कालों मे भी यह अनुपात भिन्न-भिन्न हो सकता है।

कुछ लेखक इस शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में करते हैं। उनका अभिप्राय एक ऐसे लेखपत्र से होता है जिसमे वे आधारभूत नियम होते हैं जिनके अनुसार प्रभुत्व-सत्ता शासन के विविध अंगों में विभाजित की जाती हैं। यह एक क़ानूनी लेखपत्र होता है जिसमें परम्परागत लोकाचार का कोई स्थान नहीं होता। जब टॉकविल ने यह कहा था कि इंगलैंड का कोई संविधान नहीं है, तब उसने स्पष्टतः संविधान शब्द का प्रयोग इसी संकुचित अर्थ में किया था। आजकल इस प्रकार की पद्धति नहीं है। साधारणतया संविधान से तात्पर्य उन समस्त नियमों, उपनियमों, लोकाचारों तथा अभिसमयों (Conventions) के सग्रह से है, जिनके द्वारा राज्य के नागरिकों के सम्बन्ध मे शासन के अधिकारों एवं कर्तव्यों और नागरिकों के राज्य के प्रति कर्तव्यों एवं अधिकारों का निर्धारण होता है।

इस व्यापक अर्थ में प्रत्येक राज्य का सविधान होना आवश्यक है। वह उसके आन्तरिक जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति है। उसके अभाव का अर्थ होगा उसके जीवन का अभाव जिसका अर्थ होगा राज्य के अस्तित्व का अभाव। संविधान के बिना राज्य राज्य नहीं होगा, वरन् वह एक प्रकार से अराजकता की अवस्था होगी। यह तो सर्वथा स्पष्ट है कि कोई भी प्रजातन्त्रीय राज्य बिना संविधान के नहीं रह सकता। एक निरकुश राज्य के लिए भी संविधान उतना ही आवश्यक है क्योंकि ऐसी कोई स्वीकृत व्यवहार पद्धति अवश्य होनी चाहिए जिसके अनुसार निरंकुश शासक तथा नागरिकों के सम्बन्धों का नियमन हो। बिना संविधान के राज्य की कल्पना संभव नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ

नहीं है कि राज्य बिना लिखित संविधान के रह नहीं सकता और कार्य नहीं कर सकता। बहुत कम निरंकुश राज्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने लिखित संविधान की रचना की है।

संविधानों का वर्गीकरण—

अरस्तू ने राज्यों का एकतन्त्रीय, कुलीनतन्त्रीय तथा प्रजातन्त्रीय में जो वर्गीकरण किया है उसी को कभी-कभी संविधानों का वर्गीकरण भी माना जाता है। सविधानों के इस वर्गीकरण के विरुद्ध वे सब आक्षेप सत्य हैं, जो राज्यों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में उसके विरुद्ध किये गए हैं। यह वर्गीकरण आज की राजनीतिक स्थिति में लागू नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई सविधान नहीं है जिसे कुलतन्त्रीय कहा जा सके। किसी आधुनिक सविधान के एकतन्त्रीय कह देने मात्र से उसकी कोई विशिष्टता नहीं मालूम होती। इस प्रकार किसी सविधान के लिये प्रजातन्त्रीय विशेषण का प्रयोग भी उसकी प्रकृति को समझने में सहायता नहीं देता। सविधानों को शासन की समस्त सत्ता के एक केन्द्रीय शासन द्वारा अथवा अनेक स्थानीय शासनों द्वारा प्रयोग के आधार पर एकात्मक अथवा सघीय इन दो वर्गों मे विभाजित करना अधिक अच्छा होगा। जिन आधारों पर इन दोनों शासनों में भेद किया जाता है, उस पर विचार किया जा चुका है। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी। कुछ लेखकों ने सविधानों का वर्गीकरण लिखित तथा अलिखित और कठोर तथा लचीले रूपों में भी किया है। इन पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जायगा।

लिखित और अलिखित संविधान—

जिस ढंग से संविधान अस्तित्व में आता है, उसके आधार पर सविधान लिखित (Written) या अलिखित (Unwritten) माना जाता है। लिखित संविधान उसे कहते हैं जिसके आधारभूत उपबन्ध (Provisions) एक या अनेक लेखपत्रों में लिखित होते हैं। ऐसे संविधान को अधिनियमित (Enacted) सविधान कहना अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा सविधान सदा शासन संगठन के आधारभूत सिद्धान्तों को निर्धारित करने के लिये किये जाने वाले विचार-विमर्श का परिणाम होता है। वह एक संविधान-परिषद् (Constituent Assembly)

द्वारा निर्मित किया जा सकता है जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका क संविधान ; अथवा वह एक राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा दूसरे देश वे लिए जिस पर उसका आधिपत्य होता है बनाया जा सकता है, जैं सन् १६३५ का भारतीय संविधान । वह राजा द्वारा एक अधिकार प (Charter) के रूप में भी प्रदान किया जा सकता है, जैसे उपनिवेश बसाने जाने वाले लोगों को दिए गए चार्टर । यह शासन द्वारा अपन प्रजा को भी दिया जा सकता है जिसके द्वारा वह स्वयं अपने को तथ अपने उत्तराधिकारियों को वैधानिक रीति से शासन के लिये वचनब. करता है। ऐसे संविधान के निर्माण की तिथि स्पष्ट होती है। अलिखि संविधान किसी व्यक्ति या परिषद् द्वारा किसी नियत समय पर निर्धारि नहीं होता। वह तो ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है, उसव विकास होता है ; निर्माण नहीं। उसमें अनेकों लोकाचार, परम्पराएं अभिसमय, अधिनियमित कानून, न्यायालयों के निर्णय आदि सम्मिलि होते हैं। ऐसे सविधान के लिए "विकसित शब्द का प्रयोग अधि उपयुक्त एवं सार्थक होगा क्योंकि इस शब्द से उसकी उत्पत्ति तथा प्रकृ का ज्ञान सरलता से हो जाता है। ग्रेट ब्रिटेन ही एकमात्र ऐसा देश जिसका संविधान विकसित है। गत १५० वर्षों मे अन्य समस्त राज्यों अपने संविधान लिखित अथवा अधिनियमित रूप मे ग्रहण किये हैं इंगलैण्ड में भी उसके संविधान मे अधिनियमित वैधानिक क़ानूनों अनुपात लोकाचार तथा अभिसमयों की अपेक्षा बढ़ता जा रहा है।

अधिनियमित तथा विकसित संविधानों मे एक दूसरा महत्त्वपूर्ण यह है कि पहले में प्रायः संविधान-परिषद् तथा साधारण व्यवस्था मण्डल में भेद होता है (परन्तु यह सदैव आवश्यक नहीं है), दू में ऐसा नहीं होता। अमेरिका तथा फ्रांस में संविधान में परिव अथवा संशोधन करने वाली सभा साधारण क़ानून बनाने वाली सभा भिन्न है। इंगलैण्ड में ऐसा कोई भेद नहीं है। ब्रिटिश पार्लामेण्ट संवि में परिवर्तन कर सकती है और वह देश के लिये साधारण क़ानून बना सकती है। इस प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैण्ड "संवैधानिक" (Constitutional) शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न इंगलैण्ड में न्यायालय द्वारा देश का कोई भी क़ानून इस अर्थ में अ (Unconstitutional) घोषित नहीं किया जा सकता कि वह देश संविधान के विपरीत है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में हो सकता

अधिनियमित सविधान साधारणतया "एक विशेष पवित्र लेखपत्र होता है जो अन्य समस्त क़ानूनों से लक्षण में भिन्न होता है और जिसकी रचना भिन्न ढंग से की जाती है।" विकसित संविधान में यह विशेषता नहीं होती। ऐसा इसलिये होता है कि लिखित संविधान प्राय: कठोर होता है, जब कि अलिखित संविधान लचीला होता है। इन दोनों के गुणदोष उनकी कठोरता या लचीलेपन के कारण होते हैं। इस विषय में हम आगे लिखेंगे।

लिखित या अनियमित और अलिखित अथवा विकसित सविधानों के भेद का कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं है। इनमे जो भेद है वह श्रेणी का नहीं, वरन् मात्रा का है। प्रत्येक सविधान मे विभिन्न अनुपात में अधिनियमित नियम तथा लोकाचार पर आधारित नियम होते हैं। ऐसा इसलिये है कि समस्त लिखित संविधानों में जो एक लम्बी अवधि से लागू होते रहे हैं, लोकाचार तथा न्यायाधीशों के नियमों से प्राप्त अभिसमयों का समावेश हो जाता है। संविधान की न्यायालयों द्वारा की गई व्याख्याओं से ये तत्व प्राप्त होते हैं। अमेरिकन सविधान जिसका निर्माण सन् १८७३ ई० में थोड़ी सी कृषक जनता के लिए हुआ था अब बदलती हुई परिस्थितियों मे एक विशाल औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य इसी विकास की प्रक्रिया द्वारा ही बनाया गया है। उसमें एक बड़ी सख्या से अभिसमयों को स्थान मिल गया है। अत: प्रत्येक संविधान में अभिसमय या अलिखित तत्त्व का होना अनिवार्य है। यह कोई बुरी बात नहीं है, यह तो उसकी सजीवता तथा सयोजनीयता (Adaptability) का प्रमाण है। इस कथन मे भी बहुत कुछ सत्य है कि अधिनियमित संविधान उसी समय से विकसित होने लगता है जिस समय से उसे लागू किया जाता है। सन् १९३७ ई० में भारत में सन् १९३५ ई० का भारत-सरकार-क़ानून प्रांतीय क्षेत्र में लागू करने के बाद उसके अनुबधों का जो कुछ हुआ उससे हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है। अलिखित या विकसित संविधान में भी एक मात्रा मे लिखित अंश होता है। इसके दो कारण हैं; जिस वस्तु की स्थापना लोकाचार द्वारा हो जाती है, उसे लिखित रूप देने की प्रकृति सदा देखी जाती है। ब्रिटिश पार्लमैंट के अनेकों क़ानूनों ने उन क़ानूनों को आज लिखित रूप दे दिया है जो पहले अलिखित थे। दूसरे, बदलती हुई परिस्थितियाँ व्यवस्थापक मण्डल को इसके लिए बाध्य कर देती हैं कि वे उन समस्त आधारभूत नियमों

को जिनका सम्बन्ध संवैधानिक व्यवहारों से है क़ानून का रूप दे दें। गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश पार्लामैंट ने निर्वाचन मे सुधार करने वाले क़ानून स्वीकार किये जिनके द्वारा उस समय में ब्रिटिश संविधान का सारतत्व ही बदल गया। इस प्रकार ब्रिटिश संविधान का एक विशाल भाग लिखित है; परन्तु वह पार्लामैंट के अनेकों क़ानूनों में बिखरा हुआ है। अतः यह ठीक होगा कि लिखित तथा अलिखित सविधानों के भेद का परित्याग कर दिया जाय। इस भेद में कोई वास्तविकता नहीं है।

कठोर और लचीले संविधान—

लॉर्ड ब्राइस ने संविधानों को कठोर (Rigid) तथा लचीले (Flexible) संविधानों में विभाजित किया था। यह वर्गीकरण सवैधानिक क़ानूनों का देश के साधारण क़ानूनों से तथा उनका निर्माण करने वाली सत्ता से जो सम्बन्ध होता है उस पर आधारित है। यदि किसी राज्य के संविधान की रचना तथा उसका सशोधन उसी सत्ता द्वारा हो सकता है जो उन साधारण क़ानूनों की रचना करती है अथवा उनमें सशोधन करती है जिनके अनुसार नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन होता है तो उसे लचीला संविधान कहते हैं। ऐसे सविधानों मे संविधान की रचना करने वाली सत्ता और साधारण क़ानून बनाने वाली सत्ता के बीच कोई भेद नहीं होता। एक ही सत्ता संविधान तथा साधारण कानूनो की रचना कर सकती है, उसमें सशोधन कर सकती है और उन्हे रद्द भी कर सकती है। संविधान के सशोधन के लिए किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। ब्रिटिश सविधान इसी ढंग का है। ब्रिटेन में पार्लामैंट सर्व-शक्ति-सम्पन्न संस्था है। वह हर प्रकार का क़ानून बनाने और उनमें संशोधन करने में समर्थ है और उसकी क्षमता पर किसी प्रकार की वैधानिक रुकावट नहीं है। दूसरी ओर यदि किसी राज्य में संवैधानिक क़ानून और साधारण क़ानून के बीच इतना भेद होता है कि इन दोनों की रचना तथा इनका संशोधन आदि दो विभिन्न सत्ताओं द्वारा विभिन्न रीति से होता है और सवैधानिक क़ानून साधारण क़ानून से ऊँचे माने जाते हैं, तो ऐसे संविधान को कठोर (Rigid) संविधान कहते हैं। ऐसे संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय व्यवस्थापक मंडल को असीमित सत्ता नहीं होती, उसकी व्यवस्थापन सत्ता किसी बाहरी वस्तु

द्वारा मर्यादित होती है। एक ऊँचा क़ानून होता है जिसका पार्लामैंट को आदर करना पड़ता है। वह संविधान या उसके किसी उपबन्ध में संशोधन नहीं कर सकती और न उसे रद्द ही कर सकती है। वह राज्य के संविधान के प्रतिकूल कोई क़ानून भी नहीं बना सकती। संविधान में संशोधन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया होती है। कठोर संविधान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान है। अमेरिकन काँग्रेस की व्यवस्थापन क्षमता सविधान की सर्वोच्च सत्ता द्वारा मर्यादित है जिसमें न यह कोई परिवर्तन कर सकती है और न संशोधन ही। काँग्रेस द्वारा स्वीकृत ऐसा कोई कानून जो संविधान के प्रतिकूल है, अप्रामाणिक तथा अवैध होगा।

कठोर तथा लचीले संविधानों में मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

१—यदि संविधान का संशोधन ऐसी प्रक्रिया द्वारा किया जाता है जिसका प्रयोग साधारण क़ानूनों के स्वीकार करने में किया जाता है, तो उसे लचीला कहते हैं। यदि इस प्रयोजन के लिए एक विशेष प्रक्रिया का प्रयोग किया जाय, तो उसे कठोर कहेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि कठोर संविधान में लचीले संविधान की अपेक्षा संशोधन करना कठिन होता है। किन्तु संविधानों में संशोधन प्रक्रिया की कठिनाई या सरलता से ही उसके वर्गीकरण का निश्चय नहीं किया जा सकता। फ्रेन्च संविधान में संशोधन करना सरल है; परन्तु इस पर भी वह कठोर संविधान है। समस्त कठोर संविधानों का संशोधन समान रूप से कठिन नहीं होता, कुछ कठोर संविधानों का संशोधन दूसरों की अपेक्षा सरलता से किया जा सकता है। अमेरिका के संविधान में संशोधन करना बड़ा कठिन है।

२—दूसरे, कठोर संविधान में व्यवस्थापक मण्डल की सत्ता एक उच्चतर क़ानून द्वारा मर्यादित होती है जो उसके बाहर का तथा उससे ऊँचा होता है। लचीले सविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय पार्लामैंट की सत्ता असीमित होती है।

३—तीसरे, कठोर संविधान सदैव लिखित होता है। इसका निर्माण संविधान-परिषद् द्वारा किया जाता है, जो इसी प्रयोजन से नियुक्त की जाती है। इस संविधान-परिषद् का काम देश के लिए साधारण क़ानूनों का निर्माण करना नहीं है। अतः हम यह कह सकते हैं कि कठोर संविधान में संवैधानिक नियम (Constitutional Law)

तथा साधारण क़ानून (Statute Law) में सदैव भेद माना जाता है। लचीले संविधान में इस प्रकार का भेद नहीं होता।

अपनी पुस्तक 'इंगलैण्ड का शासन' (Government of England) में प्रेसीडेंट लॉविल ने लिखा है कि कठोर तथा लचीले संविधान में भेद बहुत ही थोड़ा है और समय के व्यतीत होने के साथ वह कम स्पष्ट होता जाता है। ऐसे देशों से जो एक साधारण प्रक्रिया द्वारा अपने संविधान में वैसे ही सशोधन कर सकते हैं, जैसे कि एक साधारण क़ानून में, हम धीरे-धीरे ऐसे देशों में पहुँच जाते हैं जहाँ संविधान की रचना तथा उसमें संशोधन एवं साधारण क़ानून की रचना तथा उनमें संशोधन का कार्य दो भिन्न संस्थाओं द्वारा किया जाता है। अमेरिका का संविधान कठोर है और इंगलैण्ड का लचीला; परन्तु इन दोनों के बीच के भी ऐसे संविधान हैं जिनमें संशोधन राष्ट्रीय पार्लामैंट के विशेष अधिवेशन द्वारा या एक विशिष्ट बहुमत द्वारा किए जा सकते हैं। ऐसे संविधानों मे संशोधन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल है। इनमें संशोधन करने वाली संस्था के सदस्य उस संस्था के सदस्यों से भिन्न नहीं होते जो साधारण क़ानून बनाती हैं। ऐसे उदाहरणों से लॉविल के कथन की पुष्टि हो जाती है। फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि उन देशों में जिनमें पार्लामैंट को असीमित सत्ता प्राप्त है और वह बिना किसी विशेष प्रक्रिया के सविधान में संशोधन कर सकती है तथा उन देशों में जिनमें पार्लामैंट की सत्ता सीमित है और संविधान के संशोधन के लिये एक विशेष प्रक्रिया आवश्यक होती है, स्पष्ट रूप से भेद है। इस प्रकार कठोरता तथा लचीलापन संविधानों के वर्गीकरण के लिए समुचित आधार है।

कठोर संविधान के गुणदोष—

कठोर संविधान की रचना विशिष्ट संविधान-परिषद् द्वारा की जाती है, जिसमें बड़े विचार तथा बहस के बाद ही उसकी धारायें स्वीकार की जाती हैं, अतः यह आशा की जा सकती है कि वह स्पष्ट और असंदिग्ध होगा। चूंकि वह लिखित होता है इसलिये उसके अनुबन्धों का निश्चय उसको देखकर किया जाता है। संशोधन की प्रक्रिया कठिन होने से यह संविधान लचीले संविधान की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है और अस्थायी लोकभावना से कम प्रभावित होता है। उसकी पवित्रता अधिक और

सत्ता सर्वोच्च होने के कारण, राष्ट्रीय पार्लमैंएट (किसी दल के बहुमत या लोकमत के क्षणिक आवेश से प्रभावित होकर) उसमें सरलता से खेंच तान करके उसका अपनी इच्छा के अनुकूल अर्थ नहीं निकाल सकती। इस विचार को सभी नहीं मानते। उदाहरणार्थ, गिलक्राइस्ट का मत है कि कठोर संविधान राष्ट्रीय विचार-विनिमय का केन्द्रीय-बिन्दु होने के कारण उस पर लचीले संविधान की अपेक्षा दलों का अधिक प्रभाव पड़ता है। यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। यह विचार कि इसके निर्माण में समाज के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सम्मिलित बुद्धि का समावेश हुआ है और यह बड़े गहन विचार एवं चिन्तन का परिणाम है, उसे रागद्वेष तथा भावावेशों के प्रभाव से सुरक्षित रखता है।

इन लाभों के होते हुए भी कठोर संविधान मे कुछ ऐसे दोष भी हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। इस संविधान में संशोधन की कठिनाई के कारण अत्यावश्यक सुधारों को जारी करने में विलम्ब होता है और इस प्रकार राष्ट्रीय प्रगति में बाधा पड़ती है। कठोरता सदैव सद्गुण ही नहीं होती। यदि संविधान में देश मे होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ परिवर्तन नहीं किये जा सकते, और वह अनुपयुक्त हो जाता है, तब उसमे बलपूर्वक परिवर्तन करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से ही क्रान्ति का प्रादुर्भाव होता है। मेकॉले के अनुसार समस्त क्रान्तियों का एक महान् कारण यह होता है कि राष्ट्र तो प्रगति करते हैं किन्तु संविधान ज्यों के त्यों बने रहते हैं। श्रेष्ठ संविधान वह है जिसका देश के राष्ट्रीय जीवन में बदलती हुई आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अवस्थाओं के साथ बिना अधिक कठिनाई के सामंजस्य किया जा सके। कठोर संविधान भावी सम्भावनाओं का विचार नहीं करता, वह अनिश्चित काल के लिए राज्य की राजनीतिक प्रगति के सिद्धान्तों को पहले से ही संक्षेप में निर्णय कर देने का प्रयत्न करता है। यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे एक बालक के लिए बिना उसकी भावी शारीरिक वृद्धि का विचार किए पोशाक बना देना। परन्तु हाल में जो कठोर संविधान बनाये गए हैं, वे इन दोषों से मुक्त हैं।

लचीले संविधान के गुण-दोष—

लचीले संविधान का सबसे महान् गुण है, उसकी संयोजनीयता तथा लचीलापन। जिस आसानी के साथ उसमें संशोधन या परिवर्तन किया

जा सकता है, उसके कारण समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ उसका आसानी से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। वर्द्धमान तथा विकासोन्मुख राज्य के लिए लचीला संविधान बहुत ही अनुकूल होता है; उसकी बदलती हुई आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के लिये उसमें व्यवस्था सरलता से हो सकती है। अपने लचीले संविधान के कारण ही इंगलैंड अनेकों अवसरों पर राजनीतिक क्रान्तियों के भय से बच रहा है और नई परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार उसने भूमिपतियों के हाथ से सत्ता छीन कर धीरे-धीरे वर्द्धमान् औद्योगिक वर्गों को सौंप दी है। एक लचीले संविधान की संयोजनीयता सर्वश्रेष्ठ ढग से उस समय प्रकट होती है जबकि उसकी बनावट को कोई भी क्षति पहुँचाये बिना किसी भी गंभीर संकट का सामना करने के हेतु वह झुकाया और अनुकूल बनाया जा सकता है, उदाहरणार्थ गत दोनों विश्व-युद्धों के समय ब्रिटिश पार्लामैंट ने बड़ी आसानी के साथ अपनी अवधि को बढ़ा लिया जिससे नवीन निर्वाचनों के कारण कोई विक्षेप न हो। अव्यवस्था को दूर करने लिए द्वितीय विश्व-युद्ध के समय में इंगलैंड में बड़ी आसानी के साथ बहुमतदलीय शासन (Majority Party Government) के स्थान पर राष्ट्रीय शासन (Mational Government) की स्थापना कर ली गई, जिसमें उदार, अनुदार तथा मजदूर सभी दलों के सदस्य थे। युद्ध की समाप्ति के बाद पुन: इंगलैंड बहुमतदलीय शासन की स्थापना हो गयी, मानो कोई असाधारण बात हुई ही नहीं थी।

लचीले संविधान में आसानी के साथ परिवर्तन किया जा सकता है; इस कारण उसमें हिंसात्मक विद्रोह द्वारा उसका अन्त करने के ख़तरे अपेक्षाकृत बहुत कम होते हैं। इसमे जनता की आकांक्षा को सन्तुष्ट करने का एक क़ानूनी और आसान साधन मिल जाता है, अतः जनता क्रान्ति की ओर प्रवृत्त नहीं होती। इस प्रकार इस प्रणाली में क्रान्तिकारी आन्दोलनों के खतरे कम हो जाते हैं। संक्षेप में, जब कभी देश की परिस्थितियाँ ऐसी हो जाँय कि उनके कारण संविधान में परिवर्तन आवश्यक हो, तो वे बिना किसी कठिनाई या विलम्ब के किये जा सकते हैं। इस प्रकार लचीले संविधान का बड़ा गुण यह है कि राज्य की वृद्धि के साथ इसका भी विकास एवं अभिवृद्धि होती रहती है और इससे राष्ट्रीय चेतना एवं प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए इसमें एक सरल माध्यम मिल जाता है।

परन्तु दूसरी ओर, परिवर्तन की यह अत्यन्त सुविधा लचीले संविधान का एक बड़ा दोष भी है। इस कारण वह कठोर संविधान की अपेक्षा कम स्थायी होता है। इसमे संशोधन या परिवर्तन न केवल किसी संकट के मुक़ाबले के लिए ही किया जा सकता है, वरन् किसी राजनीतिक दल या जनता की सनक की सन्तुष्टि के लिए भी किया जा सकता है। जैसा कि सिजविक ने कहा है: "सर्व-साधारण की अप्रियता के झोंके से बहुमूल्य नियमों एव संस्थाओं का विनाश हो सकता है, और इस प्रकार उसकी प्राचीनता तथा सनातन लोकाचार से प्राप्त स्थिरता नष्ट हो जाती है।" इस प्रणाली के अन्तर्गत संविधान के सिद्धान्तों एवं व्यवहारों को राजनीतिज्ञों तथा उत्तरदायी नेताओं से उनकी रक्षा करने के लिये कोई पवित्रता या उच्च सत्ता नहीं दी गई है। जिन देशों में जनता में पर्याप्त राजनीतिक शिक्षण नहीं मिला है, उनके लिए लचीला संविधान अनुकूल नहीं है।

इन दोनों प्रकार के संविधानों के गुण-दोष चाहे जो भी हों, आजकल साधारण प्रवृत्ति लिखित तथा कठोर संविधान की ओर है। सयुक्त राज्य अमेरिका के उदाहरण का अनुसरण करके गत १५० वर्षों में एक के बाद दूसरे राज्य ने उसे स्वीकार किया है। जिस देश ने एक बार भी लिखित सविधान को स्वीकार कर लिया, वह फिर अलिखित तथा लचीले संविधान की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ। संसार भर में केवल इंगलैंड ही एक ऐसा देश है जिसका संविधान अलिखित या विकसित तथा लचीला है। भविष्य लिखित तथा कठोर संविधानों के साथ है। निम्न लिखित परिस्थितियाँ उसके पक्ष में हैं।

(१) प्रजातन्त्रीय देशों में इस प्रकार की साधारण आकांक्षा है कि जनता के हितों की सुरक्षा के लिए शासन की सत्ताओं पर प्रतिबन्ध लगाये जाँय। (२) प्रजातन्त्रीय देश अपनी जनता को इस प्रकार के संविधान इसलिए देते हैं कि वैधानिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई वाद-विवाद न खड़ा हो। (३) जब कभी नवीन संविधान स्वीकार किया जाता है। उसे निश्चित तथा स्पष्ट बनाना अच्छा होता है। (४) संघ-सिद्धान्त भी लिखित संविधान चाहता है।

कठोर संविधान के आवश्यक तत्व—

चूंकि वर्तमान् समय में संसार के देशों में प्रवृत्ति लिखित तथा कठोर

संविधान की ओर ही है इसलिये उसकी मुख्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में यहाँ विचार करना अप्रासंगिक न होगा। सबसे प्रथम तो संविधान इतना स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए कि उसकी धाराओं के अर्थ एवं व्याख्या के सम्बन्ध में कम के कम विवाद हो। दूसरे, ऐसे संविधान में जनता के नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की घोषणा भी हो। महात्मा गाँधी ने भारत के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तावित संविधान में नागरिकों के अधिकारों की घोषणा को स्थान देने के लिये विशेष आग्रह किया था परन्तु उस पर ध्यान नहीं दिया गया। तीसरे, संविधान में शासन के संगठन, उसके अंगों तथा उनकी सत्ताओं, राज्याधिकारियों की नियुक्ति की विधि तथा निर्वाचनों के सिद्धान्तों आदि के लिये भी स्पष्ट नियम होने चाहिए। अन्त मे, संविधान में संशोधन करने की विधि भी स्पष्ट रूप से उसमें उल्लिखित होनी चाहिए। उपर्युक्त अनुबन्ध संक्षेप में होने चाहिये। सक्षेप में होने से बाद में विवाद के अवरस कम हो जाते हैं। यह वांछनीय है कि संविधान में केवल उन सिद्धान्तों को स्थान मिलना चाहिए, जिनके अनुसार शासन के विविध अगों, नागरिकों के अधिकारों तथा शासन एवं नागरिकों के बीच के संबंधों का निर्धारण हो। कम महत्त्व के प्रश्नों को (जैसे व्यवस्थापन विधि (Legislative Procedure), रेल पथों का नियमन, बैंकों का नियन्त्रण आदि) उसमें स्थान नहीं देना चाहिए। सन् १९३५ ई० के भारत-शासन संविधान में एक बड़ा दोष यह था कि उसमें ऐसे मामलों का उल्लेख था जिन्हें संवैधानिक नहीं कहा जा सकता, जैसे ब्रिटिश आर्थिक तथा व्यावसायिक हितों, इम्पीरियल सेवाओं के अधिकार आदि की सुरक्षा।

अध्याय २०

निर्वाचक गण

शासन-संगठन से सम्बन्धित अनेक बातों में सबसे महत्त्वपूर्ण है निर्वाचकों का संगठन और उस प्रकिया का निर्धारण जिसके द्वारा वे अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। वे एक बड़ी सीमा तक संविधान की भावना का निर्धारण करते हैं तथा उसे रूप देते हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों का विचार है कि निर्वाचकगण (Electorate) भी शासन के अन्य विभागों जैसे व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की भांति एक विभाग है। इसके आधारभूत महत्त्व के कारण इसका वर्णन पहले करेंगे।

निर्वाचक-गण का विस्तार—

प्रजातंत्रीय राज्य के जिन नागरिकों को मताधिकार होता है, वे निर्वाचकगण मे सम्मिलित होते हैं। निर्वाचकगण का नागरिकों के समाज की अपेक्षा एक छोटा समुदाय होता है, क्योंकि किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत अवयस्क पुरुषों एवं स्त्रियों, पागलों, दिवालियों तथा अपराधियों एवं बन्दियों को मताधिकार नहीं होता यद्यपि वे इस अर्थ में नागरिक बने रहते हैं कि उनकी राज्य के प्रति भक्ति है और देश में तथा उसके बाहर उन्हें राज्य की रक्षा का अधिकार है। भूतकाल में मताधिकारियों की संख्या बहुत सीमित होती थी। मताधिकार के लिये अनेक प्रकार की अर्थात् आर्थिक, धार्मिक, प्रजातीय, शिक्षा-सम्बन्धी तथा लैङ्गिक योग्यताओं की आवश्यकता होती थी। परन्तु प्रजातंत्र के बढ़ते हुए प्रवाह के सामने ये सब प्रायः विलीन हो गई हैं और अब इनमें स कतिपय योग्यताऐं ही आवश्यक रह गई हैं। वर्तमान काल के राजनीतिक विकास की एक महान् विशेषता है मताधिकार का विस्तार। परन्तु हम यहाँ इस आन्दोलन के इतिहास के सम्बन्ध में विचार नहीं करेंगे।

इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि वर्तमान् काल के समस्त वैधानिक राज्यों में मताधिकार काफ़ी व्यापक रूप में प्राप्त हैं। पुराने राज्यों ने अपने निर्वाचन-सम्बन्धी नियमों में संशोधन कर या तो केवल वयस्क पुरुषों के लिये या पूर्णतया (स्त्री-पुरुष दोनों के लिये) वयस्क मताधिकार स्वीकार कर लिया है और नवीन राज्यों ने अपने संविधानों में ऐसी धाराएँ रखी हैं, जिनके द्वारा समस्त वयस्क नागरिकों (स्त्रियों तथा पुरुषों) को मताधिकार प्राप्त है। पश्चिमी देशों मे महिलाओं को भी मताधिकार मिल गया है, केवल लेटिन यूरोप के देशों में महिलाएँ इस अधिकार से आज भी वंचित हैं क्योंकि वहाँ स्त्रियों के मताधिकार के विरुद्ध धार्मिक भावना अभी तक प्रभावशाली है। भारत में भी नवीन संविधान द्वारा वयस्क मताधिकार समस्त नागरिकों (स्त्री-पुरुषों) को मिल गया है। यहाँ यह बात फिर बता देना अनुचित नहीं होगा कि सार्वभौमिक (Universal) मताधिकार के सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक नागरिक बिना उसकी आयु, नैतिक चरित्र तथा बुद्धिमत्ता के विचार के मताधिकार प्राप्त हैं। अत्यन्त प्रजातन्त्रीय देशों में भी अवयस्कों, मूढ़ों तथा पागलों एवं किसी अपराध के लिये दण्ड भुगतने वाले बन्दियों को मताधिकार नहीं है। इस प्रकार यह सिद्धान्त निरपेक्ष नहीं है।

जिस आयु को पहुँचने पर व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त होता है, वह सभी देशों मे एक समान नहीं है। भारत, इंगलैण्ड, फ्रान्स तथा संयुक्त राज्य अमेरिका मे यह अवस्था २१ वर्ष, जर्मनी में २० वर्ष और रूस तथा टर्की मे १८ वर्ष है। कुछ देशों मे यह आयु २५ वर्ष रखी गई है। यह बहुत ऊँची सीमा है। भारत में जो न्यूनतम आयु रखी गई है वही उचित मालूम होती है।

निर्वाचन-क्षेत्र—

यद्यपि ऐसा कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं है कि समस्त प्रतिनिधियों का चुनाव समस्त देश में से उसको एक क्षेत्र मान कर क्यों न किया जाय, तथापि सब देशों में यही रीति प्रचलित है कि सारे देश को चुनाव के लिये कई भागों (निर्वाचक मण्डलों या निर्वाचन-क्षेत्रों) में बाँट दिया जाता है। इससे प्रतिनिधियों के निर्वाचन में सुविधा रहती है और प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित

होता है। इन निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्माण के अनेक प्रकार हैं। एक प्रकार तो यह है कि समस्त देश को उतने ही भागों मे बॉट दिया जाता है, जितने कि सदस्यों (प्रतिनिधियों) का निर्वाचन किया जाता है और प्रत्येक भाग में से बहुमत के आधार पर एक प्रतिनिधि चुना जाता है। इसे 'एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र' (Single Member Constituency) कहा जाता है। इंगलैण्ड, अमेरिका तथा भारत में प्रायः यही प्रणाली प्रचलित है। इस प्रणाली के अंतर्गत निर्वाचन-क्षेत्र आकार में छोटे परन्तु जन संख्या की दृष्टि से बड़े होते हैं। ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि सभी निर्वाचन-क्षेत्र जहाँ तक हो सके आकार तथा जनसंख्या में समान हों। चूँकि क्षेत्रों की जनसख्या मे अनेक कारणों से वृद्धि या ह्रास होता रहता है, अतः समय-समय पर निर्वाचन-क्षेत्रों का पुनर्निर्माण आवश्यक हो जाता है और प्रत्येक देश में इसकी व्यवस्था की जाती है। दूसरी योजना यह है कि देश को प्रतिनिधियों की संख्या से कम सख्या में निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक क्षेत्र में एक से अधिक प्रतिनिधि (उदाहरणार्थ ८ से १५ तक) चुन कर भेजे जाते हैं। इस योजना के अन्तर्गत निर्वाचन क्षेत्र पहली पद्धति की अपेक्षा अधिक विस्तृत होते हैं। आकार तथा जनसख्या मे भी उनका समान होना आवश्यक नहीं है। इस प्रणाली को 'सामान्य टिकिट प्रणाली' (General Ticket System) कहते हैं। प्रत्येक क्षेत्र से अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। सन् १८४२ ई० से पूर्व यह प्रणाली सयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित थी। इसका प्रयोग फ्रान्स और इटली में भी किया गया।

प्रत्येक प्रणाली में गुणदोष हैं और बहुत से राज्यों ने इन दोनों का समय-समय पर प्रयोग किया है, परन्तु व्यवहार में अधिकांश राज्य एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र को ही पसन्द करते हैं। इससे कई लाभ हैं। यह प्रणाली सादी एवं सुविधाजनक है। इसमें मतदाता (Voter) अपना मत तीन चार उम्मीदवारों में से केवल एक व्यक्ति के लिए देता है, जिसका चुनाव वह आसानी के साथ कर सकता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उम्मीदवार तथा निर्वाचकों में सम्पर्क अधिक बना रहता है। प्रतिनिधि अपने निर्वाचन-क्षेत्र की आवश्यकताओं तथा स्थिति से भलीभांति परिचित हो जाता है और वह उन्हें सरकार के समक्ष आवश्यक कार्यवाही के लिए रख सकता है। मतदाता भी भलीभांति जानते हैं कि उन्हें केन्द्रीय सरकार से सहायता प्राप्त करने के लिए किसके पास जाना चाहिए।

निर्वाचित प्रतिनिधि भी अपने निर्वाचन-क्षेत्र को सन्तुष्ट रखना तथा उसके कल्याण मे अधिक दिलचस्पी लेना आवश्यक समझता है, विशेषकर यदि उसे पुनर्निर्वाचन के लिए खड़ा होना हो। मतदाता भी सुयोग्य प्रतिनिधि चुनने के अपने दायित्व को समझने लगते हैं।

एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र का दूसरा लाभ यह है कि इसके द्वारा विविध हितों का प्रतिनिधित्व बड़ी अच्छी तरह होता है, विशेष रूप से उस समय जबकि वे सुसंगठित हों। कृषक, नगर-वासी, औद्योगिक मज़दूर, ज़मीदार तथा अन्य हितों मे से प्रत्येक को अपने-अपने क्षेत्र में से, जहाँ उनका बहुमत होता है प्रतिनिधित्व का पूरा सुयोग मिलता है। 'साधारण टिकिट प्रणाली' के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र मे जो दल सबसे शक्तिशाली होता है, उसी की चुनाव-संग्राम में विजय होती है और सभी स्थान उसके हाथ में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार अल्पमत अपना प्रतिनिधि नहीं भेज सकते। इस प्रकार साधारण टिकिट प्रणाली की अपेक्षा एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र पद्धति राष्ट्र की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने के लिये अधिक सुविधाजनक तथा व्यावहारिक प्रणाली है।

एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली के विरुद्ध कहा जाता है* कि इस पद्धति के अन्तर्गत यह सम्भावना है कि राष्ट्रीय विधान-सभा (Legislature) के लिये जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं, वे अपने को अपने-अपने क्षेत्रों के प्रतिनिधि मानें और राष्ट्रीय समस्याओं पर व्यापक दृष्टि से विचार करने की अपेक्षा सकुचित दृष्टि से विचार करें। उनका ध्यान स्थानीय समस्याओं तक ही सीमित रह सकता है। इस आक्षेप में कोई वास्तविकता नहीं है। इगलैण्ड जैसे देशों का अनुभव इसके विपरीत है। भारत में भी केन्द्रीय विधान-मण्डल के सदस्यों के विरुद्ध यह आक्षेप नहीं किया जा सकता। सदस्यों से निश्चय ही यह आशा की जाती है कि वे स्थानीय हितों का ध्यान रखेंगे। इसे दोष नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसा मानना ग़लत होगा कि वे केन्द्रीय विधान-मण्डल में केवल स्थानीय प्रतिनिधि के रूप में ही जाते हैं। वे समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि होते हैं जो प्रजा के नाम पर काम करते हैं, यद्यपि सुविधा के लिये उनका निर्वाचन एक छोटे से क्षेत्र से होता है। दूसरा आक्षेप यह है कि इस प्रणाली में निर्वाचन का क्षेत्र सीमित होने से निर्वाचन के लिये उच्च कोटि के लोग नहीं मिलते और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों का निर्वाचन होता है।

* इसे ज़िला-प्रणाली (District System) भी कहते हैं।

इस आक्षेप में भी कोई सार नहीं है। एक स्थान के निवासी किसी ऐसे व्यक्ति का चुनाव कर सकते हैं जो दूसरे क्षेत्र का हो। यह प्रणाली प्रचलित है और यह सिद्धान्त के विपरीत भी नहीं है।

इसका सबसे महान् और गंभीर दोष यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में जो व्यक्ति असफल उम्मीदवार को मत देते हैं वे अपने विचारों का प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में असफल रहते हैं। यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र में कॉंग्रेसी विचार के व्यक्तियों का प्राधान्य है; तो वहाँ से कॉंग्रेसी उम्मीदवार का ही चुनाव होगा। उस क्षेत्र में उदारपंथी, साम्यवादी अथवा समाजवादी जो अल्पमत में होंगे, वे कभी अपना प्रतिनिधि नहीं चुन सकेंगे। ब्रिटेन में अनेकों साधारण निर्वाचनों के परिणामों से प्रत्यक्ष है कि इस प्रणाली द्वारा अनेक असंगतियाँ पैदा हो जाती हैं। ऐसे दल जिनका समस्त देश में अल्पमत होता है, वे कभी-कभी पार्लमैंट में बहुसख्या में प्रतिनिधियों का चुनाव करने में सफल हो जाते हैं। अनेक बार अनुदार दल ने (Conservative Party) कॉमन्स सभा में ४०% मतदाताओं के बल पर ही बहुमत प्राप्त कर लिया है। सन् १६२२ के निर्वाचन मे अनुदार दल ने कुल ५,३८१,४३३ मत से २६६ स्थान प्राप्त किए; मज़दूर दल के ४,२३७,४६० मत प्राप्त होते हुए भी १६२ सदस्य चुने गये और उदारदल के तो २,६२१,१६८ पर केवल ५४ सदस्य ही चुने गये। दूसरे शब्दों में, जहाँ अनुदारदल का एक प्रतिनिधि १८१८० मत से चुना गया वहाँ मज़दूर दल को ३०,७०६ मत पर और उदारदल को ४८,५४० मत एक एक सदस्य मिला। सन् १६२४ ई० में भी ऐसी ही स्थिति रही। प्रत्येक अनुदार सदस्य को १८०८५ मत, प्रत्येक मज़दूर सदस्य को ३६,३२३ और प्रत्येक उदार सदस्य को ६५,४०१ मत मिले। सन् १६०६ ई० में एक निर्वाचन-क्षेत्र में उदार दल ने तीन स्थानों पर विजय प्राप्त की और उन्हें कुल मिलाकर २२,०२१ मत मिले, परन्तु उनके प्रतिद्वन्द्वी यूनियनिस्ट दल को केवल १ स्थान मिला जबकि उसे २२,४६० मत मिले। जब एक ही निर्वाचन-क्षेत्र से तीन सदस्यों का चुनाव होता है, तब चुनाव एक प्रकार का जुआ हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इस प्रकार के दोष देख पड़ते हैं। इस दोष के निवारण का एक उपाय है—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व—

हम ऊपर बतला चुके हैं कि एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र पद्धति के

यह निर्वाचन की एक ऐसी पद्धति है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय या स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचनों में प्रत्येक समुदाय या दल के लोगों के लिए उनके मतदाताओं की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। अतः इसका उद्देश्य ऐसी प्रतिनिधि-संस्था का निर्माण करना है जिसमें निर्वाचकों के सभी हितों तथा वर्गों को यथा-सम्भव समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके। यदि किसी देश में निर्वाचकों में उदार, अनुदार, मज़दूर, साम्यवादी एवं स्वतन्त्र दल हैं तो वे इस प्रणाली के अनुसार अपनी संख्या के अनुपात में अपने-अपने प्रतिनिधि चुन कर भेज सकते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का कोई एक रूप नहीं है; जितने राज्यों ने उसका प्रयोग किया है, उतनी ही उसकी पद्धतियाँ भी क़ायम हो गई हैं और उनके अतिरिक्त कुछ सिद्धान्त रूप से भी विद्यमान हैं। परन्तु उन सबों में दो तत्व सामान्य है, जिनमें इस योजना का सार-तत्व है। सर्व प्रथम, इसका प्रयोग ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र में ही किया जा सकता है जिसमें से अनेक प्रतिनिधियों का चुनाव होता है; एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। दूसरे, चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए, बहुमत (Majority of Votes) प्राप्त करने की आवश्यकता नही है, उन्हे केवल एक नियत न्यूनतम संख्या में मत (Quota) प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रणाली के जो अनेक रूप प्रचलित हैं, 'उनमें एकल-सक्रमणीय-मत' (Single Tansferable Vote) और 'सूची-प्रणाली' (List System) मुख्य हैं।

एकल-संक्रमणीय-मत-प्रणाली—

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की अन्य प्रणालियों की भांति, एकल-संक्रमणीय-मत-प्रणाली के लिए बहु-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र की आवश्यकता होती है जिसमें कम से कम तीन सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था हो। अधिकतम प्रतिनिधि कितने चुने जॉय, इसकी कोई संख्या निर्धारित नहीं है; एक लेखक ने १५ की संख्या उचित बतलाई है। यदि ४ से १० या १२ सदस्य तक चुने जॉय तो इस प्रणाली द्वारा भली भॉति निर्वाचन हो सकेगा। परन्तु प्रतिनिधियों की संख्या चाहे जो हो, इसमें मतदाता का एक मत ही प्रभावकारी होता है। इस प्रणाली की अनुपमता इस बात में है कि इसमें मतदाता अपनी केवल पहली पसन्द का ही निर्देश नहीं करता, वरन् जितने स्थानों के लिए प्रतिनिधियों को चुना जाता

है, उतनी ही संख्या में वह अपनी पसन्द बतलाता है, जैसे दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं इत्यादि। इस प्रकार यदि १२ उम्मीदवार ५ स्थानों के लिए हैं तो मतदाता १२ उम्मीदवारों की सूची में से किन्हीं पाँच व्यक्तियों के सामने १, २, ३, ४, ५ संख्या लिख कर अपनी पसन्द को बतला सकते हैं। इसके मूल में यह भाव है कि यदि किसी कारण से पहली पसन्द के उम्मीदवार को उसके मत की आवश्यकता नहीं हो तो वह उसकी दूसरी पसन्द के उम्मीदवार को मिल जायेगा; यदि दूसरी पसन्द के व्यक्ति को भी उसकी आवश्यकता नहीं है तो वह तीसरे और इसी प्रकार चौथे तथा पाँचवे व्यक्ति को मिल जायगा; इस प्रकार एक भी मत व्यर्थ नहीं जायगा। किसी न किसी उम्मीदवार की सफलता के लिए प्रत्येक मत का प्रयोग किया जायगा।

चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार को एक नियत न्यूनतम संख्या में मत प्राप्त करने चाहिए। इस संख्या के निर्धारण के भी अनेक प्रकार है। इसका सबसे सरल उपाय यह है कि जितने मत प्रदान किए हैं उसकी संख्या में जितने स्थान हैं, उस संख्या में एक जोड़ कर उससे भाग दे दिया जाय और भाज्य-फल मे १ जोड़ दिया जाय। इस प्रकार यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र में ९ स्थान हैं और चुनाव में १,००,००० मतदाताओं ने मत दिए हैं; तो १० (९+१) से भाग देने पर भाज्यफल १०,००० होगा। इसमे १ जोड़ देने से १०,००१ नियत न्यूनतम संख्या हो जायगी। न्यूनतम संख्या निर्धारित करने के बाद मतों की गणना आरम्भ होती है। प्रथम गणना में केवल पहली पसन्द के ही मतों पर विचार किया जाता है। जिन व्यक्तियों को नियत सख्या मे (या अधिक) मत मिल जाते हैं वे निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं। यदि प्रथम गणना में सभी स्थान नहीं भरे जा सकें, तो सफल उम्मेदवारों के जितने अतिरिक्त मत होते हैं वे उनमे बतलाई हुई दूसरी पसन्द के उम्मेदवारों को दिए जाते हैं। इस प्रकार दूसरी पसन्द के मतों की सहायता से वे उम्मेदवार जिन्हें नियत संख्या में प्रथम पसन्द के मत नहीं मिले थे चुने जा सकते हैं। यदि इस प्रकार भी सब स्थान न भरें तो तीसरी पसन्द के मत काम में लिये जाते हैं और जब तक कि आवश्यक संख्या में प्रतिनिधि नहीं चुन लिए जाते तब तक ऐसा ही करते रहते हैं। इस प्रकार सभी स्थानों को भरने का प्रयत्न किया जाता है। यदि किसी उम्मीदवार को इतने कम पहली पसन्द के मत मिलते हैं कि दूसरी, तीसरी

यहाँ तक कि चौथी पसन्द के मतों से भी उसके निर्वाचन की कोई सम्भावना नहीं रहती तो उसके पहली पसन्द के मत नहीं गिने जाते और उन मतदाताओं के मत दूसरी पसन्द के उम्मीदवारों को मिल जाते हैं। इस प्रकार ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि प्रत्येक मतदाता का मत किसी न किसी उम्मीदवार के निर्वाचन में अवश्य काम आता है, व्यर्थ नहीं जाता। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की गणना का काम बड़ा जटिल है। यह इस प्रणाली की मुख्य कठिनाइयों में से एक है। इस प्रणाली को अपनाने में यह भी भय है कि इससे देश में अनेक दल बन जायेंगे। बहुदलीय प्रणाली मे किसी भी दल के लिए राष्ट्रीय विधान-मण्डल में अजेय बहुमत प्राप्त करना असम्भव होता है और शासन (मंत्रि-परिषद्) संयुक्त शासन बनाने पड़ते हैं जो अस्थिर होते हैं। परन्तु यह दोष आनुपातिक प्रतिनिधित्व की सभी प्रणालियों में है। जो लोग विधान-मंडल में स्थिर बहुमत के पक्षपाती हैं वे इस प्रणाली को पसन्द नहीं करते। इङ्गलैंड में इस प्रणाली को इसी कारण अभी तक नहीं अपनाया गया है।

सूची-प्रणाली—

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एक प्रणाली सूची-प्रणाली (List System) के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रणाली के अनुसार जो उम्मीदवार चुनाव में खड़े होते हैं, उन्हे उनके दलों के अनुसार एक सूची में रख दिया जाता है और जो मत व्यक्तिगत उम्मीदवारों को दिये जाते हैं, वे सूची के लिये दिए गए मत माने जाते हैं। मतदाता उतने मत दे सकता है जितने स्थानों के लिये चुनाव करता है, परन्तु कोई भी मतदाता किसी भी उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। एक दल को जो कुल मत प्राप्त हुए हैं, उनमें नियत सख्या से भाग दिया जाता है और जो भाज्यफल आता है, उससे यह प्रकट होता है कि उस दल को कितने स्थान मिलने चाहिए। इसकी नियत संख्या निर्धारित करने का तरीक़ा यह है कि कुल मतों की संख्या में रिक्त स्थानों की संख्या से भाग दे दिया जाता है और भाज्य-फल में १ जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार यदि एक निर्वाचन-क्षेत्र में ६ सदस्यों का चुनाव होना है और ७८,००० मतदाताओं ने मत दिए हैं; तो नियत संख्या (७८००० + ६) + १ = १३,००१ होगी। यदि हम यह कल्पना करें कि अनुदार दल ने ३०,००० मत प्राप्त किए हैं, राष्ट्रवादी दल ने २६,०००, मज़दूर दल ने १३,०००,

उदारदल ने ८,००० और समाजवादियों ने १,००० मत प्राप्त किए हैं, तो इन दलों को निम्न प्रकार स्थान मिलेंगे : अनुदारदल २ ; राष्ट्रवादी २; तथा मज़दूरदल १ । यदि पड़ौस के निर्वाचन-क्षेत्र में उदार दल को ५,००० मत मिल जाँय, तो इन्हें ८,००० में जोड़ दिया जायगा और उनका भी १ सदस्य निर्वाचित हो जायगा । इसी प्रकार सफल अनुदार उम्मीदवारों के अतिरिक्त मत दूसरे-निर्वाचन क्षेत्र के अनुदार उम्मीदवारों के मतों मे जोड़े जा सकते हैं । यह प्रणाली बेलजियम, स्वीडन, डेनमार्क तथा स्विट्ज़रलैण्ड में प्रचलित हैं । इससे बड़े राजनीतिक दलों को कुछ लाभ होता है ।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण-दोष—

यह पद्धति एकल-सदस्य-निर्वाचन-क्षेत्र मे सामान्य बहुमत-प्रतिनिधित्व के दोषों को दूर करने के लिए उपयुक्त है । निर्वाचन-क्षेत्र में विविध दलों के उनकी शक्ति के अनुसार प्रतिनिधित्व के लिए यह प्रणाली समुचित है और चुनाव को एक जुए में परिणत हो जाने से रोकती हैं । हमे अपने देश में जिन गम्भीर अल्पमत-समस्याओं का सामना करना पड़ा है उनका समाधान इस प्रणाली से सरलता से हो सकता है । इस प्रकार सिद्धान्ततः यह प्रणाली बहुत ही उत्तम है । परन्तु इसमें कुछ दोष भी हैं । इसकी एक बड़ी कठिनाई है उसकी जटिलता । मत-दाता के लिए अपनी पसन्द करना बड़ा कठिन होता है ; विशेष कर उस समय जब कि निर्वाचन-क्षेत्र बहुत बड़ा होता है । ऐसी दशा मे वह दल के प्रभाव में पड़ जाता है । यह व्यावहारिक कठिनाई राजनैतिक शिक्षण के उस लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक है जो उसे अपनी पसन्द बताने के लिए सोचने से मिलता है । इस प्रणाली के अन्तर्गत मतों की गणना का काम भी बड़ा जटिल होता है । इससे मतदाताओं और उम्मीदवारों दोनों को गणना करने वाले अधिकारियों की दया पर निर्भर रहना पड़ता है । यह एक कारण है जिससे यह पद्धति लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकी । इस पद्धति का एक अधिक गम्भीर दोष यह है कि इससे दलों में कमी होने के स्थान पर वृद्धि हो जाती है । इससे प्रत्येक छोटे दल को अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रखने के लिये प्रोत्साहन मिलता है ; वह किसी अन्य दल या दलों में मिल कर एक दल बनाना नहीं चाहता है । राष्ट्रीय विधान-मण्डल मे अनेक राजनीतिक दल होने का

एक स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि दुर्बल सम्मिलित मन्त्रि-परिषदें बनती हैं जो किसी भी दल का समर्थन बन्द हो जाने पर टूट जाती हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली से इस प्रकार अस्थायी मन्त्रि-परिषदें बनती हैं और सुदृढ़ तथा एकमत की मन्त्रि-परिषद् का निर्माण असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत देश में उपनिर्वाचनों के लिए कोई अवसर नहीं मिलता जिससे देश के शासन में जनता के विश्वास का निश्चय किया जा सके। निर्वाचन-क्षेत्र के बड़े होने के कारण मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों के बीच में कोई सम्पर्क भी कठिन होता है और सफल उम्मीदवार से यह आशा नहीं रहती कि वह अपने निर्वाचन-क्षेत्र के कल्याण में रुचि रखेगा और उसे सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करेगा।

सूची-प्रणाली मे भ्रष्टता का भी एक अतिरिक्त खतरा है। उम्मीदवार दल की सूची में अपना नाम सम्मिलित करने के लिये अनुचित साधनों का प्रयोग करेंगे। इससे दलों की अन्तरंग समिति (Caucus) का प्रभाव बढ़ जायगा और गुप्त रूप से 'सूत्र संचालन' व्यापक हो जायगा। जिस बात से राजनीतिक में व्यावसायिक संगठन-कर्त्ता की सत्ता एवं प्रभाव में वृद्धि होती है उस पर सदैव सन्देह किया जाता है और वह पसन्द नहीं की जाती।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त दो और प्रणालियाँ हैं, जिनके द्वारा हम अल्पमत का प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं। सीमित मत-प्रणाली (Limited Vote System) और संचित मत-प्रणाली (Cumulative Vote System)। सीमित मत-प्रणाली के लिए निर्वाचक-क्षेत्र में कम से कम ३ सदस्यों का निर्वाचन होना आवश्यक है। उसमें जितने स्थानों के लिए निर्वाचन होना है, उनसे कम संख्या में मतदाताओं को मत देने का अधिकार होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक निर्वाचन-क्षेत्र में तीन स्थान हैं तो प्रत्येक मतदाता को दो मत देने का अधिकार होगा। इससे अल्पमत को कम से कम एक स्थान मिल सकता है। संचित मत-प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को अपने क्षेत्र में उतने ही मत देने का अधिकार होगा जितने सदस्यों का निर्वाचन किया जायगा। परन्तु यह मतदाता की इच्छा पर निर्भर रहता है कि वह चाहे तो अपने सब मत एक उम्मीदवार को दे दे या उन्हें कई उम्मीदवारों में वितरित कर दे। इस प्रकार अल्पमत-दलों के सदस्य अपने उम्मीदवार के पक्ष में अपने सभी मतों का संग्रह कर सकते हैं। हमारे देश में इनमें किसी भी

प्रणाली का उपयोग नहीं किया गया। इसके स्थान पर सबसे अधिक अप्रजातान्त्रिक और अराष्ट्रीय पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन की प्रणाली का प्रयोग किया गया। इसने हमारे समाज को विषाक्त कर दिया और हमारे राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे इसके परिणाम बड़े भयंकर हुए हैं। पाकिस्तान की माँग इसका ही तार्किक परिणाम था। उस समय तक साम्प्रदायिक एकता बिलकुल नहीं हो सकती जब तक यह प्रणाली सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को दूषित करती रहती है। नये विधान में हमने इस दूषित प्रणाली को त्याग दिया है।

प्रादेशिक बनाम व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—

हमने प्रतिनिधि की जिन पद्धतियों पर विचार किया है, वे सब प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों पर ही आधारित हैं। यह आधार निर्वाचकों को एकत्र करने के लिए सर्वोत्तम है। इसका औचित्य इस आधार पर भी प्रमाणित है कि जो व्यक्ति एक ही स्थान या क्षेत्र मे निवास करते हैं, उनके हित सामान्य हो जाते हैं जो उन लोगों के हितों से भिन्न होते हैं जो अन्य स्थान या क्षेत्र मे रहते हैं। परन्तु हाल ही में इस प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की काफ़ी आलोचना की गई है। यह आलोचना दो बातो के आधार पर की जाती है। कुछ लोगों का यह विचार है कि प्रादेशिक सीमाएँ अधिकांश में अवास्तविक और बनावटी होती हैं; उनसे एक जनसमूह के हितों की दूसरे समूह के हितों से भिन्नता प्रकट नही होती। इस बात को मानने से भी इन्कार किया जाता है कि केवल एक स्थान पर रहने से विचारों मे एकता पैदा हो जाती है या हित-साम्य की स्थापना हो जाती है। अनुभव से यह सिद्ध नहीं होता कि एक ही स्थान में रहने वाले व्यक्तियों में एकता पैदा हो जाती है। एक ही स्थान पर रहने के कारण अध्यापक, वकील, रेल-कर्मचारी, दुकानदार या मिल-मज़दूर राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं पर एक से दृष्टिकोण से विचार नहीं करेंगे। दूसरे यह भी कहा जाता है कि इस सिद्धान्त का आधार यह मूढ़ विचार है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का प्रतिनिधित्व कर सकता है। व्यक्तियों का कदापि प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। प्रतिनिधित्व तो व्यक्तियों के उन हितों का हो सकता है जो उनमें सामान्य हैं। सच्चा प्रतिनिधित्व हितों का होना चाहिये, व्यक्तियों का नहीं। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर व्यावसायिक

प्रतिनिधित्व (Functional Representation) का होना परम आवश्यक है। कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि उसकी न्यूनता की पूर्ति व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से की जाय। *

इस नये सिद्धान्त के अनुसार मतदाता अपना मत उन मतदाताओं के साथ देगा जो उसी उद्योग, धन्धे या व्यवसाय में लगे हुए हैं, उन मतदाताओं के साथ नहीं जो एक ही स्थान या क्षेत्र में रहते हैं। इससे हितों का प्रतिनिधित्व प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रणाली की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से हो सकेगा। इसके समर्थक यह तर्क देते हैं कि जो व्यक्ति एक ही प्रकार का काम करते हैं उनमें एक ही स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सामान्य हित होते हैं। विविध व्यक्तियों के हित प्रादेशिक हितों की अपेक्षा अधिक भिन्न होते हैं। यदि विविध हितों के प्रतिनिधित्व की सुरक्षा ही ध्येय है, तो व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए। आधुनिक समाज में जहाँ राजनीतिक प्रश्नों का आर्थिक प्रश्नों से घनिष्ठ सम्बन्ध है यह और भी अधिक वांछनीय है। अतः राष्ट्रीय विधान मण्डल में व्यापार, वाणिज्य, श्रम, कृषि, यातायात, बैंक, खान आदि समस्त व्यवसायों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

सिन्डीकेलिज़्म तथा गिल्ड-समाजवाद के सिद्धान्तों मे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का प्राधान्य है। इटली के निगम-राज्य तथा सोवियत साम्यवादी समाज के आधार मे भी यही सिद्धान्त है। भारत में भी व्यापार, वाणिज्य आदि हितों के प्रतिनिधित्व के लिये इसे आंशिकरूप में सन् १९३५ ई० के विधान में स्वीकार किया गया था। विश्वविद्यालयों को जो प्रतिनिधित्व दिया गया है, उसे भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है।

इस सिद्धान्त के आधार पर संगठित विधान-मण्डल पर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से कई आक्षेप किये जाते हैं। यह कहा जाता है कि इससे विधान-मण्डल का राष्ट्रीय रूप ही नष्ट हो जाएगा और उसमे दलगत, सामुदायिक तथा विशिष्ट हितों का प्राधान्य हो जायगा। उसमें समस्याओं पर राष्ट्रीय दृष्टि से नहीं, वरन् समुदायविशेष के हितों की दृष्टि से ही विचार किया जायगा। इसमें राष्ट्रीय जीवन में एकता पैदा होने के स्थान में, वर्ग-संघर्ष बढ़ेगा तथा वर्गीय कानूनों का निर्माण किया

*अध्याय १८, (पृष्ठ ४०४–४०५) में इस प्रणाली पर विचार किया गया है।

जायगा। दूसरे, इसके द्वारा निम्नलिखित प्रकार के हितों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता जैसे रक्षा, शान्ति एवं व्यवस्था, वैदेशिक सम्बन्ध, कर-निर्धारण आदि जो सभी नागरिकों के लिए सामान्य हैं। इन विषयों की समुचित व्यवस्था तो प्रादेशिक आधार पर संगठित ब्रिटिश कॉमन्स सभा जैसी राष्ट्रीय संस्था द्वारा ही सम्भव है। गिल्ड-समाजवाद ने इसे स्वीकार किया है। इस योजना में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं। आधारभूत राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में समस्त धन्धों के विभिन्न हित नहीं होते, अनेक धन्धे एक दूसरे पर निर्भर होते हैं; कई धन्धे अनिश्चित होते हैं; कुछ धन्धे सर्वथा क्षणिक होते हैं। इन कारणों से यह निर्धारण करना बहुत ही कठिन हो जाता है कि किस-किस धन्धे को प्रतिनिधित्व दिया जाय और उसके कितने प्रतिनिधि हों। इन कठिनाइयों के कारण व्यावसायिक आधार पर प्रतिनिधित्व की जो योजनाएँ हैं, वे अस्पष्ट है।

यह सत्य है कि जब किसी आर्थिक वर्ग या समुदाय से सम्बन्ध रखने वाले कानूनों का निर्माण हो, तब उस वर्ग से परामर्श करना चाहिए। यह कार्य इस सदिग्ध मूल्य की प्रणाली की अपेक्षा विविध हितों के प्रतिनिधियों की एक परामर्शदात्री समिति के द्वारा अच्छी तरह हो सकता है। ये समितियाँ विधान मण्डल के अग नहीं होंगी, वे तो केवल परामर्श देने वाली समितियाँ होंगी।

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष निर्वाचन—

मतदाता अपने निर्वाचन-कार्य का सम्पादन प्रत्यक्ष (Direct) या अप्रत्यक्ष या परोक्ष (Indirect) निर्वाचन-प्रणाली द्वारा कर सकता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाता स्वय प्रतिनिधि का चुनाव करता है; परोक्ष निर्वाचन में मतदाता एक निर्वाचक-मण्डल का चुनाव करता है और यह निर्वाचक-मण्डल प्रतिनिधियों का चुनाव करता है। इस प्रकार यह दोहरा निर्वाचन होता है। अन्तिम चुनाव मतदाताओं के हाथों में नहीं होता, वरन् उस मध्यवर्ती निर्वाचक मंडल के हाथों में होता है। ब्रिटिश कॉमन्स सभा, फ्रेंच चेम्बर ऑफ डिपुटीज़ और भारत में राज्यों के विधान-मण्डलों तथा संघीय लोक-सभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से होता है; फ्रेन्च सीनेट, अमेरिकन राष्ट्रपति तथा भारतीय संघ के राष्ट्रपति का निर्वाचन परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली द्वारा होता है। भारत

में राज्य परिषद् (Council of States) का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष रीति से होता है।

प्रत्येक निर्वाचन-प्रणाली के लाभ हैं और हानियाँ भी। प्रत्येक देश के विधान-मण्डल की लोकप्रिय सभा के निर्वाचनप्रत्यक्ष रीति से होते हैं। इससे मतदाता तथा उसके प्रतिनिधि के बीच घनिष्ट सम्पर्क स्थापित होता है और जनता में सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों के सम्बन्ध में रुचि पैदा होती है। इससे मतदाताओं का अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों पर सीधा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार यह प्रजातन्त्र की भावना के अनुसार है। प्रत्यक्ष निर्वाचन के औचित्य पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा सकता और यदि विशिष्ट परिस्थितियों के कारण यह असम्भव न हो तो इसके अनुसार ही कार्य होना चाहिए।

परोक्ष रीति से निर्वाचन की व्यवस्था ऐसे देशों में होनी चाहिए जहाँ मतदाताओं में पर्याप्त रूप में राजनीतिक चेतना नहीं है और उनके हाथों में अन्तिम राजसत्ता सौंप देना खतरनाक समझा जाता है। अंतिम निर्वाचन करने का अधिकार उच्च कोटि के ज्ञान, बुद्धि तथा दायित्व की भावना से युक्त व्यक्तियों के हाथों में होने के कारण इस प्रणाली से राज-नीतिक दृष्टि से पिछड़े समाज में मताधिकार को विस्तृत करने से जो खतरे उत्पन्न होते हैं वे कम हो जाते हैं। इससे जनता के आवेश पर भी प्रतिबंध लग जाता है। यह उस समय उपयुक्त होती है जबकि निर्वाचन-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं विशाल हों। ब्रिटिश पार्लामैंट की समिति ने १९३४ में भारतीय संयुक्त संघीय व्यवस्थापिका सभा के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की सिफारिश इसी आधार पर की थी। उसमे लिखा था कि "जहाँ एक निर्वाचन-क्षेत्र विस्तार में वेल्स के दूने से भी बड़ा हो, तो उम्मीदवार के लिए उस क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करना तो दूर रहा, वह अपने विचारों को भी मतदाताओं के समक्ष नहीं रख सकता, चाहे संचार या प्रसार के साधन वैसे कठिन न भी हों जैसे कि भारत में हैं और अशिक्षा एवं भाषा संबंधी कठिनाइयाँ भी न हों। उसमें सदस्य अपने निर्वाचन के उपरान्त मत-दाताओं का पथ-दर्शन कर सकने की आशा भी नहीं कर सकता।" द्वितीय सभागृह के निर्माण में इस पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे फ्रान्स के सीनेट तथा भारतीय राज्य-परिषद् के अधिकांश सदस्यों के चुनाव में होता है। इस प्रणाली द्वारा द्वितीय सभागृह के लिए परिपक्व अनुभव के विद्वान् व्यक्ति चुने जा सकते हैं जो ऐसे सभागृह

के लिए सब प्रकार से उपयुक्त होते हैं। इसके समर्थन में दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि इससे दल के भावावेश कम हो जाते हैं; क्योंकि मतदाताओं का कार्य ऐसे निर्वाचकों को चुनने तक ही सीमित रहता है जो प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के पक्ष में जो कुछ भी कहा जाय, परन्तु देखा यह जाता है कि इससे सन्तोषप्रद परिणाम नहीं निकले हैं। जहाँ दलीय प्रणाली पर्याप्त रूप में विकसित हो चुकी है वहाँ यह एक प्रकार की बोझिल निरर्थक रूढ़ि ही बन जाती है जैसा कि अमेरिका के राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय होता है। वहाँ राष्ट्रपति के निर्वाचक विशिष्ट उम्मीदवारों का समर्थन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। इसका सबसे भयानक दोष तो यह है कि इससे मतदाता का कार्य एवं प्रभाव प्रायः नष्ट हो जाता है और वह उदासीन हो जाता है। जब मतदाता यह अनुभव करता है कि उसका मत ऐसे उम्मीदवार की सहायता करेगा जो पार्लमैंट के लिए चुना जायगा, तो वह अपने कार्य की गुरुता एवं दायित्व का अनुभव करता है। परन्तु यह भावना परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली में विलीन हो जाती है और मतदाता उत्साह-हीन हो जाता है। यह प्रणाली प्रजातन्त्र की भावना के अनुकूल भी नहीं है, जिसका एक उद्देश्य जनता में सार्वजनिक मामलों के प्रति अभिरुचि का प्रादुर्भाव करना और राजनैतिक शिक्षा देना है। दूसरे शब्दों मे, प्रजातन्त्र का एक मुख्य कार्य जनता को राजनीतिक शिक्षा देना भी है। यह भी आक्षेप किया जाता है कि परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली के कारण भ्रष्टता तथा रिश्वतखोरी की भी वृद्धि होती है; क्योंकि इसमे अन्तिम चुनाव करने वालों की संख्या कम रह जाती है और थोड़े से व्यक्तियों को रिश्वत देना सरल होता है। जो प्रणाली प्राथमिक मतदाताओं को प्रतिनिधि चुनने के अधिकार से वंचित करके उनका काम केवल निर्वाचकों को चुनने का ही रख देती है जनता को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। ऐसी प्रणाली के दोषों पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है।

अध्याय २१

राजनीतिक दल-पद्धति

राजनीतिक दलों का महत्त्व—

आधुनिक वैधानिक राज्यों में राजनीतिक दल (Political Parties) का महत्त्वपूर्ण कार्य इस बात से स्पष्ट प्रकट है कि आज के अनेक विद्वान लेखक राजनीतिक दलों को शासन का एक अंग मानते हैं। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि शासन का समूचा यंत्र उन पर निर्भर है। वे एक शक्ति-प्रद सत्ता अवश्य हैं, जिनके कारण शासन-यन्त्र का परिचालन होता रहता है; परन्तु उन्हें व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका अथवा निर्वाचक-गण के समकक्ष स्थान देना उचित नहीं है, क्योंकि राजनीतिक दल राज्य के क़ानूनी ढांचे के बाहर होते हैं। किसी भी देश के संविधान में उनका उल्लेख नहीं किया जाता। संयुक्त राज्य अमेरिका ही एकमात्र ऐसा देश है जिसके कानून में राजनीतिक दलों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और जहाँ क़ानून द्वारा उनके कार्यों का नियमन किया जाता है।

राजनीतिक दल को ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय कहा जा सकता है, जिनका सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर दृष्टिकोण सामान्य होता है, जो अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए शासन पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। मैक आइवर ने उसकी परिभाषा इस प्रकार की है: "राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जिसका निर्माण किसी सिद्धान्त अथवा नीति के समर्थन के लिए किया जाता है, जिसे वह वैधानिक साधनों द्वारा शासन का निर्णायक बनाने का प्रयत्न करता है।" इन दोनों परिभाषाओं से जो प्रायः समान हैं, यह स्पष्ट है कि एक जन-समूह राजनीतिक दल बन सके इसके लिये तीन तत्त्वों की आवश्यकता है। सबसे पहले उनका संगठन होना चाहिये। संगठन के कारण ही उनको वास्तव में शक्ति मिलती है जो उन्हें अकेले रहने पर कभी

प्राप्त नहीं हो सकती और वे उन उद्देश्यों की सिद्धि कर सकते हैं जो अन्यथा सम्भव नहीं है। किसी संगठन के अभाव मे उनके लिये सामान्य सिद्धान्तों का पालन करना असम्भव होगा।

दूसरे, व्यक्तियों को जो चीज़ एक दल मे बाँधती है, वह है सामान्य सिद्धान्तों के प्रति उनकी आस्था। जब तक वे कुछ मौलिक तत्वों के सम्बन्ध में एकमत न हों, व्यक्ति अधिक दिनों तक किसी कार्य की प्रगति के लिये परस्पर सहयोग नहीं कर सकते। यदि राजनीतिक दल अपने सिद्धान्तों का परित्याग कर देता है, तो वह एक गुट (Faction) मात्र रह जाता है। गुट ऐसे व्यक्तियों के समूह को कहते हैं, जिनकी एक व्यक्ति के प्रति आस्था या भक्ति होती है। एक गुट तथा छोटे राजनीतिक दल में भेद करना बड़ा कठिन होता है। अन्त में, राजनीतिक दल वैधानिक ढंग से अर्थात् चुनावों मे सफलता प्राप्त करके शासन पर अधिकार जमाकर अपने सिद्धान्तों तथा अपनी नीतियों को कार्यान्वित करना चाहता है। गिल्ड-समाजवादी और सिन्डीकेलिस्ट समुदाय राजनीतिक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि वैधानिक साधनों में उनका विश्वास नहीं होता। बर्क ने राजनीतिक दल की एक अन्य विशेषता पर ज़ोर दिया है। उसने राजनीतिक दल की परिभाषा इस प्रकार की है: "वह व्यक्तियों का एक समुदाय है जो अपने संयुक्त प्रयास द्वारा किसी विशिष्ट सिद्धान्त के आधार पर, जिसमे वे सब सहमत होते हैं, राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करना चाहते हैं।" राजनीतिक दल साम्प्रदायिक एवं दलगत हितों की अभिवृद्धि नहीं, वरन् राष्ट्रीय हितो की अभिवृद्धि करता है। वह समस्त व्यक्तियों के कल्याण के लिए कार्य करता है, समाज के किसी विशेष समुदाय के लिए नहीं। हमारे देश में राष्ट्रीय कॉंग्रेस तथा समाजवादी दल अपनी-अपनी समझ के अनुसार समस्त राष्ट्र के हितों की अभिवृद्धि के लिए अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रयत्नशील हैं। वे किसी एक सम्प्रदाय या जाति की हित-वृद्धि नहीं चाहते। इनके अतिरिक्त देश में हिन्दू महा-सभा, मुस्लिम लीग आदि दल साम्प्रदायिक हितों की अभिवृद्धि चाहते हैं। इस कारण इन साम्प्रदायिक दलों को वास्तव में राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

राजनीतिक दलों के कार्य—

१—राजनीतिक दलों की सबसे उत्तम वृद्धि प्रजातान्त्रिक देशों में

होती है ; यद्यपि वे अन्य राज्यों में भी हो सकते हैं। अल्पजनतन्त्रीय रोम, पवित्र रोमन साम्राज्य तथा मध्य-युग में कुछ नगरों में राजनीतिक समस्याओं के आधार पर बने हुए कुछ समुदाय थे परन्तु संगठन तथा कार्य की दृष्टि से उनकी आधुनिक राज्यों के राजनीतिक दलों से तुलना नहीं की जा सकती। उन्हें गुट्ट कहा जा सकता है, राजनीतिक दल नहीं। जिन राज्यों मे प्रतिनिधि-शासन होता है उनमे राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव कुछ आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन के लिए अनिवार्य रूप से हो जाता है। उनके द्वारा एक ऐसा संगठन स्थापित हो जाता है जिससे सामान्य इच्छा का निर्माण होता है और उसके अनुसार कार्य होता है।

राजनीतिक दल निर्वाचनों का संगठन तथा उनमें विजय प्राप्त कर के सामान्य इच्छा (General Will) का निर्माण करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति भी करते हैं। वे मतदाताओं के अव्यवस्थित समूह में एक व्यवस्था क़ायम करते हैं। वे राष्ट्रीय प्रश्नों को उनके सामने ऐसे रूप मे रखते हैं जिससे उन्हें उनके समझने मे कठिनाई न हो ; वे समूचे राष्ट्र का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करते हैं और उन पर राष्ट्र का निर्णय प्राप्त करते हैं। यदि प्रजातन्त्रीय देशो में मतदाताओं के पथ-प्रदर्शन के लिए राजनीतिक दल न हो, तो मतदाताओं को उन समस्याओं के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति हो जायगी जो देश के समक्ष उपस्थित होती हैं और वे उन पर अपने विचार प्रकट नहीं कर सकेंगे। इनके कारण लोग अपने छोटे-छोटे मतभेद मिटा देते हैं और बड़े तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर ध्यान देने लगते हैं। जब तक मतदान ही लोकमत जानने का प्रमुख साधन बना रहेगा, तब तक राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए सर्वोत्तम साधन का काम देते रहेंगे।

२—राजनीतिक दलों का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है उस लोकमत को कार्य-रूप में परिणत करना जिसका निर्माण करने तथा जिसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने योग दिया है। यह कार्य उस दल को मंत्रि-परिषद् बनाने का अधिकार सौंप कर किया जाता है जिसने चुनावों में जनता का विश्वास प्राप्त किया है और जिसका विधान-मण्डल के लोकप्रिय सदन में बहुमत है। शासन-यंत्र पर अधिकार हो जाने से बहुमत दल (Majority Party) को अपने सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने

का सुयोग मिलता है। अल्पमत दल या दलों का विरोधी दल बनता है जिसका कार्य अपने सिद्धान्तों के अनुसार शासन की स्वस्थ आलोचना करना होता है। बिना दल-पद्धति के मंत्रि-परिषद्-शासन-प्रणाली का संचालन असम्भव होगा। राजनीतिक दलों और शासन की मन्त्रि-परिषद् प्रणाली के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि राजनीतिक दल की प्रकृति का मंत्रि-परिषद् की प्रकृति तथा भावना पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। फ्रान्स तथा इंगलैण्ड के शासन मे जो भेद है, वह उन देशों के राजनीतिक दलों के सगठनों के भेद के कारण ही है।

३—राजनीतिक दलों का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है शासन के विविध विभागों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करना। शासन के विभागों के राजनीतिक अध्यक्षों का विचार-बिन्दु एवं दृष्टिकोण एक ही दल के सदस्य होने के कारण समान होता है और इस कारण शासन के विभिन्न विभागों में भी सामंजस्य रहता है।

सभी विभागों का काम एक सुनिश्चित नीति के अनुसार होता है। दल प्रणाली के कारण व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच भी मतभेद नहीं हो सकता। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में सुसंगठित दल न हो तो वहाँ शासन का संचालन किस प्रकार होगा, इसकी कल्पना करना आसान नहीं है। जैसा कि गैटेल ने कहा है, यह दलों का ही काम है कि वे इन असम्बद्ध अगो को एकता के सूत्र में बाँध कर और समस्त क्षेत्रों में पदाधिकारियों तथा समस्त विभागों की नीतियों पर नियन्त्रण रख कर सयुक्त राज्य अमेरिका का पूरी सरकार मे एक सामंजस्य पूर्ण सहयोग की प्रतिष्ठा कर देते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों से वह प्रेरक शक्ति तथा एकता प्राप्त करने का माध्यम मिलता है जिससे बड़े-बड़े राज्यों में प्रजातन्त्र व्यवहार में आ सकता है।

४—दल व्यवस्थापिका के अपने दल के समस्त सदस्यों को एकत्रित रखते हैं जिससे उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं समर्थन सरल हो जाता है और वे अपनी पूरी शक्ति अपने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति मे लगा सकते हैं। दल उन्हें अनुशासन में रखता है और उन्हें मतदाताओं के प्रति उनके दायित्वों का स्मरण दिलाता रहता है। राजनीतिक-दल-प्रणाली द्वारा प्राप्त एकता एवं अनुशासन के

बिना व्यवस्थापक-मण्डल सुचारु रूप से अपना कार्य पूरा नहीं कर सकते। उसके अभाव में वह "वैयक्तिक मतों का अव्यवस्थित शोर" ही रह जायगा।

५—जब निर्वाचन-क्षेत्र छोटे होते थे और मताधिकार सम्पत्ति वालों तक ही सीमित था तो चुनाव लड़ना एक सीधी-सादी चीज़ थी। एक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति तथा व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर थोड़े से प्रभावशाली व्यक्तियों से आग्रह कर के अपना नाम मनोनीत करा सकता था तथा निर्वाचकों द्वारा अपना निर्वाचन करा सकता था परन्तु सार्वभौम प्रौढ़ मताधिकार के विस्तार तथा निर्वाचन-क्षेत्र के विस्तार के कारण निर्वाचन बड़ा पेचीदा और खर्चीला बन गया है। आजकल विविध निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए राजनीतिक दल अपने-अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं और जब जहाँ आवश्यकता होती है, वे अपने उम्मीदवारों की आर्थिक सहायता करते हैं और राष्ट्रव्यापी आधार पर निर्वाचन की व्यवस्था करते हैं। सन् १९३७ ई० में भारत में प्रान्तीय निर्वाचनों में कांग्रेस-दल को जो विजय प्राप्त हुई, वह कांग्रेस के तत्कालीन राष्ट्रपति प० जवाहरलाल नेहरू के तूफ़ानी दौरों के कारण ही प्राप्त हो सकी थी। निर्वाचनों की व्यवस्था अब राजनीतिक दलों का एक मुख्य कार्य माना जाता है।

६—राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय होता है जिनकी कुछ आधारभूत सिद्धान्तों में आस्था होती है। अतः उनकी व्याख्या करना तथा उनका प्रचार करना दल का प्रमुख कर्तव्य है। प्रचार के लिए निर्वाचकों से बड़ा अच्छा सुयोग प्राप्त होता है। सन् १९३७ ई० के निर्वाचनों में काँग्रेस का सन्देश देश के कोने-कोने तक पहुँचाया गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी संस्था के वार्षिक अधिवेशन, प्रान्तीय सम्मेलन, नेताओं का देश भर मे भ्रमण, ग्रामों एवं नगरों में जन-सभाओं का आयोजन, प्रचार-साहित्य का वितरण आदि अन्य साधन हैं जिनका प्रयोग राजनीतिक दल प्रचार के लिए करते हैं। देश को अपने विचारों के अनुकूल बनाने में दल कोई भी बात उठा नहीं रखता। इस प्रकार जनता को राजनीतिक शिक्षा देने के लिए राजनीतिक दलों का बड़ा महत्त्व है। वे अपने प्रचार तथा चुनाव-संग्राम द्वारा जनता को सार्वजनिक मामलों में भाग लेने

के लिए अनुप्रेरित करते हैं, उन समस्याओं को समझने में सहायता देते हैं जो राष्ट्र के सामने हैं, अनेक प्रश्नों का स्पष्टीकरण करते हैं, विवाद-ग्रस्त समस्याओं के विविध पहलुओं को जनता के सामने रखते हैं और मतदाताओं का, उनके सामने जितने कार्य-क्रम रखे जाते हैं उनमें से किसी एक को पसंद करने में, पथ-प्रदर्शन करते हैं। लॉवेल के शब्दों में वे 'विचारों के दलालों' का काम करते हैं। वे लोकमत का निर्माण एवं संगठन करते हैं।

राजनीतिक दलों के विभिन्न कार्य संक्षेप में इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं। वे प्रजातन्त्र को एकीकरण का माध्यम तथा प्रेरक शक्ति प्रदान कर और लोकमत के निर्माण तथा उसे कार्यरूप में परिणत करने के साधन प्रदान करके उसे बड़े क्षेत्रों में व्यवहार योग्य बनाते हैं। वे मनुष्यों को इस योग्य बनाते हैं कि वे प्रभावकारी कार्य करने के लिए संगठित हो सकें और विविध पदों के लिए उम्मीदवारों के सम्बन्ध में मतैक्य प्राप्त कर सकें ; वे लोकमत को शिक्षित करते हैं, लोगों की सार्वजनिक हित में रुचि बढ़ाते हैं और शासन के विविध तत्वों को परस्पर एकता के सूत्र मे बाँधते हैं। उनसे इस बात का भी व्यवस्था सुनिश्चित हो जाती है कि शासन की आलोचना निरन्तर प्रभावकारी तथा नियमित ढग से होती रहेगी जिसका साधारणतया स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ता है।

दल-पद्धति के खतरे—

दल-प्रणाली जिस ढंग से कार्य करती है उसके अनेक दोष बतलाये जाते हैं। उनका संकेत उन खतरों की ओर है जिनका सामना प्रजातन्त्र को करना पड़ता है। उन पर हमें ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिये।

१—दल पद्धति पर एक दोष यह लगाया जाता है कि बहुमत-दल में से ही मन्त्रियों की नियुक्ति होने के कारण इस प्रणाली द्वारा राज्य उन श्रेष्ठ राजनीतिज्ञों की सेवाओं से वञ्चित हो जाता है, जो विरोधी-दल में होते हैं। यदि अल्पमत-दल में कोई वैदेशिक मामलों का विशेषज्ञ है तो उसे मन्त्रि-परिषद् मे वैदेशिक मन्त्री का पद देने से वंचित करना सर्वथा निराधार है। कम योग्य व्यक्ति को यह पद दे देना और भी अनुचित है। सैद्धान्तिक रूप से यह आक्षेप बहुत उचित प्रतीत होता है ; परन्तु इसमें एक व्यावहारिक कठिनाई का

विचार नहीं किया जाता। शासन की सफलता व्यक्तिगत सदस्यों की योग्यता पर उतनी निर्भर नहीं रहती जितनी कि एकता की भावना पर। ऐसे योग्य व्यक्तियों को मन्त्रि-परिषद् मे रखने की जगह जो एकमत हो कर काम न कर सकें यह अधिक अच्छा है कि उसमे कम योग्य परन्तु ऐसे व्यक्ति रखे जॉय जो मिल कर एकमत से काम कर सकें। संयुक्त मंत्रि-परिषद् एक से विचार के मंत्रि-परिषद् की अपेक्षा अधिक सफल नहीं होते।

२—यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली अस्वाभाविक है। यह बात कुछ बुद्धि संगत प्रतीत नहीं होती कि व्यवस्थापिका के कुछ सदस्यों को राज्य के कार्यों का संचालन करने और विधान-मण्डल में विधेयक प्रस्तुत करने को कहा जाय और फिर उनका विरोध करने तथा उनके मार्ग में बाधा डालने के लिये एक विरोधी दल तैयार किया जाय। परन्तु सांसद् शासन मे यही होता है। विरोधी-दल का ध्येय वर्तमान् शासन की मतदाताओं की दृष्टि से उसे बदनाम करने के लिए आलोचना करना और उसे पदच्युत कर उसका स्थान ले लेना ही होता है। इस प्रकार "पार्लामैंट युद्धभूमि बन जाती है और उसका विचार-विमर्श शासन के अन्दर वालों (Ins) तथा बाहर वालों (Outs) के बीच हो जाता है, जिसमे देश के हितों की उपेक्षा की जाती है (ब्राइस)।" दलीय शासन एक-पक्षीय हो जाता है, उसकी नीतियों में भी एकपक्षीय भावना आ जाती है और राजकीय दल तथा विरोधी दल दोनों ही प्रत्येक बात पर अपने-अपने दल की दृष्टि से, राष्ट्र की दृष्टि से नहीं, विचार करते हैं। इन बातों को मानना पड़ेगा। ये प्रजातंत्रीय शासन, विशेषकर सांसद प्रणाली के आधार पर होने वाले प्रजातन्त्रीय शासन के महान् दोष हैं। परन्तु यह आक्षेप विरोधी-दल के सच्चे कार्य के सम्बन्ध में ग़लत भावना के कारण है। विरोधी दल का यह काम नहीं है कि वह शासन के प्रत्येक कार्य की आलोचना करे या उसे पदच्युत करने का प्रयत्न करे; उसका कार्य तो शासन के प्रस्तावों एवं विधेयकों की गम्भीरतापूर्वक आलोचना करना है जिससे शासन मर्यादा और ईमानदारी के मार्ग में ही बना रहे। विरोधी दल की आलोचना सदैव अनुत्तरदायी नहीं होती क्योंकि वह पहले शासन कर चुका होता है और भविष्य में शासन करने की उसे आशा रहती है। बिना सोचे विचारे जो आलोचना

की जाती है उससे दल के गौरव और उसके भविष्य को भी भारी ठेस पहुँचती है।

यह भी कहा जाता है कि दल-प्रणाली असत्यता एवं छिछलेपन को प्रोत्साहन देती है, राजनीति में अनैतिकता पैदा करती है तथा दल के सदस्यों के व्यक्तित्व का विनाश कर उन्हें एक प्रकार का "अनुचर" बना देती है। जिस ढंग से निर्वाचन किये जाते हैं, उससे पहले दोषारोप की पुष्टि होती है। मतदाताओं से मत प्राप्त करने के लिए अनेक संदिग्ध एवं अनैतिक साधनों का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी दल के कार्य-क्रम को जान बूझ कर अस्पष्ट और विस्तृत कर दिया जाता है और ऐसी प्रतिज्ञाएं की जाती हैं जिनके पूरा करने की कभी इच्छा भी नहीं की जाती। विरोधी दल के कार्यक्रम, नीतियों आदि को प्रायः दबाया जाता है अथवा उनकी खिल्ली उड़ा कर सत्य को छिपाया जाता है और मिथ्या का प्रचार किया जाता है। मनुष्यों के चित्त पर विषैला प्रभाव डालने का प्रयत्न किया जाता है। जिस तीव्रता एवं भावुकता से निर्वाचनों में काम किया जाता है, उसके कारण किसी दूसरे कार्यक्रम पर गम्भीरता के साथ विचार करना असम्भव हो जाता है। अनेक देशों में मतदाताओं को रिश्वतें दी जाती हैं और उन्हें अन्य अनेक अनुचित रीतियों से भी प्रभावित किया जाता है। जब चुनाव समाप्त हो जाते हैं, तब दल-नेता अपने सहयोगियों को तथा दल के लोगों को सरकारी पदों पर नियुक्त करके निर्वाचन के समय दिए हुये वचनों को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार भ्रष्टाचार पद्धति (Spoils System) इस प्रणाली का एक स्वाभाविक परिणाम होता है। विधान मण्डल के सदस्यों पर कठोर अनुशासन लादा जाता है; उन्हें अपने स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन की गुँजायश नहीं रहती। प्रश्नों पर दल की दृष्टि से विचार किया जाता है और प्रतिस्पर्धा की तीव्रता तथा कटुता में राष्ट्रीय हित खटाई में पड़ जाते हैं। कई बार स्वार्थी व्यक्ति दलीय यन्त्र का प्रयोग स्वयं अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही करते हैं। इन सब प्रचारों से दलीय संघर्ष नैतिक स्तर को निम्नतर कर देता है और जनता की शिक्षा का एक साधन बनने के स्थान पर दल उसकी कुशिक्षा का माध्यम बन जाता है।

जिन आक्षेपों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। दलीय संघर्षों से जो दूषण पैदा हुए हैं, उससे इतिहास

भरा पड़ा है। प्रत्येक देश मे कहीं कम, कहीं अधिक, ऐसे उदाहरण मिलते हैं। इस कारण कुछ व्यक्तियों की राय दल-प्रणाली का अन्त कर देने की है। यह उपचार असम्भव है। दल अनिवार्य हैं। यह किसी ने अभी तक नहीं बतलाया कि दल के बिना प्रतिनिधि-संस्थाएँ कैसे कार्य करेंगी। जैसा कि बतलाया जा चुका है, शासन के यन्त्र का संचालन दलों पर ही निर्भर रहता है। एथीनियन प्रजातन्त्र के विफल होने का कारण यही था कि वहाँ जनता के पथ-प्रदर्शन तथा वैयक्तिक विचारों को व्यवस्थित रूप देने के लिए कोई राजनीतिक दल नही था। जैसे-जैसे समाज में सदाचार तथा बुद्धि की प्रगति होगी, इस दल-प्रणाली के दोष कम होते जाँयगे। यान्त्रिक तथा क़ानूनी प्रतिबन्ध उन्हें दूर न कर सकेंगे; इससे तो उनका काम छुपे-छुपे होने लगेगा। इसके लिए तो जनता के नैतिक जीवन को उच्चतम बनाने की तथा लोकमत को इतना स्वस्थ बनाने की आवश्यकता है, जो भ्रष्टाचार तथा दलीय स्वार्थों की वेदी पर राष्ट्रीय हितों का बलिदान सहन न कर सके। राजनीतिक दलों को मर्यादा में रखने के लिए निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र समाचार पत्रों की बड़ी आवश्यकता है।

राजनीतिक दलों के आधार—

चूँकि विविध राजनीतिक दलों का स्वीकृत ध्येय अपनी-अपनी भावना के अनुसार जन-कल्याण है, अतः उनके निर्माण का स्वस्थ एव युक्तिसंगत आधार राजनीतिक सिद्धान्तों और उद्देश्यों मे मतभेद ही हो सकता है। भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस का एक राजनीतिक ध्येय है और उसकी प्राप्ति के लिए उसने एक विशेष साधन स्वीकार कर रखा है। उदार दल (लिबरल पार्टी) का ध्येय दूसरा है और उसकी प्राप्ति के लिए उसकी योजना भी भिन्न है। इन भेदों के कारण वे परस्पर मिल नहीं सकते और दो पृथक् संस्थाएँ बने हुए हैं। इसी प्रकार इंगलैण्ड में अनुदार, उदार तथा मज़दूर दलों के ध्येय तथा उनकी प्राप्ति के साधन भी विभिन्न हैं। परन्तु व्यवहार में राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव अन्य कारणों से भी हुआ है। सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड और स्कॉटलैण्ड में और वर्तमान् काल में भारतवर्ष में भी उनका आधार धार्मिक मतभेद रहा था। कभी-कभी उनके आधार प्रजातीय भेद भी रहे हैं। जैसे भारत में ऐंग्लो-इंडियन तथा योरोपियन दल, कुछ कनैडियन प्रांतों में फ़्रेन्च दल। फ़्रान्स के तृतीय गणतन्त्र के समय बूर्बनों तथा ओरलियनिस्टों के दल।

सामाजिक तथा वर्गीय आधार पर भी दल खड़े होते हैं जैसे पूँजीपति तथा श्रमिक दल ; ज़मींदार तथा कृषक दल आदि। आर्थिक हितों के कारण पुराने दलों का पुर्नसंगठन होता है तथा नवीन दलों का निर्माण हो जाता है। प्रजातीय तथा धार्मिक मतभेद और सामाजिक तथा वर्ग-विभेदों पर आधारित दलीय विभाजन ख़तरनाक है क्योंकि उसके कारण कटुता बढ़ती है और एक दल दूसरे को अपना शत्रु समझने लगता है। जिस देश में इस प्रकार के राजनीतिक दल होंगे, उसमे प्रजातान्त्रिक संस्थाओं को कार्यान्वित करना बड़ा कठिन होगा। हमारे देश में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं की विफलता का एक कारण यह भी है कि यहाँ दलों का सगठन साम्प्रदायिक आधार पर हुआ है। सार्वजनिक हितों के मामलों पर मतभेद ही वास्तव में राजनीतिक दलों की स्वाभाविक नींव है।

द्विदलीय तथा बहुदलीय पद्धतियाँ—

ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में दो प्रधान राजनीतिक दल हैं और इस प्रकार कभी एक दल बहुमत प्राप्त करके मंत्रि-परिषद् बनाता है और कभी दूसरा। यूरोप के अधिकांश देशों में स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ दो प्रमुख दलों के स्थान पर अनेक छोटे-छोटे दल हैं जिनमें से कोई भी दल ऐसा नहीं होता जो संख्या मे शेष सबसे अधिक हो। उदाहरणार्थ, फ्रांस में, चेम्बर ऑफ डिपुटीज़ मे, सन् १६३६ ई० में ११ दल थे। कुल दल तो बहुत ही नगण्य थे; चेम्बर के कुल ६०५ सदस्यों में से अनुदार दल के ५, साम्यवादी १२ तथा साम्यवादी समाजवादी ११ ही सदस्य थे; रेडिकल समाजवादी दल ही सबसे बड़ा था जिसके १५७ सदस्य थे। ऐसी स्थिति में एकदलीय सरकार स्थापित नहीं हो सकती; केवल संयुक्त सरकार (Coalition Government) ही क़ायम हो सकती है। संयुक्त शासन सदैव अस्थायी होते हैं। यही कारण है कि मंत्रि-परिषदें अल्पजीवी रही हैं। इसका कारण यह है कि कोई एक बहुमत दल नहीं होने से कई दल मिल कर कुछ बातों पर समझौता करके मंत्रि-परिषद् बनाते हैं। यदि किसी दल को दूसरे दल से मिलने में लाभ दिखाई देता है तो वह मन्त्रि-परिषद् का साथ छोड़ कर अलग हो जाता है और मन्त्रि-परिषद् का पतन हो जाता है। द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत शासन को बहुमत का सदैव समर्थन मिलता रहता है ; विधान-

मण्डल उसे पद-च्युत नहीं करता। इंगलैंड में द्विदल-प्रणाली के कारण मन्त्रि-परिषदों को जो स्थायित्व प्राप्त है और फ्रान्स मे बहुदल प्रणाली के कारण मन्त्रि-परिषदों के निर्माण तथा पतन का जो नाटक होता रहता है उसके कारण कई लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बहुदलीय प्रणाली की अपेक्षा द्विदलीय प्रणाली ही श्रेष्ठ है। परन्तु यह बात आवश्यक रूप से सत्य नहीं है। प्रत्येक प्रणाली में जहाँ गुण हैं, वहाँ दोष भी हैं। द्विदलीय पद्धति के द्वारा मन्त्रि-परिषद् शासन का संचालन मन्त्रि-परिषद् के स्थायित्व के कारण सुचारु रूप से ही नहीं होता, इससे मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपनी सरकार का चुनाव भी कर सकते हैं। यदि मतदाता अनुदार दल के शासन से असन्तुष्ट हो गए हैं, तो नवीन निर्वाचन में वे उन्हे न चुन कर मज़दूर दल के सदस्यों को बहुमत में चुन सकते हैं। इस प्रणाली में विरोधीदल शासन की आलोचना करने मे अनुत्तरदायी नहीं हो सकता। इस प्रणाली का दोष यह है कि इससे मन्त्रि-परिषद् के अधिनायकशाही के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है; विधान मडल कार्यपालिका का अनुचर हो जाता है और देश मे प्रचलित विचार भिन्नता प्रकट नहीं हो सकती। ऐसा मानना कठिन है कि प्रत्येक मतदाता अनुदार है या समाजवादी। इससे मानव प्रकृति को एक अस्वाभाविक ढग से केवल दो भागों में बाँटने को प्रोत्साहन मिलता है।

बहुदल-प्रणाली से ये दोष दूर हो जाते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रि-परिषद् विधान-मण्डल में अपनी इच्छा नहीं चला सकती। पदारूढ़ रहने के लिए उसे विधान-मण्डल की सद्भावना पर निर्भर रहना पड़ता है। व्यवस्थापन सदैव समझौते के परिणाम-स्वरूप होगा, केवल बहुमतदल की इच्छानुसार ही नहीं। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के अन्तर्गत देश के विभिन्न हितों एवं दृष्टिकोणों को विधान-मडल में प्रतिनिधित्व मिलता है और विधान-मण्डल मे सामान्य इच्छा अधिक अच्छी तरह से प्रतिबिम्बित होती है। किन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे स्थायी शासन का निर्माण असम्भव हो जाता है।

रेमज़े म्योर के अनुसार द्विदलीय प्रणाली तथा बहुदलीय प्रणाली दोनों ही ग़लत हैं। वह त्रिदलीय प्रणाली (Three Party System) का समर्थन करता है जिसमें दक्षिण-पक्ष (Right), केन्द्रीय पक्ष (Centre) तथा वाम-पक्ष (Left) सम्मिलित हैं तथा जो इंगलैण्ड के अनुदार, उदार तथा मज़दूर दल के अनुरूप हैं। सदस्यों का इस प्रकार

से वर्गीकरण स्वाभाविक कहा जाता है। जो व्यक्ति राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेते हैं, उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जो लोग कोई क्रान्तिकारी महान परिवर्तन नहीं चाहते और सामाजिक स्थिति जैसी है उसे उसी रूप में क़ायम करना चाहते हैं, वे दक्षिण पंथी (Rightist) हैं; उन्हें अनुदार (Conservative) भी कहते हैं। जो व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था में समष्टिवादी तथा साम्यवादी दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते हैं, वे वाम-पक्षीय हैं और मज़दूर या साम्यवादी दल के अनुरूप हैं। तीसरा वर्ग ऐसे व्यक्तियों का है जो वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन के पक्ष में तो है, परन्तु क्रान्तिकारी ढग से नहीं। इस दल को उदार दल या केन्द्रीय पक्ष कहते हैं। इंगलैण्ड में त्रिदलीय प्रणाली एक अपवाद के रूप में ही रही है, वहाँ सदैव द्विदलीय प्रणाली रही है; तीसरा दल संख्या की दृष्टि से सदा बहुत छोटा नगण्य सा रहा है। जब कभी इंगलैण्ड में तीनों दलों की शक्ति बराबर रही जिससे कॉमन्स सभा में किसी एक दल का पूर्ण बहुमत नहीं हो सका, तब अल्पजीवी मंत्रि-परिषद् का निर्माण हुआ। इस प्रकार त्रिदलीय प्रणाली अन्य दोनों प्रणालियों का कोई वास्तविक विकल्प नहीं है। यदि कोई एक दल सख्या मे शेष दोनों दलों से अधिक हुआ तो वह त्रिदलीय प्रणाली द्विदलीय प्रणाली में परिणत हो जाती है और यदि तीनों दलों की संख्या में समानता हुई तो वह बहुदलीय प्रणाली में परिवर्तित हो जाती है।

अन्त में यह परिणाम निकाला जा सकता है कि राज्य में दलों की संख्या जितनी ही कम हो, उतना ही अच्छा है। ऐसे अनेक दलों का अस्तित्व जिनमें भेद बड़ा अस्पष्ट होता है, निर्वाचकों को भ्रान्ति में डाल देता है। ऐसी अवस्था में छोटे-छोटे हित भी अपना संगठन करने का लोभ सवरण नहीं कर सकते, जिससे देश मे स्वस्थ राजनीतिक जीवन का निर्माण नहीं होता।

दलीय-संगठन

राज्य में जनकल्याण के अपने आदर्श की प्रतिष्ठा करने के लिये राजनीतिक दल को अपना संगठन करना पड़ता है। कई देशों में उनका बड़ा उच्च कोटि का संगठन है। इस सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका अन्य सब देशों में अग्रगण्य है। वहाँ दलों का संगठन बहुत ही उच्च कोटि

का और पूर्ण है। प्रत्येक दल का प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में प्राथमिक संगठन, फिर ज़िला-संगठन, राज्य-संगठन तथा अन्त में समग्र राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रीय संगठन होता है। प्राथमिक संगठन ज़िला-संगठन में अपने प्रतिनिधि भेजता है और ज़िला-संगठन राज्य-संगठन में और राज्य-संगठन राष्ट्रीय-संगठन में अपने प्रतिनिधि भेजता है। परन्तु अमेरिका के दल विधान-मंडल के भीतर इतने सुसंगठित नहीं हैं, जितने इंगलैण्ड की पार्लामैंट के दल। इंगलैण्ड में पार्लामैण्टरी दल का एक स्वीकृत नेता होता है, उसका एक मुख्य चेतक (Chief Whip) तथा एक कार्यकारिणी समिति होती है। पार्लामैण्ट के बाहर दलीय संगठन का इस समिति (Executive Committee) पर नियन्त्रण नहीं होता। हमें यहाँ दलीय संगठन पर विस्तार से विचार नहीं करना है। फ्रांस तथा स्विटज़रलैण्ड मे दलीय संगठन न तो विधान-मण्डल के भीतर और न बाहर इतनी अच्छी तरह से सुसंगठित है। हमारे देश में कांग्रेस का एक देशव्यापी संगठन है। उसकी सांसद शाखा बड़े सुसंगठित रूप में और कड़े अनुशासन के साथ कार्य करती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत में विविध राजनीतिक दलों का उदय अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हुआ था, उनका उद्देश्य प्रजातान्त्रिक संस्थाओं का संचालन नहीं था। इस देश के राजनीतिक दलों तथा अन्य देशों के दलों में यह एक मौलिक अन्तर है। प्रत्येक दल का एक कोष होता है। जनता को यह नहीं बतलाया जाता कि इस कोष में कहाँ से धन प्राप्त होता है और उसका व्यय किस प्रकार किया जाता है। कभी-कभी धनी व्यक्ति लाखों रुपये दल के कोष में दे कर उस पर अपना प्रभाव जमा लेते हैं।

अध्याय २२

राज्य का संगठन—व्यवस्थापिका

व्यवस्थापक सभा का महत्व—

चाहे हम उस प्राचीन सिद्धान्त को स्वीकर करें जो शासन को अर्थात् व्यवस्थापिका (Legislative), कार्य-पालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) इन तीन अंगों में विभाजित करता है या हम आधुनिक विद्वानों के साथ सहमत हों जो शासन को इनसे भी अधिक अंगों में विभाजित करते हैं और निर्वाचक-मण्डल, राजनीतिक दलों तथा सार्वजनिक सेवाओं (Public Services) को भी शासन के अंग मानते हैं; परन्तु हम आधुनिक राज्य में व्यवस्थापिका को सबसे अधिक महत्त्व का स्थान दिये बिना नहीं रह सकते। एक प्रकार से राज्य में क़ानून निर्माण करने वाली सस्था कार्यपालिका तथा न्यायपालिका दोनों से उच्च होनी चाहिए, क्योंकि वह ऐसे क़ानूनों का निर्माण करती है जिन्हें दूसरे विभाग लागू करते हैं और जिनकी व्याख्या करते हैं। जब तक क़ानून या नियम नही होंगे, तब तक कार्यपालिका और न्यायपालिका का कोई काम ही नहीं होगा। व्यवस्थापिका ही एक ऐसी सस्था है जो उन अधीनस्थ माध्यमों की व्यवस्था करती है, जिनके द्वारा कानूनों की व्याख्या की जाती है और उन्हे कार्यान्वित किया जाता है।

व्यवस्थापिका राज्य के आय-व्यय पत्रक (बजट) को स्वीकार करने, सार्वजनिक पदों का निर्माण करने तथा नवीन सेवाओं की स्थापना करने की सत्ता द्वारा शासन के अन्य विभागों के संगठन तथा कार्यों पर भी काफ़ी प्रभाव डालती है। फ्रान्स जैसे राज्यों में जहाँ संविधान में शासन के संगठन के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विवेचना नहीं की गई है वहाँ ऐसी बहुत सी बातों का निर्धारण व्यवस्थापिका को ही करना पड़ता है और इस प्रकार उसे कुछ विधायक कार्यों (Constituent Functions) को भी करना पड़ता है। ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशों मे जहाँ संविधान

परिषद् और व्यवस्थापिका में कोई भेद नहीं होता वहाँ व्यवस्थापिका का प्रभुत्व असदिग्ध होता है। जिन देशों का संविधान कठोर होता है, वहाँ व्यवस्थापिका का कार्य कुछ कम विस्तृत तो होता है, परन्तु किसी प्रकार भी कम महत्त्व का नही होता। आधुनिक राज्यों मे व्यवस्थापिका ही क़ानूनी भाषा में राज्य की इच्छा का निर्माण करती है। कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को उसी के द्वारा निर्देशित क्षेत्र में कार्य करना पड़ता है। यह सब बात आधुनिक वैधानिक राज्यों के सम्बन्ध में ही सत्य है, प्राचीन काल के राज्यों के सम्बन्ध में यह लागू नहीं थी।

व्यवस्थापिका के कार्य—

राज्य मे जिस प्रकार का शासन होता है, व्यवस्थापिका के कार्य भी उसी के अनुरूप होते हैं। पुराने रूस के ज़ारशाही शासन अथवा अंग्रेजी शासन काल मे भारत का शासन अनुत्तरदायी था। अतः उसमें व्यवस्थापिका का कार्य एक प्रकार से सलाहकार समिति के जैसा था। उसके प्रस्ताव बन्धनकारी नहीं होते; उसका व्यवस्थापक तथा राजस्वी नीति पर कोई प्रभावकारी नियंत्रण नही होता। कार्यपालिका के आधीन होने कारण यह राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। ऐसी संस्था को शिष्टाचार की दृष्टि से ही व्यवस्थापिका कह सकते हैं।

ब्रिटेन तथा फ्रान्स जैसे देशों में, जहाँ मन्त्रि-परिषदीय ढग का शासन है, व्यवस्थापिका सिद्धान्ततः सर्वोपरि है; कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और वह उसकी देख-रेख में ही शासन प्रबन्ध का संचालन करती है।

क़ानून-निर्माण, शासन के विभागों के व्यय के लिए धन की स्वीकृति तथा कर-निर्धारण के अतिरिक्त व्यवस्थापिका का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है राष्ट्र की ओर से कार्यपालिका (Executive) पर नियन्त्रण। राष्ट्रपति-शासन प्रणाली के अन्तर्गत व्यवस्थापिका का ऐसा कोई कार्य नहीं होता। संयुक्त राज्य अमेरिका में कॉंग्रेस राष्ट्रपति से ऊपर नहीं है; दोनों समकक्ष सत्ताएँ हैं और एक दूसरे पर नियन्त्रण रखती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि क़ानून निर्माण, शासन के विभागों के लिए धन की स्वीकृति तथा कर लगाने के अतिरिक्त शायद ही अन्य कोई कार्य है, जिनका समस्त प्रजातन्त्रीय राज्यों में व्यवस्थापिका सम्पादन करती है। उसके ऐसे कार्य जिनका क़ानून-निर्माण से सम्बन्ध नहीं है विभिन्न

राज्यों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। इनमें विचारात्मक, निर्देशात्मक, कार्यपालिका सम्बन्धी, न्यायपालिका सम्बन्धी तथा निर्वाचन सम्बन्धी कार्य सम्मिलित हैं।

विचारात्मक कार्य कानून-निर्माण कार्य से अभिन्न हैं। व्यवस्थापन या कानून-निर्माण के कार्य में विधेयक की रचना, उसको व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करना तथा उसे स्वीकार करने की पद्धति आदि तो सम्मिलित है हीं ; इनके अतिरिक्त इसमें कानून के सार तथा ध्येय का निर्धारण भी सम्मिलित है। यही विचारात्मक कार्य है। यह केवल व्यवस्थापिका, अथवा कार्यपालिका या सार्वजनिक सेवा का ही काम नहीं है, वरन् इसमें तीनों अपना-अपना कार्य करती हैं। कार्यपालिका तथा नागरिक सेवा (सिविल सर्विस) जो कुछ विचार करती है, वह व्यवस्थापिका में आता है और उस पर उसके मच पर ही बहस की जाती है। ब्रिटिश कॉमन्स सभा में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर बहस की जाती है और निर्णय किए जाते हैं, जिसको कार्यपालिका सत्ता कार्यान्वित करती है। इस प्रकार कॉमन्स सभा विचार सभा के रूप में कार्य करती है।

व्यवस्थापिका का निर्देशन सम्बन्धी कार्य है कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना। यह कार्य अनेक प्रकार से किया जाता है जिनमे सबसे महत्त्वपूर्ण है शासन विभागों के व्यय के लिए अनुदानों की स्वीकृति, सरकार से शासन की नीति एवं प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर तथा स्थगन-प्रस्ताव। सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रि-परिषद् उसी समय तक पदारूढ़ रह सकती है जब तक कि व्यवस्थापिका के निम्न सदन (Popular Chamber) का उसमें विश्वास है। विरोधी होने पर, वह उसे चाहे जब पदच्युत कर सकता है। मन्त्रि-परिषदों का निर्माण करना तथा उन्हें पदच्युत करना सांसद शासन में व्यवस्थापिका का बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है।

अमेरिकन सीनेट ऐसा सदन है जो कार्यपालिका सम्बन्धी कुछ कार्यों को स्वयं करता है जैसे राष्ट्रपति द्वारा की गई महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियों की स्वीकृति देना तथा उसके द्वारा की गई संधियों को स्वीकार करना। फ्रेन्च सीनेट राष्ट्रपति के साथ मिल कर चेम्बर (निम्न सदन) को भंग करती थी ; परन्तु इस सत्ता का प्रयोग एक बार से अधिक नहीं किया गया।

अनेक राज्यों मे उच्च सदन (Upper Chamber) अनेक न्याय-

सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करता है। फ्रान्स में सीनेट राष्ट्रपति तथा राज्य-मन्त्रियों द्वारा किए गए गम्भीर अपराधों की परीक्षा एक उच्चतम न्यायालय के रूप में करती है। राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की जॉच भी सीनेट करती है। अमेरिका मे यदि प्रतिनिधि सभा (House of Representatives) मॉग करे तो सीनेट राष्ट्रपति पर आरोप किये हुये दोषों की जॉच कर सकती है। ब्रिटिश लॉर्ड्स सभा भी महत्त्व-पूर्ण न्याय सम्बन्धी कार्य करती है।

अनेक व्यवस्थापिका सभाऐं निर्वाचन सम्बन्धी कार्यों का भी सम्पादन करती हैं। उदाहरणार्थ, फ्रेन्च पार्लामैट राष्ट्रपति का चुनाव करती है। स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका के सदस्य कार्यपालिका समिति, न्याया-धीशों चान्सलर तथा सेनानायक को भी चुनते हैं। अमेरिका की सीनेट कभी कभी उप-राष्ट्रपति को चुनती है और अमेरिकन प्रतिनिधि सभा (निम्न सदन) भी कभी-कभी राष्ट्रपति का चुनाव करती है।

अन्त में, सभी देशों में व्यवस्थापिका विभिन्न मात्राओं मे लोकमत के निर्माण तथा लोकमत की अभिव्यक्ति भी करती है। जिन देशों में सांसद शासन है, उनमे व्यवस्थापिका जनता की शिकायतों की अभिव्यक्ति का भी माध्यम है।

व्यवस्थापिका का संगठन—

व्यवस्थापिका के संगठन के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उपस्थित होती हैं। उनमे से एक समस्या जनता के विविध भागों से क़ानूनों के निर्माण तथा टैक्सों के लगाने के कार्य में सहयोग तथा समर्थन प्राप्त करने की है। व्यवस्थापिका का कार्य समस्त नागरिकों के लिये सन्तोषप्रद एवं स्वीकार्य हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसका आधार व्यापक हो और उसमें नागरिकों के समस्त हितों एवं दृष्टिकोणों को स्थान मिले। गसके लिये निर्वाचकों के संगठन की आवश्यकता है। इस पर गत अध्याय मे विचार किया जा चुका है। दूसरी समस्या यह है कि क़ानून निर्माण के किस सीमा तक विचार, मनन एवं चिंतन से काम लिया जाय जिससे कोई क़ानून जल्दबाज़ी में ऐसा न बन जाये जिस पर पूर्ण रूप से विचार न हुआ हो और जिससे जनता की हानि हो। इसका एक उपाय द्वितीय सदन (Second Chamber) की स्थापना बतलाया गया है जिसका अर्थ यह है कि व्यवस्थापिका के अन्तर्गत दो

सदन बनाये जांय : एक निम्न सदन और दूसरा उच्च सदन। आधुनिक राज्यों मे द्विसदन-प्रणाली (Bicameral System) बहुत ही लोकप्रिय है। यह ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, जापान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे सभी महान् और प्रजातन्त्रीय राज्यों मे मिलती है। एक-सदन-प्रणाली कुछ छोटे राज्यों में ही विद्यमान है, जैसे बाल्टिक राज्यों, बल्कान राज्यों तथा केन्द्रीय अमेरिका के कुछ राज्यों में। टर्की का एक महत्त्वपूर्ण राज्य है जिसने इस प्रणाली को स्वीकार किया है। हाल में द्विसदन-प्रणाली के विरुद्ध राजनीतिक विद्वानों में एक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई है, परन्तु इस पर अभी तक कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। हमारे देश में भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है।

एक सदन-प्रणाली का समर्थन—

अठारहवीं शताब्दी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लेखकों ने, अमेरिका में फ्रेंकलिन ने, इगलैण्ड मे बैंथम ने, तुरगो ने फ्रान्स मे एक-सदन-प्रणाली (Unicameral System) की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस प्रणाली के पक्ष मे मुख्य तर्क सैद्धान्तिक ही है। चूँकि व्यवस्थापिका राज्य मे कानूनी प्रभु है और प्रभुत्व अविभाज्य तथा एक है, इसलिये उसमे केवल एक सदन ही होना चाहिए। दो या तीन सदनों का अभिप्राय होगा प्रभुत्व का दो-तीन भागों में वितरण, जो सर्वथा मूर्खतापूर्ण विचार है। एक फ्रेन्च लेखक एबी सेयीज़ (Abbe Sieyes) का विचार है कि "क़ानून जनता की इच्छा है ; जनता एक ही विषय पर एक ही समय दो भिन्न इच्छाएं नहीं रख सकती। अतः जो व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करे वह आवश्यक रूप से एक ही होनी चाहिये।" इस प्रकार का कोरा तर्कवाद क्रान्ति-काल के लेखकों में बड़ा प्रिय था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि एक सदन के प्रयोग साधारणतया क्रान्तिकारी नव-निर्माण के समय ही किए गए हैं।

द्वि-सदन-प्रणाली के जो दोष तथा कठिनाइयाँ हैं, उन्हें एक-सदन-प्रणाली के पक्ष में गुणों के रूप में पेश किया जाता है। यह प्रायः सुना जाता है कि व्यवस्थापिका में केवल एक सदन होना चाहिये, क्योंकि

यदि दो सदन होंगे तो उनमें दोनों में परस्पर संघर्ष और असहयोग बना रहेगा और कार्य असम्भव हो जायगा।

फ्रैंकलिन ने दो सदन वाली व्यवस्थापिका की तुलना एक ऐसी गाड़ी से की है जिसके दोनों सिरों पर दो घोड़े जुते हुए हों और प्रत्येक उसे विरोधी दिशा मे खींचने की चेष्टा करता हो। द्वि सदन को विभाजित सदन कहा जाता है। यह तर्क ग़लत रूप में यह मान लेता है कि दोनों सदन आवश्यक रूप से संघर्ष करेंगे और एक सदन दूसरे सदन के कार्यों का अवश्य विरोध करेगा। इस प्रकार की मान्यता के लिए कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। यह आवश्यक सत्य नहीं है। परन्तु यदि दोनों सदन परस्पर सहमत हों, तो द्वितीय सदन की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती। वह सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। ऐबी सेयीज़ ने जिसका फ्रान्स में क्रान्ति-काल के वैधानिक प्रयोगों के समय बहुत प्रभाव रहा, कहा है कि "यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमत है, तो वह व्यर्थ है और यदि वह असहमत है, तो वह अपकारक एवं दुष्टतापूर्ण है। अतः उससे कोई लाभ नहीं है।" यह तर्क अब भी दिया जाता है परन्तु इसमें कोई तथ्य नहीं है। द्वितीय सदन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह निम्न सदन के साथ सहमत हो या असहमत। उसका मुख्य कार्य निम्न सदन के कार्य का संशोधन करना है। पुनरीक्षण (Revision) के कार्य मे चाहे कोई सुधार हो या नहीं, उसे अनावश्यक या वृथा नहीं कह सकते। वह शरारती तो किसी भी दशा में नहीं हो सकता। एबी की इस तर्क का सुन्दर उत्तर फ़ाइनर ने इस प्रकार दिया है: "यदि दोनों सदन परस्पर सहमत हैं, तो यह बात क़ानून की न्याय्यता तथा बुद्धिमत्ता में हमारा विश्वास बढ़ाने के लिए और भी अच्छी है। यदि वे असहमत हैं, तो इसका अर्थ है कि लोगो को अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिए।" जिस सफलता के साथ संविधान-परिषदों ने संविधानों के निर्माण तथा संशोधन का कार्य किया है वह भी एक-सदन-प्रणाली के पक्ष में एक प्रबल तर्क है।

द्विसदनी व्यवस्थापिका के पक्ष में—

इङ्गलैण्ड में द्विसदन-प्रणाली का विकास ऐतिहासिक संयोग का परिणाम है, किसी योजना का नहीं। कुछ अन्य देशों ने भी कुलीन

वर्ग की ओर से अपने प्रतिनिधित्व के लिए द्वितीय सदन की स्थापना की माँग के फल-स्वरूप इस प्रणाली को स्वीकार कर लिया। दूसरे राज्यों ने ब्रिटिश प्रणाली का अनुकरण करके उसे अपने संविधानों में स्थान दिया। द्वितीय सदन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं।

१—द्वितीय सदन स्वतन्त्रता की और साथ ही एक सदन की तथा-कथित 'घृणाजनक, अत्याचारपूर्ण और भ्रष्टतापूर्ण' स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने के लिए एक आवश्यक गारण्टी है। मिल को एक-सदन वाली व्यवस्थापिका के स्वेच्छाचारी बन जाने का भय था, अतः इससे उसने यह परिणाम निकाला कि अविभाजित सत्ता के दूषित प्रभाव को रोकने के लिए द्वितीय सदन अत्यन्त आवश्यक है। लॉर्ड एक्टन का भी यह विचार था कि द्वितीय सदन राज्य में आवश्यक सत्ता-सतुलन की व्यवस्था करता है तथा अल्पमतों को संरक्षण देता है और उससे स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है। सर हेनरी मेन ने भी द्वितीय सदन की 'एक निर्भ्रान्त प्रतिद्वन्द्वी की तरह नहीं वरन् एक अतिरिक्त सुरक्षा' के रूप में सिफ़ारिश की है। यह तर्क उसी प्रकार सैद्धान्तिक है जैसे एक-सदन-प्रणाली के समर्थक प्रायः देते हैं। अनेक व्यक्तियों को यह एक कोरा सिद्धान्त ही प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि तथ्यों से नहीं होती।

२—इससे जल्दबाज़ी मे बिना अच्छी तरह सोचे-विचारे क़ानून-निर्माण कार्य मे एक आवश्यक रुकावट लग जाती है। लेकी के शब्दों में, "नियन्त्रण करने, संशोधन करने तथा रुकावट लगाने मे जो काम द्वितीय सदन करता है उससे उसकी आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।" एक सदन वाली व्यवस्थापिका विशेषकर जब उसका सगठन सार्वभौम प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर होता है, क्रान्तिकारी बन सकती है। उसकी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने के लिए यह आवश्यक है कि एक अतिरिक्त सदन स्थापित किया जाय जिसमें अनुदार तथा अन्य हितों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व मिल सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से द्वितीय सदनों का जन्म स्थापित हितों (Vested Interests) की प्रजातन्त्रीय सदन की अपने ढंग से कार्य करने से रोकने की इच्छा के कारण हुआ है। यह भी अनुभव किया जाता है कि जिस गर्मा-गर्मी और उत्तेजना के साथ निम्न सदन

में बहस आदि की जाती हैं, उस वातावरण में महत्वपूर्ण समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया जा सकता। इन दोषों एवं त्रुटियों के निवारण के लिए द्वितीय सदन के शान्तिमय वातावरण में विचार-विनिमय तथा संशोधन परम आवश्यक है। इस तर्क में सभी लोग विश्वास नहीं करते। एक विधेयक (Bill) का वाचन जितनी बार होता है और वह जितनी अवस्थाओं में से होकर गुज़रता है, विशेष समिति में जिस प्रकार उस पर विचार होता है, विधेयक पर लोकमत जानने के लिए जिस प्रकार उसे प्रचारित किया जाता है और समाचारपत्रों तथा सभाओं में उसकी जैसी आलोचना होती है, इन सब बातों से जल्दबाज़ी में रुकावट लग जाती है। किसी विधेयक को क़ानून का रूप धारण करने में जो लम्बी अवधि लग जाती है, उसके कारण उसे लागू करने में अधिक विलम्ब आवश्यक नहीं रह जाता। यह तर्क भी सारहीन है कि विधेयक को निम्न सदन द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने के बीच में उसे क़ानून के रूप में अन्तिम स्वीकृति प्राप्त होने के बीच में कुछ देर करने के लिये, जिससे जनता उसके गुण दोषों पर विचार कर सके, द्वितीय सदन परम आवश्यक है। इस प्रकार का विलम्ब केवल आवश्यक ही नहीं है, वरन् जब अत्यन्त महत्व के मामले विचाराधीन हों तो यह हानिकारक तथा ख़तरनाक भी होता है।

३—द्वि-सदन-प्रणाली के समर्थकों द्वारा यह भी दावा किया जाता है कि राज्य में विविध प्रकार के हितों एवं वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए यह एक सुविधाजनक साधन है। कुलीनतन्त्रीय तत्वों को प्रतिनिधित्व दे कर यह व्यवस्थापिका में गम्भीरता एवं स्थिरता के तत्वों का समावेश कर देता है। इस प्रणाली द्वारा राज्य अपने अनुभवी राजनीतिज्ञ के परिपक्व अनुभव से जो अपनी वयोवृद्धता के कारण निम्न सदन या लोकप्रिय सदन की सदस्यता को एक भार समझते हैं, लाभ उठा सकता है। साहित्यिक विद्वानों, वैज्ञानिकों, धर्माचार्यों तथा पुरोहितों को भी इसमें प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। ब्राइस का विचार है कि जब लोगों की राजनीतिज्ञों में श्रद्धा कम होती जा रही हो तो उस समय विशेष ज्ञान तथा

अनुभव के आगार के में द्वितीय सदन की रचना परम आवश्यक हो जाती है।

४—द्वितीय सदन सघ-राज्यों के लिए परम आवश्यक माने जाते हैं। निम्न सदन साधारण नागरिकों का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च सदन सघ राज्य की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक संघीय राज्यों में उच्च सदन मे संघ का इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

४—कुछ लेखकों का यह दावा है कि द्वितीय सदन कार्यपालिका को शक्तिशाली बनाता है। कार्यकालिका एक से दूसरे सदन को अपील कर सकती है। गैगेल का कथन है कि "दो सदन एक दूसरे पर रुकावट का काम करके कार्यपालिका को अधिक स्वतंत्रता देते हैं और अन्त में इससे दोनों विभागों के सर्वोत्कृष्ट हितों की अभिवृद्धि होती है।" यह तर्क भी निस्सार है; अधिकांश राज्यों में जिनमे सांसद शासन-प्रणाली स्थापित है; मन्त्रि परिषद्, व्यवहार में, लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रि-परिषदों के निर्माण या उनके पतन में उच्च सदन का कोई भी प्रभाव नहीं होता।

द्वि-सदन-प्रणाली के विरुद्ध तर्क—

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, द्वि-सदन-प्रणाली के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई है। अनेक सुयोग्य विद्वानों ने इसकी आलोचना की है। कुछ लोग इसे अप्रजातान्त्रिक कह कर इसकी निन्दा करते हैं। यह कहा जाता है कि यदि जनता की इच्छा सर्वोपरि है और यदि इसकी अभिव्यक्ति एक लोकप्रिय सभा द्वारा हो जाती है, तब उसकी दूसरी प्रकार से अभिव्यक्ति करने के लिए द्वितीय सदन के लिए कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रजातन्त्र की एक आवाज़ होनी चाहिए; उसकी दो आवाजें नहीं होनी चाहिए। जो व्यक्ति इसका समर्थन इसलिए करते हैं कि द्वितीय सदन में ज़मींदारों, कुलीन वर्गों तथा अन्य स्थापित स्वार्थों को प्रतिनिधित्व मिलता है, उसकी सार्वभौम मताधिकार की प्रजातान्त्रिक संस्था में श्रद्धा नहीं मालूम होती। यह बात इस तथ्य से सिद्ध है कि इंगलैण्ड तथा योरोप के अन्य देशों मे द्वितीय सदनों का प्रादुर्भाव कुलीन वर्गीय जनों को प्रतिनिधित्व देने के लिए हुआ था। फ्रान्स में राजा के समर्थक और नरम गणतन्त्रवादियों

के उच्च सदन की रुकावट के बिना सार्वभौम प्रौढ़ मताधिकार को स्वीकार नहीं कर सकते थे। इन कारणों के अतिरिक्त अन्य कारणों से द्वितीय सदन की स्थापना नहीं हो सकती थी। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अधिकांश आधुनिक राज्यों में जिनमे द्विसदन-प्रणाली है, उच्च सदन की सत्ताओं मे निरन्तर कमी की जा रही है। कुछ लेखकों का यह विचार है कि द्वितीय सदन से एक सदन वाली व्यवस्थापिका की जल्दबाज़ी, भ्रष्टता एवं अनुत्तरदायित्व के कोई सरक्षण के रूप में विरुद्ध आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत द्वितीय सदन के अस्तित्व से प्रथम सदन की दायित्व की भावना कम होती है। एक फ़्रेन्च लेखक ने कहा है कि निम्न सदन प्रायः अत्यधिक प्रजातान्त्रिक विधेयकों को यह सोच कर स्वीकार कर लेता है, कि सीनेट (उच्च सदन) उसका नाश कर देगा। वह विधेयकों को प्रायः अच्छी प्रकार विचार किए बिना ही यह सोचकर स्वीकार कर लेता है कि सीनेट उसमे सशोधन कर देगी।" यदि दोनों सदन समकक्ष हों और उन्हें समान व्यवस्थापक सत्ताऐं हों, तो उनके बीच संघर्ष या गत्यावरोध अवश्य पैदा हो जायगा, जिसमें व्यवस्थापन कार्य में बाधा पड़ेगी। अनेक सविधानों में ऐसे गत्यावरोधों के निवारण के उपाय होते हैं। हम ऊपर दिखला चुके है कि व्यवस्थापन को प्रक्रिया काफ़ी लम्बी और जटिल होती है जिस कारण सशोधन के लिए किसी दूसरे सदन की कोई आवश्यकता नहीं रही जाती। द्वि-सदन-प्रणाली के विरुद्ध एक अंग्रेज लेखक ने बड़े प्रभावशाली शब्दों में लिखा है कि "संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड के सघ-राज्यों के विशेष उदाहरणो को छोड़ कर द्वितीय सदन के पक्ष मे कोई ठीक सैद्धान्तिक तर्क नहीं है और उनके विरुद्ध जो सैद्धान्तिक तर्क है, उसका कोई समुचित उत्तर कभी नहीं दिया गया। सयुक्त-राज्य अमेरिका के संघीय संविधान में उच्च सदन (Senate) की सर्वोच्चता तर्कविरुद्ध, असमर्थनीय और हानिप्रद है। अनुभव के आधार पर जो तर्क दिया जाता है वह भी असत्य है। जहाँ द्वितीय सदन केवल देरी करने के साधन मात्र नहीं है वहाँ उनके कारण सदा संघर्ष होता है। देरी की व्यवस्था किसी दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है। सब प्रकार की सीनेटें या तो प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को नष्ट कर देती हैं या स्वयं व्यर्थ हैं।"

द्वि-सदन-प्रणाली के विरुद्ध एक दूसरा तर्क यह भी है कि द्वितीय सदन के निर्माण की कोई सन्तोषप्रद पद्धति नहीं है। विभिन्न राज्य इसके लिए विभिन्न रीतियों का प्रयोग करते हैं और उनमें से कोई भी रीति दोष से मुक्त नहीं है। वंशानुक्रम का सिद्धान्त जिसके आधार पर ब्रिटिश लॉर्ड्‌स सभा का संगठन हुआ है, किसी को पसन्द नहीं है। पुर्तगाल तथा आस्ट्रिया हंगरी में जो विशुद्ध अथवा मुख्यतः परम्परागत उच्च सदन क़ायम थे, वे अब नष्ट हो गये हैं। सन् १९११ ई० के पार्लमैण्ट क़ानून के अनुसार लॉर्ड्‌स सभा की सत्तायें भी कम हो गई हैं। सदस्य मनोनीत करने की जिस प्रणाली के आधार पर कनाडा और इटली की सीनेटें तथा जापान का उच्च सदन स्थापित हैं या थे, वह भी आक्षेपयोग्य है। इन सदनों में नियुक्तियाँ मंत्रि-परिषद् द्वारा दल की सेवा के पुरस्कारस्वरूप या मंत्रियों की नीतियों का विरोध करने वाले सदस्यों को निरुत्तर करने के लिए की जाती है। इस प्रकार जो सदस्य मनोनीत किए जाते हैं, वे किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, उन पर जनमत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और जनता उनमें अविश्वास करती है। ये दोनों प्रणालियाँ सर्वथा अप्रजातन्त्रीय हैं। जो उच्च सदन इनके आधार पर खड़े किए जायेंगे वे दुर्बल तथा प्रभावहीन रहेंगे। प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भी उनका निर्माण किया जाता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा द्वितीय सदनों का निर्माण संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा आयरिश स्वतन्त्र राज्य आदि देशों में होता है। यह स्पष्टतः प्रजातन्त्र की भावना के अनुकूल है, परन्तु एकात्मक राज्य में इससे द्वितीय सदन लोकप्रिय सदन की एक छोटी-सी प्रतिमूर्ति ही बन जायगा और उसके निर्माण का जो उद्देश्य है वह विफल हो जायगा। ऊपर जो यह तर्क दिया गया है कि जब राष्ट्र की आकांक्षा की अभिव्यक्ति एक परिषद् द्वारा हो जाती है, तब द्वितीय सदन की रचना व्यर्थ है, जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित द्वितीय सदन के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से लागू होती है। यदि द्वितीय सदन द्वारा किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि अभिप्रेत है, तो उसका निर्माण निम्न सदन की रचना के आधार से भिन्न आधार पर होना चाहिए। परन्तु संघ-राज्य में जो द्वितीय सदन निर्मित होगा, उस सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती क्योंकि संघ राज्य में उसका संगठन भिन्न आधार पर किया जाता है। यदि दोनों सदनों का निर्माण लोक-आधार (Popular Basis) पर होगा, तो दोनों में बड़ा

संघर्ष रहेगा और दोनों के बीच नेतृत्व के लिए द्वन्द्वयुद्ध होगा। इन बाधाओं को दूर करने के लिए कुछ लेखक इसके लिए परोक्ष निर्वाचन को उचित समझते हैं। फ्रेंच सीनेट परोक्ष निर्वाचन द्वारा संगठित सदन है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार फ्रान्स की सीनेट आदर्श द्वितीय सदन है; वह न ब्रिटिश लॉर्ड्स सभा की भाँति दुर्बल है और न अमेरिका के सीनेट की भाँति प्रथम सदन का प्रतिद्वन्द्वी ही है। सब रीतियों में यह रीति ही ऐसी है जिसकी कम से कम आलोचना की जा सकती है। इसमें एक सीमित रूप में मनोनीत करके प्रसिद्ध विद्वानों एवं राजनीतिज्ञों को स्थान दिया जा सकता है जो निम्न सदन के लिये निर्वाचन में होने वाले कष्टों का सामना करना नहीं चाहते।

द्वितीय सदन की सत्ताएँ—

द्वितीय सदन की सत्ताएँ उतनी ही विभिन्न हैं जितनी कि उसके संगठन की रीतियाँ। अमेरिका के सीनेट की भाँति जनता द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित द्वितीय सदन बहुत ही शक्तिशाली होगा। समय के व्यतीत होने के साथ उसे नवीन सत्ताएँ भी प्राप्त हो सकती हैं। एक परम्परागत या मनोनीत सदन, जैसे ब्रिटिश लॉर्ड्स सभा या कनाडा की सीनेट बहुत शक्तिहीन होगा। प्रोफ़ेसर जी० स्मिथ के अनुसार कनाडा की सीनेट शून्यवत् है। इस प्रकार के सदन लोकनिर्वाचित सदन के मुक़ाबले में खड़े नहीं रह सकते। उनकी क़ानूनी सत्ताएँ या तो काम में नहीं आती या क़ानून द्वारा कम करदी जाती हैं। जहाँ द्वितीय सदन परोक्ष रीति से चुना जाता है, वहाँ उसे प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित सदन के आदेशानुसार ही कार्य करना पड़ता है। वह लोकप्रिय सदन को अप्रसन्न करने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि उसे भय रहता है कि कहीं वह उसके विरोध से मुक्ति पाने के लिए जनता में उसके विरुद्ध कोई आन्दोलन न खड़ा कर दे। फ्रेन्च सीनेट उन सब सत्ताओं का प्रयोग नहीं कर पाती जो उसे क़ानून द्वारा प्राप्त हैं।

साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि वित्तीय विधेयकों (Money Bills) को छोड़, दोनों सदनों को व्यवस्थापन-सम्बन्धी समस्त मामलों में समान मानने की प्रथा है। किसी भी सदन में विधेयक प्रस्तुत किया जा सकता है (परन्तु वित्तीय विधेयक नहीं) और इस

प्रकार प्रस्तुत कोई भी विधेयक उस समय तक क़ानून नहीं बन सकता जब तक कि दूसरे सदन द्वारा वह स्वीकार न कर लिया जाय। परन्तु व्यवहार में, सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक निम्न सदन में प्रस्तुत किये जाते हैं। एक सदन द्वारा स्वीकृत विधेयक में दूसरा सदन संशोधन प्रस्तुत कर सकता है ; परन्तु ये संशोधन उसी समय मान्य समझे जाते हैं जबकि उन पर दूसरे सदन ने अनुमति दे दी हो। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वित्तीय विधेयक, अर्थात् ऐसे विधेयक जिनका सम्बन्ध कर लगाने तथा व्यय करने से है, केवल लोक-प्रिय सदन में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। कुछ सविधानो में वित्तीय व्यवस्थापन मे द्वितीय सदन पर और भी प्रतिबंध लगे हुए हैं। वह वित्तीय विधेयक में संशोधन नहीं कर सकता, परन्तु उसे अस्वीकार कर सकता है। फ्रान्स में ऐसा ही नियम मालूम होता है ; इंगलैंड मे लॉर्ड्स सभा बजट में संशोधन नहीं कर सकती ; वह उस पर केवल बहस कर सकती है, उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है, परन्तु उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। अमेरिकन सीनेट वित्तीय विधेयक में संशोधन कर सकती है। वह इस अधिकार का प्रयोग इस सीमा तक करती है कि लॉर्ड ब्राइस को यह लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा कि अमेरिकन सीनेट की वित्तीय सत्ताएं प्रतिनिधि-सभा (निम्न सदन) के बराबर ही हैं।

अधिकांश राज्य मे वैधानिक उपबन्ध चाहे जैसे क्यों न हों, लोकप्रिय सदन (Lower Chamber) अधिक महत्वपूर्ण हो गया है और उच्च सदन एक प्रकार से उसके आधीन हो गया है। इन दोनों के बीच संघर्ष होने पर लोकमत लोकप्रिय सदन का ही पक्ष लेता है। यही कारण है कि इंगलैण्ड, फ्रान्स, कनाडा आदि देशों में उच्च सदन निर्बल हो गए हैं।

उच्च सदन के गौरव में इस प्रकार जो क्षति हुई है, मानो उसकी पूर्ति के हेतु उसे कुछ विशेष सत्ताएं प्रदान की गई हैं जो लोकप्रिय सदन को प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में सब देशों में कोई एकरूपता नहीं है। ब्रिटेन में लॉर्ड्स सभा सर्वोच्च न्यायालय की भाँति अपील सुनती है। यह अधिकार संसार के किसी भी उच्च सदन को प्राप्त नहीं है। फ्रेंच सीनेट राष्ट्रपति से मिलकर फ्रेन्च चेम्बर (निम्न सदन) को भंग कर सकती है, यद्यपि अब इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया जाता और

राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध अधिकारियों द्वारा किए हुये अपराधों की जाँच भी करती है। अमेरिका की सीनेट को विशेष कार्यपालिका सत्ताऐं प्राप्त हैं जिनकी मिसाल और कहीं नहीं मिलती। विदेशी राज्यों के साथ राष्ट्रपति जो संधियाँ करता है, उसके लिये तथा राष्ट्रपति द्वारा उच्च अधिकारियों की नियुक्तियों के लिये सीनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है।

जनता द्वारा प्रत्यक्ष व्यवस्थापन—

इंगलैण्ड तथा फ्रान्स जैसे राज्यों मे जनता व्यवस्थापन में अप्रत्यक्ष रीति से भाग लेती है। वह केवल अपने उन प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है, जो क़ानून बनाते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड जैसे देशों में ऐसा नहीं होता। वहाँ प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की कुछ संस्थाएँ स्थापित हैं जिनके द्वारा नागरिक प्रत्यक्ष रीति से व्यवस्थापन में भाग लेते हैं। इसे प्रत्यक्ष व्यवस्थापन (Direct Legislation) कहा जाता है।

समस्त नागरिकों अथवा मतदाताओं को व्यवस्थापन या क़ानून-निर्माण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भाग लेने का विचार नवीन नहीं है। किसी न किसी रूप में प्राचीन यूनानी तथा रोमन इससे सुपरिचित थे। एथेन्स में 'चार सौ की कौंसिल द्वारा प्रस्तुत किए गये प्रश्नों पर समस्त स्वतन्त्र नागरिकों की सभा मं विचार किया जाता था और उन पर नागरिकों के मत लिए जाते थे। रोम मे जनता अपनी कॉमीटिया (Comitia) में एकत्रित होती थी जो गणराज्य के परवर्ती काल में क़ानून-निर्माण करने वाली सस्था बन गई थी। समस्त स्वतन्त्र नागरिकों की ऐसी सभाऐं प्राचीन नगरों एव राज्यों में सम्भव थी। वे आज सम्भव नहीं है, जब कि राज्य इतने विशाल हैं और उनमें करोड़ों की संख्या में नागरिक रहते हैं। ये समस्त व्यक्ति एक सभा में एक स्थान पर विचार विनिमय के लिए एकत्रित नहीं हो सकते। आज के युग का मुख्य लक्षण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का सामंजस्य है। प्रत्यक्ष व्यवस्थापन में क़ानूनों का निर्माण प्रतिनिधियों की छोटी परिषदों द्वारा अपनी ओर से या मतदाताओं के सुझावों पर किया जाता है ; परन्तु क़ानून उस समय तक प्रभावकारी नहीं बन सकते जब तक कि उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त नहीं हो जाता। कोई भी विधेयक व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकार कर लिये

जनमत-संग्रह ऐच्छिक अथवा अनिवार्य हो सकता है। यह उस समय अनिवार्य होता है जब कि व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत सभी क़ानूनों को जनता के मत के लिए प्रस्तुत करना पड़ता है। यह उस समय ऐच्छिक होता है जबकि एक निश्चित संख्या मे मतदाताओं की माँग पर किसी क़ानून पर जनमत लिया जाता है। ऐसे क़ानून जिनसे राज्य के सविधान में परिवर्तन किए जाते हैं आवश्यक रूप से जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं। आवश्यक मामलों मे व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित क़ानूनों को जनमत-संग्रह की प्रक्रिया से मुक्त भी कर दिया जाता है।

प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण से अनेक लाभ हैं। इससे जनता का प्रभुत्व वास्तविक बन जाता है और यह जनता की राजनीतिक शिक्षा का एक उत्तम साधन है। लोग सार्वजनिक कार्यों में अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं जो अन्यथा सम्भव नहीं है और अधिक देशभक्त तथा क़ानून-पालक बन जाते हैं। जो क़ानून जनता के द्वारा ही बनाये जाते हैं, उनकी बन्धनकारी शक्ति अधिक और नैतिक सत्ता पूर्णतर होती है। यह व्यवस्थापिका के दोषों का, जो आजकल भ्रष्टता के वातावरण मे काम करती है, शोधन करने का बड़ा उपयोगी काम भी करती है। इससे भ्रष्टता तथा रिश्वतखोरी के दुष्प्रभाव दूर हो जाते हैं और दलीय नेताओं के कपटप्रयोग भी नष्ट हो जाते हैं। इसके द्वारा विक्षेपकारी एव विकृतिकारी दलीय प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। प्रो० गॉडविन स्मिथ ने कहा है : "जनता पर किसी भी प्रकार से आतंक नहीं डाला जा सकता; जनता आयरिश, प्रोटेस्टैण्ट या मैथॉडिस्ट मत द्वारा अनुमोदित किसी कार्य को अस्वीकार कर सकती है क्योंकि उसे पुनर्निर्वाचन का तो कोई भय है ही नहीं।" इससे वर्गीय भावना (Spirit of Sectionalism) कम हो जाती है। व्यवस्थापिका पहले से सतर्क एव सावधान हो जाती है और वह लोकमत का ध्यान रखने की अधिक चेष्टा करती है तथा यथासंभव अच्छे क़ानूनों की रचना करती है। इससे मतदाताओं तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच स्वस्थ सम्पर्क बना रहता है। इससे ऐसे क़ानून नहीं बन पाते जो जनता की भावना के प्रतिकूल हों।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि जब दो सदनों के बीच गत्यावरोध हो और उनमें परस्पर समझौता करने के सभी साधन विफल हो

जाँच तो उस प्रश्न को जनता के समक्ष रखना उसके समाधान का सर्वोत्तम और अन्तिम उपाय है।

यह तो इस चित्र का उज्ज्वल पक्ष है; इसका एक कृष्ण पक्ष भी है। प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण के आलोचक कहते हैं कि आधुनिक शासनों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह बहुत ही भद्दी योजना है। प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य की भांति व्यवस्थापन के लिए भी विशेष ज्ञान एवं शिक्षण की आवश्यकता है जो औसत मतदाता में नहीं होता। जनता में इतना ज्ञान नहीं होता कि वह अनेक क़ानूनों पर अपना कोई मत दे सके। जब क़ानूनों के प्रसंग एव विषय अत्यन्त पेचीदा और जटिल होते हैं, तब उन्हें जनता के अविवेक-पूर्ण निर्णय के लिए प्रस्तुत करना और भी ख़तरनाक होता है, उदाहरणार्थ मुद्रा तथा विनिमय की समस्या। निर्वाचक ऐसे प्रश्नों के प्रति उदासीन होते हैं; उन्हे न तो इतना अवकाश मिलता है और न उनकी इच्छा ही होती है कि वे इतना ज्ञान प्राप्त कर लें जिससे ऐसे विषयों पर अपना उचित मत व्यक्त कर सकें। जनमत-संग्रह के समय एक बड़ी सख्या में मतदाताओं की अनुपस्थिति से यह मालूम होता है कि वे अपने निजी कार्यों मे इतने सलग्न रहते हैं कि उन्हे सार्वजनिक प्रश्नों की ओर ध्यान देने की इच्छा ही नहीं होती। चूँकि मतदाता शब्दावली के मोहक जाल मे फस कर अप्रासंगिक प्रश्नों मे उलझ सकते हैं, इसलिए यह ख़तरा सदा रहता है कि जनमत द्वारा जनता की वास्तविक इच्छा का प्रकाशन न हो। इस स्थिति मे सशोधन सम्भव नहीं होते और मतदाताओं को सम्पूर्ण विधेयक को या तो अस्वीकार कर देना होता है या स्वीकार कर लेना होता है। वह उस समय किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है जबकि विधेयक की कुछ बातों से तो वह सहमत होता है और दूसरी बातों से असहमत। बार बार मतसग्रह से मतदाता पर एक बड़ा बोझ पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह या तो अपना मत नहीं देता या बिना विचार किए मत दे देता है। औसत मतदाता अनुदार और कट्टर-पंथी होता है; वह आमूल परिवर्तन के विरुद्ध रहता है। इस प्रकार लोक द्वारा प्रकाशित मत प्रायः निषेधात्मक ही होता है। आरम्भक के विरुद्ध एक अतिरिक्त आक्षेप यह भी है कि इसके द्वारा मतदाताओं के समक्ष प्रायः ऐसे विधेयक पेश किए जाते हैं जिनकी रचना भद्दी रहती है और जिन पर व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा कोई आलोचना नहीं हो पाती। जब इस

प्रकार के विधेयक जनता द्वारा स्वीकार कर लिए जाते हैं, तो उनसे भ्रान्ति पैदा होती है।

जहाँ प्रत्यक्ष क़ानून-निर्माण किया जाता है वहाँ ये दोष प्रत्येक मामले में नहीं मिलते। स्विटज़रलैण्ड में यह प्रणाली सफल रही है। देश का छोटा आकार तथा मतदाताओं के अत्यन्त चतुर तथा शिक्षित होने के कारण ही वहाँ यह सफलता प्राप्त हो सकी है किन्तु ये गुण सर्वत्र नहीं मिलते।

अध्याय २३

राज्य का संगठन—कार्यपालिका

शासन का दूसरा महत्वपूर्ण अग कार्यपालिका (Executive) कहलाता है ; महत्व की दृष्टि से कार्यपालिका व्यवस्थापिका की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती जा रही है; क्योंकि आधुनिक काल में राज्यों में नवीन नीतियों के निर्धारण का कार्य भी प्रायः कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। व्यवस्थापिका अपना कार्य कार्यपालिका के पथदर्शन में ही करती है और उसे यह निश्चय करने का अधिकार प्रायः उसी पर छोड़ना पड़ता है कि उसके बनाये हुए क़ानूनों पर अमल किस प्रकार किया जायगा। कार्यपालिका विभाग का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि प्रायः कार्यपालिका को ही लोग शासन (Government) समझते हैं। प्राचीन काल के राजतन्त्रों तथा वर्तमान् काल के अधिनायक-तन्त्रों में कार्यपालिका ही सर्वेसर्वा होती थी और होती है। प्रजातन्त्रीय देशों में भी कार्यपालिका के अधिकार एवं कार्य विस्तृत हैं और उनका विस्तार हो रहा है। आज के युग में व्यवस्थापिका या न्यायपालिका नहीं, वरन् कार्यपालिका शासन करती है। कार्यपालिका के बढ़ते हुए प्रभाव से जनता की स्वतन्त्रता की सुरक्षा करनी पड़ती है ; उसके लिये शासन के दूसरे विभागों की ओर से कोई खतरा नहीं है।

कार्यपालिका का अर्थ—

जब कार्यपालिका सत्ता की एवं अधिकारों की चर्चा की जाती है, तब इस शब्द का अर्थ सदा राज्य में वास्तविक एवं सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता से ही होता है जैसे इंगलैंड में केबिनेट (मन्त्रि-परिषद्), संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति आदि। इसे राजनीतिक कार्यपालिका (Political Executive) कह सकते हैं जिससे इसका एक ओर तो नागरिक सेवा (Civil Service) से भेद प्रकट हो जाता है. जो प्रत्येक

राज्य में प्रशासनीय या स्थायी कार्यपालिका (Administrative or Permanent Executive) होती है तथा दूसरी ओर नाममात्र के राज्य-प्रमुख से भी भेद प्रकट हो जाता है जो कुछ देशों में होते हैं। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत शासन का समस्त कर्मचारी-मण्डल आ जाता है, जिसका कार्य देश के क़ानून का पालन कराना है। इस अर्थ में तो कार्यपालिका के अन्तर्गत एक राजा या राष्ट्रपति से राज्य के छोटे से छोटे कर्मचारी तक आ जाँयगे और संख्या मे वह शासन के अन्य सभी अंगों से अधिक हो जायगी। व्यवस्थापिका के सदस्य तथा न्यायाधीश ही इसके बाहर रहेंगे।

कार्यपालिका के तीन मुख्य विभाग हैं: —

(१) नाममात्र की कार्यपालिका (२) राजनीतिक कार्यपालिका (३) स्थायी नागरिक सेवा। भ्रम निवारण के लिये इनके भेदों को समझना आवश्यक है।

नाममात्र की कार्यपालिका

इंगलैण्ड, फ़्रान्स, भारत आदि ऐसे राज्य हैं, जहाँ नाममात्र के राज्य प्रमुख (Head of the State) होते हैं; वह या तो राजा (Monarch) होता है, जैसा कि इंगलैण्ड में अथवा निर्वाचित राष्ट्रपति जैसा कि फ़्रान्स अथवा भारत में हैं। समस्त राज्य की कार्यपालिका सत्ता इस एक व्यक्ति में निहित होती है; संविधान से उसे बड़े विस्तृत अधिकार मिलते हैं। परन्तु वह अपनी इच्छानुसार सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकता। वह राज्य के एक अधिकारी तक की नियुक्ति नहीं कर सकता, कोई कर नहीं लगा सकता और न किसी विभाग के लिए एक पैसे तक का व्यय स्वीकार कर सकता है। शासन का सब कार्य राज्य-मन्त्रियों द्वारा जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं उसके नाम से किए जाते हैं। इस प्रकार उसकी सत्ताऐं नाममात्र की होती हैं, वास्तविक नहीं। वह शासन नहीं करता। यदि वह 'इंगलैण्ड के राजा की तरह पैतृक' उत्तराधिकार युक्त राजा होता है तो केवल राज करता है और यदि वह निर्वाचित राष्ट्रपति होता है, तो वह राज भी नहीं करता। फ़्रान्स का राष्ट्रपति न शासन करता है और न राज ही। नाममात्र के निर्वाचित राज्य-प्रमुख का कार्य-काल नियत होता है, जैसे फ़्रान्स का

राष्ट्रपति ७ वर्ष के लिए चुना जाता है। वंशानुगत नरेश, यदि वह पहले राज्य त्याग नहीं करे तो आजीवन राजसिंहासन पर आरूढ़ रहता है। जिन देशों में राष्ट्रपति शासन-प्रणाली प्रचलित है, उनमें नाममात्र की कार्यपालिका नहीं होती। संयुक्त राज्य अमेरिका में नाममात्र का राज्यप्रमुख नहीं है, वहाँ राष्ट्रपति ही वास्तविक कार्यपालिका सत्ता है।

राजनीतिक कार्यपालिका

उसकी प्रकृति एवं सत्ताऐं—

प्रत्येक देश में राजनीतिक या व्यावहारिक दृष्टि से राजनीतिक कार्यपालिका शासन-यन्त्र का सबसे महत्वपूर्ण पुर्ज़ा है। राज्य मे वह सर्वोच्च कार्यपालिका है। राज्य में उसका क्या स्थान है इस विषय में कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रत्येक राज्य में उसे क्या-क्या सत्ताऐं प्रदान की गई हैं, इस पर विचार करने से हमें उसकी सत्ता का सच्चा और पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। स्ट्राँङ्ग तथा गार्नर ने उनका (सत्ताओं का) विभाजन निम्न प्रकार किया है :—

(१) कूटनीतिक (Diplomatic) सत्ताऐं—

इनका सम्बन्ध वैदेशिक मामलों से हैं। प्रत्येक राज्य मे सर्वोपरि कार्यपालिका (Supreme Executive) को अन्य देशों के साथ संधियाँ अथवा राजनीतिक एवं व्यापारिक समझौता करने, विदेशों के. राजदूतों का अपनी राजधानी में स्वागत करने तथा दूसरे देशों में अपने राजदूत भेजने का अधिकार होता है। अपने राजदूत दूसरे देशों में भेजना तथा अपने देश में दूसरे देशों के राजदूतों को स्वीकार करना एक महत्वपूर्ण सत्ता है, क्योंकि उसका आशय अन्य राज्यों की स्वतन्त्रता को स्वीकार करना या अस्वीकार कर देना है। परन्तु अधिकांश राज्यों में सन्धियों पर व्यवस्थापिका या उसके एक सदन की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक रहता है। राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना की और उन्होंने जब अमेरिका को उसमें सम्मिलित करने के लिए अमेरिकन काँग्रेस के समक्ष प्रस्ताव रखा तो सीनेट ने उसे स्वीकार नहीं किया और विल्सन के उस दिशा में किए हुए सब प्रयत्नों को विफल कर दिया।

(२) प्रशासनीय सत्ताएँ—

इन सत्ताओं का सम्बन्ध क़ानूनों को कार्यान्वित करने तथा शासन के मामलों के प्रबन्ध से है। प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका का मुख्य कर्तव्य क़ानूनों को कार्यान्वित करने की व्यवस्था करना तथा उनकी देख-भाल करना है। इस उद्देश्य से राज्य के समस्त अधिकारियों तथा कर्मचारी वर्ग पर उसका निर्देशन तथा नियन्त्रण होता है। कार्यपालिका (मंत्रि-परिषद्) के सदस्य शासन के प्रशासन सम्बन्धी विभागों के प्रमुख होते है। उच्च प्रशासनीय अधिकारियो की नियुक्ति का कार्य भी कार्यपालिका द्वारा सम्पादन किया जाता है ; किसी-किसी राज्य मे व्यवस्थापिका या उसके एक सदन की उस पर अनुमति आवश्यक होती है, जैसे अमेरिका मे राष्ट्रपति द्वारा जो नियुक्तियाँ की जाती हैं, उन पर सीनेट की स्वीकृति आवश्यक होती है। अधीनस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति एव पदच्युति भी कार्यपालिका के नियन्त्रण मे रहती है। नियुक्ति की इस विशाल सत्ता से कार्यपालिका की सत्ता तथा उसके शक्तियों मे बहुत वृद्धि हो जाती है। कुछ राज्यों में कार्यपालिका न्यायाधीशों तथा विश्वविद्यालयों के अध्यापकों तक की नियुक्ति करती है।

(३) सैनिक सत्ताएँ—

इनका सम्बन्ध राज्य में सशस्त्र बल (Armed Forces) के सगठन तथा युद्ध-संचालन से है। सशस्त्र बल की व्यवस्था करना तथा प्रधान सेनापति तथा सेनानायकों की नियुक्ति करना सर्वोच्च कार्यपालिका का ही काम है। युद्ध-काल मे कार्यपालिका की सत्ताओं में बड़ा विस्तार हो जाता है ; वह वैधानिक शासन का अन्त कर, नागरिकों के वैधानिक अधिकारों को अस्थायी रूप से स्थगित कर सैनिक शासन की स्थापना तक कर सकती है। अनेक लेखकों के अनुसार कार्यपालिका की सैनिक सत्ताओं के अन्तर्गत युद्ध की घोषणा करने तथा शांति-संधियाँ करने के अधिकार भी सम्मिलित हैं। किन्तु इस पर व्यवस्थापिका की अनुमति आवश्यक होती है।

(४) न्याय सम्बन्धी सत्ताएँ—

कार्यपालिका की न्याय सम्बन्धी सत्ताएे अपराधियों को क्षमादान

या अभयदान, तथा उनके दण्ड में कमी या परिवर्तन करना है। आज सभी राज्यों ने कार्यपालिका के इस अधिकार को स्वीकार कर लिया है। मानवता तथा सार्वजनिक नीति की दृष्टि से ऐसा अधिकार कार्यपालिका को देना उचित ही है। क़ानून की अपूर्णता तथा संभावित अन्याय के दोषों के निवारण के लिए यह सत्ता परम आवश्यक है। इस अधिकार के अस्तित्व से ही राजनीतिक बन्दियों की साधारण मुक्ति सम्भव होती है।

(५) व्यवस्थात्मक सत्ताएँ—

राज्य में जिस प्रकार की शासन-पद्धति होती है, उसी प्रकार की कार्यपालिका की व्यवस्थात्मक सत्ताएँ (Legislative Power) होती है। मंत्रि-परिषदीय प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका परिषद के अधिवेशन आमंत्रित करती है, उसे स्थगित करती तथा उसे भग भी करती है और इन कार्यों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण विधेयकों के प्रारूपों की रचना करती है तथा व्यवस्थापिका परिषद द्वारा उन्हें स्वीकार कराने की चेष्टा करती है। व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य का श्रीगणेश करना वस्तुतः उसी का कार्य होता है। राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका परिषद् का पथ-प्रदर्शन नहीं करती, परन्तु उसके हाथ में व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृति क़ानूनों पर निषेधाधिकार रहता है।

हाल में समस्त राज्यों में कार्यपालिका के एक नवीन प्रकार के व्यवस्थापन कार्य का विकास हो गया है। यह अध्यादेश (Ordinances) जारी करने का अधिकार है। हम भारतवासी अध्यादेश-शासन से भलीभाँति परिचित हैं। परन्तु किसी प्रजातांत्रिक कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने की ऐसी निरंकुश सत्ता नहीं होती जिससे नागरिक उसकी दया पर निर्भर हो जाय। वैधानिक राज्य में कार्यपालिका की अध्यादेश जारी करने की सत्ता सर्वथा दूसरे ढंग की होती है। यह एक प्रकार से व्यवस्थापन की गौण सत्ता है, जो शासनादेश जारी करने का रूप धारण कर लेती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण फ़्रान्स में मिलता है। फ़्रान्स में सभी विधेयक जो पार्लामैंट की स्वीकृति प्राप्त कर क़ानून का रूप धारण करते हैं, उनके अन्त में यह लिखा रहता है : "वर्तमान क़ानून को समुचित रूप से कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक बातों का

निर्धारण शासन की ओर से जारी किये अध्यादेश द्वारा होगा।" इस धारा के अनुसार सरकार द्वारा जो अध्यादेश जारी किये जाते हैं, उनसे क़ानून पूर्ण हो जाता है। इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है किन्तु वहाँ भी कार्यपालिका को गौण व्यवस्थापन के अधिकार रहते हैं। इसे प्रशासनीय व्यवस्थापन (Executive or Administiative Legislation) कहते हैं। इगलैण्ड में 'ऑर्डर्स इन कौंसिल' तथा क़ानूनी नियम एव आदेश (Statutory rules and orders) इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। अमेरिका में सैन्य, नभ-सैन्य, नौसेना, डाक विभाग आदि से सम्बद्ध नियम भी इसके उदाहरण हैं। प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत क़ानून को अस्वीकार करने का अधिकार होता है। यह निषेधाधिकार पूर्ण अथवा आँशिक अथवा केवल निलम्बनकारी (Suspensory) हो सकता है।

इनके अतिरिक्त कुछ राज्यों के संविधान सर्वोच्च कार्यपालिका को कुछ और भी अधिकार देते हैं; जैसे व्यक्तियों को उपाधि प्रदान करने, विशिष्ट मामलों मे पेन्शन तथा दान देने, विदेशियों को नागरिक बनाने आदि के अधिकार।

कार्यपालिका का संगठन—

सर्वोच्च कार्यपालिका (Supreme Executive) का सर्वोत्तम ढग से संगठन किस प्रकार किया जाय यह राज्य-विज्ञान की एक बड़ी जटिल समस्या है। उसका उत्तर देते समय हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कार्यपालिका का मुख्य कार्य राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करना है। इस कार्य का सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिए निर्णय करने में शीघ्रता तथा उद्देश्य की एकता परम आवश्यक गुण हैं। ये गुण समान सत्ता वाले अनेक व्यक्तियों की किसी सस्था मे नहीं मिल सकते। इन्हे प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन एक व्यक्ति में कार्यपालिका की सर्वोच्च सत्ताओं को केन्द्रित कर देना है। नेपोलियन ने एक बार कहा था कि एक निकृष्ट सेनानायक भी दो श्रेष्ठ सेनानायकों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। अधिकांश लेखक इस बात से सहमत हैं कि कार्यपालिका एकात्मक होनी चाहिए। जज स्टोरी ने कहा है कि "समस्त राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि कार्यपालिका एक सदस्य की हो

और व्यवस्थापिका में अनेक सदस्य हो। कार्यपालिका सत्ता की सबसे आवश्यक योग्यता शक्ति है और इसकी प्राप्ति उत्तम ढग से एक व्यक्ति को सौंप देने से ही हो सकती है। विचार-विमर्श के लिये दो व्यक्ति एक की अपेक्षा अच्छे रहते हैं और दो सौ दो की अपेक्षा अच्छे रहते हैं परन्तु कार्यपालिका के कार्य अनेक समकक्ष अधिकारियों को सौंपना उसे निर्बल बना देना है। कार्यपालिका एक सदस्य की होने से निर्णय शीघ्रता के साथ होते हैं। उद्देश्य की एकता रहती है और कार्य मे शक्ति बनी रहती है। कार्यपालिका में अनेक सदस्य होने का अर्थ होगा कुशलता की कमी और विभाजित उत्तरदायित्व। जिन देशों में एक सदस्य वाली सर्वोच्च कार्यपालिका के स्थान पर समान सत्ता वाले अनेक सदस्यों की कार्यपालिका (Plural or Collegiate Executive) होती है, वहाँ ऐसी ही स्थिति होती है। अनेक सदस्यों वाली कार्यपालिका के पक्ष में कहा जाता है कि उसमें एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बुद्धि तथा योग्यता होती है। एक व्यक्ति-समूह एक व्यक्ति की अपेक्षा निर्णय करने तथा राज्य के मामलों का सचालन करने में अधिक बुद्धिमत्ता एवं योग्यता के साथ काम कर सकता है परन्तु इससे शीघ्रता के साथ निर्णय करने मे बाधा पड़ती है और मतों मे भी भिन्नता हो सकती है। इस प्रकार की कार्यपालिका स्विट्ज़रलैण्ड मे सफल रही है। उस देश मे इस प्रणाली को जो सफलता मिली है, उसका श्रेय इस प्रणाली की विशेषता की अपेक्षा वहाँ की जनता के चरित्र तथा राजनीतिक शिक्षण को अधिक है।

निरंकुश एकतन्त्र, अधिनायकीय राज्य, राष्ट्रपति-शासन के आधार पर संगठित शासन एक सदस्य वाली कार्यपालिका के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि शासन विभागों के प्रमुखो के रूप में व्यक्तियों की नियुक्ति और सर्वोच्च राज्य-प्रमुख द्वारा उन्हें सत्ता प्रदान करना एक सदस्य वाली कार्यपालिका के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका सत्ता का वितरण विभिन्न प्रशासनीय विभागों में होता है जिनके अध्यक्ष राज्य-मत्री होते हैं जो अपने विषयों के समुचित कार्य-संचालन के लिए उत्तरदायी होते हैं। परन्तु वे सब राज्य प्रमुख के आधीन होते हैं और उनके आदेशों का उन्हें पालन करना पड़ता है; इस कारण कार्यपालिका की प्रकृति

एकात्मक ही बनी रहती है क्योंकि अन्तिम निर्देशक सत्ता एक व्यक्ति में ही रही आती है।

मन्त्रि-परिषदीय शासन मे कार्यपालिका की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह पैदा होता है। एक दृष्टिकोण के अनुसार वह सामुदायिक (Collegiate) है। उसमें कार्यपालिका सत्ता का प्रयोग मन्त्रियों के समुदाय द्वारा किया जाता है और महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय बडे विचार तथा बहस के बाद किए जाते हैं। परन्तु जहाँ तक प्रधान मंत्री की स्थिति केन्द्रीय एव महत्त्वपूर्ण होती है और वह विविध मन्त्रियों को विविध विभाग सौंपता है और यदि वे इससे मतभेद रखें तो उन्हें वह त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है, उसमे एक सदस्य वाली कार्यपालिका के सभी गुण विद्यमान होते हैं।

यही बात राज्य-प्रमुख को सहायता एव सलाह देने के लिए नियुक्त कार्यपालिका समिति (Executive Council) के विषय में कही जा सकती है। राज्य-प्रमुख इस समिति के निर्णय को रद्द कर सकता है और इस प्रकार यह कार्यपालिका अपने स्वभाव मे एकात्मक होती है। सन् १९१९ ई० के कानून के अनुसार भारत की केन्द्रीय कार्यपालिका एकात्मक थी।

सांसद तथा स्थायी (Fixed) कार्यपालिका—

राजनीतिक कार्यपालिका के सगठन के सम्बन्ध में एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसकी अवधि के सम्बन्ध मे पैदा होता है। यहाँ भी दो विकल्प हैं। उसका कार्यकाल व्यवस्थापिका की इच्छा पर निर्भर रह सकता है अथवा संविधान द्वारा उसका निश्चय करके उसे व्यवस्थापिका के नियंत्रण से स्वतन्त्र बना दिया जा सकता है। इन दोनों प्रणालियों के गुण दोषों का विवेचन ऊपर हो चुका है। यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि एक या दो वर्ष का कार्यकाल हानिप्रद होता है; इससे कार्यपालिका सत्ता को शासन सम्बन्धी बड़ी योजनाएँ बना कर उन्हें कार्यान्वित करने का अवसर नही मिलता। इससे शासन नीति में सातत्य भी नहीं रहता। इसके विपरीत १०—१२ वर्ष का लम्बा कार्य-काल भी खतरनाक है। लम्बी अवधि तक पदारूढ़ रहने वाली कार्यपालिका सत्ता अपने पद को एकतन्त्रीय शासन मे परिवर्तित करने का लोभ सवरण नहीं रह सकती जैसा कि फ्रान्स मे नेपोलियन ने किया था। कार्यपालिका का कार्य-काल जितना लम्बा होगा, उतना ही वह जनता के प्रति अपने दायित्वों को

पूरा करने में कठिनाई अनुभव करता है और वैयक्तिक महत्वाकांक्षा का खतरा उतना ही बढ़ जाता है। अमेरिका के राष्ट्रपति का कार्यकाल ४ वर्ष तथा भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल ५ वर्ष का होता है। यह अवधि उचित मालूम होती है। ऐसी अवधि से कार्यपालिका को अपनी योजनाओं एवं नीतियों को कार्यान्वित करने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है और साथ ही अधिक लम्बी अवधि के खतरे भी नहीं रहते। मुसोलिनी तथा हिटलर के शासन को छोड़ संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ कार्यपालिका सत्ता का कार्यकाल जीवनपर्यन्त हो। स्विस कार्यपालिका अपने ढग की अनोखी है। वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है परन्तु उसकी अवधि स्थायी होती है।

नियुक्ति की रीति—

राज्यों में प्रचलित शासन-प्रणालियों के अनुसार ही राजनीतिक कार्यपालिका की नियुक्ति की रीतियाँ भी विभिन्न होती है। पूर्ण निरंकुश राजतन्त्र (एकतन्त्र) में, जिसका आज अस्तित्व नहीं है, शासक का या तो निर्वाचन किया जाता था या वह उत्तराधिकार के नियमानुसार शासक का पद ग्रहण करता था। कुछ आधुनिक राज्यों में नाममात्र की कार्यपालिका परम्परागत होती है, राजनीतिक नहीं। राजनीतिक कार्यपालिका या तो नियुक्त की जाती है या निर्वाचित। राष्ट्रपति-शासन-प्रणाली की कार्यपालिका या स्थायी प्रकार की कार्यपालिका में सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता निर्वाचित राज्य-प्रमुख में निहित होती है, जिसे साधारणतया राष्ट्रपति कहते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति सिद्धान्ततः परोक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा चार वर्ष के लिये चुना जाता है, परन्तु जिस ढंग से उसके निर्वाचन मे मतदाता अपने मत देते हैं, उसके कारण राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन ही बन जाता है। दक्षिणी अमेरिका के कुछ राज्यों में सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता का प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचन किया जाता है। अमेरिका का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता है जो उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे (मन्त्री) राजनीतिक कार्यपालिका के ही अंग होते हैं यद्यपि वे राष्ट्रपति के आधीन रहते हैं। इस प्रकार अमेरिका में कार्यपालिका आंशिक रूप से निर्वाचित तथा आंशिक रूप से नियुक्त होती है। इसी प्रकार के शासन वाले अन्य राज्यों में भी ऐसा ही होता है।

ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश में जहाँ सांसद प्रणाली प्रचलित है, मन्त्रि-परिषद् सर्वोच्च कार्यपालिका होती है। यह कहा जा चुका है कि इसमें अनेक मन्त्री होते हैं; परन्तु प्रधान मन्त्री की स्थिति को प्राधान्य मिलने के कारण मन्त्रि-परिषद् एक सदस्य वाली कार्यपालिका ही होती है। सिद्धान्त रूप में मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति नाममात्र के राज्य-प्रमुख (इंगलैण्ड में राजा तथा फ्रान्स में राष्ट्रपति) द्वारा की जाती है, जनता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसका निर्वाचन नहीं करती। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन में (फ्रान्स में नहीं), व्यावहारिक दृष्टि से निर्वाचक ही यह निर्णय करते हैं कि कौन व्यक्ति प्रधान मन्त्री होगा। मन्त्रि-परिषद् की रचना के लिये राजा को बहुमत दल के नेता को ही प्रधान मन्त्री नियुक्त करना पड़ता है। फ्रान्स के मतदाता किसी प्रकार भी उस व्यक्ति का चुनाव नहीं करते जो आगे प्रधान मन्त्री बनता है। यह भेद इसलिए है कि इन दोनों देशों मे राजनीतिक दल विभिन्न ढग से कार्य करते हैं। प्रधान मन्त्री का चुनाव करने के बाद राजा मन्त्रि-परिषद् के अन्य सदस्यों को उसकी सिफ़ारिश पर नियुक्त करता है। अत: हम यहाँ यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि सिद्धान्ततः सांसद शासन-प्रणाली के अन्तर्गत कार्य-पालिका की नियुक्ति की जाती है और राष्ट्रपति-प्रणाली के अन्तर्गत उसका निर्वाचन होता है।

स्विस संघीय कार्यपालिका का निर्वाचन संघीय परिषद् द्वारा किया जाता है; परन्तु परिषद् उसे पदच्युत नही कर सकती। इसमे सांसद तथा राष्ट्रपति-प्रणाली दोनों के लक्षण विद्यमान हैं। परतन्त्र देशों में कार्यपालिका की नियुक्ति शासन करने वाले देशों की सरकारों द्वारा की जाती है, जनता का उसमें कोई हाथ नहीं होता।

इस तरह राजनीतिक कार्यपालिका के निर्माण के दो प्रकार हैं:— (१) जनता द्वारा परोक्ष या प्रत्यक्ष चुनाव अथवा व्यवस्थापिका द्वारा चुनाव, (२) राज्य के नाममात्र के प्रमुख द्वारा नियुक्ति। अधिनायक-तन्त्री राज्य की कार्यपालिका उपर्युक्त किसी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आती वह अलग ही है।

प्रधान कार्यपालिका की विमुक्तियाँ—

यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया है कि राज्य के प्रमुख (Chief Executive) पर उसके कार्यकाल की अवधि में उसके किसी राज-

नैतिक या फ़ौजदारी अपराध के लिए देश के साधारण न्यायालयों में विचार नहीं किया जाता। यह सिद्धान्त सार्वजनिक एवं राजनीतिक आवश्यकता पर आधारित है। कार्यपालिका सत्ता को न्यायालयों के नियन्त्रण में रखने का तात्पर्य होगा उसकी स्वतन्त्रता में कमी और उसके कर्तव्यों में हस्तक्षेप। परन्तु इस प्रकार की विमुक्ति राज्य प्रमुख को ही प्राप्त है; उसके आधीन अन्य अधिकारियों को नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यायालय राष्ट्रपति के विरुद्ध उसके कार्यों के लिए कोई कार्यवाही नहीं कर सकते और न उसे उसके विवेक के अनुसार किये जाने वाले कार्यों के सम्पादन में कोई हस्तक्षेप ही कर सकते हैं। परन्तु न्यायालयों का उसके मन्त्रियों पर नियन्त्रण होता है। यदि वे कोई अपराध करते हैं, तो उनके विरुद्ध न्यायालयों में विचार किया जा सकता है। अमेरिका की कॉंग्रेस की प्रतिनिधि-परिषद् (निम्न सदन) राष्ट्रपति पर किसी बड़े अपराध या देशद्रोह के लिए दोषारोप कर सकती है और सीनेट द्वारा उसकी जॉंच की जा सकती है। परन्तु राष्ट्रपति द्वारा पदत्याग के बाद साधारण न्यायालय में उस पर लगाये गये दोषों पर विचार किया जा सकता है। इगलैण्ड मे राजा कानून से ऊपर है, वह कोई ग़लती नहीं कर सकता। फ्रान्स मे भी राष्ट्रपति पर किसी भी न्यायालय मे दोषारोप नही किया जा सकता। चेम्बर द्वारा ही उस पर दोषारोप किया जा सकता है और सीनेट में उसकी जॉंच की जाती है। भारत में ब्रिटिश राज्य मे प्रान्तीय गवर्नरों, तथा गवर्नर-जनरलों को भी इस प्रकार की विमुक्तियॉं प्राप्त थीं।

राजनीतिक कार्यपालिका का व्यवस्थापिका से सम्बन्ध—

कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका—ये शासन के दो मुख्य विभाग हैं। यद्यपि उनके कार्य विभिन्न हैं और जिन सिद्धान्तों के आधार पर उनका संगठन किया जाता है वे भी भिन्न हैं, तो भी वे परस्पर सम्बन्धित हैं। सत्ता के पृथक्करण के सिद्धान्त के समर्थक चाहें जो कुछ कहें, परन्तु व्यवहार में उन दोनों को एक दूसरे से बिलकुल पृथक् करना सर्वथा अशक्य है। प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के कार्य पर कुछ नियन्त्रण होता है और वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कानून-निर्माण के कार्य में भाग लेती है। दूसरी ओर, व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर, राजस्व सम्बन्धी सत्ता तथा पदों के निर्माण करने और

उनके कर्तव्यों के निर्धारण की सत्ता द्वारा नियंत्रण रखती है। इन दोनों विभागों में परस्पर संबंध सांसद प्रणाली में राष्ट्रपति-प्रणाली की अपेक्षा अधिक और गहरा होता है।

जिन राज्यों में सांसद शासन-प्रणाली प्रचलित है; वहाँ कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधिवेशन आमंत्रित करती है; उन्हें स्थगित करती है तथा उसे भंग कर नये चुनावों के लिए आदेश देती है। आवश्यकता पड़ने पर वह विशेष अधिवेशन भी आमंत्रित करती है। इगलैण्ड में नवीन पार्लमैण्ट के समय विशेष समारोह का आयोजन किया जाता है और कार्य का आरम्भ राजा के भाषण द्वारा अथवा प्रधान मंत्री की नवीन नीति की घोषणा द्वारा होता है। असांसद-शासन-प्रणाली में कार्यपालिका को ऐसे कोई अधिकार नहीं होते। वहाँ संविधान द्वारा अधिवेशन की तिथि नियत होती है। कार्यपालिका केवल संकटकाल में ही किसी आवश्यक बात पर विचार करने के लिए व्यवस्थापिका परिषद् के विशेष अधिवेशन को आमन्त्रित कर सकती है।

जिन देशों मे सांसद पद्धति प्रचलित है वहाँ कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका का आवश्यक नेतृत्व करती है तथा वही पथ-प्रदर्शन का काम करती है। वह कार्यपालिका के परामर्श से ही व्यवस्थापन करती है। समस्त महत्वपूर्ण विधेयक मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। जिस विधेयक का मन्त्रि-परिषद् विरोध करता है, उसका स्वीकार किया जाना संभव नहीं होता। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य व्यवस्थापिका परिषद् में भाग लेते हैं अपनी नीति एवं कार्यक्रम का समर्थन करते हैं तथा सदस्यों के उनके कार्य के सम्बन्ध में पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर देते हैं। राष्ट्रपति-शासन-पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रपति व्यवस्थापिका परिषद् का इस प्रकार पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता, वह केवल संदेश भेज कर उसका ध्यान महत्वपूर्ण क़ानूनों के निर्माण की ओर आकर्षित ही कर सकता है। व्यवस्थापिका परिषद् के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह राष्ट्रपति से इन सन्देशों के अनुसार कार्य करे, वह उनकी उपेक्षा भी कर सकती है।

परन्तु ऐसी अनेक वैधानिक तथा साधारण रीतियाँ हैं जिनके द्वारा वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में व्यवस्थापिका पर अपना प्रभाव डाल सकता है। अमेरिकन राष्ट्रपति के वैधानिक अधिकारों में से एक यह है कि वह देश की क़ानूनी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में कांग्रेस को सूचना दे।

वह अपना सन्देश स्वयं वहाँ जा कर भी दे सकता है और अपनी भाषण प्रतिभा से कांग्रेस पर अपना प्रभाव डाल सकता है। अपने विशेषाधिकार की धमकी द्वारा वह किसी भी विधेयक के भाग्य पर कुछ प्रभाव डाल सकता है। जब उसका राजनीतिक दल कांग्रेस के भीतर बहुमत में होता है, तब क़ानून-निर्माण पर उसका प्रभाव बहुत कुछ बढ़ जाता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि वह आवश्यकता पड़ने पर कांग्रेस का विशेषाधिवेशन आमन्त्रित कर सकता है और उसे अपना सन्देश दे सकता है।

व्यवस्थापन के सम्बन्ध में कार्यपालिका को जो सबसे महत्वपूर्ण सत्ता प्राप्त है, वह इस कारण है कि व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा निर्मित क़ानूनों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कार्यपालिका की स्वीकृति आवश्यक होती है। यदि राष्ट्रपति किसी क़ानून पर अपनी अनुमति न दे या उसे प्रचारित न करे तो कोई भी क़ानून प्रभावकारी नहीं बन सकता। व्यवस्थापिका परिषद् द्वारा स्वीकृत क़ानूनों को अस्वीकार कर देने के अधिकार को निषेधाधिकार (Veto Power) कहते हैं। असांसद प्रणाली वाले देशों में इसका महत्त्व बहुत है; उन देशों मे राष्ट्रपति का निषेधाधिकार वास्तविक होता है। अमेरिका का राष्ट्रपति अपने इस अधिकार का सदुपयोग करता है, यद्यपि उसका निषेधाधिकार पूर्ण नहीं हैं और दो तिहाई बहुमत से व्यवस्थापिका निषिद्ध क़ानून को फिर स्वीकार कर सकती है। इतने पर भी, वह उसके हाथों में एक प्रबल अस्त्र है। सांसद राज्यों में कार्यपालिका का निषेधाधिकार पूर्ण होता है; परन्तु उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं होता क्योंकि नाम-मात्र की कार्यपालिका उसका प्रयोग नहीं करती। फिर भी यह बात तो सत्य है ही कि व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कोई भी क़ानून उस समय तक किसी पर बंधनकारी नहीं होता, जब तक कि कार्यपालिका का प्रमुख उस पर अपने हस्ताक्षर कर उसे लागू न कर दे।

कार्यपालिका पर भी व्यवस्थापिका का कुछ नियंत्रण होता है। इस पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। यह नियंत्रण सांसद प्रणाली में अध्यक्षात्मक प्रणाली की अपेक्षा अधिक होता है।

प्रशासन सम्बन्धी व्यवस्थापिका या नागरिक-सेवा—

उसकी प्रकृति—कार्यपालिका सत्ता का तीसरा विभाग नागरिक सेवा (Civil Service) कहलाता है। यह कार्यपालिका स्थायी होती है

और इसके सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है। इसे 'सिविल सर्विस' कहते हैं। यह ऐसे अधिकारियों का एक समूह है जो प्रबन्ध-कार्य में पटु, सुयोग्य, दक्ष तथा स्थायी होते हैं और जिन्हें वेतन दिया जाता है। यह राजनीतिक कार्यपालिका से तीन बातों में भिन्न है। इसके सदस्य अपने कार्य में विशेषज्ञ होते हैं; वे शासन की सेवा को अपनी जीविका के रूप में ग्रहण करते हैं और विशिष्ट शिक्षण द्वारा अपने आपको उसके योग्य बनाते हैं। साधारणतया प्रतियोगिता परीक्षाओं में सफल होने पर ही उनकी नियुक्ति होती है। मंत्री में इस प्रकार की योग्यता की उपेक्षा नहीं होती; मन्त्रि-पद ग्रहण तो उसके जीवन में एक प्रासंगिक घटना मात्र होती है। वह अपने आपको उसके लिए किसी प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा या विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा योग्य नहीं बनाता। वह तो उसे सार्वजनिक सेवा के पुरस्कार के रूप में या समाज के सार्वजनिक जीवन में अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण प्राप्त होता है। एक दिन एक व्यक्ति मन्त्रि-परिषद् का सदस्य है तो दूसरे दिन वह फिर अपने व्यक्तिगत जीवन में अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त हो सकता है; और डॉक्टर, बैरिस्टर, प्रोफ़ेसर, व्यवसायी आदि के रूप में हमारे सामने आता है। इससे इन दोनों का एक दूसरा बड़ा भेद प्रकट हो जाता है। नागरिक सेवा का सदस्य (Civil Servant) अपने पद पर स्थायी रूप से रहता है। वह युवावस्था में लोकसेवा में भर्ती हो जाता है और अपनी योग्यता के अनुसार ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँच कर ५५ या ६० वर्ष की आयु प्राप्त कर निवृत्ति प्राप्त करता है। प्रजातन्त्रीय शासन मे प्राय: शासन-परिवर्तन होते रहते हैं, उनसे वह अप्रभावित रहता है। वह मन्त्रि-परिषद् के त्यागपत्र दे देने के साथ अपने पद से त्यागपत्र नहीं देता। वह किसी भी राजनीतिक दल के शासन का कार्य समान भक्ति से करेगा। इसका कारण यह है कि वह किसी राजनीतिक दल का सदस्य नहीं होता और समाज के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग नहीं लेता। यह तीसरी बात है, जो राजनीतिक कार्यपालिका तथा प्रशासनात्मक कार्यपालिका से भिन्नता स्थापित करती है। व्यावसायिक शिक्षण, अवधि का स्थायित्व और समस्त राजनीतिक दलों से पृथक्ता ये 'सिविल सर्विस' की तीन विशेषताएँ हैं। राजनीतिक कार्यपालिका (Political

Executive) के लक्षण हैं। प्रशासन कार्य में निपुणता की अनावश्यकता, अल्पकालिकता तथा राजनीतिक नेतृत्व।

स्थायी नागरिक सेवा पुरानी नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैण्ड में इसका निर्माण हुआ। आज यह प्रत्येक राज्य में विद्यमान है। आधुनिक राज्य के शासन-प्रबन्ध की निरन्तर बढ़ती हुई जटिलता के कारण यह आवश्यक हो गया है कि शासन-संचालन के लिए दक्ष तथा सुयोग्य व्यक्तियों का एक विशाल दल हो। बॉल्शेविक रूस को भी अपनी प्रशासन-सेवा का संगठन स्थायी कार्यकाल तथा योग्यता के आधार पर करना पड़ा। स्टालिन ने बतलाया था कि उनकी कठिनाइयों का दशमांश शासन-संचालन पर दोषपूर्ण नियन्त्रण होने के कारण है।

नागरिक सेवा के कार्य—

स्थायी कार्यपालिका के अधिकारियों का संगठन विभागों में किया जाता है। प्रत्येक विभाग का प्रमुख एक मन्त्री होता है जो उस विभाग की नीति का निर्देशन करता है और अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। उसके नीचे एक सचिव (Secretary) होता है जिसका पद राजनीतिक होता है और एक स्थायी सचिव होता है जो उस विभाग का उच्चतम स्थायी अधिकारी होता है। इसी स्थायी सचिव से वह अपने विभाग की प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं पर परामर्श करता है और उसकी सलाह से अपनी नीतियों एवं योजनाओं को कार्यान्वित करता है। वह इसे ही आदेश देता है और सचिव उन्हें अपने अधीनस्थ अधिकारियों तक पहुँचाता है और उनका समुचित रूप से पालन करवाता है।

इस प्रकार स्थायी नागरिक सेवा (Permanent Civil Service) का मुख्य कार्य देश के क़ानूनों को कार्यान्वित करना तथा मन्त्री के आदेशानुसार सरकारी नीतियों एवं योजनाओं को कार्य रूप में लाना है। नीतियों का निर्माण करना उसका काम नहीं है, वह राजनीतिक कार्य-पालिका का कार्य है। किन्तु व्यवहार में कार्य-कुशल स्थायी नागरिक सेवा शासन की नीतियों के निर्माण में बड़ा प्रभाव डालती है। कोई भी मन्त्री चाहे वह कितना ही विद्वान और योग्य क्यों न हो स्थायी सचिव द्वारा बतलाई हुई संभावित कठिनाइयों तथा उन्हें दूर करने के उपायों

पर विचार किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार स्थायी नागरिक सेवा का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।

अनेक विभागों में जो उच्चतम पदाधिकारी होते हैं उन्हें अर्द्ध-व्यवस्थापन तथा अर्द्ध-न्यायिक कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है। उन्हें यह निश्चय करना पड़ता है कि संसद् द्वारा स्वीकृत कानूनों को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय। उन्हें अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के लिए बन्धनकारी नियम भी बनाने पड़ते हैं जिनका जनता पर भी प्रभाव पड़ता है। कार्यपालिका द्वारा जो व्यवस्थापन होता है उसके एक बड़े भाग पर नागरिक सेवा की प्रतिभा की छाप रहती है। अनेक पदाधिकारियों को जनता की ओर से अधीनस्थ कर्मचारियों के विरुद्ध की गई शिकायतों को जाँच करने का अधिकार रहता है; जैसे आयकर-अधिकारी निम्नस्थ अधिकारियों द्वारा निर्धारित आयकर की मात्रा के विरुद्ध अपीलें सुनता है। इसी प्रकार मिलों में काम करने वाले श्रमिकों के विवादों की सुनवाई श्रम तथा उद्योग विभाग के सर्वोच्च अधिकारी करते हैं।

नागरिक सेवा में बुद्धिमान एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रवेश कर सकें इस उद्देश्य से नये आने वाले लोगों के लिये उसे आकर्षक बनाना आवश्यक है। समुचित एवं यथेष्ठ वेतन, कार्यकाल की सुरक्षा, उच्चतम पद तक पहुँचने की आशा, अवकाश आदि के समुचित अधिकार तथा पेंशन आदि की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। 'भारतीय नागरिक सेवा' (I. C. S) तथा भारतीय प्रशासन सेवा (I. A. S) के सदस्यों को वेतन आदि की बड़ी अच्छी सुविधाएँ हैं। देश की जैसी आर्थिक स्थिति है, उसे देखते हुए इन्हे अनुपात से कहीं अधिक वेतन मिलते हैं।

अध्याय २४

राज्य का संगठन—न्यायपालिका

न्यायपालिका का महत्त्व—

शासन का तीसरा (और यदि निर्वाचकगण को भी हम शासन का एक अंग मान लें तो चौथा) महत्वपूर्ण अंग है न्यायपालिका (Judiciary)। राज्य में शासन-संगठन में उसका स्थान अन्य किसी अंग से कम महत्वपूर्ण नहीं है। क़ानून स्वयं चाहे जितने न्यायपूर्ण, समुचित और श्रेष्ठ क्यों न हों, उनसे नागरिकों को न्याय नहीं मिल सकता। इसके लिए ऐसे अधिकारियों की आवश्यकता होती है जो सत्यनिष्ठ, ईमानदार एव निष्पक्ष हों और जो अपने कार्य में सुदीक्षित एवं कुशल हों। ब्राइस ने कहा है कि शासन की श्रेष्ठता की उसकी न्याय-व्यवस्था की निपुणता से श्रेष्ठ और कोई कसौटी नहीं है। एक बड़ी सीमा तक राज्य में नागरिकों का कल्याण तथा उनकी सुरक्षा राज्य में न्याय व्यवस्था की निपुणता पर निर्भर है। आधुनिक समय में समुचित न्याय-व्यवस्था-हीन राज्य की कल्पना सम्भव नहीं है। राजनीतिक विकास के आरंभिक युग में यदि न्याय-व्यवस्था राज्य का कार्य नहीं समझा जाता था तो इससे आधुनिक राज्य में न्यायपालिका के स्थान का महत्व कम नहीं हो जाता।

न्यायपालिका के कार्य—

न्यायपालिका का प्राथमिक कार्य राज्य के क़ानूनों को विशेष मामलों में लागू करना है, जो उसके समक्ष विचारार्थ उपस्थित किए जाते हैं। इस कार्य के सम्पादन में उसे क़ानूनों की व्याख्या करनी पड़ती है और उनमें जो अस्पष्टता होती है उसे दूर करना पड़ता है। चूंकि क़ानून आवश्यक रूप से सामान्य (General) होते हैं इसलिए उनके

अन्तर्गत वे सभी मामले जो कभी उपस्थित हो सकते हैं नहीं आसकते, और न्यायाधीश को उन समस्त मामलों का, जिनके सम्बन्ध में कोई भी क़ानून प्रत्यक्ष रूप से लागू नहीं होता, सामान्यबुद्धि तथा विवेकबुद्धि (Equity) जैसे किसी सिद्धान्त के आधार पर निर्णय करना पड़ता है। इस प्रकार एक मामले में जो निर्णय न्यायाधीश देता है और उसमें क़ानून की जैसी व्याख्या करता है वह उदाहरण (Precedent) बन जाता है और दूसरे न्यायाधीश उसका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार जो नियम बनते हैं वे न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून (Case Law) कहलाते हैं। क़ानून के लागू करने की प्रक्रिया मे दो अतिरिक्त कार्य भी होते हैं अर्थात् क़ानून की व्याख्या और क़ानून का निर्माण। इस प्रकार क़ानून का लागू करना इतना सरल नही है जितना दिखाई देता है। न्यायालय व्यक्तियों के अधिकारों का भी निश्चय करता है, उनका निर्णय करता है तथा उनका समर्थन करता है और इस प्रकार निर्दोष व्यक्तियों की वह रक्षा करता है और दोषियों को दण्ड देता है। वह प्रत्येक नागरिक के नागरिक अधिकारों का संरक्षक है।

न्यायालय नागरिकों के अधिकारों पर अन्य दुष्ट व्यक्तियों द्वारा होने वाले आघातों से ही उनकी रक्षा नहीं करते, वरन् राज्य की ओर से नागरिक स्वतन्त्रता पर होने वाले आघातों से भी उनकी रक्षा करते हैं। यूरोप के अनेक राज्यों में नागरिकों द्वारा राज्य के अधिकारियों के विरुद्ध अपने सरकारी काम के सिलसिले में की हुई हानि के अभियोगों की जॉच के लिए पृथक् न्यायालय होते हैं। इन्हे प्रशासनात्मक न्यायालय (Administrative Courts) कहते हैं और जिस कानून का वह प्रयोग करते हैं, उसे प्रशासनात्मक क़ानून कहते हैं। इगलैण्ड तथा अमेरिका, भारत आदि देशों में जिन्होंने यह प्रणाली इंगलैण्ड से ग्रहण की है, ऐसे न्यायालय नहीं हैं। इन देशों में नागरिक—नागरिक के विवादों तथा नागरिकों एवं राज्य के विवादों का निर्णय एक ही क़ानून के अनुसार एक ही प्रकार के न्यायालयों द्वारा होता है। इसे क़ानून का शासन (Rule of Law) कहते हैं। राज्य तथा नागरिकों के विवादों पर विचार करने के लिए पृथक् क़ानूनी व्यवस्था हो या साधारण न्यायालयों में ही उनका विचार हो—इस प्रश्न पर मतभेद है। हम इस वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते। यहाँ इतना ही उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि फ्राँस की जनता प्रशासनीय न्यायालयों

द्वारा प्रशासनात्मक क़ानून की व्यवस्था से पूर्णतया सन्तुष्ट है। वहाँ उनके द्वारा जनता की ऐसे मामलों में क्षतिपूर्ति होती है, जिनमें क्षति की पूर्ति इंगलैण्ड में संभव नहीं है।

संघीय संविधान के अन्तर्गत न्यायपालिका संविधान की व्याख्या करने तथा यह निर्णय करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है कि व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कोई विधेयक अथवा कार्यपालिका द्वारा जारी किया गया कोई आदेश सविधान के अनुकूल है अथवा नहीं। यदि कोई विधेयक या क़ानून संविधान के प्रतिकूल होता है तो उसे शून्य एवं अवैध घोषित कर दिया जाता है और न्यायालय ऐसे क़ानून को लागू नहीं करता। इसे 'न्यायिक समालोचन' (Judicial Review) की सत्ता कहते हैं। इसके कारण संयुक्त राज्य अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय संविधान का सरक्षक बन गया है और उस पर व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका की ओर से जो आघात होते हैं उनसे उसकी रक्षा करता है। यह बड़े भारी महत्व का कार्य है। इगलैण्ड में न्यायालयों को पार्लामैंण्ट के क़ानून तथा कार्यपालिका के नियमों की वैधता या अवैधता के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार नहीं है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यवस्थापिका के किसी क़ानून की अवैधता के संबंध में न्यायालय उसी समय अपना निर्णय देता है जबकि कोई इस आशय की प्रार्थना करता है। जब तक कि कोई ऐसी प्रार्थना नहीं करता तब तक उन्हे स्वयं अपनी ओर से इस मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

कुछ देशों मे यदि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या कोई भी संबंधित पक्ष चाहे तो किसी विषय में न्यायालय अधिकारों के सम्बन्ध मे घोषणात्मक निर्णय (Declaratory Judgement) देते हैं और बतलाते हैं कि उचित क्या है और क़ानून का आशय क्या है। इस प्रकार के निर्णय देते समय न्यायालय उस प्रकार की कार्यवाही नहीं करते जैसी कि किसी मुक़द्दमे पर विचार करते समय की जाती है इगलैंड में इस प्रकार के निर्णय की मांग प्रायः की जाती है। कभी-कभी ताज (Crown) प्रिवी कौंसिल की जुडीशियल कमिटी से क़ानून के प्रश्नों पर उसका परामर्श मांगता है। हमारे देश में भी राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से क़ानून सम्बन्धी किसी भी प्रश्न पर राय मांग सकता है।

सर्वोच्च न्यायालयों को अपने स्थानीय कर्मचारी एवं कर्मचारी-मण्डल की नियुक्ति का अधिकार होता है। उच्च न्यायालय (Senior

Courts) लाइसेन्स जारी करते हैं, संरक्षकों एवं निक्षेपधारियों (Trustees) की नियुक्ति करते हैं और वसीयतों के सम्बन्ध में कार्यवाही करते हैं, मृत व्यक्ति की सम्पत्ति की व्यवस्था करते हैं और किसी का दिवाला निकल जाने पर उसका लहना वसूल करने वाला सरकारी अफसर (Receiver) नियुक्त करते हैं। वे किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाने वाले कार्यों को रोकने के लिए तथा क़ानून से वर्जित काम को न करने के लिये सरकारी कर्मचारियों को आदेश भी जारी करते हैं। न्यायपालिका के ये ग़ैर-न्यायिक कार्य काफ़ी महत्व के हैं।

न्यायपालिका का संगठन—

जिन सिद्धान्तों पर शासन की न्यायपालिका का संगठन किया जाता है, वे उनसे भिन्न होने चाहिये जिनके आधार पर कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का संगठन किया जाता है। न्याय-व्यवस्था का कार्य केवल एक परिषद् को नहीं सौंपा जा सकता। न्याय करने के लिए एक के ऊपर दूसरा ऐसे अनेक न्यायालयों की आवश्यकता होती है, जो अपने से उच्च न्यायालय के अधीन होते हैं और इन सबके ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता है। इस प्रकार एक दूसरे से श्रेष्ठ या उच्च न्यायालयों की व्यावस्था न्याय की आवश्यक शर्त मानी जाती है। जिस उच्च न्यायालय में अपील की जाती है वह अपने अधीनस्थ न्यायालय के निर्णय को स्वीकार कर सकता है, उसमे परिवर्तन कर सकता है और उसे रद्द भी कर करता है। दूसरे, जिस प्रकार के अभियोग उनके सामने आते हैं उसके अनुसार न्यायालय कई प्रकार के होते हैं। इस तरह भारत में व्यवहार या दीवानी (Civil), फ़ौजदारी अथवा आपराधिक (Criminal) तथा माल (Revenue) के न्यायालय होते हैं। संघीय राज्यों में संघ-राज्य तथा उसके अन्तर्गत राज्यों दोनों के पृथक्-पृथक् न्यायालय होते हैं। अमेरिका मे संघ-राज्य के न्यायालय पृथक् हैं और प्रत्येक राज्य के अपने अपने न्यायालय तथा अपने-अपने क़ानून और अपनी-अपनी प्रक्रियाऐं (Procedure) हैं।

ऐंग्लो-सेक्सन देशों में सबसे बड़े न्यायालय को छोड़कर जिसमें एक से अधिक न्यायाधीश होते हैं प्रत्येक न्यायालय में एक ही न्यायाधीश होता है। भारत में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों, ज़िला मजिस्ट्रेट, सेशन्स जज, ज़िला न्यायाधीश तथा माल के न्यायालयों

में एक ही न्यायाधीश होता है। अवैतनिक मजिस्ट्रेटों की बैंच में एक से अधिक मजिस्ट्रेट भी होते हैं। उच्च न्यायालय (High court) बेंच (Bench) के रूप मे बैठती है। फ्रान्स, जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशों में न्यायालयों का संगठन सामुदायिक सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। फ्रान्स में कोई भी निर्णय उस समय तक वैध नहीं माना जाता जब तक कि वह तीन न्यायाधीशों द्वारा न दिया गया हो। निर्णय देने के लिए अनेक न्यायाधीशों की आवश्यकता रखने से कोई भी मनमानी नहीं कर सकता।

कुछ देशों मे न्यायालय दौरे पर जाया करते हैं और मुकद्दमे वालों की सुविधा के लिए भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में वहीं जाकर मुकद्दमे करते हैं। हमारे देश में बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू ऐसा ही न्यायालय है। यूरोप में न्यायालय स्थानिक होते हैं, मुकद्दमे वाले स्वयं अपने मुक़द्दमे न्यायालय के स्थान पर निर्णय के लिए ले जाते हैं, अनेक देशों में फ़ौजदारी मुकद्दमों के निर्णय के लिए पंचों (Jury) से भी सहायता ली जाती है। अभियुक्त यह मॉग कर सकता है कि न्यायाधीश कुछ व्यक्तियों को पंच नियुक्त करे जो मामले के तथ्यों को समझने में उसकी सहायता कर सके। इसका आरम्भ इंगलैण्ड में हुआ और अनेक देशों ने इस प्रथा को अपनाया भी है किन्तु इसे पर्याप्त सफलता नहीं मिली है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं कार्यकाल—

न्यायाधीशों की नियुक्ति के तीन भिन्न तरीके हैं। प्रत्येक तरीके का महत्त्व इस बात से निर्धारित होता है कि उससे न्यायाधीश को किस सीमा तक स्वतन्त्रता मिलती है। न्यायाधीश (१) व्यवस्थापिका द्वारा या (२) जनता द्वारा चुने जा सकते हैं या (३) कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किये जा सकते हैं।

(१) व्यवस्थापिका द्वारा चुनाव—

यह पद्धति स्विट्ज़रलैंड में प्रचलित है। वहाँ व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में संघीय न्यायालय के २० न्यायाधीशों का निर्वाचन किया जाता है। वे ६ वर्ष के लिये चुने जाते हैं। किन्तु इस अवधि के समाप्त होने पर साधारणतया उनका पुर्ननिर्वाचन हो जाता है। इस तरीके का परीक्षण संयुक्त राज्य अमेरिका में भी किया गया था परन्तु

इसे सफलता नहीं मिली और अब वहाँ केवल चार राज्यों में ही यह प्रणाली स्थापित है। इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि इसमें निर्वाचन पर राजनीतिक, दलीय तथा भौगोलिक विचारों का व्यक्ति की योग्यता की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है। स्विट्ज़रलैण्ड में यह प्रणाली बहुत सफल रही है क्योंकि वहाँ के राजनीतिक जीवन पर पार्टीबन्दी का कोई प्रभाव नहीं है।

(२) जनता द्वारा निर्वाचन—

यह प्रणाली स्विस प्रान्तों तथा अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। यह पहली प्रणाली से भी अधिक दूषित है और इसके दोष उस समय और भी अधिक बढ़ जाते हैं जबकि चुनाव अल्प काल के लिए होता है और न्यायाधीश पुर्ननिर्वाचन के लिए खड़े होते हैं। जनता द्वारा चुने गए न्यायाधीश पक्षपातरहित, सत्यवादी, स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण नहीं हो सकते। प्रसिद्ध लेखक गार्नर का विचार है कि इस प्रणाली से न्यायाधीशों का चरित्र गिर जाता है और वह न्यायाधीश की जगह राजनीतिज्ञ बन जाता है। न्यायपालिका शक्तिहीन हो जाती है और उसमे स्वतन्त्रता नहीं रह जाती।

(३) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—

यह सबसे उत्तम तरीक़ा है। यह प्रणाली स्विट्ज़रलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ देशों को छोड़ कर ससार के समस्त देशों में प्रचलित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति इसी प्रणाली के अनुसार की जाती है। कुछ देशो में कार्य-पालिका को उनकी नियुक्ति में पूरी स्वतन्त्रता नही की जाती। नियुक्तियाँ प्रतियोगिता परीक्षा के परिणामों के आधार पर अथवा जिस न्यायालय में पद रिक्त होते हैं, उसके द्वारा मनोनीत उम्मीदवारों में से की जाती हैं। कार्यपालिका द्वारा जो नियुक्तियाँ की जाती हैं, वे साधारणतया राजनीतिक तथा व्यक्तिगत विचार से नहीं वरन् व्यक्ति की पद के लिए योग्यता के आधार पर की जाती हैं। ये नियुक्तियाँ 'श्रेष्ठ आचार' (Good behaviour) की अवधि के लिए की जाती हैं, अर्थात् न्यायाधीश तब तक अपने पदों पर बने रहते हैं जब तक वे ठीक-ठीक काम करते रहते हैं, अतः इससे न्यायाधीशों में स्वतन्त्रता बनी रहती है।

अल्प समय के लिए नियुक्तियाँ वांछनीय नहीं होती, इससे न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता जाती रहती है। न्यायाधीशों को स्वतन्त्र एव निष्पक्ष बनाये रखने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि नियुक्तियाँ लम्बी अवधि के लिए हों और जब तक उनका कार्य ठीक-ठीक होता रहे वे अपने पदों पर कार्य करते रहें। इस प्रणाली का अब प्रायः सर्वत्र प्रयोग होता है।

न्यायाधीशों की पदच्युति—

एक निकृष्ट एवं भ्रष्ट न्यायाधीश वास्तव में एक अभिशाप है और ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश के पवित्र पद पर आरूढ़ नहीं रहने देना चाहिए। जहाँ 'श्रेष्ठ आचार' का नियम है, वहाँ भ्रष्ट न्यायाधीशों को पद से पृथक् करने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया कठिन होनी चाहिए, नहीं तो उसका दुरुपयोग होने की संभावना रहेगी। यह अच्छा होगा कि उनको हटाने में एक से अधिक अधिकारियों का हाथ हो। इंगलैण्ड में पार्लामैंट के दोनों सदनों के प्रस्ताव पर न्यायाधीश राजा द्वारा पदच्युति किया जा सकता है। अमेरिका मे एक सदन दूसरे सदन के सामने उस पर दोषारोप करता है जहाँ उसकी जांच की जाती है और उसके फल-स्वरूप वह पदच्युत किया जा सकता है। जनता के हाथों में न्यायाधीश को पद से हटाने का अधिकार देना अवांछनीय है। इससे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा उसके गौरव में क्षति पहुँचती है।

अध्याय २५

स्थानीय शासन

स्थानीय शासन की प्रकृति एवं आवश्यकता—

राज्य की रचना एव संगठन का विवेचन स्थानीय शासन अथवा स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं (Local Government) पर विचार किये बिना अधूरा ही रहेगा। ऐसा कोई भी राज्य नहीं है जिसमें म्युनिसिपल बोर्ड या नगरपालिका, ज़िला या मण्डल सभा, ग्राम सभा जैसी स्थानीय संस्थाऐं न हों। इस प्रकार की स्थानीय संस्थाऐं सभी देशों मे होती हैं परन्तु उनके नाम तथा सगठन विभिन्न होते हैं।

भारत में 'प्रान्तीय स्वराज्य' (Provincial Autonomy) की स्थापना से पूर्व बंगाल, युक्त प्रदेश आदि के शासन को स्थानीय शासन कहा जाता था। संघ-राज्य के विधायक राज्यों के शासनों को भी कभी-कभी स्थानीय शासन कहा जाता है। परन्तु जब इसका विचार सरकारी ढाँचे के अंग के रूप में किया जाता है तब इसका यह आशय नहीं होता और न प्रान्तों या राज्यों के कलेक्टर, पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट, सिविल सर्जन आदि स्थानीय अधिकारियों के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। 'स्थानीय शासन' का प्रयोग ऐसी संस्थाओं के लिये किया जाता है, जिन्हें ऐसे मामलों का प्रबन्ध सौंप दिया जाता है जिनका एक क्षेत्र के निवासियों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, सारे समाज से नहीं; जैसे नगर में जल-व्यवस्था, जन-पथों तथा राजमार्गों की स्वच्छता तथा प्रकाश की व्यवस्था, नालियों की व्यवस्था, राजपथ, उद्यान, वाटिका आदि का निर्माण आदि। इस प्रकार की संस्थाओं का निर्माण राज्य या प्रान्त की व्यवस्थापिका के कानूनों द्वारा किया जाता है और वे उसके अधीन रहती हैं। उन्हें उनका निर्माण करने वाले क़ानून द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर उपनियम बनाने तथा अपने मामलों का प्रबन्ध

करने की स्वतन्त्रता रहती है। उनकी अधिकार-सीमा छोटे क्षेत्रों तक सीमित होती है। उनमें केन्द्रीय शासन से जो भिन्नता होती है, वह क्षेत्र के आकार तथा उसमें निवास करने वाली जनता की जनसंख्या के कारण नहीं, वरन् उन कार्यों के कारण होती है जिनका वे सम्पादन करती हैं। मोनाको राज्य का क्षेत्रफल हमारे प्रदेश के मेरठ ज़िले से भी कम है, परन्तु मेरठ ज़िले का स्थानीय शासन तो मेरठ म्युनिसिपैलिटी, ज़िला बोर्ड तथा ग्राम पंचायतों के हाथों में है, किन्तु मोनाको का प्रबन्ध करने वाली संस्था उस राज्य का शासन ही है।

राज्य के शासन द्वारा नागरिकों के हित के लिये जो कार्य किए जाते हैं, उन्हें हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। पहले वर्ग मे वे समस्त कार्य सम्मिलित हैं जिनका सम्बन्ध समूचे समाज से होता है और जिनसे समस्त नागरिक लाभ उठाते हैं, जैसे नौ सेना तथा सेना द्वारा रक्षा; डाक तथा तार विभाग की सेवाऐं; क़ानून तथा न्याय प्रबन्ध, अन्य देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध तथा युद्ध संचालन आदि, विवाह तथा विवाह विच्छेद के नियमों का नियन्त्रण, बैंक, मुद्रा, सिक्का तथा अन्य कार्य भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के सब कार्य केन्द्रीय शासन के क्षेत्र मे आते हैं। इनके लिए प्रशासन में एकरूपता की आवश्यकता होती है। केन्द्रीय शासन के पास ही ऐसे साधन एव ऐसी योग्यता होती है जिससे वह ऐसे कार्यों का सुचारु रूप से सम्पादन कर सके। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसे कार्य आते हैं जो समाज के एक ऐसे भाग को लाभ पहुँचाते हैं, जो एक विशेष क्षेत्र मे रहते हैं। उनमे समूचे समाज को कोई रुचि नहीं होती। जन्म तथा मृत्यु सम्बन्धी आंकड़े रखना, स्थानीय सफ़ाई एव स्वास्थ्य, टीका लगाना, रोगों के प्रकोप का निवारण, पुलों, सड़कों आदि का निर्माण इसी वर्ग के अन्तर्गत है। लखनऊ के निवासियों को इससे क्या प्रयोजन कि मेरठ के निवासियों की जल-व्यवस्था कैसी है और आगरा के नागरिकों को इससे क्या प्रयोजन कि बरेली में प्राथमिक शिक्षा की कैसी व्यवस्था है? केन्द्रीय शासन पर इस प्रकार की सेवाओं की व्यवस्था करने का दायित्व नहीं होना चाहिए। यह कार्य तो उनके हाथों में सौंप देना चाहिए जिनसे उनका सीधा और प्राथमिक सम्बन्ध है। इस प्रकार के कार्य साधारणतया संस्थाओं को सौंप दिए जाते हैं।

स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता—

संसार भर में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं का जो विकास हुआ है उसका कारण यही है कि इससे जनता को अनेक लाभ पहुँचते हैं। सबसे पहले तो स्थानीय संस्थाओं के निर्माण तथा शासन द्वारा उन्हें कुछ सत्ता दे देने से केन्द्रीय शासन पर जो भार होता है वह हल्का हो जाता है और इस प्रकार केन्द्रीय शासन अपना समय एव शक्ति राष्ट्रीय हित की समस्याओं का समाधान करने में लगा सकता है। यदि केन्द्रीय सरकार को नगरों की सफ़ाई की व्यवस्था करनी पड़े, यदि उसे ही ग्रामों में जल आदि का प्रबन्ध करना पड़े, यदि वही सड़कों पर प्रकाश का प्रबन्ध करे, तो इससे उस पर अत्यधिक भार हो जायगा और वह किसी काम को नहीं कर सकेगा ; इसलिए केन्द्रीय शासन इन कार्यों के भार से मुक्त होने के लिए स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं का निर्माण करते हैं।

दूसरे, इससे स्थानीय मामलों का प्रबन्ध अधिक कुशलता के साथ हो सकता है। इससे उन मामलों का प्रबन्ध ऐसे व्यक्तियों के हाथों में से ले लिया जाता है जिन्हें उनका समुचित ज्ञान नहीं होता और ऐसे व्यक्तियों को सौंप दिया जाता है, जिनका उससे परिचय होता है और जिनमें उन्हें विशेष दिलचस्पी भी होती है। स्थानीय स्वशासन का सबसे अधिक मूल्य तो शिक्षात्मक है। यह नागरिकता की शिक्षा के लिए सर्वोत्तम पाठशाला है। स्थानीय स्वराज्य के अभ्यास द्वारा मनुष्यों में ऐसी आदतें बनती हैं और सच्चरित्रता तथा ऐसे अन्य आवश्यक गुणों का विकास होता है जिनसे प्रजातन्त्र को सफलता मिलती है। इससे सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी पैदा होती है नागरिकों में सामान्य मामलों में सामान्य हित की चेतना पैदा होती है और इन मामलों का प्रबन्ध ईमानदारी तथा निपुणता से करवाने की आकांक्षा पैदा होती है। जैसा कि ब्राइस ने कहा है : "जिसने ग्राम के मामलों मे अपनी सार्वजनिक भावना को विकसित किया है तथा जो उन मामलों में सक्रिय एव सच्चा है, उसने एक महान् देश के नागरिक के कर्त्तव्यों का प्राथमिक पाठ सीख लिया है।" पड़ौस के मामलों में भाग लेने से व्यक्ति में दूसरों के साथ सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिए सहयोग की तथा समझौते की भावनाऐं पैदा होती हैं और वह मनुष्यों की पहिचान भी

सीख लेता है। उसकी मनोवृत्ति विवेकपूर्ण हो जाती है और वह दूसरों के दृष्टिकोण का आदर करना सीख जाता है।

प्रजातन्त्र का विकास उन्हीं देशों में सर्वश्रेष्ठ रूप में होता है जिनमें नागरिकों ने स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के द्वारा अपने मामलों के शासन की कला को सीख लिया है। डी० टॉकविल ने यह सत्य कहा है कि "राष्ट्र स्वतन्त्र शासन की व्यवस्था स्थापित कर सकता है; परन्तु स्थानीय स्वशासन की भावना के बिना उसमें नागरिक स्वतन्त्रता की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।"

स्थानीय संस्थाओं का केन्द्रीय नियन्त्रण—

स्थानीय संस्थाओं के सरलतापूर्वक कार्य करने की एक आवश्यक शर्त यह है कि उन्हें अपने मामलों का प्रबन्ध करने में एक बड़ी मात्रा में स्वतन्त्रता हो। स्थानीय स्वराज्य (Local Self-Government) ही, केवल स्थानीय शासन नहीं, नागरिकों को श्रेष्ठ नागरिकता की शिक्षा देता है और उन्हे प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के लिए तैयार करता है। परतु उनका 'स्वराज्य' पूर्ण कभी नहीं हो सकता। उन्हे केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण तथा देख-रेख में कार्य करना पड़ता है। इसके कई कारण हैं। ऐसे अनेक कार्य हैं जिनका मुख्यतः स्थानीय जनता के हितों से सम्बध होते हुए भी व्यापक सार्वजनिक हितों से भी सम्बध होता है। अतः उन पर केन्द्रीय नियंत्रण की आवश्यकता होती है। शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता इसी प्रकार के विषय हैं। यह प्रत्यक्ष है कि किसी भी म्युनिसिपैलिटी या ज़िला बोर्ड को अपनी प्राथमिक पाठशालाओं के लिए शिक्षा-पद्धति का पाठ्य-क्रम निर्धारित करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता, राज्य में एक ही प्रकार की शिक्षा-प्रणाली होना आवश्यक है। दूसरे, इस प्रकार के कार्यों की अयोग्य व्यवस्था से केवल स्थानीय जनता की ही हानि नहीं होती; उसका समस्त समाज पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। नागरिकों को समुचित रूप से शिक्षा दी जाय यह वास्तव में राष्ट्रीय महत्व का कार्य है। अतः केन्द्रीय शासन को ऐसे विषयों और स्थानीय प्रशासन पर नियन्त्रण रखना चाहिये और देखना चाहिये कि ऐसे मामलों का प्रबंध समुचित रूप में होता है या नहीं और किसी मामले में उपेक्षा तो नहीं की जाती। केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण तथा निरीक्षण के अभाव में स्थानीय संस्थाओं द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन अयोग्य एवं

अव्यवस्थित हो जायगा। किसी भी स्थानीय जनता का जीवन उस तक ही सीमित नहीं रहता और कोई भी स्थानीय संस्था जो कुछ भी कार्य करती है, उसका प्रभाव स्थानीय जनता तक ही सीमित नहीं रहता वरन् अन्य स्थानों के रहने वाले व्यक्तियों जैसे यात्रियो आदि पर भी पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं को केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण से बिलकुल मुक्त नहीं कर देना चाहिए।

स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण विभिन्न राज्यों मे विभिन्न ढग का होता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरीका में स्थानीय संस्थाएँ फ्रान्स तथा यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता का भोग करती है। फ्रान्स तथा उसका अनुकरण करने वाले अन्य देशों मे स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय शासन पर बड़ा कठोर नियन्त्रण है और स्थानीय मामलों की व्यवस्था करने मे उन्हें वास्तविक अधिकार बहुत कम हैं।

ब्रिटेन में व्यवस्थापन के केन्द्रीयकरण का कार्यपालिका के विकेन्द्रीकरण के साथ सामजस्य स्थापित किया गया है। ब्रिटिश पार्लमैट कानून स्वीकार करती है और स्थानीय संस्थाओं को केन्द्रीय निरीक्षण मे अपने मामलों का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता होती है। केन्द्रीय शासन स्थानीय सस्थाओं को परामर्श देता है, उनका निरीक्षण करता है, उनका नियमन करता है और उनकी योजनाओं एवं कार्यक्रम को स्वीकृति देता है अथवा उन्हे अस्वीकार करता है। केन्द्रीय शासन अपने कई विभागों जैसे स्वास्थ्य-सचिवालय, शिक्षा-सचिवालय तथा गृह-सचिवालय द्वारा निरीक्षण कार्य करता है। फ्रास मे नियन्त्रण व्यवस्थापन के विकेन्द्रीकरण के साथ प्रशासनात्मक केन्द्रीयकरण का सामजस्य स्थापित करके किया गया है। फ्रान्स मे स्थानीय सस्थाओं को कानून बनाने के लिए विस्तृत अधिकार दिये गये है; परन्तु स्थानीय मामलों का प्रबन्ध केन्द्रीय शासन द्वारा नियुक्त अधिकारियों के हाथों मे होता है जो उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। फ्रान्स में मेयर, जो स्थानीय संस्था का अध्यक्ष होता है पैरिस सरकार का एजेंट होता है, वह जनता द्वारा निर्वाचित अधिकारी नहीं होता। वह एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता है, उसकी पदोन्नति, पदावनति या पदच्युति सरकार द्वारा की जाती है। ब्रिटिश प्रणाली फ्रेन्च प्रणाली की अपेक्षा श्रेष्ठतर है; क्योंकि इगलैंड में

स्थानीय संस्थाओं को अपने कर्मचारी नियुक्त करने, अपनी आय के साधनों से आय प्राप्त करने तथा अपनी नीतियों का निर्माण करने और उनको कार्यान्वित करने के अधिकार हैं। वे किसी भी अर्थ में शासन-यन्त्र के अधीनस्थ अंग नहीं हैं वरन् प्रजा के प्रति उत्तरदायी हैं। फ्रेन्च प्रणाली द्वारा यह सम्भव है कि सुविज्ञ एवं शिक्षण प्राप्त अधिकारियों द्वारा स्थानीय कार्यों की व्यवस्था कुशलतापूर्वक हो परन्तु उसमें कार्य-कुशलता की वेदी पर जनता की इच्छा का बलिदान होता है। वह शासन नौकरशाही शासन हो जाता है। यह स्थानीय शासन की अच्छी प्रणाली हो सकती है, परन्तु इसे स्थानीय स्वराज्य नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार स्थानीय शासन और केन्द्रीय शासन में वास्तविक भेद उनके द्वारा की गई सेवाओं की प्रकृति का है। इसमें भेद करने की एक दूसरी रीति भी है, यद्यपि यह सर्वमान्य नहीं हो पाई है। साधारणतया स्थानीय शासन का अस्तित्व केन्द्रीय शासन की इच्छा पर होता है और वह कार्य भी उसकी इच्छानुसार करता है; उसकी सत्ताओं तथा अधिकारों मे केन्द्रीय सरकार परिवर्तन कर सकती है। केन्द्रीय शासन की सत्ताएँ, चाहे वह शासन राष्ट्रीय हो या संघ के विधायक राज्य का शासन, राज्य के संविधान द्वारा निर्धारित की जाती है और कोई भी उच्च शासकीय सत्ता उनमें परिवर्तन या संशोधन नहीं कर सकती किन्तु यह कसौटी निर्भ्रान्त नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार सन् १९३५ ई० के क़ानून से पूर्व संयुक्त प्रदेश की सरकार स्थानीय मामलों से सम्बद्ध सरकार के अर्थ मे स्थानीय सरकार कही जानी चाहिए, क्योंकि उसकी सत्ता एवं अधिकारों में भारत सरकार अपनी इच्छानुसार घटा-बढ़ी कर सकती थी। परन्तु यह स्थानीय शासन नहीं था, क्योंकि वह ऐसे कार्यों का सम्पादन करता था जिनका समस्त प्रदेश की जनता से सम्बन्ध था।

अध्याय २६

विश्व-राजनीति पर प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ

परिशिष्ट के रूप में हम यहाँ विश्व-राजनीति पर प्रभाव डालने वाली उन शक्तियों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उचित समझते हैं जो राज्यों के पारस्परिक संबंधों एवं दृष्टिकोणों का निर्धारण करती हैं। गत शताब्दी के राजनीतिक विकास-क्रम तथा वर्तमान युग की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि को समझने के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है। ये शक्तियाँ हैं—राष्ट्रीयता- साम्राज्यवादी और अन्तर्राष्ट्रीयता।

राष्ट्रीयता

वर्तमान विश्व-व्यवस्था में राष्ट्रीयता का स्थान—

राष्ट्रीयता आधुनिक राजनीति में सबसे महान् शक्तियों में से एक है जो संसार के ६० से ऊपर देशों या राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों एवं दृष्टि कोणों के निर्धारण में महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। योरोप एवं अमेरिका तथा एशिया एवं अफ्रीका के लोग अपने को किसी न किसी राष्ट्र राज्य के नागरिक या ऐसे उपराष्ट्र के नागरिक मानते हैं जो राज्य बनने की चेष्टा कर रहा है। अपने मनोभावों एवं आचरणों मे वे राष्ट्रीयता की भावना अर्थात् किसी विशिष्ट राज्य के होने की चेतना से धार्मिक या वर्गीय हितों की अपेक्षा अधिक प्रभावित हैं। राष्ट्र-राज्य के प्रति भक्ति-भावना को अन्य प्रकार की भक्तियों की अपेक्षा उच्च स्थान प्राप्त है और उसके हितों को अन्य हितों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है। यह बात शान्ति-काल में साधारणतया रहती है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के समय में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती हैं। "योरोप में सन् १९१४ ई० में मज़दूर नेता अपनी वर्गीय एकता को भूल गये, शान्तिवादी युद्ध के अपने विरोध को भूल गये, धर्माचार्य भी 'शान्ति के दूत' को भूल गये, समाजवादी संसार के मज़दूरों की साधारण हड़ताल को भूल गए, जिससे वे युद्ध को

असंभव करने का स्वप्न देखते थे।"* यह बात उस संघर्ष के सम्बन्ध में भी लागू है जो मित्र राष्ट्रों तथा धुरी-राष्ट्रों के बीच अभी-अभी हुआ है। सब श्रेणियों एवं वर्गों के व्यक्तियों ने इस युद्ध में भाग लिया और उन्होंने अपनी मातृभूमि की राष्ट्रीय शत्रु से रक्षा करने में बड़े से बड़े बलिदान को भी कुछ नहीं समझा। अतीत काल में धार्मिक भावना अपने भक्तों में बलिदान की जैसी भावना को जन्म देती थी, आज के युग में राष्ट्रीयता भी वैसी ही त्याग या बलिदान की भावना को जन्म देती है। यह आधुनिक मनुष्य के लिए धर्म बन गई है।

राष्ट्रीयता का विकास—

राष्ट्रीयता एक सर्वथा नवीन भावना है; यह आधुनिक राष्ट्र-राज्य प्रणाली का आवश्यक परिणाम है इसका प्रादुर्भाव राष्ट्र-राज्यों के उदय के साथ हुआ जब कि वह अपने रूप को पहचानने लगी और प्रभुत्व का दावा करने लगी। प्राचीन राज्यों में सामुदायिक एकता और नागरिक भक्ति भी होती थी, परन्तु उनका 'राष्ट्रीय आधार' नहीं होता था। पूर्व समय में देशभक्ति और नागरिक भक्ति स्थानिक होती थी जैसी कि नगर राज्यों में, अथवा वह योद्धाओं या राजाओं के प्रति अधीनता मात्र थी जैसी कि पूर्वी साम्राज्यों में।

इटली में मैकियावेली आधुनिक ढग का सबसे पहला राष्ट्रवादी था जो विभक्त इटली को संयुक्त करके उसे एक ऐसा सुदृढ़ शक्तिशाली राज्य बनाने का स्वप्न देखता था जो इतना शक्तिशाली होता कि फ्रेन्च तथा स्पेनिश लोगों के हमलों से अपनी रक्षा कर सकता। वह अपने नगर-राज्य को इटली के बड़े राज्य में मिला देने के लिए तैयार था। परन्तु सबसे प्रथम राज्य जिसे राष्ट्र-राज्य (Nation-State) बनाने का गौरव प्राप्त हुआ वह इंगलैण्ड था, जहाँ ट्यूडर राजाओं ने राष्ट्रीय भावना को जगाया था।

योरोप में नेपोलियन ने सारे महाद्वीप को फ्रेन्च आधिपत्य में लाने का प्रयत्न करके राष्ट्रीय भावना को जगाया। पोलैण्ड को जर्मनी, रूस तथा ऑस्ट्रिया ने परस्पर बाँट कर भी इस भावना को उत्तेजना दी।

*Schuman · International Politics p. 220.

इस प्रकार नेपोलियन-युग में योरप में राष्ट्रीयता का पुष्प विकसित होने लगा और इसका पूर्ण विकास उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में हुआ। वार्साई की सन्धि ने केन्द्रीय योरप मे अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करके राष्ट्र-राज्य की भावना पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी।

राष्ट्रीयता की परिभाषा एवं प्रकृति—

राष्ट्रीयता की ऐसी परिभाषा करना कोई सरल कार्य नहीं है, जिसमें उसके सभी पक्षों का समावेश हो सके। यह कोई एकाकी शक्ति नहीं है, जो एक मन्तव्य से या एक ही दिशा में काम करती हो। यदि ट्यूडर राजाओं ने पोप के बन्धन से मुक्ति पाने के लिये इसका प्रयोग किया तो इंगलैंड की जनता ने राजा के विरुद्ध अपने अधिकारों की स्थापना के लिए इसकी सहायता ली और अपने देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन की प्रतिष्ठा की। यदि एक समय जर्मनी तथा इटली ने राष्ट्रीयता की भावना की सहायता से अपने देशों की ऐकता की प्रतिष्ठा की तो दूसरे समय उसी के आधार पर आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया गया।

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० के पूर्व भारत की भांति पराधीन तथा ब्रिटिश सेना के हटने से पूर्व मिश्र की भांति अर्द्ध पराधीन देशों को इसने विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये विद्रोही राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया। अत: राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जिसने कभी तो प्रजातन्त्र तथा मानव-अधिकारों की प्रतिष्ठा की और कभी बड़े क्रान्तिकारी विद्रोहों को उत्तेजना दी। राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण करके साम्राज्यवाद को पुष्टि भी की है और कई साम्राज्यों को जन्म दिया है। सन् १९१४-१८ व सन् १९३९-४५ ई० के विश्व-युद्ध योरोप के महान् राष्ट्रों के बीच प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप ही हुए। अत: राष्ट्रीयता की यह परिभाषा सर्वश्रेष्ठ मालूम होती है: "वह एक ऐसी शक्ति है जो एक राज्य के भीतर निरंकुश सत्ता के विरुद्ध मानव-अधिकारों को क़ायम रखने के लिए तथा बाहरी शत्रु से उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु समाज को संगठित रखती है।" इस परिभाषा मे उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को स्थान देना उचित नहीं है, क्योंकि साम्राज्य-वादी प्रवृत्ति राष्ट्रीयता का कोई सारभूत तत्व नहीं है।

राष्ट्रीयता की प्रकृति को भली भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसे एक ऐसे आदर्श के रूप में जिसमें मानवता के लिए एक महान् मूल्यवान् सिद्धान्त का समावेश है तथा इसके साथ-साथ उसे एक मानसिक दृष्टिकोण तथा आचार-व्यवहार के आदर्श के रूप में भी समझने का प्रयास करें। एक आदर्श के रूप में वह इस तथ्य पर ज़ोर देती है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय का अपना व्यक्तित्व होता है और अनुकूल अवस्थाएँ प्राप्त हो जाने पर वह मानव-संस्कृति के लिये एक अनुपम अनुदान दे सकता है। किसी एक राष्ट्र में मानव-विकास के लिए सभी संभावनाएँ नहीं होती। प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय में कुछ विशिष्ट गुण एवं लक्षण होते हैं, जो मानवता के लिए बड़े महत्व के होते हैं। भारत, चीन, जापान, इंगलैंड, जर्मनी, फ्रान्स, रूस आदि प्रत्येक राष्ट्र में कुछ अनुपम गुण हैं जिनसे वे मानव-संस्कृति एवं सभ्यता को विशिष्ट अनुदान दे सकते हैं। अतः प्रत्येक राष्ट्र को अपने अपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकार तथा सुयोग मिलना चाहिए जिससे वह मानव-सभ्यता की प्रगति में योगदान दे सके। दूसरे शब्दों मे, उसे अपनी न्याय-प्रणाली तथा अपनी संस्थाएं स्थापित करने और अपने भाग्य का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अनुभव से यह सिद्ध है कि यदि प्रजा को अपने मामलों का प्रबन्ध करने के अधिकार से वंचित कर दिया जाय, तो उसके गुण निश्चेष्ट रह जाते हैं और मानवता की प्रगति में उसकी अनुदान करने की शक्ति भी प्रभावहीन हो जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता का तकाज़ा है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय के लिए आत्म-निर्णय का सिद्धान्त (Principle of Self-determination) लागू होना चाहिये। उसकी यह माँग है कि प्रत्येक राष्ट्र एक राज्य हो। सर्वत्र आधुनिक राष्ट्रीयता का आदि और अन्तिम ध्येय राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना रहा है। जो लोग सन् १९१९ ई० में वार्साई में एकत्रित हुए, उन्होंने स्वभाग्य-निर्णय या आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिया, परन्तु उन्होंने एशिया तथा अफ्रीका की पराधीन जातियों के संबध में उसे मान्यता नहीं दी।

चूँकि राष्ट्रीयता का प्रयोजन जनता को अपने शासन का रूप निश्चित करने का अधिकार देना है अत: वह एकतन्त्रीय राज्य में प्रतिनिधि-शासन की स्थापना करने लिये तकाज़ा करती है। उन्नीसवीं शताब्दी के योरोप में राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र साथ-साथ चले। इसका

कारण यह था कि दोनों के लिए जनता में ऐसी मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है जिसमें राज्य के नागरिक अपने तथा स्थानिक हितों का राष्ट्रीय हितों के लिये बलिदान करने के लिए तैयार हों तथा सामान्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए सहयोग करने को सन्नद्ध हों। यह राष्ट्रीयता का रचनात्मक रूप है। परन्तु जहाँ राष्ट्रीयता की यह माँग है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपनी प्रतिभा के अनुकूल क़ानून तथा संस्थाओं के विकास करने के अधिकार हों, वहाँ वह क्रान्तिकारी रूप धारण कर लेती है। भारतीय, मिश्री, चीनी तथा आयलैंण्ड की राष्ट्रीयता इसी प्रकार की थी। भारतीय राष्ट्रीयता की यह माँग थी कि भारत अंग्रेज़ी शासन के बन्धन से मुक्त हो। यह विदेशी शासन के प्रति विद्रोह तथा उसके स्थान पर राष्ट्रीय शासन स्थापित करने की आकांक्षा थी। जो देश स्वतन्त्र होता है, उसमें राष्ट्रीयता देश की शक्ति, महानता तथा गौरव को बढ़ाने और दूसरे देशों के साथ व्यवहार में अपने अधिकारों को आगे बढ़ाने तथा अपने हितों की रक्षा के दावे की प्रेरणा देती है। राष्ट्रवादी देशभक्त हो जाता है। वह अपनी राष्ट्रीय सस्कृति का गौरव-गान करता है, अपनी जाति की पवित्रता तथा श्रेष्ठता का दावा करता है और राष्ट्रीय विस्तार की बड़ी योजनाऐं तैयार करता है। पूँजीवादियों, उद्योग-पतियों और राजनीतिज्ञों के हाथों में राष्ट्रीयता धृष्ट और विस्तारशील हो जाती है और साम्राज्यों की नींव डालती है जिनसे छोटे राष्ट्रों और पिछड़ी हुई जातियों की स्वतन्त्रता नष्ट होती है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भग होती है।

आधुनिक युग में राष्ट्रीयता एक आदर्श की अपेक्षा मनोवृत्ति तथा व्यवहार की प्रणाली के रूप में घटनाचक्र का निर्धारण अधिक करती है। यह करोड़ों व्यक्तियों के लिए एक प्रकार का धर्म बन गई है। 'अतः इस के आचार्य पैदा हो गए हैं, इसका अपना धर्मशास्त्र तथा कर्मकाण्ड भी तैयार हो गया है।' मातृभूमि अथवा पितृभूमि उसके देवता हैं; उसकी स्वतन्त्रता उसका ध्येय है राष्ट्रीय राज्य और उसकी पताका उसके पूजन के पात्र है और राष्ट्रीय जुलूस तथा पुराने शहीदों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना तीर्थ यात्रा है। धर्म-युद्ध के नाद से जो भावनाएँ पैदा होती हैं वही भावनाएँ इससे भी जाग्रत होती है।

मनोवृत्ति तथा व्यवहार के निर्णायक के रूप में राष्ट्रीयता राष्ट्र-राज्य को सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन का सर्वोच्च रूप मानती है।

अपने देश के लिए ही देश की स्वतन्त्रता, महानता एवं गरिमा नहीं चाहता, वरन् वह इस लिए चाहता है कि वह (देश) मानवता की संस्कृति के लिए कुछ मूल्यवान् और श्रेष्ठ अनुदान दे सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता राष्ट्रीय संस्कृति की विविधताओं का रक्षण करती है। विविध राष्ट्रीय समुदायों का रक्षण करने से मानवता को लाभ ही होता है यदि प्रत्येक समुदाय एक दूसरे की अनुकृति या नकल मात्र हो, तो मानव जाति अपनी श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। यह ठीक ही कहा गया है कि सभ्यता हितों एवं लक्षणों की विभिधता तथा समीकरण के कारण ही प्रगति करती है। हम उस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं कर सकते जो ऐसे संसार में मतभेदों के विकास को उत्तेजना देता है 'जिसमे यातायात और सस्ते उत्पादन के कारण शनैः शनैः जातियों की समस्त विविधताओं का नाश हो जायगा।'

एक समय ऐसी आशा की जाती थी कि राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि से अन्तर्राष्ट्रीय सामञ्जस्य एवं सहयोग की अभिवृद्धि होगी। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के अनुसार अपना विकास करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लिए तुलना की दृष्टि से मूल्यवान् सिद्ध होगा ; वह एक प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनेगा जिससे भय और संदेह उत्पन्न हो। राष्ट्रीय समुदाय के विकास का यह तात्पर्य नहीं है कि किसी दूसरे समुदाय से उसका आवश्यक रूप में संघर्ष हो। किन्तु ऐसा नहीं हुआ है। संसार के विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों के बीच अधिक सामंजस्य एवं सहयोग की अभिवृद्धि कर मानव जाति के शान्तिमय एवं प्रगतिशील विकास की वृद्धि करने के स्थान में राष्ट्रीयता की भावना का वास्तविक परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा, कटुता एवं संघर्ष रहा है।

राष्ट्रीयता के दोष—

राष्ट्रीयता का तकाज़ा है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समुदाय को अपने कार्य करने तथा अपने भाग्य का निर्णय करने का निर्बाध अधिकार हो। उसके इस अधिकार पर कोई बाधा नहीं है और न उसमें हस्तक्षेप ही कर सकता है। दुर्भाग्य से समस्त राष्ट्रीय समुदाय समान रूप से उन्नत एवं उन्नतिशील नहीं है। यह कहा जा सकता है कि दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया की निम्न पिछड़ी हुई जातियों के आध्यात्मिक

एवं सांस्कृतिक मूल्यों के रक्षण की आवश्यकता नहीं है और ऐसी जातियाँ आत्मनिर्णय के अधिकार के योग्य नहीं हैं। इस विचार के अनुसार ब्रिटिश, अमेरिकन, फ्रेञ्च तथा जर्मन जैसी संसार की उच्चतम जातियों को ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अधिकार है। कुछ लोग इससे एक पग और आगे बढ़ कर यह दावा भी करते हैं कि ऐसी उच्च एवं प्रगतिशील सभ्य जातियों का यह केवल अधिकार ही नहीं है, वरन् कर्तव्य है कि वे अपने अधिकारों का विस्तार करें और संसार की पिछड़ी जातियों को अपने संरक्षण में ले कर अपनी उच्च सभ्यता का उन्हें लाभ पहुँचावें। ऐसा नहीं करना स्वार्थ-पूर्ण कार्य होगा; इससे मानव जाति अपने सदस्यों की योग्यता एवं प्रतिभा के लाभों से वंचित रह जायेगी। उन्नीसवीं शताब्दी में एशिया तथा अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों और अमेरिका में योरोप के राष्ट्रों ने जो औपनिवेशिक साम्राज्यों का विस्तार किया उसके समर्थन में यही सैद्धान्तिक तर्क दिया जाता है। इसी तर्क के आधार पर हमारे प्राचीन तथा गौरवान्वित देश पर ब्रिटेन ने इतने वर्षों तक राज्य किया। पाश्चात्य सभ्यता के लाभों से चीनी जनता को लाभ पहुँचाने के हेतु ही योरोप तथा अमेरिका के राज्यों ने अप्रगतिशील चीन को उनके लिये अपना द्वार खोल देने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार राष्ट्रीयता, जिसके अनुसार समस्त राष्ट्रों को एक दूसरे के मित्र होना चाहिए, शत्रु नहीं, धृष्ट, प्रसरणशील तथा आक्रमणशील बन जाती है और साम्राज्यवाद में परिणत हो जाती है। चूँकि प्रत्येक साम्राज्य अपना विस्तार चाहता है और शक्तिशाली बनना चाहता है, इसलिये साम्राज्यवादी राष्ट्रों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता एवं प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपना शत्रु समझने लगता है; वह उससे भयभीत होने लगता है और उसे जीतने तथा शक्तिहीन बनाने की चेष्टा करता है। स्वार्थमयी तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता इस प्रकार युद्ध को उत्तेजना देती है और अन्त में राष्ट्र को सैनिकवाद की ओर अग्रसर करती है। वह राष्ट्रों में संकीर्ण मनोवृत्ति ही पैदा नही करती, वरन् नागरिकों में बर्बरता भी पैदा करती है। उन्हें दूसरे राष्ट्रों में, जिनकी सभ्यता एवं संस्कृति उनकी सभ्यता से भिन्न होती है, कोई अच्छाई नहीं दिखाई देती। वे, दूसरी ओर, अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का औचित्य सिद्ध करने और उसके गौरव की प्रतिष्ठा के लिये चेष्टा करते हैं। उसके गुणों की प्रशंसा की जाती है और उसे समस्त संस्कृतियों से श्रेष्ठतम बताया जाता है। इस प्रकार पार्थक्य तथा

असहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव होता है जो मानवता के हित में सहयोग को असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बना देती है। संकीर्ण राष्ट्रीयता के प्रभाव में स्वदेश-प्रेम का अर्थ दूसरे देशवासियों के प्रति घृणा हो जाता है।

राष्ट्रवादी के लिए इससे अधिक और कोई सत्य नहीं कि उसका राष्ट्र स्वयं अपना शासन करने में स्वतन्त्र होना चाहिए। राष्ट्रीय राज्य की एकता एवं दृढ़ता और उसकी शक्ति तथा गौरव ही उसकी इच्छा और विचार के विषय हैं। यदि कोई राज्य एक-राष्ट्र राज्य है, तो राष्ट्रवादी को अपने उद्देश्य की सिद्धि में कोई कठिनाई नहीं होगी, किन्तु यदि वह बहु-राष्ट्र राज्य है, अर्थात् यदि उसमें अल्पमत समुदाय भी हैं, तो राष्ट्रीय एकता एवं दृढ़ता की प्राप्ति के मार्ग में राष्ट्रवादी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उनमें एकता स्थापित करने तथा उन पर एक राष्ट्रभाषा एवं एक संस्कृति को लादने के प्रयत्न का उनकी ओर से विरोध होगा। इस प्रकार राष्ट्रीय 'अल्पमतों' (Minorities) की समस्या खड़ी हो जाती है। राष्ट्रवादियों की अल्पमतों को मिला कर एक करने की चेष्टा और राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित अल्पमतों द्वारा उस चेष्टा के विरोध से ही यह समस्या खड़ी होती है। राष्ट्रवादी समुदाय के लिए आत्म निर्णय के अधिकार चाहते हैं; परन्तु समुदाय के भीतर जो अल्पमत हैं, उन्हें वे यह अधिकार नहीं देते। राज्य के भीतर जो अल्पमत बहुमत से मिल नहीं जाते उनके प्रति वे बड़े सजग एवं सशंक रहते हैं और उनके अस्तित्व को राष्ट्र के लिए दुर्बलता का एक कारण मानते हैं। वह जितना अधिक दबाव डालता है उसका विरोध भी उतना ही अधिक होता जाता है। इसका परिणाम होता है दमन, विद्रोह तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का कुचक्र।

एक राज्य में अल्पमतों के अस्तित्व से पड़ौसी राज्यों द्वारा उसमें से अपने भाषाभाषी अल्पमतों के उद्धार (Irredentism) की एक दूसरी समस्या का जन्म होता है। राष्ट्रीय एकता के नाम पर राष्ट्रवादी अपने राज्य के सभी अल्पमतों को मिला कर एक राष्ट्र बना लेना चाहता है। परन्तु पड़ौसी राज्य इस कार्य को विरोधी दृष्टि-कोण से देखते हैं, विशेषकर उस समय जब कि वे अल्पमत उनकी भाषा बोलते हों। तब वे पड़ौसी राज्य द्वारा अपने अल्पमतों पर अत्याचार की बातों का विशेष रूप से प्रचार करते हैं और उन्हें (अल्पमतों को)

उस राज्य के अत्याचार से मुक्त कर अपने राज्य में मिला लेने की चेष्टा करते हैं। इटली के राष्ट्रवादी उस समय तक बहुत बेचैन रहे, जब तक कि इटली भाषाभाषी ट्रेन्टिनो और टाइरोल ऑस्ट्रो-हंगरी साम्राज्य के भाग बने रहे। अन्त में वे उन प्रदेशों को इटली में सम्मिलित करने में सफल हुए। इस प्रकार के अल्पमतों का, जिनका उद्धार नहीं हुआ हो (Irredenta), राज्य की वैदेशिक नीति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिटलर का समस्त जर्मन-भाषी जनता को जर्मन राज्य के अन्तर्गत कर लेना एक ध्येय था। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रीयता ने दो अत्यन्त जटिल समस्याओं को जन्म दिया है; एक है अल्पमतों की समस्या और दूसरी पड़ौसी राज्यों द्वारा अपने अल्पमतों के उद्धार की इच्छा। प्राचीन काल में विविध जातियों के तथा विविध भाषाभाषी लोग एक ही राजा के आधीन शांतिपूर्वक रह सकते थे, जैसे रोम साम्राज्य में। न तो राज्य की ओर से उन पर सामान्य भाषा लादने की कोशिश की जाती थी और न वे जातियाँ ही अपनी भाषा आदि के प्रयोग के अपने अधिकार का प्रश्न उठाती थीं। इसके साथ ही किसी राज्य के अपने पड़ौसी राज्य के अत्याचार से अपने अल्पमतों के उद्धार का प्रश्न भी नहीं उठता था। राष्ट्रीयता के उदय ने इस प्रकार की व्यवस्था को असभव कर दिया है।

राष्ट्रीय अल्पमतों की समस्या का एक दूसरा परिणाम यह है कि कुछ अल्पमत अपनी मृत भाषाओं के पुर्नजीवन का प्रयत्न करने लगते हैं जो मानवीय सम्पर्क के मार्ग में एक बड़ी बाधा सिद्ध होगा।

राष्ट्रीयता के एक दूसरे भयंकर दोष की ओर भी ध्यान देना उचित होगा। 'एक राष्ट्र और एक राज्य' के सिद्धान्त के कारण संसार में अनेक छोटे राज्य स्थापित हो जाँयगे जैसे कि केन्द्रीय योरोप में हो चुका है। इन छोटे राज्यों के अस्तित्व के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति क़ायम रखने का कार्य और भी कठिन हो जाता है। पड़ौसी महान् राष्ट्रों की उन पर विजय प्राप्त करने की लालसा होती है। अन्त में, उन्हें किसी न किसी महान् राष्ट्र के अधीन हो जाना पड़ता है। यह बात प्रथम विश्वयुद्ध के बाद खड़े किये गये केन्द्रीय योरोप के राज्यों की अवस्था से स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सन्देहास्पद है कि छोटे समुदायों को स्वतन्त्र राष्ट्र बना देने से सदा लाभ ही होता है। वास्तव में छोटे समुदायों के लिए यह बात अधिक लाभप्रद होगी कि वे बड़े समुदायों के साथ एक शासन तथा एक क़ानून के अन्तर्गत शामिल रहें।

यदि राष्ट्रीयता की भावना को विशुद्ध तथा नैतिक धरातल पर ही रखा जाय तो यह एक मूल्यवान आदर्श है। यदि किसी प्रकार संसार के विविध राष्ट्रों को यह ज्ञान हो जाय कि वे परस्पर सहकारी हैं, प्रतियोगी नहीं, तो सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीयता की प्राप्ति हो सकेगी। इसके मार्ग में सबसे महान बाधा है प्रत्येक राज्य का पूर्ण स्वतन्त्रता तथा प्रभुत्व (Sovereignty) का दावा। राष्ट्रीयता तथा पूँजीवाद का गठ-बंधन भी, जिसने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, एक बड़ी समस्या है। पूँजीवाद के विनाश और उसके स्थान पर नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना से आज की राष्ट्रीयता के अनेक दोषों का निवारण हो जाने की आशा की जा सकती है।

साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद का कार्य—

"साम्राज्यवाद हमारे युग की सबसे अधिक चिन्ताकर्षक सिद्धि तथा सबसे महान् विश्व-समस्या है।"* संसार के महान् राज्यों ने, मुख्यतः योरोप के बड़े राष्ट्रों ने, योरोप से बाहर संसार के देशों का आपस में विभाजन कर लिया है। यह विभाजन कभी शान्तिपूर्वक किया गया और कभी इसके लिए बड़े भीषण संग्राम हुए। इस भूतल का आधे से अधिक भाग और विश्व की लगभग आधी जनसंख्या साम्राज्यों के उपनिवेशों, संरक्षित प्रदेशों तथा प्रभाव-क्षेत्रों में निवास करती है।

वर्तमान् युद्ध से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन का, जिसका क्षेत्रफल ९३,२८४ वर्ग मील है और जन-संख्या ४७,१७५,०००, साम्राज्य १३,१६० ८९० वर्गमील भूमि पर था और इसमे ५१६,३८०,९७० लोग रहते थे। दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं ब्रिटेन से १४० गुना अधिक विशाल था। प्रत्येक अंग्रेज़ की १० औपनिवेशिक प्रजायें थीं। फ्रेंच साम्राज्य का क्षेत्र विस्तार ४,४९४, ६१० वर्गमील था और उसकी जनसंख्या १०७,८५३००० थी। उसका साम्राज्य फ्रान्स से २० गुना बड़ा था। डेनमार्क का क्षेत्रफल १३,२०८ वर्गमील है, परन्तु इसके साम्राज्य का क्षेत्रफल ८,०२,१९६ वर्गमील और जनसंख्या ७५,१५७,००० थी। पुर्तगाल का साम्राज्य पुर्तगाल के क्षेत्रफल से २३ गुना बड़ा था और बेल्जियम का साम्राज्य बेल्जियम से ८० गुना बड़ा था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस क्षेत्र में देर से प्रवेश किया और उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल ७११, ६३९ वर्गमील था। जापान ने भी, जिसे अमेरिकन

* Moon : Imperialism and World Politics. p. 1,

नौसेना के बेड़े ने उसके लिए अपना द्वारा खुला रखने के लिये बाध्य किया, पाश्चात्य नीति को अपना लिया और उनके (पाश्चात्य देशों के) साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया। उसने संयुक्त राज्य अमेरिका को फ़िलिप्पाइन द्वीपों में से, अंग्रेज़ों को ब्रह्मा, मलय प्रायद्वीप तथा प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों मे से और डच लोगों को उनके प्रशान्त महासागर के साम्राज्य में से निकाल भगाया। उसने समस्त चीन पर अपना प्रभाव स्थापित करके संसार की प्रथम कोटि की शक्ति बनने का भी प्रयत्न किया। अमेरिका (दक्षिणी), अफ़्रीका तथा एशिया और महासागरों के द्वीपों के राष्ट्रों एवं अनुन्नत जातियों पर योरोपियन राज्यों, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान के राजनीतिक एवं आर्थिक आधिपत्य का नाम ही साम्राज्यवाद है। सन् १८८१ ई० से जिस वर्ष में फ़्रान्स ने ट्यूनिस को अपने अधिकार में किया था, यह साम्राज्यवादी विस्तार बहुत ही तीव्र गति से होने लगा और अगले ३० वर्षों में प्राय: समस्त अफ्रीका का योरोपीय शक्तियों ने आपस में विभाजन कर लिया।

आधुनिक साम्राज्यवाद के लक्षण

साम्राज्यवाद संसार में राष्ट्रीयता की भाँति कोई नवीन घटना नहीं है। प्राचीन तथा मध्ययुग में भी शासनों का विशाल भू-भागों पर आधिपत्य होता था। अलेक्ज़ैण्डर तथा चगेज़ख़ाँ ने अपने साम्राज्यों को विश्व-व्यापी बनाने की चेष्टा की और रोम साम्राज्य के अन्तर्गत उस समय के सभ्य संसार का एक बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। परन्तु इन साम्राज्यों की तुलना जब आधुनिक काल के ब्रिटिश साम्राज्य जैसे साम्राज्यों से की जाती है, तो वे नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। आधुनिक साम्राज्य पहले के साम्राज्यों से केवल इसी बात में भिन्न नहीं हैं कि वे उनसे अधिक विशाल हैं और दूर-दूर तक फैले हुए हैं ; इनमे बड़ा गहरा और मौलिक भेद है। प्राचीन काल के साम्राज्य वीर शासकों या योद्धाओं की व्यक्तिगत प्रेरणा के प्रयास अथवा धार्मिक भावना के परिणाम थे परन्तु आधुनिक साम्राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के बीच सत्ता तथा बाज़ार के लिए प्रतियोगी संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण रूप है। इसका राष्ट्रीयता और पूंजीवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है जो दोनों आधुनिक घटनाएँ हैं। इन शक्तियों के बिना साम्राज्य का वर्तमान रूप नहीं हो सकता था। प्राचीन या मध्य-युगीन साम्राज्य अपनी प्रकृति में अद्भुत

कल्पनापूर्ण (Romantic) थे; आधुनिक साम्राज्य मुख्यतया आर्थिक हैं। उनमे दूसरा महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि आधुनिक साम्राज्य स्थानीय विकास के लिए एक बड़ी सीमा तक स्वतन्त्रता देता है और प्राचीन साम्राज्य की तरह अपने अधीन प्रदेशों से प्राप्त कर पर निर्भर नहीं रहता। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों (Dominions) को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे दिया है और वह उनसे कोई कर नहीं मांगता। उसने भारत, पाकिस्तान, लका तथा बर्मा को स्वतन्त्रता दे दी है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी फ़िलिप्पाइन्स को स्वतन्त्रता दे दी है। सभी आधुनिक साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत देशों में प्रतिनिधि-शासन का विकास करना अपना ध्येय घोषित किया है ? परन्तु इस दिशा में उनका कार्य बड़ी धीमी गति से हुआ है। यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि प्राचीन काल के साम्राज्यों के कोई समकालीन प्रतियोगी नहीं थे; परन्तु आजकल अनेक बड़े-बड़े प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्य हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य है। यदि एक समय में एक ही साम्राज्य हो, तो अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों द्वारा विश्व-शान्ति भंग नहीं हो सकती। रोम-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में शताब्दियों तक संसार में कोई युद्ध नहीं हुआ। ससार में एक प्रभुत्व की स्थापना विश्व शान्ति के लिए आवश्यक है, परन्तु संसार में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी अनेक साम्राज्यों का अस्तित्व विश्व-शान्ति के लिये महान् खतरा है। गत ४० वर्षों में ससार में महान् शक्तिशाली राज्यों की विदेशी नीतियों के संघर्ष के फलस्वरूप पिछली किसी शताब्दी से अधिक भयकर सग्राम एवं रक्तपात हुये हैं। आधुनिक साम्राज्यवाद विभिन्न राष्ट्रों के बीच शत्रुता तथा प्रतिद्वन्द्विता को जन्म देता है। इसके परिणाम अराजकतापूर्ण हैं और यह संसार की शान्ति एवं सुव्यवस्थित प्रगति का घातक है।

आधुनिक साम्राज्यवाद के प्रयोजन—

संसार के महान् राष्ट्रों द्वारा एशिया, अफ्रीका आदि के प्रदेशों का आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक विभाजन, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, अनेक कारणों से किया गया है जिनमें से दो उल्लेखनीय हैं; राष्ट्रीयता और औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)। उग्र तथा विस्तारशील राष्ट्रीयता किस प्रकार राष्ट्र को साम्राज्यवाद की ओर ले जाती है, इसका विवेचन किया जा चुका है। बड़ा तथा शक्तिशाली

राष्ट्र पहले दुर्बल राष्ट्र पर अपने राष्ट्रीय गौरव की प्रतिष्ठा के लिये अपनी संस्कृति को लाद देता है और बाद में अपने कार्य का समर्थन यह कह कर करता है कि उसका उद्देश्य असभ्य जातियों को सभ्य बनाना है। यह कहा जाता है कि श्रेष्ठ राष्ट्र का विश्व के प्रति एक कर्तव्य है। उसे चाहिए कि वह पिछड़ी हुई जातियों पर अपना शासन स्थापित कर उन्हें अपनी उच्च सभ्यता के लाभ प्रदान करे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक महान् एजेण्ट सेसिल रोड्ज ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है: "मेरा यह दावा है कि संसार में हमारी प्रजाति सबसे प्रथम है और संसार के जितने भी अधिक भाग में हमारा निवास हो वह उतना ही मानव जाति के हित में होगा।" अंग्रेज़ लोग भारत का त्याग इसलिए नहीं करना चाहते थे कि यदि वे भारत से विदा हो जाँयगे तो भारतीय असभ्य बने रहेंगे और वे अशिक्षा तथा अंध-विश्वास में डूबे रहेंगे। इटली ने भी सशस्त्र बल तथा विषैली गैस के प्रयोग द्वारा अबीसीनिया को सभ्य बनाने की चेष्टा की थी। जब एक देश को सभ्य बनाने के लिये अनेक देश उत्सुक रहते हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम उनके आपसी संघर्ष में प्रकट होता है।

साम्राज्यवादी विस्तार का इतना ही महत्त्वपूर्ण कारण है आर्थिक आवश्यकता। ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका जैसे अत्यन्त औद्योगिक देश अपने तैयार माल को दूसरे देशों में भेज कर तथा अपनी अतिरिक्त पूँजी को पिछड़े देशों में लगा कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। उनका जीवन स्तर उनकी निर्यात् शक्ति पर निर्भर रहता है। इङ्गलैंड भारत को अपने माल के विक्रय के लिए सबसे उत्तम बाज़ार मानता था। इसी उद्देश्य से जापान भी चीन पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहता था। जब ब्रिटेन के सूती तथा लोहे के व्यवसाय को अमेरिका तथा जर्मनी के औद्योगीकरण द्वारा ठेस पहुँची, तब ब्रिटेन को अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करना पड़ा और विस्तार पर कमर बाँधी। औद्योगिक देशों में प्रतियोगिता अधिक तीव्र हो गई। प्रत्येक देश अपने तैयार माल के लिए नये बाज़ारों की खोज करने लगा। वे अपने कारखानों के लिए कच्चा माल भी चाहते थे। इङ्गलैंड, मिश्र तथा सूडान पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहता था क्योंकि वहाँ की अच्छी रुई मैनचेस्टर के सूती मिलों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। रुई, रबड़, कहवा, कोको, चीनी, चाय, नारियल आदि चीज़ों के कारण

अ़फ्रीका आदि में साम्राज्य स्थापित किए गए। औद्योगिक राष्ट्रों की लोहे तथा कोयले की सर्वव्यापी भूख ने साम्राज्यवादी विकास को बड़ी उत्तेजना दी है। हाल में पेट्रोल का राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। फ़ारस तथा मेसोपोटेमिया के तैल-क्षेत्रों ने संसार के साम्राज्य-वादी राष्ट्रों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरा आर्थिक तत्व जो राष्ट्रों को साम्राज्यवादी बना देता है वह है अतिरिक्त पूँजी को विदेशों में लगाने की आवश्यकता। एक बेकार पिछड़े हुए देश को ऊँचे ब्याज पर पूँजी उधार देता है। शासन-प्रबन्ध ठीक न होने के कारण वह देश ब्याज अदा नहीं कर सकता। इस पर बैंकर अपनी राष्ट्रीय सरकार से अपील करता है और सरकार उस पिछड़े हुए प्रदेश पर अपना संरक्षण स्थापित कर लेती है। इस प्रकार ऋणी देश साहूकार देश के पंजे में फँस जाना है। "अतीत में यूरोप के साहूकार देशों ने अ़फ्रीका तथा एशिया के अपने ऋणी देशों को हड़प कर लेने की स्पष्ट प्रवृत्ति प्रकट की है (मून)।" इस आर्थिक तत्व का इतना अधिक महत्व है कि लेनिन ने तो साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था बतलाया है। लेनिन के शब्दों मे "साम्राज्यवाद विकास की अवस्था मे पूँजीवाद की वह स्थिति है, जिसमे एकाधिकार तथा राजस्व-पूँजी (Finance Capital) का आधिपत्य स्थापित हो जाता है, जिसमें पूँजी का निर्यात विशेष महत्व प्राप्त कर लेता है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों द्वारा संसार का बँटवारा आरम्भ हो जाता है और ससार की समस्त भूमि का सबसे महान पूँजीवादी देशों द्वारा पूर्ण बॅटवारा हो जाता है।"

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हमने ऊपर जिन आर्थिक तत्वों का उल्लेख किया है अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन, कच्चा माल तथा अतिरिक्त पूँजी, वे साम्राज्यवादी प्रयत्नों के लिए उस समय तक प्रेरक शक्ति प्रदान नहीं करेंगे जब तक कि उनका सम्बन्ध 'आर्थिक राष्ट्रीयता' के सिद्धान्त से न जोड़ दिया जाय। 'आर्थिक राष्ट्रीयता' से प्रयोजन उस सिद्धान्त से है जो राष्ट्रीय समाज की आर्थिक सम्पन्नता की वृद्धि करना तथा उसे क़ायम रखना राज्य का एक प्राथमिक कार्य मानता है। राज्य को ऐसे क़ानून बनाने चाहिए और ऐसी वैदेशिक नीति ग्रहण करनी चाहिए, जो राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाये। राज्य की राजनीतिक शक्ति एवं प्रभाव उसकी आर्थिक स्थिति के अनुपात में

होती है। कारखाने, मिल, तैल-क्षेत्र, खनिज-सम्पत्ति, रेल आदि राष्ट्रीय समृद्धि और राजनीतिक शक्ति के आधार हैं। अतः राष्ट्रीय सरकारों को व्यवसाय की अभिवृद्धि करनी चाहिए। इन सब बातों का यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राष्ट्र अपने तैयार माल के लिए बाज़ार प्राप्त करने की दृष्टि से औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करना, अपनी विदेशों में लगी पूँजी की रक्षा करना, व्यवसाय प्राप्त करना, जलयानों के लिए कोयला प्राप्त करना तथा कच्चा माल प्राप्त करना उचित समझने लगते हैं।" इस प्रकार जब पूँजीवाद का आर्थिक राष्ट्रीयता से गठबन्धन हो जाता है, तब उससे साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हो जाता है। उक्त आर्थिक साधनों पर अधिकार सीधी विजय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जैसे बर्मा, मलय प्रायद्वीप तथा अबीसीनिया में हुआ। यह कार्य अन्य देशों में रियायतें प्राप्त करके तथा प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करके भी किया जा सकता है जैसे चीन, फ़ारस, टर्की आदि में किया गया है।

साम्राज्यवादी विस्तार के दो प्रयोजन और भी हैं। जर्मनी, इटली तथा जापान जैसे अत्यधिक आबादी वाले देश अपनी अतिरिक्त आबादी को बसाने के लिये उपनिवेशों की मांग करते हैं। एक दीर्घ काल से जापान की दृष्टि आस्ट्रेलिया पर लग रही है जहाँ लाखों जापानियों को बसाया जा सकता है। इस तर्क को ले कर साम्राज्यवादियों ने अपनी नीतियों के पक्ष मे प्रबल लोक-समर्थन प्राप्त किया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उन उपनिवेशों में अतिरिक्त आबादी को बसाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। केमेरून्स में जर्मन प्रवासियों तथा अबीसीनिया में इटालियन प्रवासियों की संख्या बहुत ही कम रही है, फिर भी साम्राज्यवादी प्रचार में इस तर्क का बड़ा सहारा लिया जाता है।

दूसरा प्रयोजन है सामरिक महत्व के स्थानों की प्राप्ति। जिब्राल्टर, माल्टा, अदन आदि का आर्थिक मूल्य नगण्य है, परन्तु इनका सामरिक महत्व बहुत है क्योंकि इन स्थानों का सामुद्रिक राजमार्गों पर अधिकार है। ये नाविक अड्डे हैं और यहाँ जहाज़ कोयला लेते हैं। यदि संसार के विभिन्न भागों में ब्रिटिश नियन्त्रण में सामरिक महत्व के स्थान न होते जहाँ उसके जहाज़ आश्रय तथा कोयला ले सकते, तो ब्रिटिश नौसेना का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। युद्ध-काल में आवश्यक कच्चे माल के सम्बन्ध में स्वाश्रयिता का तर्क भी साम्राज्यवादी अपनी नीतियों के समर्थन में पेश करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ—

संकुचित तथा उग्र राष्ट्रीयता में जो नैसर्गिक दोष हैं और साम्राज्यवाद के मुख्य लक्षण सैनिकवाद के कारण संसार में जो घोर अराजकता फैली है, उनके कारण अनेक अच्छे व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार इतना सुनिश्चित एव स्पष्ट नहीं है जैसा कि राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद का है। उसकी यह कह कर व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता विचार तथा कार्य की ही एक ऐसी पद्धति है जो संसार के राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग एव मित्रता की अभिवृद्धि चाहती है। आज के युग के व्यक्ति ही इसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, प्राचीन काल तथा मध्य-काल में भी इसकी आवश्यकता का अनुभव लोगों ने किया था। राष्ट्रों के बीच शान्ति एवं मित्रता की इच्छा ने सदैव से लोगों को इस दिशा में प्रेरित किया है। यूनानी लोग तो अपने देश की सीमा तक ही सीमित रहे किन्तु मध्ययुग में लोग सार्वभौम साम्राज्य के विचार से परिचित थे। दाँते ने विश्व-सम्राट् तथा विश्व-कानून सहित एक विश्व-राज्य की कल्पना की थी।

मध्य-युग मे सार्वभौम साम्राज्य की भावना ने अनेक सम्राटों की नीतियों पर बड़ा बुरा प्रभाव डाला। किन्तु मध्य-युगीन विचार को हम अन्तर्राष्ट्रीयता का नाम नहीं दे सकते। उसे हम विश्वबन्धुत्व का सिद्धान्त (Cosmopolitanism) कह सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रों का अस्तित्व परम आवश्यक है, जो आधुनिक काल का विकास है। इन राष्ट्रों में परस्पर मैत्री स्थापित करना चाहती है। विश्वबन्धुत्व उस युग का आदर्श था जबकि राष्ट्र-राज्य का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था ; वर्तमान् युग मे उसकी माँग है कि राष्ट्रों की सीमाओं का अन्त कर दिया जाय और राष्ट्रीयता के बन्धनों को भी तोड़ दिया जाय। जहाँ तक साम्यवाद संसार के मज़दूरों के सम्बन्ध में राष्ट्रीयता के भेदों को स्वीकार नहीं करता वह विश्वबन्धुत्व का पोषक है, किन्तु अपने दृष्टिकोण में अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है। आज के नर-नारियों के हृदयों में राष्ट्रीयता की भावना ने ऐसा स्थान बना लिया है कि विश्वबन्धुत्व के आदर्श को अव्यावहारिक मान कर हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। किसी भी

विश्व-व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का भी समुचित ध्यान रखा जाय। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

जिस किसी बात से राज्यों के बीच में मैत्री तथा शान्तिमय सम्बन्धों की अभिवृद्धि हो, वह अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति में सहायता करती है। ग्रोशियस के समय से अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून, कूटनीतिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों ; तथा पत्रों द्वारा राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करने की पद्धति का विकास तथा विविध प्रयोजनों से अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, इन सब बातों से अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अथवा 'अन्तर्राष्ट्रीय मन' के विकास में बड़ा योग मिला है। हमारा उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के विकास का पूरा विवरण प्रस्तुत करने का नहीं है ; ग्रोशियस, पुफ़ेनडॉर्फ़, वुल्फ़, वाटेल, कैएट तथा अन्य प्रसिद्ध विधान-विशेषज्ञों ने इस दिशा मे जो योगदान दिया है उसके सम्बन्ध में हमे उल्लेख नही करना है। हेग सम्मेलन और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के निर्माण के लिए जो प्रयत्न किए गए तथा अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायतों द्वारा विवादों के निर्णय के लिए तथा अपने राष्ट्रीय अधिकारों की रक्षा और अपनी शिकायतों को दूर करने के निमित्त युद्ध को रोकने के लिये योरोपियन राजनीतिज्ञों ने जो प्रयत्न किये उन पर भी यहाँ विचार नही किया जायगा।

हमें केवल यही उल्लेख करना है कि राष्ट्रों में अपने विवादों के निर्णय के लिए शस्त्र-ग्रहण करने की अपेक्षा विवेक तथा न्याय के आधार पर उनका शान्तिपूर्वक निर्णय करने की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से बढ़ती जा रही थी। राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के क्षेत्र में क़ानून का राज स्थापित करने में कुछ सफलता मिल रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार कुछ प्रगति कर रहा था। यह सत्य है कि इस दिशा में प्रगति धीमी रही ; परन्तु जो इस कार्य में संलग्न हैं, उन्हें उत्साह प्रदान करने के लिए वह पर्याप्त थी। किन्तु सन् १९१४–१८ ई० के महायुद्ध ने इस प्रवृत्ति को एक घातक धक्का पहुँचाया। उसने यह सिद्ध कर दिया कि यदि किसी राष्ट्र ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शस्त्र-ग्रहण करेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या निश्चय उसे रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध में जो भयकर नरसंहार हुआ उसके कारण संसार के राजनीतिज्ञों को एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि करे और यदि युद्ध का अन्त नहीं कर सके तो कम से कम उसे कठिन अवश्य बना दे। इस उद्देश्य से सन् १६१६ मे राष्ट्रसघ (League of Nations) की स्थापना की गई। उसका घोषित लक्ष्य "युद्ध न करने के दायित्व की स्वीकृति, समस्त राष्ट्रों में खुले, न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना, संसार के राज्यों की सरकारों के आचार-व्यवहार के नियमन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधान के समझौतों की स्थापना तथा राष्ट्रों के बीच जो परस्पर सधियाँ हों उनके समुचित आदर द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति" था। यद्यपि राष्ट्रसघ को अपने सदस्यों के सहयोग से अफ़ीम के व्यापार का नियन्त्रण, नारियों तथा बालकों की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय विधान का सग्रह, शरणार्थियों की सहायता आदि सामाजिक तथा मानवतावादी अराजनैतिक कार्यों में एक सीमा तक सफलता मिली, परन्तु वह राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ रहा। वह युद्ध को रोक नहीं सका। राष्ट्रीयता की चट्टान पर राष्ट्रीय संघ चूर-चूर हो गया।

राष्ट्र-संघ की दयनीय असफलता और सन् १६३६ ई० में द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ ने विचारशील व्यक्तियों के हृदयों में फिर उथल-पुथल पैदा कर दी और विश्व की एकता के लिए फिर से चेष्टा की जाने लगी। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रों की अनियन्त्रित स्पर्द्धा से उत्पन्न अराजकता से संसार को बचाने का एकमात्र मार्ग एक विश्व-संघ (Federal Union) की स्थापना है जिसमें संसार के समस्त देश या कम से कम प्रमुख प्रजातन्त्रीय राष्ट्र सम्मिलित हों। उनका विचार है कि मानव जाति को उस समय तक शान्ति नहीं मिलेगी जब तक कि विश्व-व्यापी आधार पर राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो जाती। राजनीतिक एकता के बाद आर्थिक एकता की स्थापना हो सकेगी और आर्थिक एकता हमारे बीच से ग़रीबी तथा युद्ध का अन्त कर सकेगी।

जब तक संयुक्त राज्य अमेरिका और योरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्र अफ़्रीका, एशिया तथा अन्य भागों में अपने साम्राज्यों को क़ायम रखे

हुए हैं, तब तक संसार के समस्त राज्यों का विश्व-संघ एक अप्राप्य आदर्श ही रहेगा। ऐसी कोई आशा नहीं की जा सकती कि ये साम्राज्यवादी राष्ट्र स्वयं अपने साम्राज्यों का परित्याग कर देंगे और विश्व-संघ की समकक्ष इकाइयाँ बन जाँयगी, जो संघ के लिये परम आवश्यक है। दूसरे, स्थायी और सुदृढ़ विश्वसंघ का अर्थ है ऐसी राज्य-इकाइयों का अस्तित्व, जिनकी न्यायपूर्ण तथा विवेकपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित स्थायी एवं अपरिवर्तनीय सीमाएं हों। परन्तु यह शर्त आज के राष्ट्र-राज्यों द्वारा पूरी नहीं हो सकती। प्रभुत्व के एक अंश का भी परित्याग करने के लिये राज्यों की अनिच्छा भी विश्व-संघ की स्थापना में एक बड़ी बाधा है। गत शताब्दी में योरोप में संघ की स्थापना के लिये जो योजनाएँ प्रस्तुत की गईं उनकी असफलता ने स्पष्ट कर दिया है कि यह कार्य कितना कठिन है। स्ट्रेट लिखित "यूनियन नाउ" (Union Now) नामक पुस्तक की १० मास में २६,००० प्रतियों के बिक जाने से यह बात भी स्पष्ट है कि संसार के लोग इस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का अन्त करने के लिये कितने इच्छुक हैं।

जब तक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान के पुराने तरीक़ों का परित्याग कर हम नूतन विश्व-व्यवस्था की दृष्टि से अनुप्रेरित हो कर नये तरीक़ों का प्रयोग नहीं करेंगे, तब तक मानवता को उन कष्टों से मुक्ति नहीं मिल सकती जिनके कारण वह आज दुःखी है। पिछले कुछ वर्षों में नये विचारों तथा जीवन के नये मूल्यों पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिये कई योजनाएँ हमारे सामने आई हैं। फ़ैसिज़्म तथा साम्यवाद ऐसी ही योजनाएँ हैं। गाँधीवाद को भी हम एक तीसरी योजना समझ सकते हैं। प्रथम योजना इटली तथा जर्मनी में (दूसरे नाम से) कार्यान्वित हुई। उसने देश की आन्तरिक प्रगति में बहुत कुछ काम किया परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थिति को सुधारने की जगह उसने संसार को द्वितीय विश्व-युद्ध में झोंक दिया जिसके भीषण परिणामों से हमें अभी तक मुक्ति नहीं मिल पाई है। साम्यवाद ने भी एक नई सभ्यता के जन्म की आशा दिलाई थी। वह वास्तव में भिन्न विचारों एवं आदर्शों पर आधारित एक नवीन सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है परन्तु वह भी संसार को राष्ट्रीय समुदायों की स्वार्थमय प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप भय, संघर्ष तथा तनातनी के वातावरण से मुक्त नहीं कर सका है। रूस भी सत्ता-प्राप्ति के फेर में

पड़ गया है और उसके तथा ऐंग्लो-अमेरिकन गुट के बीच जो प्रतिस्पर्धा चल रही है उससे विश्व-शान्ति ख़तरे में पड़ रही है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के कारण विभक्त और युद्ध से जर्जर एवं त्रस्त इस संसार को अहिंसा तथा नवीन आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक चरखे के आधार पर संगठित नवीन समाज का आदर्श ही, जिसकी महात्मा गाँधी ने कल्पना की थी, आशा की झलक दिखा सकता है। यदि सत्य तथा अहिंसा के पुजारी महात्मा गाँधी के त्यागमय जीवन का एक धर्मान्ध युवक के हाथों अन्त न हो जाता तो संसार को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को प्रेम एवं उदारता के सिद्धान्त के आधार पर सफलतापूर्वक निपटाने के अनेक प्रयोग देखने को मिलते, किन्तु परमेश्वर की इच्छा कुछ और ही थी। उनके अपूर्ण कार्य को पूरा करना हमारा कर्तव्य है।

चुने हुए पाठ्य-ग्रन्थ

Appadorai,	The Substance of Politics.
Asirvatham,	Political Theory.
Barker,	Political Thought in England from Spencer to the Present Day.
Burns,	Political Ideals.
Coker,	Recent Political Thought.
Cole,	A Guide to Modern Politics.
,,	Social Political Theory.
Garner,	Political Science and Government.
Gettell,	Introduction to Political Science.
Gilchrist,	Principles of Political Science.
Ilyas Ahmad,	The First Principles of Politics.
Joad,	Modern Political Theory.
Kranenberg,	Political Theory.
Laski,	Introduction to Politics.
,,	Grammar of Politics.
,,	State in Theory and Practice
Leacock,	Elements of Political Science
Lord,	Principles of Politics.
Russell,	Roads to Freedom.
Wassermann,	Modern Political Philosophers.
Wilde,	Ethical Basis of the State.
Wilson,	Elements of Modern Politics.
Willoughby,	The nature of the State.